भारत का वैधानिक
एवं
राष्ट्रीय विकास

(सन् १६०० से सन् १९१९ तक)

लेखक

गुरुमुख निहाल सिंह

एम० एस-सी० (इकॉनॉमिक्स) लन्दन, बार एट लॉ

अध्यक्ष, दिल्ली-प्रदेश-विधान-सभा

अनुवादक

सुरेश शर्मा, एम० ए०

१९५२

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य दस रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
१० दरिया गंज
दिल्ली

आमुख

कितने ही वर्षों से मुझसे अपने 'Landmarks in Indian Constitutional and National Development' का हिंदी-संस्करण निकालने को कहा जा रहा था और हिंदी के देश की राष्ट्रभाषा एवं भारतीय प्रजातन्त्र की राजभाषा और साथ ही कुछ माध्यमिक शिक्षा-मंडलों तथा कुछ विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकार होने पर यह माँग और भी अधिक हो गई है। मुझे यह कहते हुए हर्ष है कि अब मेरे लिए श्री सुरेश शर्मा एम. ए. तथा श्री रामलाल पुरी के सहयोग से यह संस्करण निकालना संभव हो गया है। हिंदी-अनुवाद के लिए मैं श्री सुरेश शर्मा का कृतज्ञ हूँ और इसके प्रकाशन का दायित्व लेने के लिए मैं श्री आत्माराम एंड संस के संचालक श्री पुरी का आभारी हूँ।

× × × ×

१५ अगस्त १९४७ को भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भारतीय इतिहास का वह युग, जो सन् १६०० में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना से आरम्भ हुआ था, अब समाप्त हो गया है और एक नया युग आरम्भ हो गया है। इस पुस्तक का उद्देश्य सम्पूर्ण ब्रिटिश युग (१६००-१९४७) के भारत के वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास का विवरण देना है। इस अध्ययन को दो खंडों में बाँटा गया है—(१) सन् १६०० से १९१९ तक और (२) सन् १९१९ से १९४७ तक। सन् १९५० के मध्य में प्रथम खंड के द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होने के समय मैंने यह आशा की थी कि मैं १९५० के अन्त तक द्वितीय खंड को पूरा लिख लूँगा। किंतु मुझे इस बात का खेद है कि अन्य कार्यों के दायित्व के कारण उस दिशा में पर्याप्त प्रगति नहीं हो पाई और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९५१ के अन्त से पहले, द्वितीय खंड को पूरा करना संभव नहीं होगा। इस प्रकार, प्रस्तुत खंड में भारत में अंग्रेजी राज्य की कहानी, माण्ट फोर्ड सुधारों तक ही हो पाई है।

× × × ×

पहला खंड अंग्रेजी में पहली बार १९३३ में प्रकाशित हुआ था। उस समय से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इतिहास और राजनीति-विज्ञान के अध्ययन में, भारत के वैधानिक इतिहास का अध्ययन एक अविभाज्य अंग हो गया है। अतः, वैधानिक इतिहास के अध्ययन के महत्त्व को सविस्तार समझाने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। राजनीतिक समस्याओं का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में

अध्ययन करने की आवश्यकता सुस्पष्ट है। किंतु इसका अर्थ सीली के उस प्रसिद्ध कथन को मान्यता देना नहीं है कि 'इतिहास मूल है और राजनीति इतिहास का फल है' अथवा इतिहास और राजनीति का अध्ययन एक ही बात है। अधिकांश आधुनिक लेखकों के अनुसार यह मत असंतुलित है—उनके अनुसार अध्ययन में, आर्थिक और भौगोलिक कारणों को तथा मनोवैज्ञानिक एवं जीव-वैज्ञानिक सिद्धांतों को उचित स्थान मिलना चाहिए और विषय का विवेचन ऐतिहासिक तथा समाज-वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर होना चाहिए। किंतु यह कहना सच है कि वैधानिक समस्याओं को ठीक ढंग से समझने के लिए और किसी राजनीतिक अथवा वैधानिक शासन-व्यवस्था की तह में पहुँचने के लिए, वैधानिक इतिहास का अध्ययन अनिवार्य है। मेरा तो यह विचार है कि वैधानिक इतिहास, राष्ट्रीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा है। वह, लोगों की राजनीतिक मनोवृत्ति की तह में पहुँचने की कुंजी है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में कुछ अध्याय भयंकर एवं कष्टकर हो सकते हैं, तथापि उस इतिहास का हृदयस्पर्शी एवं प्रोत्साहनपूर्ण होना स्वाभाविक ही है।

× × × ×

यह बात विचित्र प्रतीत हो सकती है किंतु यह एक दुःखद सत्य है कि विषय के महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणापूर्ण होते हुए भी, भारतीय वैधानिक इतिहास पर अच्छी पुस्तकों की अब भी बहुत बड़ी कमी है। सन् १९३३ से पहले, जब प्रस्तुत पुस्तक का अंग्रेज़ी मूल रूप पहली बार प्रकाशित हुआ था, भारतीय वैधानिक इतिहास पर केवल एक ही पुस्तक थी। इस पुस्तक के लेखक थे मि. आर्चबोल्ड, जो एक समय अलीगढ़ के एम. ए. ओ. कॉलेज के प्रिंसिपल थे और जिन्होंने अक्तूबर १९०६ के उस प्रसिद्ध मुस्लिम शिष्ट-मंडल की व्यवस्था कराने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, जिसने मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों की माँग की थी। जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, उस पुस्तक में केवल रूपरेखा दी गई है—उसमें विस्तृत अध्ययन नहीं है और साथ ही उसमें राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जीवन की कोई चर्चा नहीं की गई। उस पुस्तक का सबसे अधिक उपयोगी भाग वह है जिसमें न्यायालयों के विकास का वर्णन किया गया है। सन् १९३३ में तीन पुस्तकें और थीं जिनमें ब्रिटिश भारत के शासन का इतिहास दिया गया था। उनमें से एक पुस्तक के लेखक थे सर कोर्टनी इल्बर्ट, जो पहले भारत-सरकार के विधि-सदस्य रह चुके थे। उनकी पुस्तक अच्छी है किंतु उसका क्षेत्र बहुत सीमित है। यह बात पुस्तक के शीर्षक "A Brief Historical Survey of Parliamentary Legislation Relating to India" से भी स्पष्ट है।

अन्य दो पुस्तकें हैं—(१) Sapre: "Growth of the Indian Constitution and System of Administration", (२) C. L. Anand: " History of the Government of India", Part II. इन पुस्तकों में भारतीय शासन-व्यवस्था के विभिन्न भागों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है किंतु उनमें राष्ट्रीय जीवन की चर्चा नहीं की गई और उनको वैधानिक इतिहास की पुस्तक नहीं कहा जा सकता। सन् १९१८ की भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट में सारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है और उसमें भारत में प्रतिनिधिपूर्ण संस्थाओं के विकास का काफी अच्छा वर्णन किया गया है।

पिछली दशाब्दी में भारतीय वैधानिक इतिहास पर तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—(१) Keith: "Constitutional History of India", (२) Punniah: "Indian Constitutional History" और (३) Shri Ram Sharma: "Constitutional History of India". पिछली पुस्तक सबसे बाद का प्रकाशन है और उसका वर्णन, प्रकाशन के समय तक का है। इस सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर कूपलैंड ने भारतीय वैधानिक समस्या पर अपनी रिपोर्ट के पहले दो भागों में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। इनके शीर्षक हैं:—"The Indian Problem, 1813-1935" और "Indian Politics, 1936-1942."

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में कितनी ही पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संभवतः इनमें सबसे पहली पुस्तक थी सर वर्नी लोवेट की "The History of the Indian Nationalist Movement." यद्यपि उस पुस्तक का लेखक उस समय आक्सफोर्ड में भारतीय इतिहास का अध्यापक था किंतु उक्त पुस्तक में ऐतिहासिक वर्णन का अभाव है। डॉ. टोपा की " The Growth and Development of National Thought in India" नामक पुस्तक भी असंतोषप्रद है। डॉ. टोपा ने आदि काल से १९१९ तक के विकास का विवरण देने का प्रयत्न किया है। किंतु यह क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके अतिरिक्त उस पुस्तक में विशेषकर उसके अन्तिम भाग में यह बात स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने राष्ट्रीय विचार-धारा का इतिहास लिखा है अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का। विभिन्न राष्ट्रीय नेताओं ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास पर पुस्तकें लिखी हैं—लाजपतराय : "Young India"; अम्बिकाचरण मजूमदार: "Indian National Evolution"; श्रीमती एनी बीसेंट: "How India Wrought for Freedom"; प्रधान: "India's Struggle for Svaraj"; एस. एस. कवीश्वर: " India's Fight for

Freedom' और डॉ. पट्टाभि सीतारामय्याः 'कांग्रेस का इतिहास'। राष्ट्रीय आन्दोलन को समझने में बहुत से राष्ट्रीय नेताओं और ब्रिटिश शासकों की आत्मकथाओं अथवा जीवनियों से भी बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में ये पुस्तकें उल्लेखनीय हैं:—सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, "A Nation in Making"; महात्मा गांधीः 'आत्म कथा'; जवाहरलाल नेहरूः 'मेरी कहानी', सुभाषचन्द्र बोस : "An Autobiography"; और लार्ड लिटन, लार्ड रिपन, लार्ड कर्जन, लार्ड मिण्टो, सर फ़ीरोज़ शाह मेहता, लोकमान्य तिलक, देशबन्धु सी. आर. दास, मि. एम. ए. जिन्ना, सर फ़ज़्लेहुसेन, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और महात्मा गांधी की जीवनियाँ। अंतिम पुस्तक के संयुक्त लेखक हैं पोलक, ब्रेल्सफोर्ड और पेथिक लारेंस। मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की माँग पर भी प्रकाश डालने वाली कई पुस्तकें हैं जिनमें निम्न लिखित विशेष महत्त्व की हैं:—नुमान : 'Muslim India'; स्मिथः 'Modern Islam in India'; अम्बेदकरः 'Thoughts on Pakistan'; राजेंद्रप्रसाद : 'खण्डित भारत'; अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन : 'Communal Triangle in India'; बेनीप्रसादः 'The Hindu Muslim Question'; और अंसारी : 'Pakistan, The Problem of India.'

तीन प्रकार के प्रकाशन और हैं जो भारत के वैधानिक इतिहासकार के लिए बड़े महत्त्व के हैं—(१) वार्षिक पर्यालोकन और सामयिक रिपोर्ट; (२) कमेटियों और कमीशनों की रिपोर्ट और (३) राजनीतिक लेखकों और विदेशी यात्रियों द्वारा लिखी हुई पुस्तकें। पहले वर्ग में भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्टों की गणना है। ये रिपोर्टें सन १९१८ से १९३५ तक 'India in......(वर्ष की संख्या)' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुईं। इसी श्रेणी में 'The Indian Annual Register' की भी गणना है जिसका कलकत्ता से एस. एम. मित्र ने प्रकाशन किया। दूसरे वर्ग में निम्नलिखित प्रकाशनों की गणना है—भारतीय निष्केन्द्रीकरण कमीशन की रिपोर्ट; विभिन्न लोक-सेवा आयोगों की रिपोर्टें, माण्ट फोर्ड रिपोर्ट; हण्टर-कमेटी रिपोर्ट; मुडीमैन कमेटी रिपोर्ट; गोल मेज़-परिषदों की कार्यवाही; सन् १९३३ का सुधार-सम्बन्धी श्वेत-पत्र; सन् १९१९ और १९३५ के सुधार-विधेयकों पर पार्लियामेंट की संयुक्त प्रवर समितियों की रिपोर्टें; साइमन कमीशन की रिपोर्ट और उसके विस्तृत परिशिष्ट; और १९१९ तथा १९३५ के सुधारों के सम्बन्ध में नियुक्त की हुई विभिन्न कमेटियों की रिपोर्ट। तीसरे वर्ग में निम्न लिखित लेखकों की पुस्तकों की गणना है—हैनरी नेविन्सन; सर वैलेण्टाइन शिरोल; सर हेनरी काटन;

सर विलियम वेडरबर्न; सर सिडनी लो और कमांडर केनवर्दी; फ़ेनर ब्रॉकवे और निकॉलस बेवरले; एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरेट; शुस्टर और विण्ट; ब्रेल्सफोर्ड और पेण्डेरल मून; बार्टन और कोटमैन, रशब्रुक विलियम्स और एल. एस. एस. ओ. मॉली; क्यूमिंग्स और उफ़े; हिक्स और पार्किन; ग्रिफिथ और रालिन्सन।

और बहुत सी पुस्तकें, रिपोर्टें, समाचार-पत्र आदि हैं, जिनको मैंने भारत के वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास की कहानी को पूरा करने में उपयोगी पाया है। उन सबका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं है। पुस्तक की पाद-टिप्पणियों में मैंने यथा स्थान उनके प्रति कृतज्ञता स्वीकार की है।

× × × ×

अगले पृष्ठों में भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विस्तार का; देश में ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के विकास; भारत में राजनीतिक जीवन के आरम्भ और उसके उत्थान; देश के शासन में हाथ बटाने के लिए भारतीय माँग के आरम्भ और उसकी वृद्धि; राष्ट्रीय आन्दोलन और अपनी आकांक्षाओं एवं आदर्शों के लिए राष्ट्रीय संघर्ष; मुस्लिम साम्प्रदायिकता के जन्म और उसके विकास; पाकिस्तान की माँग और देश के विभाजन; भीषण साम्प्रदायिक दंगों और सामूहिक निष्क्रमण; फूट डालकर राज्य करने की नीति; ब्रिटिश सरकार के दमन और सुधार; अहिंसात्मक असहयोग अथवा सत्याग्रह की पद्धति के विकास और सफल प्रयोग; शान्ति के साथ राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि; और ब्रिटेन के साथ मित्रता और कॉमनवेल्थ की सदस्यता बनाये रखने का, काफी विस्तार से वर्णन किया गया है। इस वर्णन के सिलसिले में तथ्यों की तह में जाने का और उद्देश्यों तथा मनोवृत्तियों के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है और विभिन्न कारणों अथवा पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही विभिन्न युगों की परिस्थितियों का भी उचित रूप से उल्लेख किया गया है। इस उद्देश्य के लिए आर्थिक और सामाजिक तथ्यों तथा आन्दोलनों का विवरण भी दिया गया है जिसका देश के वैधानिक इतिहास में अन्यथा कोई स्थान नहीं था। इतने पर भी यह संभव है कि कुछ लोगों के अनुसार कितनी ही बातें छोड़ी हुई प्रतीत हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि मैंने इस बात का अधिकाधिक प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्य से संगत कोई तथ्य और विवरण छूट न जाय।

मैं इस पुस्तक में निर्णय देने से दूर रहा हूँ। मैंने तथ्यों को वैज्ञानिक रूप में, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है; मैंने निन्दा अथवा स्तुति के दायित्व को निश्चित नहीं किया।

प्रस्तुत खंड दो भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में भारत में कम्पनी के राज्य का वर्णन किया गया है। यह वर्णन, संक्षिप्त है; वह परिचायक के रूप में है और इसके द्वारा भारत-सरकार के राजनीतिक एवं प्रशासनीय चित्र को पूर्ण किया गया है। इसी कारण भारत की प्रान्तीय सरकारों पर पार्लियामेंट और मन्त्रियों के नियंत्रण, समाचार-पत्रों के विनियमन और नियंत्रण आदि विषयों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया है।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'भारत में ब्रिटिश राज्य', जिसे परम्परा के अनुसार ही मान्यता दी गई है। अन्यथा मेरे मत से दूसरे भाग का वैज्ञानिक दृष्टि से सही शीर्षक है 'भारत में प्रतिनिधिपूर्ण संस्थाओं का विकास'। छपाई की दृष्टि से यह शीर्षक असुविधाजनक था, क्योंकि पुस्तक के दूसरे भाग के प्रत्येक पृष्ठ के आरम्भ में उसे रखने में बड़ी कठिनाई थी।

दूसरे भाग को तीन स्वाभाविक और सुपरिचित युगों में विभाजित किया गया है—सन् १८६१ से १८९२ तक, सन् १८९२ से १९०९ तक, और सन् १९०९ से १९१९ तक। प्रत्येक युग की प्रशासनीय एवं वैधानिक महत्त्व की घटनाओं का पर्याप्त विस्तार से वर्णन किया गया है और साथ ही उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर दिया गया है। वैधानिक परिवर्तनों और राष्ट्रीय प्रगति के कारणों पर उचित रूप से प्रकाश डाला गया है। उसी संदर्भ में प्रगति के लिए संघर्ष, उसके स्वरूप, प्रवाह और परिणामों का वर्णन किया गया है; उस युग की सारी उपलब्धियों को बताया गया है।

यह वर्णन युगानुसार न होकर विषयानुसार भी हो सकता था; किंतु मेरे विचार से युगानुसार वर्णन अधिक स्वाभाविक और उपयोगी है। उसमें अधिक स्पष्टता है और घटनाओं का प्रवाह सरलता से समन्वित हो सकता है। दूसरे खंड में अगले दो युगों—सन् १९१९ से १९३५ तक और १९३५ से १९४७ तक—की चर्चा है। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, मैं यह आशा करता हूँ कि दूसरा खंड सन् १९५१ के अन्त तक पूरा हो जायगा।

× × × ×

राजनीति-विज्ञान, इतिहास और भारतीय वैज्ञानिक समस्याओं के विद्यार्थियों के अतिरिक्त, सार्वजनिक समस्याओं के जिज्ञासुओं और पाठकों के लिए भी प्रस्तुत पुस्तक को उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। मैंने विषय को, यथा सामर्थ्य, स्पष्टता और सरलता के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है किंतु मैंने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि वैज्ञानिक सुनिश्चितता को कोई भी क्षति न पहुँचे। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, "विश्व विद्यालय स्वतन्त्र विचारों का स्थान है और प्रोफ़ेसर के लिए यह एक गौरव की बात है कि वह कोमल विषयों को भी पूर्ण निष्पक्षता

और स्पष्टता के साथ समझाता है।' इस पुस्तक में मैंने उसी भावना को सर्वोपरि स्थान दिया है ।

× × × ×

काशी-विश्वविद्यालय के बहुत-से मित्रों और सहयोगियों के प्रति मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। यह दुःख की बात है कि आज उनमें से कुछ व्यक्ति इस संसार में नहीं हैं। मुझे इस बात का विश्वास है कि बनारस के मेरे मित्र और सहयोगी इस बात का बुरा नहीं मानेंगे कि मैं उनके प्रति अपना आभार प्रकट करने में उनके नामों का उल्लेख नहीं कर रहा। भेद-भाव न करने की दृष्टि से मैं रामजस कॉलेज, दिल्ली के अपने तरुण सहयोगी को भी बिना नाम लिये ही धन्यवाद दूँगा । यहाँ पर मैं केवल अपने भाई सन्त निहाल सिंह और उनकी सहधर्मिणी श्रीमती कैथिलीन निहालसिंह के ही नामों का उल्लेख करूँगा—उनके प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ और उनको आदर और श्रद्धा के साथ मैं इस पुस्तक को समर्पण करता हूँ, जिसको लिखने में मैंने अपने जीवन के कई वर्ष व्यतीत किये हैं।

अन्त में, मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस खंड में जो कुछ भी दोष हों, उनके लिए मैं स्वयं ही उत्तरदायी हूँ।

कॉलेज ऑव कामर्स,
दिल्ली।

गुरुमुख निहाल सिंह

विषय-सूची

भाग १

भारत में कम्पनी का राज्य

(पृष्ठ १ से पृष्ठ ८२ तक)

भाग २

भारत में ब्रिटिश राज्य

(पृष्ठ ८३ से पृष्ठ ४१९ तक)

भाग १

भारत में कम्पनी का राज्य

पहला अध्याय

ब्रिटेनवासियों का आगमन

(१)

भारत की अनन्त सम्पत्ति की कहानियों को सुनकर और स्पेनवासियों को पूर्वी द्वीप समूह के साथ व्यापार में समृद्ध होता हुआ देखकर, अंग्रेज़ साहसिक ललचाये और इस देश के लिए नया समुद्री[1] मार्ग पाने के लिए दुस्तर खोज करने लगे। उन्हों ने भयंकर कठिनाइयों और बहुत बड़ी हानियों का सामना किया। उनमें से कुछ ने इस प्रयत्न में अपने प्राणों और जहाज़ों को खो दिया।[2] कुछ को विवश होकर दूसरे प्रदेशों में उतरना पड़ा और दूसरे देशवासियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने पड़े।[3] परन्तु वे जुटे रहे : जब तक उन्हें यह विश्वास नहीं हो गया कि भारत जाने के लिए 'गुडहोप' अन्तरीप से घूमकर जाना ही सर्वोत्तम मार्ग है और जब तक उन्हें वहाँ पैर जमा सकने का निश्चय नहीं हुआ, वे बराबर प्रयत्नशील बने रहे। एक शताब्दी के दुःखद अनुभव से तो उन्हें पहली बात का विश्वास हुआ और एलिज़ाबेथ के आधीन इंगलैंड की बढ़ती हुई शक्ति से उन्हें दूसरी बात की आशा हुई। फलतः पूर्वी द्वीप समूह के साथ व्यापार करने के उद्देश्य से, लन्दन के कुछ साहसिक व्यापारियों ने अपनी एक कम्पनी[4] बनाई।

लन्दन के व्यापारियों की यह कम्पनी सन् १५९९ में बनी और उसे ३१ दिसम्बर १६०० में रानी एलिज़बेथ से अधिकार-पत्र मिला। उस अधिकार-पत्र ने कम्पनी की व्यवस्था एक गवर्नर और चौबीस सदस्यों में निहित की और इन लोगों को पूर्वी द्वीप समूह के लिए खोजपूर्ण व्यापारिक यात्राओं के संगठन का अधिकार दिया। सुदूर पूर्व के व्यापार के लिए कम्पनी को एकाधिपत्य मिला और

---

१. स्थल मार्ग में तुर्किस्तान की बाधा थी और गुडहोप अन्तरीप के मार्ग पर पुर्तगाल वालों का एकाधिपत्य समझा जाता था।

२. सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में सर ह्यू विलबी ने नये समुद्री मार्ग द्वारा भारत पहुँचने के प्रयत्न में अपनी जान दी और अपना जहाज़ खोया।

३. कैप्टेन चांसलर को विवश होकर श्वेत समुद्र (ह्वाइट सी) में जाना पड़ा। वहाँ से वह मास्को गये और आंग्ल-रूसी व्यापार और कम्पनी की नींव रखी।

४. कम्पनी का नाम था : 'गवर्नर एण्ड कम्पनी ऑव् मर्चेण्ट्स ऑव् लण्डन ट्रेडिंग इन टु दि ईस्ट इण्डीज़'।

साथ ही अपनी रक्षा के लिए सीमित[1] किन्तु सशस्त्र, समुद्री सेना रखने का अधिकार मिला। आरम्भ में अधिकार-पत्र १५ वर्षों के लिए था। यह अवधि बीतने पर फिर से जारी किया जाता, यह परीक्षण करने के बाद कि राजसत्ता और सर्वसाधारण के हितों को कोई क्षति तो नहीं पहुँचती, दो वर्ष का नोटिस देकर अधिकार-पत्र समाप्त किया जा सकता था।

लन्दन-कम्पनी एक 'रेगुलेटेड'[2] कम्पनी की तरह आरम्भ हुई। वह 'ज्वाइण्ट स्टॉक' कम्पनी नहीं थी। कम्पनी के नाम से जो सबसे पहली समुद्री यात्राएँ हुईं वह पृथक् यात्राएँ थीं; संयुक्त यात्राएँ नहीं थीं। उन यात्राओं से केवल उन्हीं सदस्यों को लाभ हुआ, जो स्वयं ही अपनी इच्छा से उन यात्राओं में सम्मिलित हुए। किन्तु सन् १६१२ में संयुक्त पूँजी की आवश्यकता अनुभव की गई और सब सदस्यों से साझेदारी में पूँजी लगाने के लिए कहा गया। आरम्भ में यह साझा निश्चित और सीमित अवधि के लिए था।[3] सन् १६५७ में पहली बार सदस्यों ने स्थायी संयुक्त पूँजी के लिए धन दिया और कम्पनी को एक ज्वाइण्ट स्टॉक कारपोरेशन बना दिया।

(२)

अधिकार-पत्र से सुरक्षित, लन्दन कम्पनी अपने अत्यन्त घटनापूर्ण जीवन में आगे बढ़ी। एक स्थायी आंग्ल-भारतीय व्यापार की नींव रखने के लिए उसने भारतीय समुद्र-तट के महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों पर फैक्ट्री बनाना और बस्ती बसाना आरम्भ किया। कम्पनी द्वारा स्थापित सबसे पहला व्यापारिक बन्दरगाह था-

---

१. कम्पनी को अधिकार-पत्र (चार्टर) से 'छः अच्छे जहाज़ और छः अच्छी लड़ाकू नावें' और उनके लिए पर्याप्त युद्ध सामग्री, शस्त्र आदि और ·······पाँच सौ नाविक रखने का अधिकार मिला।
Mukherjee : Indian Constitutional Documents. Vol. I., page 14.

२. "ऐसी कम्पनी के सदस्य कुछ ऐसे नियमों के अधीन थे जो सबसे सम्बन्धित थे और कुछ सुविधाओं के लिए सबको अधिकार था लेकिन प्रत्येक सदस्य अपनी निजी पूँजी पर कायम व्यापार था और कोई संयुक्त पूँजी नहीं थी।"
Ilbert : Govt. of India : Historical Survey, page 7.

३. "अवधि पर समाप्त होने वाली साझेदारी में, समय आने पर, साझे का विभाजन हो जाता।"
The Cambridge History of India, Vol. V., page 89.

सूरत[1], जहाँ उसे सम्राट् जहाँगीर से ज़मीन और कुछ दूसरी सुविधाएँ मिली थीं। सन् १६१६ में मछलीपट्टम में एक फैक्ट्री स्थापित की गई। सन् १६३३ में (महानदी डेल्टा में) एक फैक्ट्री हरिहरपुर में खोली गई। सन् १६४० में सेण्ट जार्ज का किला मद्रास में बनाया गया। सन् १६५० में कम्पनी को बंगाल के शासक से, उस प्रान्त में व्यापार करने, फैक्ट्री बनाने आदि का अधिकार मिला (जो बंगाल जीतने पर औरंगज़ेब के शाही प्रतिनिधि ने बना रहने दिया)। फलतः शाही बन्दरगाह हुगली पर एक फैक्ट्री खोली गई लेकिन नये शाही प्रतिनिधि शाइस्ताखाँ के विरोध के कारण कम्पनी विशेष प्रगति नहीं कर सकी। सन् १६८६ में जॉब चारनॉक को हुगली छोड़ना पड़ा और सुतनती, जहाँ वर्तमान कलकत्ता स्थित है, आना पड़ा। १६९० में वहाँ एक फैक्ट्री बनाई गई। १६६९ में राजा चार्ल्स द्वितीय ने राजसत्ता के नाम से १० पौंड वार्षिक लगान पर बम्बई द्वीप और बन्दगाह भेंट किये। इस प्रकार भारत के समुद्र-तट के महत्वपूर्ण स्थान सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक कम्पनी को प्राप्त हो गए। इन स्थानों से कम्पनी अपना व्यापार और अपने दूसरे धंधे सुविधा के साथ कर सकती थी।

(३)

किसी कम्पनी को एकाधिपत्य देना, आजकल, नागरिकता के साधारण अधिकारों पर प्रबल आघात समझा जा सकता है किन्तु वह समय विशेषाधिकार और एकाधिपत्य का था और विदेश-व्यापार के क्षेत्र में तो यह बात विशेष रूप से थी। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि अधिकांश जनता को गिने-चुने लोगों की कारपोरेशनों[2] का एकाधिपत्य मानना पड़ता। जैसा कि इल्बर्ट ने संकेत किया है, "पूर्वी व्यापार को सफलता से चलाने के लिए यह आवश्यक था कि ऐसी समितियाँ बनाई जायँ जो देशी राजाओं से समझौता और सौदा करने में, अपने नौकरों में अनुशासन बनाये रखने में और अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों को उखाड़ फेंकने में समर्थ हों। स्वतन्त्र या अनधिकृत व्यापारी अपनी निर्बलता

१. कम्पनी की पहली दो यात्राएँ भारत के लिए नहीं हुईं वरन् आचीन (सुमात्रा), बान्तुम (जावा), और मौलुकास के लिए हुईं। तीसरी यात्रा में बान्तुम के मार्ग में सूरत पर रुकने की व्यवस्था हुई (२४ अगस्त १६०८)। लेकिन शाही फरमान १६१३ में मिला और उस समय सूरत में स्थायी फैक्ट्री खोली गई।

२. आंग्ल-रूसी व्यापार का एकाधिपत्य १५५३-५८ में रूसी कम्पनी को और भूमध्य सागर के व्यापार का एकाधिपत्य १५८१ में लीवेण्ट कम्पनी को दिया गया था।

के कारण, विदेशियों की दया पर रहता और अपने उत्तरदायित्व से विहीन होने के कारण अपने देशवासियों के लिए संकट का कारण हो सकता था।[१]

(४)

फिर भी लन्दन-कम्पनी के प्रति आरम्भ से ही ईर्ष्या और रोष की भावना जाग्रत हुई और उसे देशी तथा विदेशी[२] अनधिकृत व्यापारियों और प्रतिद्वन्द्वियों ने परेशान किया। उसकी पहली मुठभेड़ हुई असाडा-कम्पनी से। इस कम्पनी को उसके संस्थापक सर विलियम कोर्टीन के नाम पर कोर्टीन एसोसियेशन भी कहते थे। सर कोर्टीन ने अपने प्रभाव और अपनी पहुँच द्वारा चार्ल्स प्रथम से अधिकार-पत्र प्राप्त कर लिया था। इस कम्पनी ने असाडा (मैडगास्कर) में एक बस्ती बसाई थी। कुछ समय तक इसने बड़े जोरों से व्यापार चलाया और लन्दन-कम्पनी को भारी क्षति पहुँचाई। अन्त में एक समझौता हुआ और असाडा-कम्पनी, लन्दन-कम्पनी में मिला ली गई। गृह-युद्ध का भी कम्पनी की स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा[३] लेकिन विजेता ने उसकी रक्षा की। उसने देशी और विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों के साथ कम्पनी के झगड़ों का निपटारा किया और १६५७ में एक नया अधिकार-पत्र दिया और साथ ही उसे एक स्थायी संयुक्त पूंजी की कम्पनी के रूप में बदल दिया।[४]

नये अधिकार-पत्र के नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति ५ पौंड प्रवेश-शुल्क और कम्पनी की पूंजी में कम-से-कम १०० पौंड देकर, उसका सदस्य हो सकता था किन्तु कम्पनी के साधारण अधिवेशन या 'जनरल कोर्ट' में मत वही व्यक्ति दे सकता था जिसका पूंजी में साझा ५०० पौंड या उससे अधिक हो। १००० पौंड के साझेदार कमेटियों अथवा 'कोर्ट ऑव् डाइरेक्टर्स' की सदस्यता के चुनाव के लिए खड़े हो सकते थे। इनमें से प्रतिवर्ष आठ सदस्यों की अवधि समाप्त होती। गवर्नर और डिप्टी गवर्नर का

१. Ilbert : Historical Survey, page 9.

२. विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष के सम्बन्ध में पृष्ठ ९ और १० देखिये।

३. पार्लियामेण्ट के राउण्डहेड अर्थात् प्योरिटन दल ने कम्पनी से बलात् ५००० पौंड का ऋण लिया।

४. १९ अक्तूबर १६५७ के अधिकार-पत्र ने कम्पनी को एक स्थायी संयुक्त पूंजी बनाने के लिए जोर दिया। इस प्रकार हंटर के शब्दों में कम्पनी, "मध्यकालीन व्यापार-संघ के दुर्बल अवशिष्ट से आगत आधुनिक ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी" के रूप में बदल दी गई।

कार्य-काल घटा दिया गया जो अधिक-से-अधिक लगातार दो वर्ष के लिए सीमित था ।

चार्ल्स द्वितीय के प्रत्यागमन के बाद कुछ समय तक कम्पनी की समृद्धि की धूम रही। यह चढ़ाव सत्रहवीं शताब्दी की नवीं दशाब्दी में अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँचा। उस समय कम्पनी का निर्देशन सर जोशिया चाइल्ड के महान् व्यक्तित्व द्वारा हो रहा था। उसी समय सन् १६८८ का प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकार किया गया था।[1] किन्तु १६८८ की क्रान्ति के बाद कम्पनी के लिए स्थिति बिगड़ गई।

कम्पनी के प्रतिद्वन्द्वियों ने क्रांति और बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति का लाभ उठाया और एक प्रबल विरोध का संगठन किया। १६९१ में पार्लियामेंट ने सुदूर पूर्व के व्यापार की सफलता और उस व्यापार को एक ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी के हाथों में बने रहने देने की उपयोगिता को स्वीकार किया; और लन्दन-कम्पनी को उसके प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा बनाई हुई नई कम्पनी में मिला देने का प्रस्ताव किया गया। लेकिन बहुत बड़ी रिश्वतें[2] देकर सर जोशिया चाइल्ड ने १६९३ में कम्पनीका अधिकार-पत्र फिर से जारी करा लिया।

सन् १६९३ के अधिकार-पत्र के अनुसार कम्पनी की पूँजी बढ़ाकर ७,४४,००० पौंड कर दी गई; किसी एक व्यक्ति का अधिकतम साझा १०,००० पौंड पर सीमित कर दिया गया और हर १००० पौंड की पूंजी[3] पर एक वोट के अनुसार किसी एक साझेदार के लिए अधिक-से-अधिक १० वोट की सीमा निश्चित कर दी गई। १००० पौंड देने वाले साझेदार

१. सन् १६८८ का प्रस्ताव : "हमारी आय में वृद्धि हमारे ध्यान का विषय है......उतने ही ध्यान का जितना कि हमारा व्यापार; अपने व्यापार में बाधाओं और दुर्घटनाओं के समक्ष उसी से बल बनाये रखना है; उसी से हमें अपने को भारत में एक राष्ट्र बनाना है।"

२. सन् १६९५ में हाउस ऑव् कॉमन्स के सामने रखे गए कम्पनी के गुप्त खर्च के हिसाब के अनुसार २३,४६९ पौंड सन् १६८८ और १६९२ के बीच खर्च किये गए और १६९३ में ८०,४६८ पौंड खर्च किये गए।
Thakore: Indian Administration to the Dawn of Responsible Government.

३. सन् १६९८ के अधिकार-पत्र द्वारा एक वोट के लिए ५०० पौंड के साझे का नियम हो गया और अधिकतम वोटों की संख्या ५ कर दी गई।

कमेटियों के चुनाव के लिए खड़े हो सकते थे[१]; लेकिन गवर्नर या डिप्टी गवर्नर होने के लिए ४००० पौंड का साझा होना आवश्यक था। सारे स्थान-परिवर्तनों का उल्लेख एक रजिस्टर में किया जाना था। इस रजिस्टर को सार्वजनिक निरीक्षण के लिए सुलभ रखना था। संयुक्त पूँजी का भुगतान केवल इक्कीस वर्षों के लिए था।[२]

अधिकार-पत्र फिर से मिलने के कारण लन्दन-कम्पनी का बल बढ़ा और उसने पूर्वी द्वीप समूह के लिए जाने वाले रेडब्रिज जहाज को रोक लिया। कम्पनी ने इस व्यवहार पर आपत्ति की और प्रश्न पार्लियामेंट के सामने आया। हाउस ऑव् कामन्स ने १६९४ में एक प्रस्ताव स्वीकार किया, "कि इंगलैंड की सारी प्रजा को पूर्वी द्वीप समूह के साथ व्यापार करने का समान अधिकार है, जब तक कि पार्लियामेंट के एक्ट द्वारा ही उस पर रोक न लगा दी जाय।" इस प्रकार उस समय के लिए लन्दन-कम्पनी का एकाधिपत्य तोड़ दिया गया। साथ ही लार्ड मैकॉले के शब्दों में सदा के लिए यह निर्णय कर दिया गया कि, "लोक सभा के अतिरिक्त और कोई सत्ता किसी व्यक्ति या समुदाय को संसार के किसी भाग से व्यापार करने के लिए एकाधिपत्य अथवा विशेषाधिकार नहीं दे सकती।"

सन् १६९४ के प्रस्ताव से व्यापारिक एकाधिपत्य प्रदान करने का अधिकार राज-पद से हटकर पार्लियामेंट में आ गया। अब एक एक्ट के लिए तत्कालीन अर्थ-मन्त्री (चांसलर ऑव् दी एक्सचेकर) मि. माण्टेगु द्वारा, पुरानी और नई दोनों कम्पनियाँ, लोक सभा में यत्न करने लगीं। माण्टेगु को धन की बड़ी भारी आवश्यकता थी और दोनों कम्पनियों के बीच व्यापार का एकाधिपत्य "नीलाम पर रख दिया गया।"[३] पुरानी कम्पनी ने पहले ही रिश्वत में बड़ी-बड़ी रकमें खर्च की थीं और हाल में ही फ्रांस से युद्ध के समय में बड़ा भारी घाटा उठाया था और वह ४ प्रतिशत ब्याज पर केवल ७,००००० पौंड का ऋण दे सकती थी और वह भी पूँजी बढ़ाकर १५,००,००० पौंड करने

१. सन् १६९८ में बढ़ाकर २००० पौंड कर दी गई।

२. Ilbert: Historical Survey, page 26.

३. "(विशेषाधिकारों के बदले में राज्य के लिए ऋण लेने की) यह व्यवस्था उससे अच्छी थी जिसमें व्यापारियों को विशेषाधिकार राजाओं को भेंट देने और मन्त्रियों को रिश्वत देने से मिलते थे और इसे अगली पीढ़ी में बहुत बढ़ावा मिलना था।" Ilbert: Historical Survey, page 28.

की अनुमति मिलने पर। किंतु नई कंपनी २०लाख पौंड उधार देने को प्रस्तुत थी। माण्टेगु को इतने की ही आवश्यकता थी। पर नई कम्पनी की ब्याज की दर ८ प्रतिशत थी। पार्लियामेंट में बिल रखा गया जिसके अनुसार, "सरकार के लिए २० लाख पौंड ऋण की माँग की गई। उसके बदले में ऋण देने वालों को पूर्वी द्वीप समूह के साथ व्यापार करने का एकाधिपत्य था।"[1] पुरानी कम्पनी को उसके अधिकार-पत्र के अनुसार ३ वर्ष अर्थात् सितम्बर १७०१ तक समय देना था। जब पुरानी कम्पनी ने यह अनुभव किया कि एकाधिपत्य और किसी प्रकार नहीं बच सकता तो वह सारी रकम का प्रबन्ध करने के लिए तैयार हुई किन्तु यह प्रस्ताव देर से आया। नई कम्पनी को एकाधिपत्य देने वाला बिल पार्लियामेंट के दोनों भवनों से स्वीकृत हो गया और जुलाई १६९८ में उसे राजकीय स्वीकृति मिल गई।

सन् १६९८ के एक्ट ने ऋण देने वालों को इस बात की स्वतन्त्रता दी कि वे अपनी पूँजी के परिमाण के अन्तर्गत अलग-अलग अथवा "राजकीय अधिकार-पत्र के अधीन[2] संयुक्त रूप से व्यापार कर सकते हैं।" "अधिकांश ने पिछली बात को पसन्द किया और परिणामत: ५ सितम्बर १६९८ को शाही अधिकार-पत्र द्वारा 'दी इंगलिश कम्पनी ट्रेडिंग दि ईस्ट इंडीज़' नाम की नई कम्पनी बनी।" उसका प्रबन्ध २४ डाइरेक्टरों को सौंपा गया। ये लोग अपने में से ही एक अध्यक्ष (चेयरमैन) और एक उपाध्यक्ष नियुक्त करते। इस सम्बन्ध में एक ध्यान देने की बात यह है कि पहली कम्पनी की तरह इस कम्पनी के लिए कोई पृथक् प्रवेश-शुल्क नहीं था।[3]

सन् १६९८ के एक्ट बन जाने के फलस्वरूप दोनों कम्पनियों में घातक प्रतिद्वन्द्विता हुई जिसमें सचाई के साथ व्यापार करने के सारे नियमों की अवहेलना की गई। पुरानी कम्पनी को अनुभव था और साथ ही नई कम्पनी में कुछ स्वार्थ भी था। कारण यह था कि भविष्य के लिए सुरक्षा की दृष्टि से पुरानी कम्पनी ने नई कम्पनी की २० लाख पौंड की पूँजी में ३,१५,००० पौंड दिये थे। दूसरी ओर सन् १७०१ में पुरानी कम्पनी के बन्द होने तक नई कम्पनी प्रतीक्षा कर सकती थी। किन्तु इसी बीच स्थिति बड़ी विकट

१. Foster: Chapter IV, Cambridge History of India, Vol. V, pages 98-99.
२. Ilbert: Historical Survey, page 28.
३. Foster: Chapter IV, Cambridge History of India, Vol. V, pages 98-99.

हो गई। नई कम्पनी को असाधारण क्षति होने लगी। उसके लिए एकमात्र उपाय पुरानी कम्पनी से किसी प्रकार समझौता करना था। इस प्रकार लार्ड गोडोल्फिन के हस्तक्षेप से समझौता हुआ। उसके अनुसार दोनों कम्पनियाँ अपनी सम्पत्ति के मूल्य आँके जाने के बाद, बराबर के साझे में एक हो जाने को तैयार हो गईं। सन् १७०२ के इस समझौते के अनुसार "पुरानी कम्पनी को सात वर्ष तक पृथक् सत्ता बनाये रखने की अवधि मिली, किन्तु इंगलिश कम्पनी के नाम से व्यापार संयुक्त रूप से चलने की व्यवस्था थी। इस संयुक्त व्यापार का लाभ दोनों के लिए था और उसका निर्देशन २४ सदस्यों के हाथ में होना था—१२ सदस्य पुरानी कम्पनी द्वारा छाँटे हुए और १२ नई कम्पनी द्वारा। सात वर्ष बीतने पर पुरानी कम्पनी को अपने अधिकार-पत्र[1] छोड़ देने की शर्त थी" और नई कम्पनी 'दी यूनाइटेड कम्पनी ऑव् मर्चेण्ट्स ऑव् इंगलैंड ट्रेडिंग टु दी ईस्ट इंडीज़' नाम से व्यापार चलाती।

सन् १७०२ के समझौते में कुछ झगड़े उठ खड़े हुए और कठिनाइयां सामने आईं। इनका निपटारा करने के लिए १७०७ में एक एक्ट बनाया गया। इसके द्वारा नई कम्पनी से सरकार को बिना ब्याज के १२ लाख पौंड का एक अतिरिक्त ऋण देने के लिए कहा गया। इस प्रकार कुल ३२ लाख पौंड पर ब्याज की दर घटकर केवल ५ प्रतिशत रह गई। बदले में इंगलिश कम्पनी के विशेषाधिकार १७२६ तक बढ़ा दिए गए। साथ ही इस कम्पनी को उन व्यापारियों से, जिन्होंने १६९८ में व्यक्तिगत रूप से व्यापार करने का निश्चय किया था, उनका व्यापार खरीद लेने का अधिकार दिया गया। दोनों कम्पनियों के प्रमुख प्रश्नों को हल करने के लिए लार्ड गोडोल्फिन मध्यस्थ नियुक्त किये गए। उन्होंने सितम्बर १७०८ में अपना निर्णय दिया। मार्च १७०९ में पुरानी कम्पनी ने अपने अधिकार-पत्र रानी को सौंप दिए। इस प्रकार लंदन-कम्पनी के पृथक् अस्तित्व का अन्त हो गया। नई कम्पनी ने[2] अपने उपर्युक्त नाम से पुरानी कम्पनी का काम हाथ में ले लिया और अपना घटनापूर्ण एवं समृद्धिशाली जीवन आरम्भ किया।

---

१. Ilbert: Historical Survey, page 30.

२. औबर ने यूनाइटेड कम्पनी का विधान इस प्रकार दिया है: "कम्पनी उन सब व्यक्तियों की थी जिनका तत्कालीन २० लाख पौंड की पूंजी में हिस्सा था। प्रत्येक पुरुष या स्त्री को, जिसका अपने या दूसरे नाम में ५०० पौंड का साझा था, वोट देने का अधिकार था। वह मालिकों की मीटिंग में, जिसे चार्टर द्वारा 'जनरल कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स' का नाम दिया गया था,

(५)

यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कम्पनी का जन्म और औरंगजेब के महान् मुगल व्यक्तित्व का अवसान, ये दोनों बातें एक ही साथ हुईं। यह एक ऐसा संयोग था जिसका आगे चलकर भारत के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। लेकिन भारत में अपना प्रभुत्व जमाने से पहले यूनाइटेड कम्पनी को यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों, विशेषकर फ्रांस और साथ ही भारतीय शासकों के प्रबल विरोध का सामना करना था।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही पुर्तगालवासियों की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। १६४८ में मन्स्टर की संधि के अनुसार भारत में पुर्तगालवासियों का अधिकार पश्चिम तट पर दीव, दामन और गोआ पर ही रह गया था।[1] १६४८ के बाद पूर्व में पुर्तगाल वालों का महत्त्व समाप्त हो गया था।

हॉलैण्ड वालों से संघर्ष अधिक समय तक चला। १६२३ में एम्बायना में हॉलैण्ड वालों ने सब अंग्रेजों को मार डाला। उसका परिणाम यह हुआ कि लंदन-कम्पनी स्पाइस द्वीप के साथ व्यापार से हट आई और उसने अपनी शक्ति भारतीय व्यापार में केन्द्रित की। १६५४ में वेस्टमिन्स्टर की संधि के अनुसार क्षति-पूर्ति के रूप में कम्पनी को ८५,०००[2] पौंड मिले। (क्रोमवेल के अधीन) ब्रिटेन और हॉलैण्ड में तीन वर्ष युद्ध होने के बाद यह संधि हुई थी। अन्त में फ्रांस ने यूरोप में हॉलैण्ड की शक्ति को कुचल दिया और

विवाद में भाग ले सकता था। प्रोप्राइटर्स को २००० पौंड के साझेदारों में से २४ डाइरेक्टर चुनने होते थे। काम करने के लिए कम-से-कम १३ सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य थी। संयुक्त रूप से उनका नाम था 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स'। चार्टर के अनुसार हर तीन महीने बाद कोर्ट की मीटिंग होनी अनिवार्य थी। कम्पनी के शासन के लिए नियम बनाने को एक कमेटी नियुक्त किये जाने की व्यवस्था थी। वह नियम-कानून उतने ही मान्य थे जितने कि पार्लियामेंट के नियम, बशर्ते कि वह किसी एक्ट के प्रतिकूल न हों।" Auber : The Rise and Progress of British Power in India page 13.

१. ये स्थान अब भी पुर्तगाल वालों के अधिकार में हैं किन्तु १५ अगस्त १९४७ को भारत के स्वतन्त्र होने के बाद उनका भविष्य भारत और पुर्तगाल, दोनों देशों की सरकार के विचाराधीन है।

२. इसमें से क्रोमवेल ने कॉमन वैल्थ सरकार के लिए ५०,००० पौंड उधार ले लिए।

१६९७ में रिसविक की संधि होने पर पूर्व में हॉलैण्ड वालों का व्यापारिक प्रभुत्व भी समाप्त हो गया।

(६)

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड के दो यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी मैदान से निकल गए किन्तु फ्रांसीसी अभी जमे हुए थे। भारत के पूर्वी तट पर मद्रास के निकट पांडिचेरी और कलकत्ते के निकट चन्द्रनगर में उन्होंने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली थी।[1] स्थानीय फ्रांसीसी शासकों ने भारतीय शासकों से मित्रता बढ़ाई और फलतः देश में अपनी शक्ति और प्रभुता जमाने में सफल हुए।

फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में प्रभुता के लिए वास्तविक संघर्ष १७४१ में डुप्ले के पांडिचेरी के शासक (गवर्नर) नियुक्त होने पर आरम्भ हुआ। यह संघर्ष २० वर्ष तक चला। पहले आठ वर्षों में अर्थात् १७४९ तक फ्रांसीसियों का पक्ष प्रबलतर रहा। क्लाइव द्वारा आर्काट जीत लेने पर पासा पलट गया किन्तु अन्तिम रूप से फ्रांसीसी शक्ति अंग्रेजों द्वारा वन्देवश की जीत के बाद ही २१ जनवरी १७६० को परास्त हुई।

(७)

इस बीच बंगाल में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं।

बंगाल के नये नबाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों की अकड़ और शत्रुतापूर्ण हरकतों[2] से चिढ़कर १७५६ में कलकत्ते पर चढ़ाई की। गवर्नर (ड्रेक) और मुख्य सैनिक अधिकारी ने किले को उसके भाग्य पर छोड़ दिया—और स्वयं भागकर हुगली में ब्रिटिश जहाज़ों पर पहुँच गए। मामूली लड़ाई के बाद फोर्ट विलियम की सेना ने हथियार डाल दिए और ब्लैक होल[3] की कथित घटना हुई। क्लाइव

१. यमन, हरिकल और माही—इन तीन स्थानों पर भारत में फ्रांसीसी अधिकार और बना हुआ है। १९ जून १९४९ को चन्द्रनगर में भारत में विलयन के लिए मत दे दिया है। शेष चार फ्रांसीसी अधिकारों के प्रश्न पर दोनों सरकारों में बातचीत चल रही है।

२. Keith : Speeches and Documents on Indian Policy. Vol. 1, page 3.

३. ब्लैक होल के विषय में इतिहासकारों के विवाद में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अधिकांश भारतीय और कुछ अंग्रेज और विदेशी इतिहासकार यह मानते हैं कि यह घटना कभी हुई ही नहीं; यदि हुई तो नगण्य रूप में। अन्यथा कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स के पास बंगाल कौंसिल से जो कागज भेजे जाते थे उनमें इसकी चर्चा अवश्य होती। फ्रांसीसी भारत के एक भूतपूर्व गवर्नर-

और वाटसन मद्रास से हालत सँभालने और क्षति-पूर्ति करने के लिए भेजे गए। उन्होंने तुरन्त ही बजबज के किले को अपने अधीन किया और २ जनवरी १७५७ को फोर्ट विलियम पर अधिकार कर लिया। एक सप्ताह बाद हुगली का किला भी जीत लिया गया। क्षति-पूर्ति करने के आधार पर नवाब के साथ संधि भी की गई।

क्लाइव ने कलकत्ते में बसकर नवाब के मन्त्रियों के साथ षड्यंत्र रचने शुरू किये। उसने नबाब के सेनानायक मीर जाफर के साथ एक संधि की। क्लाइव ने धोखे और जालसाज़ी[1] से अमीचन्द को उसके इनाम के मामले में ठगा। इस प्रकार अपनी स्थिति दृढ़ करके क्लाइव नवाब की सेना से मुर्शिदाबाद के पास टक्कर लेने के लिए बढ़ा। पलासी में युद्ध हुआ। नवाब की सेना हार गई। सिराजुद्दौला वेष बदलकर भागा, पर पकड़ा गया और बन्दीखाने में डाल दिया गया। बाद में मीर जाफ़र के एक लड़के ने उसको मार डाला। अंग्रेज़ों ने संधि का पालन किया और २७ जून १७५७ को मीर जाफ़र नवाब घोषित कर दिया गया।

(८)

सन् १७६१ तक अंग्रेज़ों ने परिस्थितियों को अपने वश में कर लिया। उन्होंने फ्रांसीसियों को और सिराजुद्दौला को हरा दिया था। दक्षिण में और पूर्व में उनकी शक्ति सर्वोपरि थी। मराठों से, जो उस समय भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली थे, उन्हें अपनी साम्राज्यवादी योजनाओं के लिए खतरा हो सकता था। किन्तु उनके भाग्य से, १७६१ में पानीपत की हार से मराठों की दशा बहुत बिगड़ गई। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश राज्य के विस्तार के लिए मार्ग खुला हुआ था।

क्लाइव ने भारत में ब्रिटेनवासियों का भविष्य स्पष्टता के साथ देखा उसने अपने साम्राज्य की नींव बड़ी चतुराई और दृढ़ता के साथ रखी। शीघ्रता से विस्तार करने और सशस्त्र विजय की नीति अपनाने के स्थान पर वह बड़ी सावधानी और समझदारी के साथ आगे बढ़ा; एक स्थान पर कुछ भमि का अधिकार लिया तो किसी दूसरे स्थान पर मालगुज़ारी उगाहने का काम लिया

जनरल मार्तिनो, जो उस समय के इतिहास के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं, यह मत देते हैं कि जब तक नये प्रमाण न मिलें, ब्लैक होल की घटना को सिद्ध करने के लिए, उपलब्ध प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं।

१. कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने क्लाइव का कलंक धोने के लिए पूर्वी देशों के रहने वालों की नैतिकता पर आघात किया है। उनके अनुसार क्लाइव ने उन्हीं लोगों की चाल अपनाई। किन्तु इससे कोई सफाई नहीं होती ; एडमिरल वाटसन ने उसे ऐसा नहीं समझा।

ताकि कोई प्रबल विरोध न उठ खड़ा हो और भारतवासी विदेशियों[1] को मार भगाने के लिए संगठित न हो उठें। क्लाइव ने बड़ी कुशलता के साथ स्थिति को सँभाला। उसने दिल्ली के मुगल सम्राट् की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार की। उसने सम्राट् से कम्पनी को सरकार देने की, हैदराबाद से कर्नाटक पृथक् करने की, और बंगाल में कम्पनी को दीवानी[2] का अधिकार देने की माँग की। उसने बंगाल को सरकार के साथ मिलाने के लिए बरार के राजा के प्रदेशों पर अधिकार नहीं किया वरन् राजा को मनाकर राजी कर लिया। उसने बक्सर के बाद अवध को छीना नहीं वरन् नबाब को अपना साथी बना लिया। वह मराठों से लड़ा नहीं वरन् उड़ीसा में उनके चौथ के अधिकार को स्वीकार कर लिया। दक्षिण में पेशवा के विरुद्ध शक्ति का संतुलन करने के लिए उसने निजाम से मित्रता कर ली। इस प्रकार उसने यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थिति को सुदृढ़ किया और पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी।

दूसरा अध्याय

ब्रिटिश राज्य का आरम्भ

(१)

सन् १७६५ में दीवानी का अधिकार मिल जाने से कम्पनी के मालिकों को बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। भविष्य की सुनहली कल्पनाओं से उनकी आँखें चौंधिया गईं। क्लाइव के अनुसार १७६५ में बंगाल की कुल मालगुजारी ४० लाख पौंड थी और सारे व्यय निकालकर कम्पनी की विशुद्ध आय १६,५०,००० पौंड थी। १७६७ में कम्पनी के स्टॉक की दर बढ़कर २६७ और लाभांश १२½ प्रतिशत हो

---

१. प्रो० कीथ लिखते हैं: "मीर कासिम के प्रबल विरोध से क्लाइव को इस बात का भय था कि कहीं देशी लोग, यूरोपीय साथियों के अभाव में अपने ही साधनों से, अपने उस प्रमाद को छोड़कर, जो यूरोपीय सहायकों की उपस्थिति में था, अंग्रेजों के विरुद्ध, सुसंगठित होकर विकट युद्ध न करें।" Keith in his preface to 'Speeches and Documents on Indian Policy.

२. क्लाइव ने १७५९ में अंग्रेजों के लिए बंगाल की सूबेदारी प्राप्त करने के उद्देश्य से पिट को अपने दृष्टिकोण पर लाने का प्रयत्न किया था। Keith: Speeches and Documents on Indian Policy.

गया। कम्पनी के कर्मचारी अपने साथ बड़ी भारी सम्पत्ति ले गए और इंगलैंड में अपने नाम की बस्ती और प्रदेश बनाकर 'नवाबों' की भाँति जम गए।[1] हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्यों ने राजसत्ता के लिए वांछित धन पाने का सुअवसर देखा और कम्पनी पर यह धन देने का दायित्व डालकर उन्होंने अपने निर्वाचकों की दृष्टि में अपने-आपको न्याय्य ठहराया। किन्तु ४००,००० प्रति वर्ष का मूल्य[2] लेकर और बदले में कम्पनी को भारत के अधिकृत प्रदेशों[3] पर यथावत् अधिकार बनाये रखने की अनुमति देकर वे (हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्य) कुशासन के प्रति आँख बचाने के नाते[4] एक भयंकर विश्वास-घात के अपराधी थे। जब से माण्टेग् को उक्त योजना[5] सूझी यूनाइटेड कम्पनी ने अवधि बीतने पर अधिकार-पत्र फिर से प्राप्त करने के लिए हर बार धन दिया था। इस प्रकार १७५० तक कम्पनी ने ३ प्रतिशत ब्याज पर राजसत्ता को ४२ लाख पौंड ऋण दिया था। १७६७ में पार्लियामेंट ने एक एक्ट बनाया। उसमें दो वर्ष तक ४ लाख पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से धन देने की माँग थी। बदले में कम्पनी को उसी अवधि के लिए मालगुजारी और प्रादेशिक अधिकार बनाये रखने की अनुमति थी। १७६९ में यह समझौता पाँच वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया।

(२)

इस बीच भारतीय परिस्थिति अत्यन्त जटिल होती जा रही थी। कम्पनी के अधिकार तीन प्रेसीडेंसियों में थे। हर प्रेसीडेंसी की अपनी सरकार थी—गवर्नर और कौन्सिल—पृथक् और स्वतन्त्र। प्रत्येक का लन्दन में डाइरेक्टरों से

---

१. नवाब के वर्णन के लिए देखिये Disraeli's Sybil, Chapter III.

२. इस प्रकार राजसत्ता ने भारत से होने वाली धन-प्राप्ति में अपना हिस्सा जताया और भारतीय प्रदेशों की सत्ता के नियंत्रण करने का अधिकार भी जताया। ....

३. Keith: Speeches and Documents on Indian Policy, Vol. I, page XI.

४. बर्क ने कहा कि मन्त्रियों ने ४ लाख पौंड के मूल्य में इस रक्त-पात, इस बलात्कार, इस दुष्टता, इस शोषण को उचित ठहरा दिया था। इस अपराध-कर को स्वीकार करने के बाद फिर कोई बुराइयाँ नहीं सुनीं गईं।.....Roberts Chapter X, Cambridge History of India, Vol. V, page 183.

५. Keith: Speeches and Documents on Indian Policy. Vol. I, page 9.

सीधा सम्बन्ध था। डाइरेक्टरों द्वारा कम्पनी के ऊँचे कर्मचारियों में से गवर्नर और कौंसिल के सदस्यों की नियुक्ति होती थी। इन सदस्यों की संख्या १२ से लेकर १६ तक होती। इनमें से कुछ सदस्य बहुधा अनुपस्थित होते। केन्द्र से दूर, देश के भीतरी भागों में फैक्ट्रियाँ उनके आधीन थीं। सत्ता गवर्नर और कौंसिल में संयुक्त रूप से निहित थी और उसका निर्णय बहुमत पर था। कौंसिल के सदस्यों के बिखरे रहने के कारण, काम का ढंग से चलाना बहुत कठिन हो गया था। इस कारण क्लाइव को कौंसिल के कामों को एक छँटी हुई कमेटी को सौंपने का अधिकार दिया गया।

न्याय के सम्बन्ध में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही थीं। १७५३ के अधिकार-पत्र द्वारा प्रेसीडेंसी के नगरों के लिए मेयर के न्यायालय स्थापित कर दिए गए थे। इन न्यायालयों को उन यूरोपियनों पर, जो इन नगरों में रहते थे या उनसे सम्बन्धित फैक्ट्रियों में रहते थे, दीवानी, फ़ौजदारी और धार्मिक अधिकार था।[1] लेकिन उस समय तक बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रेसीडेंसी में अंग्रेजों की संख्या काफी बढ़ गई थी। इंगलैंड के कानून के अनुसार कलकत्ते के मेयर के अधिकार-क्षेत्र से बाहर उन्हें दंड देने का कम्पनी को कोई हक नहीं था, जब तक कि वह इंगलैंड वापिस न पहुँचें; लेकिन उस हालत में साक्षियों की गवाही न मिलती।[2] यह अनुभव किया गया कि इस कठिनाई का हल प्रान्त में एक सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) स्थापित करने से ही हो सकता है।

गवर्नर और उसकी परिषद् (कौंसिल) के अधीन सिविल और सैनिक कर्मचारी थे। इनका मुंशियों, दलालों और व्यापारियों में वर्गीकरण था। उनका वेतन हास्यास्पद रूप से कम था। पाँच साल से काम करने वाले मुन्शी को केवल १० पौंड प्रतिवर्ष मिलते। परिषद् के सदस्य को ८० पौंड प्रतिवर्ष मिलते और गवर्नर को ३०० पौंड प्रतिवर्ष। परन्तु उनकी ऊपरी आमदनी असाधारण थी। अनुभव ने उन्हें गरीब आदमियों से भेंट, रिश्वत और नज़राना लेने की कला में निपुण बना दिया था। लेकी के शब्दों में, "देशी आदमियों ने इससे पहले ऐसे अत्याचार का अनुभव नहीं किया था जो इतना पूर्ण, इतना कुशल और इतना निर्मम हो।······पूरे ज़िले जो किसी समय समृद्ध और घने आबाद थे, अब बिलकुल उजड़ गए थे। ऐसा देखा गया कि अंग्रेज़ व्यापारियों का दल दिखाई पड़ते ही

१. Yusuf Ali : The Making of India, pages 218-19

२. सन् १७७३ की पार्लियामेंटरी कमेटी के अनुसार सन् १७५७-६६ की अवधि में इस प्रकार ६० लाख पौंड जनता से बलात् वसूल किये गए थे। मीर जाफ़र से क्लाइव को जो धन मिला वह इसके अतिरिक्त था।

गाँव तुरन्त खाली कर दिए जाते, दुकानें बन्द कर दी जातीं और सड़कें घबराए हुए भागने वालों से भर जातीं। १७७०-७१ में फसल न होने के कारण बंगाल में जो भयंकर अकाल पड़ा उस समय जनता का कष्ट चरम सीमा पर पहुँच गया। किन्तु कम्पनी के कर्मचारी इतने निर्दय और इतने निर्लज्ज रूप से लालची थे कि उन्होंने जनता के कष्टों से लाभ उठाया और अकाल की स्थिति का निज के लिए धन बटोरने में उपयोग किया। कम्पनी के कर्मचारियों की लूट-मार[1] इतनी निर्मम थी और जनता के कष्ट इतने अधिक थे कि अन्त में पार्लियामेंट के सदस्यों को कुछ करने के लिए बाध्य होना पड़ा।[2] हाउस ऑव कॉमन्स में कर्नल बर्गोयन के प्रस्ताव पर १३ अप्रैल १७७२ को ३१ सदस्यों की एक छँटी हुई कमेटी की नियुक्ति की गई। इसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के काम और उसकी व्यवस्था की जाँच करने का भार सौंपा गया।

इस बीच कम्पनी की स्थिति बड़ी गम्भीर होती जा रही थी; वह बड़ी तेजी के साथ दिवालियेपन की ओर बढ़ रही थी। अगस्त १७७२ में कम्पनी के पदाधिकारियों ने अपना व्यय न चला सकने की असमर्थता को स्वीकार किया और लार्ड नॉर्थ से ऋण माँगा। बलिहारी है कम्पनी के कर्मचारियों की लोलुपता को जिसके कारण कम्पनी की आय तेजी से घट गई। प्रदेशों के बढ़ जाने, एक बड़ी सेना बनाये रखने और जब-तब युद्ध में भाग लेने के कारण उसका व्यय बहुत बढ़ गया था। हाल ही में हैदरअली के हाथों दक्षिण में हारकर कम्पनी को बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी थी। अगले तीन महीनों में आवश्यक भुगतान करने के लिए कम्पनी के पास १२,९३,००० पौंड की कमी थी। राजसत्ता का ऋण ही कम्पनी को नष्ट होने से बचा सकता था।

---

१. Horace Walpole ने लिखा है "अत्याचार और लूट-मार के ऐसे दृश्यों से हृदय काँप उठता है।··· सोने की लोलुपता में हम स्पेनवासियों की तरह हैं और उसे प्राप्त करने में हॉलैण्डवासियों की तरह परिष्कृत हैं।

२. "कम्पनी के अधिकारियों ने अतुल सम्पत्ति एकत्रित की थी। सर्वसाधारण के हृदय में यह संदेह था कि इन नवाबों ने यह सम्पत्ति अनुचित ढंग से प्राप्त की थी। इंगलैण्ड में इन कर्मचारियों का सम्पत्ति के कारण राजनीति पर प्रभाव पड़ता था। साथ ही यह संदेह था कि किसी व्यापारिक संस्था के लिए अपने नाम पर प्रादेशिक सर्वोच्च सत्ता हथियाना कहाँ तक न्यायोचित था। इन सब उपर्युक्त कारणों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के कामों की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया और हाउस ऑव कॉमन्स ने कम्पनी के भारतीय शासन की जाँच करने और उस पर रिपोर्ट देने के लिए एक कमेटी नियुक्त की।" Kale: Indian Administration, pages 17 and 18 से अनूदित।

२६ नवम्बर १७७२ को पार्लियामेंट खुलने पर लार्ड नॉर्थ ने कम्पनी की वस्तु स्थिति की जाँच करने के लिए एक गुप्त कमेटी नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा। कमेटी ने बड़ी जल्दी ही अपनी पहली रिपोर्ट दी। दिसम्बर १७७२ में पार्लियामेंट ने एक एक्ट पास किया और उसमें कम्पनी को भारत में निरीक्षण के लिए कमीशन भेजने से रोक दिया गया।

गुप्त कमेटी अपना काम करती रही और उसने अपनी अन्तिम रिपोर्ट मई १७७३ में दी। उसके फलस्वरूप पूर्वी प्रदेशों के शासन के नियन्त्रण का निर्णय किया गया। १० मई को कर्नल बर्गोयन और सर विलियम मेरेडिथ[1] ने भारतीय शासन की तीखी आलोचना की। १८ मई को लार्ड नॉर्थ ने अपना प्रसिद्ध बिल पेश किया जो बाद में १७७३ का रेगुलेटिंग एक्ट बन गया। कम्पनी की आर्थिक कठिनाइयों का हल करने के लिए पार्लियामेंट ने एक एक्ट और पास किया। इस एक्ट के द्वारा १४ लाख पौंड का ऋण ४ प्रतिशत ब्याज पर सरकार द्वारा दिया गया। ऋण लौटा देने तक ४ लाख पौंड प्रतिवर्ष का वार्षिक भुगतान छोड़ दिया गया। ऋण वापिस होने तक कम्पनी को ६ प्रतिशत से अधिक लाभांश घोषित करने से रोक दिया गया। जब तक बॉण्ड का ऋण घटकर १५ लाख पौंड न हो जाय, लाभांश ७ प्रतिशत से अधिक नहीं किया जा सकता था। कम्पनी को हर छः महीने बाद जाँच के लिए ट्रेज़री (अर्थ-विभाग) को अपना आय-व्यय का हिसाब देने को कहा गया।" कम्पनी को भारत-स्थित कर्मचारियों के बिल स्वीकार करने की वार्षिक सीमा ३ लाख पौंड कर दी गई और उसको ब्रिटेन में बने माल को अपनी सीमा के अन्दर ब्रिटिश बस्तियों में निर्यात करने की सीमा भी निश्चित कर दी गई।[2]

(३)

कम्पनी (एक व्यापारिक संस्था) के राजनीतिक सत्ता हथियाने के अधिकार पर आरम्भ से ही आपत्ति की गई थी और पार्लियामेंट के हस्तक्षेप करने को कहा गया था। किन्तु कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा राजनीतिक अधिकार के दुरुपयोग के प्रमाण एकत्रित होने पर, कम्पनी द्वारा प्रादेशिक सत्ता बनाये रखने के विरोध

---

१. सर विलियम मेरेडिथ के शब्दों में, "ये व्यवसायी नरेश हमेशा ही खतरनाक हैं। इनका बेचने का नियम इच्छानुसार अधिक-से-अधिक मूल्य लेना है और क्रय करने का नियम इच्छानुसार कम-से-कम दाम देना है। Chuni Lal Anand : History of Government in India, Part II, page 14 से अनूदित।

२. Ilbert : Historical Survey. page 42.

में भावनाएँ बहुत प्रबल हो गईं। कम्पनी से राजनीतिक अधिकार छीन लेने के प्रयत्न किये गए पर कोई सफलता नहीं मिली। किन्तु जब कम्पनी ने आर्थिक सहायता के लिए पार्लियामेंट के सामने हाथ पसारे तो इस अवसर का भारतीय शासन के नियन्त्रण करने के लिए लाभ उठाया गया।

सन् १७७३ के एक्ट का वैधानिक महत्त्व बहुत बड़ा है। कारण, उसने निश्चित रूप से कम्पनी की राजनीतिक कार्यवाहियों को स्वीकार किया। दूसरा कारण यह है कि उस समय तक जो कम्पनी के निजी प्रदेश समझे जाते थे[1], उनमें सरकारी ढाँचा किस प्रकार का हो, यह निश्चित करने के लिए पार्लियामेंट ने अपने अधिकार पर पहली बार ज़ोर दिया। तीसरा कारण यह है कि भारतीय सरकार का ढाँचा बदलने के लिए पार्लियामेण्ट ने जो बहुत से एक्ट बनाए उनमें यह सबसे पहला था। सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया एक्ट के आमुख में यह बात अन्तिम रूप से और बड़ी दृढ़ता से स्पष्ट की गई कि भारतवासियों के लिए किस प्रकार का विधान उचित और आवश्यक है, उसे निश्चय करने और लागू करने का एक-मात्र अधिकार पार्लियामेंट को है।

सन् १७७३ में 'कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स' और 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स', गृह सरकार (होम गवर्नमेंट) के अंग थे। डाइरेक्टर्स की कुल संख्या २४ थी। प्रतिवर्ष इनका चुनाव होता जिसमें ५०० पौंड के साझेदार मत दे सकते थे और २००० पौंड के साझेदार खड़े हो सकते थे। नीति की दृढ़ता, स्थिरता और क्रमबद्धता की दृष्टि से डाइरेक्टर्स का कार्य-काल छोटा था। उनको पुनर्निर्वाचन की दृष्टि से बहुत से प्रोप्राइटर्स को प्रसन्न रखना पड़ता था और इस प्रकार वे कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स के अनुचित प्रभाव से दबे रहते थे। १७७३ के एक्ट ने उन्हीं प्रोप्राइटर्स को अधिकार दिया जो निर्वाचन-तिथि से १२ महीने पहले से साझेदार हों और जिनका हिस्सा १००० पौंड हो। इस एक्ट ने निर्देशकों (डाइरेक्टर्स) का कार्य-काल बढ़ाकर ४ वर्ष कर दिया। उनमें से चतुर्थांश अपनी अवधि समाप्त करके प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करते। इस एक्ट में डाइरेक्टर्स को यह कहा गया कि सिविल और सैनिक विषयों पर सपरिषद् गवर्नर-जनरल के जो पत्र या सुझाव आवें उन्हें राज्य-मन्त्री के सामने रखा जाय और आय-व्यय व्यवस्था के संबंध में जो पत्रादिक हों उनकी प्रतियाँ ट्रेज़री (अर्थ-विभाग) के सामने रखी जायँ। भारत की सारी सरकारों को, निर्देशकों के आदेशों का पूरी तरह पालन करना

१. कुछ मान्य और प्रभावशाली व्यक्तियों के अनुसार सन् १७७३ का एक्ट एक जबरदस्ती का अधिनियम था जिससे एक व्यक्तिगत संस्था के अधिकारों और उसकी सम्पत्ति पर संक्रमण होता था।

था और कम्पनी के हितों से सम्बन्धित सारे विषयों पर उन्हें बराबर सूचित रखना था।

एक्ट बनने से पूर्व तीनों प्रेसिडेन्सियाँ एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र थीं। उनका लन्दन में कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से सीधा संबंध था। सन् १७७३ के एक्ट ने भारत के एकीकरण के लिए पहला पग उठाया। उसने बंगाल में फोर्ट विलियम प्रेसिडेन्सी के लिए एक गवर्नर-जनरल और चार सदस्यों की एक परिषद् नियुक्त की। इनको "उक्त प्रेसिडेन्सी की सिविल और सैनिक सरकार पर वे सारे अधिकार दिये जो पहले गवर्नर और परिषद् को प्राप्त थे।[१]" इस प्रेसीडेन्सी में तत्कालीन रूप में बंगाल, बिहार और उड़ीसा सम्मिलित थे। साथ ही गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् को मद्रास, बम्बई और बेंकूलेन[२] प्रेसिडेन्सियों पर सरकारी व्यवस्था, युद्ध छेड़ने और सन्धि करने के क्षेत्र में नियंत्रण और निरीक्षण करने का अधिकार दिया। किसी असाधारण परिस्थिति में अथवा लन्दन से निर्देशकों के आदेश होने पर ही उपर्युक्त नियम का अपवाद हो सकता था। सपरिषद् गवर्नरों को सपरिषद् गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन करने के लिए कहा गया। साथ ही उन्हें यह हिदायत भी की गई कि वे कम्पनी की सरकार, आय या उसके हितों से संबंध रखने वाली सारी बातों से, साथ ही अपने क्षेत्र में बनने वाले सारे नियम-उपनियमों से सपरिषद् गवर्नर-जनरल को परिचित रखें। उल्लंघन करने वाले सपरिषद् गवर्नरों को, सपरिषद् गवर्नर-जनरल अधिकार-च्युत कर सकता था।[३]

एक्ट में पहले गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् के चार सदस्यों का नाम दिया गया था। गवर्नर-जनरल के पद के लिए वारेन हेस्टिंग्स का नाम था और परिषद् के लिए लेफ्टिनेंट-जनरल क्लेवरिंग, जार्ज मॉन्सन, रिचर्ड वार्वेल और फ़िलिप फ्रैन्सिस का। इनको पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया गया था। कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स[४] द्वारा आपत्ति और प्रतिनिधित्व करने पर हिज़ मैजेस्टी (इंगलैण्ड-नरेश) द्वारा ही इनको पद-च्युत किया जा सकता था। पहले पाँच वर्ष बाद कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स को नियुक्तियाँ करने का अधिकार था।

१. Clause VII, East India Company Act, 1773 (Geo. III, c 63)
२. बेंकूलेन या मार्लबोरो फ़ोर्ट सुमात्रा में है। १८२४ की लन्दन-संधि के अनुसार यह हॉलैण्ड वालों को सौंप दिया था। Footnote 1, page 46, Ilbert Historical Survey.
३. Clause IX of the East India Company Act 1773
४. Clause X of the Act.

प्राधिकार संयुक्त रूप से गवर्नर-जनरल और परिषद् में निहित था। किसी विषय पर निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों के बहुमत का नियम था। परिषद् के किसी सदस्य की अनुपस्थिति, पद-च्युति अथवा मृत्यु की दशा में बराबर मत होने पर गवर्नर-जनरल को निर्णायक मत देने का अधिकार था।

सपरिषद् गवर्नर-जनरल को कम्पनी की फोर्ट विलियम की बस्ती और उसके आधीन फैक्ट्रियों और अन्य स्थानों की सुव्यवस्था और सिविल सरकार[1] के लिए ऐसे सारे नियम, अधिनियम, अध्यादेश (Ordinances) बनाने और जारी करने का अधिकार था जो ब्रिटिश सरकार के कानूनों के विरोध में न हों। यह नियमादि सर्वोच्च न्यायालय की सहमति और स्वीकृति से वहाँ पर निबंधित होने और प्रकाशित होने पर ही लागू समझे जाते। भारत या इंगलैण्ड के किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों की प्रार्थना पर सपरिषद् इंगलैण्ड-नरेश उनको रद्द कर सकता था।[2]

१७७३ के एक्ट ने हिज़ मैजेस्टी (इंगलैण्ड-नरेश) को चार्टर द्वारा फ़ोर्ट विलियम पर एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। इसमें एक प्रधान न्यायाधीश और तीन अन्य न्यायाधीश होते जो इंगलैण्ड और आयर्लैण्ड के पाँच वर्ष से अधिक अनुभव वाले बैरिस्टरों में से हिज़ मैजेस्टी द्वारा समय-समय पर नियुक्त किये जाते। इस न्यायालय को दीवानी, फ़ौजदारी, जल-सेना संबंधी और धर्म-संबंधी क्षेत्रों में न्याय करने का अधिकार दिया गया। उसे सपरिषद् गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से संगत वेतन पर क्लर्क और अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय के ही अधीन सारे सरकारी कागज़, प्रमाण-पत्र और अभिलेख रखने की व्यवस्था थी।[3] उसे न्याय करने और चार्टर द्वारा दिये गए अधिकारों को व्यवहार में लाने के लिए विधि-नियम बनाने का अधिकार था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में रहने वाली सारी ब्रिटिश प्रजा इस न्यायालय के क्षेत्र में थी। हिज़ मैजेस्टी की इस प्रजा के किसी व्यक्ति अथवा कम्पनी के किसी कर्मचारी के विरुद्ध उसे अपराध, दुर्व्यवहार, अत्याचार के आक्षेप और अभियोग पर न्याय करने का अधिकार था।[4] बंगाल, बिहार और उड़ीसा में रहने वाले किसी 'देशी आदमी' से ५०० रुपये से अधिक की लिखित लेन-देन के संबंध में झगड़ा होने पर,

१. Clause XXXVI of the Act.
२. Clause XXXVI of the Act.
३. Clause XIII of the Act.
४. Clause XIV of the Act.

यदि लेखे में न्यायालय में विवाद ले जाने की शर्त हो तो, सर्वोच्च न्यायालय हिज़ मैजेस्टी की प्रजा के अभियोगों और उसकी कार्यवाहियों को सुन सकता था और उन पर निर्णय कर सकता था। 'निवासियों' के विरुद्ध दूसरे सिविल अभियोगों के बारे में (अर्थात् उन अभियोगों में जब वादी और प्रतिवादी में झगड़ा होने पर विवाद को सर्वोच्च न्यायालय में ले जाने की शर्त न हो) न्यायालय का क्या अधिकार होगा इस सम्बन्ध में एक्ट में कोई निर्देश नहीं है। साथ ही निवासियों के ब्रिटिश नागरिकों के विरुद्ध अभियोगों के बारे में भी एक्ट मौन है। न्यायालय का अधिकार मौलिक अभियोगों का भी था और अपील सुनने का भी।

कलकत्ते में रहने वाले ब्रिटिश नागरिकों के पंच द्वारा सर्वोच्च न्यायालय अभियोगों का निर्णय करता। उसकी अपील सपरिषद् इंगलैंड-नरेश से की जा सकती थी।

गवर्नर-जनरल अथवा उसकी परिषद् के किसी सदस्य के किसी अपराध के विरुद्ध न्यायालय को कोई आक्षेप या अभियोग सुनने या निर्णय करने का अधिकार नहीं था। बंगाल, बिहार अथवा उड़ीसा में उनमें से किसी के द्वारा राजद्रोह अथवा भयंकर अपराध उसके लिए अपवाद थे। गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद् के सदस्य और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश किसी काम या न्यायालय में चलने वाले किसी अभियोग के सिलसिले में बन्दी नहीं बनाए जा सकते थे। यह छूट केवल सिविल अभियोगों के ही लिए थी।

२६ मार्च १७७४ के अधिकार-पत्र द्वारा ऐसा न्यायालय बनाया गया। सर एलिजा इम्पी मुख्य न्यायाधीश और चैम्बर्स, लिमेस्टर और हाइड सहायक न्यायाधीश नियुक्त किये गए।

गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद् के सदस्य और उक्त न्यायालय के न्याया-धीशों को अधिकार दिया गया और उनका यह कर्त्तव्य था कि वे फ़ोर्ट विलियम की बस्तियों और उसके अधीन फैक्ट्रियों के लिए शांति-व्यवस्थापकों की तरह वर्ष में चार बार अधिवेशन करें और अभिलेख-न्यायालय का काम करें।

सन् १७७३ के एक्ट ने भारतीय विधान में उपर्युक्त संशोधन करने के अतिरिक्त इस बात का भी प्रयत्न किया कि भारत में कर्मचारियों में से रिश्वतखोरी और दूसरी बुराइयाँ दूर हो जायँ।

एक्ट ने गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद् के सदस्यों और न्यायालय के न्याया-धिपतियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी प्रकार की भेंट लेने, आर्थिक पुरस्कार लेने और (यूनाइटेड कम्पनी के व्यापार के अतिरिक्त) किसी व्यापार

और सौदे में सम्मिलित होने को मना कर दिया।[1] "कोई सरकारी सिविल अथवा सैनिक कर्मचारी अथवा यूनाइटेड कम्पनी का कर्मचारी····भारत के किसी राजा, नबाब या उसके मंत्री या प्रतिनिधि से ···· प्रत्यक्ष या परोक्ष में कोई भेंट, उपहार अथवा पुरस्कार····नहीं लेगा।"[2] इस आदेश का उल्लंघन करने वालों को दंड में, प्राप्त हुए धन का, दूना धन देना होता और उसे भारत से हटाकर इंगलैंड भेज दिया जाता। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मालगुज़ारी उगाहने वाले, निरीक्षण करने वाले या और दूसरे ब्रिटिश नागरिक कम्पनी के व्यापार के अतिरिक्त और किसी व्यापार में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शामिल नहीं हो सकते थे। कोई ब्रिटिश नागरिक १२% ब्याज से अधिक दर ऋण नहीं दे सकता था। कम्पनी के ऐसे कर्मचारियों पर, जो भारत के किसी न्यायालय द्वारा सर्वसाधारण के प्रति विश्वास-घात, सार्वजनिक धन अथवा सम्पत्ति के ग़बन, अथवा कम्पनी को धोखा देने के दोषी ठहराए जाते, जुरमाना किया जा सकता था और उन्हें गिरफ़्तार किया जा सकता था या इंगलैंड भेजा जा सकता था। यदि कोई गवर्नर-जनरल, गवर्नर-परिषद् का सदस्य, न्यायाधीश एक्ट के विरुद्ध कोई अपराध करता और किसी दुर्व्यवहार अथवा अपराध का दोषी कहा जाता तो इंगलैंड के राजकीय पंच द्वारा उसके अभियोग का निर्णय करके उसको दंड दिया जा सकता था।

गवर्नर जनरल, परिषद् के सदस्यों और न्यायाधीशों को लालच न हो इस उद्देश्य से उनको बड़ा वेतन देने की व्यवस्था की गई। गवर्नर जनरल का वेतन २५००० पौंड प्रतिवर्ष था, परिषद् के प्रत्येक सदस्य का वेतन १०००० पौंड प्रति वर्ष था, मुख्य न्यायाधिपति का वार्षिक वेतन ८००० पौंड था और अन्य न्यायाधिपतियों का वार्षिक वेतन ६००० पौंड था।

(४)

जब एक्ट संशोधन के लिए हाउस ऑव कामन्स के समक्ष आया तो मिस्टर बाउटेन राउज ने कहा कि एक्ट का उद्देश्य तो अच्छा था किंतु उसने जो व्यवस्था की वह अपूर्ण थी। इस अपूर्णता का मुख्य कारण यह था कि पार्लियामेंट को जिस समस्या का हल करना पड़ रहा था वह उसके लिए एक नए ढंग की थी। यह ब्रिटेनवासियों का सौभाग्य था कि दोष जो कितने ही थे और भयंकर थे, घातक सिद्ध नहीं हुए।[3]

---

१. Clause XXIII of the Act.
२. Clause XXIV of the Act.
३. उसने (१७७३ के एक्ट ने) ऐसा गवर्नर जनरल बनाया जो अपनी परिषद् के समक्ष अशक्त था; उसने ऐसी कार्यपालिका बनाई, जो सर्वोच्च न्यायालय के

सबसे पहली बात तो यह थी कि एक्ट ने सपरिषद गवर्नर जनरल और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के अधिकार-क्षेत्र और पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया। गवर्नर जनरल के कुछ अधिकार तो बंगाल के मुग़ल प्रान्तपतियों के थे जिनको पार्लियामेंट द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता था। इसीलिए कार्यपालिका पर रोक लगाने के उद्देश्य से पार्लियामेंट ने सपरिषद् गवर्नर जनरल के विधान को निषिद्ध करने का असाधारण अधिकार सर्वोच्च न्यायालय में निहित कर दिया। क्षेत्राधिकार[1] की अस्पष्टता ने बंगाल में अराजकता-जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी। सपरिषद् गवर्नर जनरल और सर्वोच्च न्यायालय का झगड़ा चार बातों पर था[2]:—

झगड़े की पहली बात तो यह थी कि सर्वोच्च न्यायालय देश के सारे निवासियों के नाम आज्ञा-पत्र जारी कर सकते और उनके अभियोग सुनने का अपना अधिकार जताते थे। सपरिषद् गवर्नर जनरल ने सफलतापूर्वक इसका विरोध किया। परिषद् की आज्ञानुसार सिपाहियों के एक जत्थे ने एक न्याया-धिकारी और उसके साथियों को कासीजूड़ा-केस नाम से प्रसिद्ध अभियोग में आज्ञा-पत्र जारी करने से रोक दिया। इंगलैंड में अधिकारियों ने परिषद् के इस व्यवहार पर कोई आपत्ति प्रकट नहीं की संभवतः यह अनुभव करने के कारण कि एक्ट न्यायालय के विरोध में था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है।[3] न्यायालय का क्षेत्राधिकार उन्हीं मामलों तक सीमित था जिनमें दोनों पक्षों ने झगड़े की दिशा में न्यायालय के समक्ष जाना स्वीकार किया हो। इस कारण न्यायालय को इस बात का कोई अधिकार नहीं था कि वह किसी अभियोग को बलात् अपने सामने लाय।

झगड़े की दूसरी बात थी कम्पनी के मालगुज़ारी उगाहने वालों के ऊपर क्षेत्राधिकार के बारे में। ये लोग अपने काम के सिलसिले में ज्यादती करते। यहाँ न्यायालयों का पक्ष प्रबल था। एक्ट ने कम्पनी के कर्मचारियों के ऊपर न्यायालय को यह अधिकार दिया था और चाहे कम्पनी के अधिकारियों को यह बात कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो, कम्पनी के लिए उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और

आगे अशक्त थी, ऐसा न्यायालय जिस पर देश की शान्ति और भलाई का कोई दायित्व नहीं था। Report on Indian Constitutional Reform 1918, page 17 से अनूदित।

१. C.L. Anand : Introduction to the History of the Government of India, Part II, page 22.

२. Ilbert : Historical Survey, pages 54 to 56.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २७।

कोई दूसरा मार्ग नहीं था। पर कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनका एक्ट से कोई हल न हो पाता:—कौन लोग कम्पनी के सेवक थे? क्या काम करने वाले कम्पनी के आधीन थे? प्रमाण देने और सिद्ध करने का दायित्व किस पर था? उदाहरण के लिए, क्या जमींदार और मालगुज़ार कम्पनी के सेवक थे? न्यायालय के अनुसार वे कम्पनी के सेवक थे। किंतु स्वय वे व्यक्ति और कम्पनी के मुख्य अधिकारी न्यायालय का यह मत मानने को तैयार नहीं थे।

झगड़े की तीसरी बात यह थी कि न्यायालय कम्पनी के न्यायाधिकारियों द्वारा सरकारी हैसियत से किये गए कामों के विरुद्ध अभियोग-निर्णय करने का अधिकार जताता था। न्यायालय ने पटना प्रान्तीय परिषद के अधिकारियों के कुछ कामों के विरुद्ध, जो उन्होंने न्यायाधिकारियों की हैसियत से किये थे, एक भारतीय वादी के पक्ष में क्षति-पूर्ति का निर्णय किया था। कम्पनी के न्यायाधिकारियों को इस प्रकार दंडित करने में सर्वोच्च न्यायालय अपने अधिकार के अन्तर्गत काम कर रहा था। प्रश्न केवल यह था कि क्या उक्त काम वस्तुतः न्याय-सम्बन्धी कर्तव्य-पालन करने में किये गए थे या नहीं? सर जेम्स स्टीफ़ेन के मतानुसार सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय उचित और नियमानुसार मान्य था।

झगड़े की चौथी बात यह थी कि सर्वोच्च न्यायालय, प्रान्तीय या प्रादेशिक न्यायालयों[1] का क्षेत्राधिकार स्वीकार करने को तैयार नहीं था। प्रान्तीय न्यायालयों द्वारा समय पर मालगुज़ारी न देने वाले गिरफ़्तार अपराधियों को सर्वोच्च न्यायालय ने बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आज्ञा-पत्र (Writ of Habeas Corpus) से मुक्त कर दिया। एक बार सर्वोच्च न्यायालय ने एक ज़िले के कोषाध्यक्ष को, जो ग़बन के अपराध में प्रान्तीय न्यायालय की आज्ञानुसार बन्दी था, उपर्युक्त आज्ञा-पत्र से मुक्त कर दिया। इस आज्ञा-पत्र का विरोध करने वाले और प्रान्तीय न्यायालय का पक्ष लेने वाले कम्पनी के न्यायवादी (मुख़्तार) को सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर दिया, "हम तुम्हारी प्रान्तीय परिषद् और उसके प्रमुख को नहीं जानते, तुम उसे परी-प्रदेश के राजा का भी बन्दी बता सकते हो।" सर्वोच्च न्यायालय और छोटे न्यायालयों के झगड़े को दूर करने के लिए वारन हेस्टिग्स ने सर ऐलिनाइम्पी को सदर दीवानी अदालत[2] का भी जज नियुक्त करके उन्हें छोटे न्यायालयों की अपील सुनने और उनका निर्णय दुहरा देने का अधिकार दे

---

१. इन न्यायालयों के वर्णन के लिए इसी अध्याय का उपभाग ८ देखिये।

२. सदर दीवानी अदालत बंगाल में कम्पनी का सर्वोच्च दीवानी न्यायालय था। हाईकोर्ट्स-एक्ट ने सदर दीवानी अदालत और सर्वोच्च न्यायालय दोनों को मिलाकर एक कर दिया।

दिया। किंतु इस प्रकार इम्पी कम्पनी के सेवक हो गए और सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की स्थिति से यह बात असंगत थी। इम्पी द्वारा सदर दीवानी अदालत के जज के नाते कम्पनी से बहुत बड़ा वेतन स्वीकार करने से यह स्थिति और भी बिगड़ गई।

दूसरी बात यह थी कि १७७३ के एक्ट ने यह बात स्पष्ट नहीं की कि सर्वोच्च न्यायालय किस विधि (कानून) का प्रतिपादन करे। क्या वह प्रतिवादी के हिंदू, मुसलमान या अंगरेज होने के अनुसार उसके व्यक्तिगत कानून का प्रतिपादन करे या सब मामलों में अंगरेजी कानून को ही मान्यता दे? जो न्यायाधीश नियुक्त किये गए थे वे अंगरेजी विधि में कुशल थे और उसी परम्परा से सुपरिचित थे। भारतीय कानूनों, रीतियों और परम्पराओं से वे बिलकुल अपरिचित थे। उनके परिचित होने के लिए वे इच्छुक या उत्सुक भी नहीं थे। वे पूरी तरह अंगरेजी न्यायविधि को काम में लाने लगे। देशवासी घबरा उठे। "आश्चर्य-चकित और डरे हुए बंगाल-निवासी नए न्यायालय की आज्ञप्ति (Decree) जारी करने के लिए कलकत्ते से सैंकड़ों मील दूर अंगरेज अमीन और उसके सशस्त्र दल का दृश्य देखते और कुछ समझ न पाते।" इन अमीनों को यहाँ के रीति-रिवाजों का तो पता नहीं था। वे जबरदस्ती स्त्रियों के कमरों में, पूजाघरों में घुस जाते। जिन देव-मूर्तियों की पीढ़ियों से पूजा होती आई थी उनको वे अपवित्र हाथों से खींचकर आज्ञप्ति जारी करने के उद्देश्य से एकत्रित किये हुए सारे सामान के ढेर में डाल देते।[1] इससे बड़ा उद्वेग और क्षोभ हुआ। यदि सपरिषद् गवर्नर जनरल ने हस्तक्षेप न किया होता और पार्लियामेंट ने १७८१ का संशोधन एक्ट न पास किया होता तो उसके बहुत भयंकर परिणाम होते।

एक्ट में तीसरी दोष की बात यह थी कि गवर्नर जनरल, अपनी परिषद् की दया पर छोड़ दिया गया था। परिषद् के सदस्यों में से केवल एक (मि. बार्वेल) को ही भारतीय शासन का कुछ अनुभव था। दूसरे सदस्यों को भारतीय स्थिति की कोई जानकारी नहीं थी। कम्पनी और उसके कर्मचारियों के विरुद्ध धाराएँ लिये हुए वह भारत में आए। शासन के बारे में उन्होंने अपनी योजनाओं और अपने विचारों को उन्होंने पहले से ही निश्चित कर रखा था। उन्होंने एक साथ काम करने और सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करने का निश्चय कर लिया था। जब तक यह गुट बना रहा गवर्नर जनरल और बार्वेल भी बेबस थे। उन तीनों

१. C. L. Anand: History of Government in India, Part II, pages 19-20.

का विरोध इतना असावधान और अटल था कि १७७६ में वारन हेस्टिंग्स त्याग-पत्र देने के लिए बड़ी गम्भीरता से सोचने लगे। लन्दन में अपने प्रतिनिधियों को स्थिति के अनुसार त्याग-पत्र देने का उन्होंने अधिकार भी दे दिया। कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स ने त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया और दूसरी नियुक्ति करने की कार्यवाही की। किंतु इसी बीच क्लेवरिंग की मृत्यु हो गई। वारन हेस्टिंग्स ने तुरन्त ही अपने दिये हुए अधिकार को हटा लिया और सर्वोच्च न्यायालय का यह मत ले लिया कि त्याग-पत्र अमान्य था। अब वारन हेस्टिंग्स निर्णायक वोट से उस गुट को हरा सकता था। इस कारण इतने बड़े वेतन के पद को छोड़ने की अब उसे कोई इच्छा नहीं थी। उसे अपने पद पर बने रहने की स्वीकृति मिल गई पर भविष्य में इसकी रोक के लिए १७९३ और १८३३ के पार्लियामेंट एक्ट में नियम बनाकर व्यवस्था कर दी गई। गवर्नर-जनरल का त्याग-पत्र उसी समय मान्य होता जब विलेख द्वारा उसकी पुष्टि हो।

अन्त में कम्पनी की गृह-सरकार के विधान में १७७३ के एक्ट ने जो परिवर्तन किये, वे दोष-रहित नहीं थे। मतदान के लिए अर्हता (Qualification) उठा देने के कारण १२४६ छोटे साझीदार मताधिकार से वंचित हो गए और कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स पर स्थायी[1] रूप से एक मुट्ठी-भर व्यक्तियों का आधिपत्य हो गया। सन् १७८१ की प्रवर-समिति (Select Committee) की रिपोर्ट के अनुसार: "कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स से सम्बन्ध रखने वाले सारे नियमादि, दो सिद्धांतों पर (जो कितनी ही बार भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुके हैं) अवलम्बित थे। एक तो यह सिद्धांत कि छोटे समुदाय में कुव्यवस्था और छिन्नता के विरुद्ध सुरक्षा होती है; दूसरा यह कि सम्पत्तिशालियों का चरित्र दृढ़ और उज्ज्वल होता है।"[2] मिस्टर राबर्ट्स कहते हैं कि कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स के विधान में परिवर्तन करने वाला खंड अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहा।[3]

(५)

सन् १७७३ के एक्ट के व्यवहार में आने पर कुछ ही वर्षों में पार्लियामेंट का ध्यान उस के दोषों की ओर आकर्षित हुआ। सन् १७८१ में दो कमेटियाँ नियुक्त की गयीं। एक को तो भारत में न्याय-व्यवस्था की जाँच करने का काम सौंपा

१. यद्यपि कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स के चौथाई सदस्य प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण करते थे, किंतु हर बार प्रायः वही लोग फिर चुन लिए जाते थे।
२. Cambridge History of India, Vol. V., page 119.
३. Roberts: Cambridge History of India, Vol. V Chapter X.

गया; दूसरी को पिछले कर्नाटक-युद्ध के कारण और तटवर्ती शासन की दशा पर रिपोर्ट देने का काम सौंपा गया। पहली कमेटी ने उसी साल अपनी रिपोर्ट दी जिसके फलस्वरूप सन् १७८१ का संशोधक एक्ट बनाया गया।

१७८१ के एक्ट ने १७७३ के एक्ट के कुछ दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया।

इस एक्ट में पहली बात तो यह थी कि कम्पनी के कर्मचारी सरकारी हैसियत से जो काम करते थे उसे सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया गया। गवर्नर जनरल और परिषद् के सदस्यों को व्यक्तिगत एवं संयुक्त रूप से अपने पदाधिकार से किये कामों के सिलसिले में (बशर्ते कि उनकी आज्ञाओं से ब्रिटिश नागरिकों को क्षति न पहुँचती हो) सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से छूट मिल गई। इसी प्रकार मालगुज़ारी वसूल करने वालों को मालगुज़ारी वसूल करने के मामलों में छूट मिल गई। अन्त में, छोटे न्यायालयों के न्यायाधिकारियों को न्याय-कार्य से सम्बन्धित कार्यों के कारण अपराधी नहीं बनाया जा सकता था।[1]

सन् १७८१ के एक्ट ने दूसरी बात यह की कि कम्पनी के सेवकों और देशवासियों के ऊपर न्यायालय के क्षेत्राधिकार को निश्चित करने का प्रयत्न किया। कलकत्ते के सारे निवासियों पर न्यायालय को अधिकार दिया गया, पर प्रतिवादी का व्यक्तिगत (धर्मगत) कानून से निर्णय करने का नियम बनाया गया। अपने भारतीय सेवकों के नाम-व्यवसाय आदि के रजिस्टर रखना, कम्पनी के लिए अनिवार्य कर दिया गया। कम्पनी के सेवकों, ब्रिटिश अधिकारियों और भारत में रहने वाले अन्य ब्रिटिश नागरिकों पर न्यायालय का अधिकार ज़मीन या माल के उत्तराधिकार और व्यापार को छोड़कर अन्य दीवानी मामलों में था। यदि कोई व्यक्ति जमींदार है या मालगुज़ारी देता है, या खेत जोतता है या उसे किसी सेवा या क्षति-पूर्ति के बदले में कुछ पेन्शन या धन मिलता है या जिसे लगान उगाहने के बदले में कुछ लाभांश मिलता है या उसे वहाँ पर स्थानीय अधिकार मिला है तो केवल इसी कारण वह सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में नहीं आ सकता।[2] दूसरे शब्दों में ऐसे व्यक्तियों को कम्पनी का सेवक नहीं माना जा सकता।

तीसरी बात जो १७८१ के एक्ट ने स्पष्ट की—वह यह थी कि सर्वोच्च

१. पटना अभियोग के प्रतिवादी सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा वादी की क्षति-पूर्ति के आश्वासन पर मुक्त होते और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सपरिषद् इंगलैंड-नरेश से अपील करने को स्वतन्त्र थे।

२. Ilbert : Historical Survey, page 56.

न्यायालय किस विधि (कानून) का अनुसरण करेगा। एक्ट ने सुनिश्चित शब्दों में यह नियम बनाया कि ज़मीन, लगान या सम्पत्ति के उत्तराधिकार का अथवा किसी समझौते का निर्णय, यदि दोनों पक्ष मुसलमान हैं तो मुसलमानी विधि और परम्परा से होगा; यदि दोनों पक्ष हिंदू हैं तो हिंदू विधि और परम्परा से होगा; यदि एक मुसलमान और दूसरा हिंदू है तो प्रतिवादी के धर्मगत कानून से होगा। दूसरे शब्दों में विदेशी कानून के स्थान पर प्रतिवादी के व्यक्तिगत कानून के अनुसार निर्णय करने का नियम बनाया गया। साथ ही यह बात स्पष्ट कर दी गई कि न्यायालय को भारतीय धर्म, रीति-रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक नियमों में, जिनमें पिता और गृहपति का अधिकार भी सम्मिलित हैं, साथ ही जाति के नियमों का (चाहे ये सब बातें अंगरेज़ी न्याय के अनुसार असंगत और अपराधपूर्ण ही क्यों न हों) आदर करना चाहिए। साथ ही आज्ञप्ति और विधि को कार्यान्वित करने में देश के निवासियों की धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं का आदर करने का आदेश दिया गया। उन से सम्बन्ध रखने वाले नियम उपनियमों को राजकीय स्वीकृति के लिए राज्य-मन्त्री के समक्ष रखने को कहा गया।

एक्ट ने चौथी बात यह की कि उसने सपरिषद् गवर्नर जनरल या उसकी किसी समिति द्वारा छोटे न्यायालयों के निर्णय पर अपील सुनने का अधिकार माना। ५००० पौंड तक के दीवानी मामलों में सपरिषद् गवर्नर जनरल का निर्णय अन्तिम होता और वह अपील और अभिलेख का न्यायालय था। ५००० पौंड से अधिक के लिए सपरिषद् इंगलैंड-नरेश से अपील का नियम था, मालगुज़ारी वसूल करने में जो अपराध हुए हों, यदि उनका दंड मृत्यु या गिरफ़्तारी न हो तो ऐसे मामलों में सपरिषद् गवर्नर जनरल मालगुज़ारी के न्यायालय का काम करता।

अन्त में, १७८१ के एक्ट ने प्रान्तीय न्यायालयों और परिषदों के लिए समय-समय पर विनियम बनाने का अधिकार दिया। यदि इन विनियमों को सपरिषद् इंग्लेंड-नरेश दो वर्ष के अन्दर रद्द न कर दे तो ये स्थायी रूप से मान्य होते। यह कोई नया अधिकार नहीं था। स-परिषद् गवर्नर जनरल ने सन् १७७२ में बंगाल में न्याय-संचालन के लिए विनियम बनाए थे। १७७३ के एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर जनरल को नियम बनाने का अधिकार दिया था पर सर्वोच्च न्यायालय उन्हें निषिद्ध कर सकता था। सपरिषद् गवर्नर जनरल और न्यायालय के तीखे सम्बन्ध के कारण १७७३ के एक्ट के बाद नए विनियम बनाना कठिन हो गया था। अन्त में १७८० में सपरिषद् गवर्नर जनरल ने सर्वोच्च न्यायालय की स्वीकृति और वहाँ निबन्धन कराए बिना ही विनियम बनाने का निश्चय किया। सन् १७८० में सपरिषद् गवर्नर जनरल ने प्रान्तीय न्यायालयों

के न्याय-कार्य के लिए अतिरिक्त विनियम बनाए और नियमों की एक दुहराई हुई संहिता (Code) जारी की। इस संहिता और अतिरिक्त विनियमों का सर्वोच्च न्यायालय में न निबन्धन कराया गया और न उसकी स्वीकृति ही ली गई। १७८१ के एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर जनरल के इस कृत्य की पुष्टि की और उन्हें इस विषय में सर्वोच्च न्यायालय की स्वीकृति लेने और वहाँ निबन्धन कराने की आवश्यकता से मुक्त कर दिया।

(६)

१७८१ के एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर जनरल की स्थिति को दृढ़ किया; एक्ट की धाराओं ने विवादास्पद प्रश्नों का उसके पक्ष में निर्णय किया। इस एक्ट को स्वीकार करने से पहले जो कमेटियाँ[1] नियुक्त हुई थीं उनकी रिपोर्ट भारत में कम्पनी के प्रदेशों की कार्यपालिका और न्याय-व्यवस्था के और उसके शासन के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से प्रतिकूल थी। हाउस ऑव कॉमन्स ने हेस्टिंग्स और इम्पी को वापस बुलाने के लिए प्रस्ताव स्वीकार किये किंतु 'कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स' ने पार्लियामेंट और 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स'[2] की इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें अपने-अपने पदों पर बना रहने दिया। डंडास ने जो विरोध में था, ने एक प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार इंगलैंड-नरेश को कम्पनी के प्रमुख सेवकों को वापिस बुलाने का अधिकार दिया गया और गवर्नर जनरल को बहुत बड़े अधिकार सौंपे गए। किंतु इस प्रस्ताव के स्वीकार होने की कोई सम्भावना नहीं थी। इससे इतना अवश्य हुआ कि मन्त्रि-मंडल कुछ करने के लिए प्रेरित हो गया।

मन्त्रि-मंडल के विधेयक को फॉक्स ने प्रस्तुत किया और हाउस ऑव कॉमन्स में वह पहली बार २० नवम्बर १७८३ को पढ़ा गया। उस समय जो

१. उपर्युक्त पुस्तक का पृष्ठ ३५ देखिये (Ilbert : Historical Survey, p. 35)

२. बाद में हेस्टिंग्स पर हाउस ऑव कॉमन्स द्वारा महाभियोग लगाया गया। वह ऐतिहासिक मुकदमा १३ फ़रवरी सन् १७८८ से २३ अप्रैल १७९५ तक चला। हेस्टिंग्स छूट गया। बर्क के शब्दों में यह सिद्धांत मान्य हुआ कि "नैतिकता के नियम सब जगह एक-से हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि जो काम इंगलैंड में रिश्वतखोरी, अत्याचार या बलात्कार समझा जाता है वह यूरोप, अफ्रीका, एशिया और शेष संसार में कुछ और समझा जाय।" Impeachment of Warren Hastings; Keith: Speeches and Documents on Indian Policy, Vol. I, page 144

व्यवस्था थी उसको फॉक्स ने अराजकतापूर्ण बताया। उसने सुधार के लिए कम्पनी के गृह-सरकार और विदेशों में कम्पनी के कर्मचारियों को ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में लाने और कम्पनी की संरक्षकता को राजसत्ता और मन्त्रियों को सौंपने का प्रस्ताव किया। फॉक्स ने 'कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स' और 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स' दोनों को तोड़कर कम्पनी का शासन-संचालन सात कमिश्नरों की एक मंडली को सौंपने का सुझाव रखा। इस मंडली को भारत में कम्पनी के अधिकारियों को नियुक्त करने, पद-च्युत करने और साथ ही कम्पनी की आय-व्यय और उसके व्यापार-संचालन का अधिकार देने की योजना थी। इस विधेयक (Bill) का प्रबल विरोध हुआ। ग्रेनविल, पिट, विल्बरफोर्स तथा अन्य व्यक्तियों ने इसकी तीव्र आलोचना की। फिर भी हाउस ऑव कॉमन्स में २०८ मत पक्ष में और १०२ मत विपक्ष में मिलने के कारण इसको स्वीकृति मिल गई।[1] किंतु हाउस ऑव लॉर्ड्स ने इस विधेयक को अस्वीकार कर दिया। पिट ने अधिकार पाने पर सन् १७८४ के एक्ट द्वारा भारतीय समस्या का हल करने का प्रयत्न किया। इस एक्ट के अनुसार कम्पनी के भारतीय शासन की 'गृह'-व्यवस्था में दुहरी सरकार की स्थापना हो गई। इस व्यवस्था में कितने ही दोष थे और छोटी-छोटी बातों में इसमें कितने ही परिवर्तन हुए, पर गदर के बाद इंगलैंड की राजसत्ता द्वारा भारतीय शासन अपने हाथ में लेने के समय तक मूलतः यही व्यवस्था बनी रही।[2]

(७)

१७८४ के एक्ट की चर्चा करने से पहले यहाँ पर सुविधाजनक होगा कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिलने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जो शासन-व्यवस्था स्थापित की थी, उसका एक संक्षिप्त वर्णन कर दिया जाय। १७६५ से पहले बंगाल का नवाब या सूबेदार दीवान और निज़ाम दोनों के ही काम करता था। निज़ाम की हैसियत से सेना और दंड-न्यायालय दोनों ही नवाब के आधीन थे, दीवान की हैसियत से मालगुज़ारी का काम और दीवानी न्याय

---

१. पिट ने पहला विधेयक १७८४ के आरम्भ में ही प्रस्तुत किया था पर विरोधियों ने, जो बहुमत में थे, उसे अस्वीकार कर दिया। यह बात २५ मार्च १७८४ के विघटन (dissolution) से पहले की है।

२. "पिट के १७८४ के एक्ट से स्थापित दुहरी सरकार, जिसकी कार्य-पद्धति बड़ी उलझी हुई थी और जिसमें रोक-थाम की विशद व्यवस्था थी, मूलतः १८५८ तक बनी रही।" Ilbert : Historical Survey, pages 66 and 67 से अनूदित।

उसके आधीन थे। १७६५ में मुग़ल सम्राट् द्वारा दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को मिल गई थी। यद्यपि निज़ामत नाम के लिए अब भी नवाब के हाथों में थी, किंतु उसका वास्तविक नियंत्रण कम्पनी के हाथों में था—क्योंकि नवाब कम्पनी के हाथों में कठपुतली की तरह था। १७६५ की फ़रवरी में मीर जाफ़र की मृत्यु हुई और कम्पनी ने उसके दूसरे अवयस्क लड़के को गद्दी पर बिठा दिया। इस प्रकार कम्पनी को दीवानी तो सम्राट् से मिली और निज़ामत सूबेदार से।"[1]

आरम्भ में कम्पनी ने दीवानी और निज़ामत दोनों को पुराने भारतीय ढाँचे के ही हाथों में रहने दिया। कम्पनी का ऊपर से नियंत्रण और निरीक्षण था। मुर्शिदाबाद का अंग्रेज़ रेज़ीडेंट फ्रैन्सिस साइक्स, मुहम्मद रज़ा ख़ाँ द्वारा सारे शासन का निरीक्षण और नियंत्रण करता। मुहम्मद रज़ा खाँ छोटा नाज़िम और साथ ही छोटा दीवान था। १७६९ में कम्पनी ने ज़िलों में छोटे भारतीय कर्मचारियों का काम देखने के लिए कुछ निरीक्षक नियुक्त किये। १७७० में इन ज़िला-निरीक्षकों के अतिरिक्त मालगुज़ारी के नियंत्रण के लिए पटना और मुर्शिदाबाद में दो बोर्ड बनाए गए। इन मंडलियों (Boards) का, पुराना दीवानी अधिकार प्राप्त करने के नाते, पहले अधिकारियों की तरह, मालगुज़ारी और न्याय दोनों में क्षेत्र था।[2] इन निरीक्षकों और मंडलियों ने कलकत्ता-सरकार से स्वतन्त्र और जोखिमपूर्ण ढर्रा अपनाया। इसको कुचल देने के उद्देश्य से १ अप्रैल १७७१ को कलकत्ते में परिषद् ने अपने-आपको राजस्व-कमेटी बनाया और उस नाते से प्रान्तीय छोटे अधिकारियों को अपना पत्र-व्यवहार और लेखा भेजने का आदेश दिया।[3]

वारन हेस्टिंग्स ने १७७२ के वसन्त में दीवानी का काम सँभाला। उसने अनुभव किया कि पुरानी व्यवस्था दोषपूर्ण थी। और उससे अन्याय और अत्याचार होता था। उसने कलकत्ते की राजस्व कमेटी और पटना और मुर्शिदाबाद की मंडलियों को तोड़ दिया। उसने मालगुज़ारी-व्यवस्था का फिर से संगठन करने के लिए नए विनियम जारी किये। कलकत्ते में एक सर्वोच्च राजस्व-सत्ता बनाई गई। इसमें सारी परिषद्, राजस्व बोर्ड की हैसियत से काम करती। हर ज़िले में उगाही का काम करने के लिए अलग-अलग अधिकारियों की व्यवस्था की

१. P. E. Roberts : History of British India, page 159 से सर जेम्स स्टीफ़ेन के एक वक्तव्य का अनुवाद।

२. P. E. Roberts : History of British India, page 159.

३. Monkton Jones: Warren Hastings in Bengal, 1772-1774, page 288.

गई। उसने ज़िला-निरीक्षकों को कलक्टर (उगाही करने वाला) बना दिया और उसके काम की पड़ताल के लिए उसने एक भारतीय नायब दीवान की राजस्व कार्यपालिका में सहायता के लिए नियुक्ति की। कलक्टर सारी आज्ञाएँ जारी करता, उन पर कम्पनी की मुहर होती और सारी निधि उसके हाथों से राज्य-कोष में आती। सारे लेखे का दीवान के यहाँ निबन्धन होता और कलकत्ते के राज्य-कोष में उस सम्बन्ध में उसकी स्वतन्त्र रिपोर्ट आती।"[१]

"कलकत्ते में परिषद्, राजस्व बोर्ड की हैसियत से सप्ताह में दो बार काम करती, कलक्टरों को आवश्यक आदेश देती और लेखे की पड़ताल करके उसको स्वीकार करती।"[२]

१७७२ की इस योजना से कलकत्ता की परिषद् पर काम का बोझ बहुत बढ़ गया। इसी कारण १७७४ में प्रान्तीय परिषदों की व्यवस्था बनाई गई। कई ज़िलों को मिलाकर कमिश्नरी या डिवीज़न बनाये गए। हर कमिश्नरी के लिए एक मुख्य अधिकारी और परिषद् बनाई गई। इस तरह के ६ डिवीजन थे और ६ प्रान्तीय परिषदें थीं। हर डिवीज़न में लेखा रखने के लिए और स्थानीय भाषा में अभिलेख सुरक्षित रखने के लिए दीवान की नियुक्ति की गई और उसके आधीन, पहले की तरह हर जिले में एक नायब दीवान बनाया गया।[३] समय-समय पर ज़िलों के काम की पड़ताल करने के लिए ज़िलों में निरीक्षक भेजे जाते। सर्वोच्च परिषद् में मतभेद होने के कारण प्रान्तीय परिषदों का समुचित नियंत्रण नहीं था। १७७६ में वारन हेस्टिंग्स ने प्रान्तीय परिषदों का फिर से संगठन किया किंतु कलकत्ता में सारे अधिकार केन्द्रित करने के अपने अन्तिम सुधार में उसे सफलता सन् १७८१ में ही मिल सकी।

"१७८१ में हेस्टिंग्स राजस्व कार्य में अपना सुधार पूरा कर सका। प्रान्तीय परिषद् और कलक्टर हटा दिये गए और राजस्व शासन चार आदमियों—एंडर्सन, शोर, चार्टर्स और क्रॉफ्ट्स—की कमेटी को सौंप दिया गया। वह लिखता है:—'उनका कोई नियत वेतन नहीं है। और कोई परिलब्धि (perquisites) न लेने की उन्हें शपथ है। इसके बदले में वे विशुद्ध उगाही का १% कमीशन

१. Monkton Jones : Warren Hastings in Bengal, page 289.

२. Monkton Jones : Warren Hastings in Bengal, page 289.

३. Monkton Jones : Warren Hastings in Bengal, page 291.

अथवा कलकत्ते में जमा किये हुए परिमाण पर दूना कमीशन पायेंगे। इस प्रकार कम्पनी के लिए उसे बहुत काफी बचत की आशा थी : इस वर्ष राजस्व में २७ लाख की वृद्धि होगी और व्यय में १२ लाख की बचत होगी, कुल मिलाकर ३९ लाख की प्राप्ति।"[१]

(८)

वारन हेस्टिंग्स ने मालगुज़ारी उगाहने के लिए ही पुराने भारतीय ढाँचे का उपयोग नहीं किया वरन् उसने पुरानी न्याय-व्यवस्था का भी पूरा उपयोग किया। उसके अनुसार भारतीय न्याय और व्यवस्था, स्थानीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त थे। मौंकटन जोन्स के शब्दों में, "वारन हेस्टिंग्स के दृष्टिकोण से सबसे आवश्यक बात यह थी कि देशी न्याय-व्यवस्था और लिखित अथवा अलिखित न्याय-नियमों को, जिनके कि सर्वसाधारण अभ्यस्त थे ज्यों-का-त्यों बना रहने दिया जाय।[२] उसने उस व्यवस्था को पुराने और पूरे रूप में नहीं रहने दिया किंतु परिवर्तन में विवेक और सूझ से काम लिया। इस उद्देश्य से उसने एक योजना बनाई जो १७७२ की न्याय-योजना के नाम से परिचित है।

वारन हेस्टिंग्स ने ज़िले को न्याय और दूसरे कामों के लिए शासन की इकाई बनाया। हर ज़िले में एक दीवानी और एक दंड-न्यायालय होता। "इस उद्देश्य के लिए उसने उस समय की 'दरोगा अदालत दीवानी' का, जो प्रान्तीय दीवानी के नाम से अधिक प्रसिद्ध थी, दीवानी मामलों के लिए उपयोग किया और फ़ौजदारी अदालत का अपराध और सदाचार के लिए।[३] हर न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र सुनिश्चित था।[४] ज़िले का यूरोपीयन कलक्टर स्थानीय दीवानी न्यायालय

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९२।

२. उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ ३११ से अनूदित।

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ३१२।

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१२-१३:—(i) प्रान्तीय दीवानी अदालत के अधिकार-क्षेत्र के तीन शीर्षक थे:—(अ) सम्पत्ति, वास्तविक अथवा व्यक्तिगत; (ब) उत्तराधिकार, विवाह और जातीय झगड़े; और (स) ऋण, समझौता, लगान आदि। ज़मींदारी और तालुकेदारी का उत्तराधिकार इस सूची के बाहर था। उसे सभापति और परिषद् के निर्णय के लिए छोड़ दिया गया था। (ii) फ़ौजदारी अदालत के अधिकार क्षेत्र के शीर्षक:—(अ) हत्या, डकैती, चोरी, आदि (ब) बड़े अपराध, जालसाज़ी, झूठी गवाही, और (स) मार-पीट, झगड़ा, व्यभिचार, शान्ति और व्यवस्था को भंग करने वाला कोई काम। सम्पत्ति ज़ब्त करने अथवा प्राण-दंड देने के लिए कलकत्ते के बड़े न्यायालयों से पुष्टि होना आवश्यक था।

का सभापति होता; अथवा प्रान्तीय पारषद् प्रमुख होती। साथ में सभापति और परिषद् द्वारा नियुक्त भारतीय दीवान और दूसरे पदाधिकारी होते। फ़ौजदारी न्यायालयों के सभापति भारतीय अधिकारी ही होते; दो मौलवी न्याय-नियम बताने को होते, अंग्रेज़-अधिकारियों को निरीक्षण का अधिकार था।[1] ज़िले के इन न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य स्थानीय न्यायालयों को तोड़ दिया गया। हर परगने में मुख्य किसान (मुखिया) को जहाँ के तहाँ १० रुपये के मूल्य तक के छोटे-छोटे झगड़ों का निपटारा करने का अधिकार दिया गया। इन लोगों को दंड देने या जुर्माना करने का अधिकार नहीं था। ज़िले के नए न्यायालयों में स्वयं इन लोगों के विरुद्ध, ताले लगे बक्सों में लिखकर शिकायत की अर्ज़ी डाली जा सकती थी।[2]

वारन हेस्टिंग्स ने ज़िले के न्यायालयों के ऊपर, अपील के न्यायालय बनाए— कलकत्ते के सदर न्यायालय। सदर दीवानी अदालत में गवर्नर और परिषद् के दो सदस्य होते। इनकी सहायता करने को अर्थ-विभाग का दीवान होता और साथ ही मुख्य कानूनगो होता। सदर निज़ामत (फ़ौजदारी) अदालत में नाज़िम का प्रतिनिधि, एक मुसलमान न्यायाधीश सभापति होता जिसे न्याय-नियमों पर मुसलमान मौलवियों से सहायता मिलती। सभापति और परिषद् को निज़ामत-अदालत पर निरीक्षण का अधिकार था।[1]

१७७२ की न्याय-योजना से केन्द्र और ज़िलों में दीवानी और फ़ौजदारी न्यायालयों की व्यवस्था का फिर से संगठन ही नहीं हुआ वरन् उसने कुछ साधारण नियम बनाकर न्याय-कार्य को सुधारने का भी प्रयत्न किया। इनमें से मुख्य बातें ये थीं:—

(१) हर छोटे-बड़े न्यायालय में कार्यवाही का अभिलेख रखा जाय।

(२) अभियोगों के लिए एक अवधि निश्चित कर दी जिसके बाद पुरानी शिकायतों को फिर से उखाड़ा नहीं जा सकता था।

(३) कानूनी 'चौथ' और बड़े जुर्मानों की प्रथा को तोड़ दिया गया।

(४) साहूकार के अपने ही वाद के विषय में न्यायाधिकार निश्चित करने के स्वत्व का अवरोध, जैसे ज़मींदार और कानूनगो के विषय में।

---

१. Weitzmann: Warren Hastings and Philip Francis, page 60.

२. Monkton Jones: Warren Hastings in Bengal, page 315.

(५) विवाद-ग्रस्त सम्पत्ति के मामलों को तय करने के लिए मध्यस्थ द्वारा निर्णय करने को प्रोत्साहन।[१]

वारन हेस्टिंग्स को इस व्यवस्था से, इस बात के अतिरिक्त कि कलक्टरों के हाथों में इतनी शक्ति केन्द्रित हो गई थी, संतोष था। सन् १७७४ में प्रान्तीय परिषद् बनाकर यह दोष दूर कर दिया गया। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रान्तीय और ज़िला-न्यायालयों के काम में १७७३ के एक्ट के अनुसार स्थापित किया हुआ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप होता रहता था। फिर भी यह व्यवस्था चलती रही। विनियमों की नई संहिता में, जो १७८० में जारी की गई, इस व्यवस्था को स्थान दिया गया। १७९३ में दुहराकर जो संहिता बनाई गई उसमें भी इसकी पुष्टि की गई।

तीसरा अध्याय

द्वैध शासन का युग

(१)

एक विचित्र संयोग से कम्पनी ने द्वैध या दोहरी शासन-व्यवस्था की स्थापना द्वारा भारत में प्रादेशिक प्रभुता को प्राप्त भी किया और खो भी दिया। क्लाइव ने १७ अगस्त १७६५ के फ़रमान से, जिसमें बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली थी और इस प्रकार दोहरी शासन-व्यवस्था[२] की स्थापना हुई थी, कम्पनी के लिए प्रादेशिक अधिकार प्राप्त किया था। १७८४ के एक्ट द्वारा पिट ने दो प्राधिकारी—'बोर्ड ऑव कंट्रोल' और 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स' बनाए और कम्पनी को भारतीय मामलों की व्यवस्था के सर्वोच्च और अन्तिम नियंत्रण से वंचित कर दिया।

१७८४ के एक्ट ने 'प्रिवी कौंसिल' के सदस्यों में से छै कमिश्नर नियुक्त

---

१. Monkton Jones: Warren Hastings in Bengal, page 314.

२. वह व्यवस्था "जिसमें कम्पनी को देश के राजस्व पर, सैन्य शक्ति पर पूरा अधिकार था, किंतु न्याय और व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व, न्यायालय के द्वारा दूसरे हाथों में छोड़ दिया गया था।" Ilbert: Historical Survey, page 38.

करने के लिए हिज़ मैजेस्टी (इंगलैंड नरेश) को प्राधिकृत[1] किया। इनमें से एक 'चान्सलर ऑव दि एक्सचेकर' (अर्थ-मन्त्री) होता और एक कोई सा राज्य-मन्त्री होता। 'बोर्ड ऑव कंट्रोल', जो उक्त कमिश्नरों की मंडली से बनाया गया,[2] 'बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स' के भी ऊपर था। व्यवहारतः 'कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स' का अतिक्रमण कर दिया गया।[3] यह बोर्ड मन्त्रि-मंडल से अनुबन्धित था और शासन में प्रत्येक परिवर्तन के साथ इसमें भी परिवर्तन होता। "उक्त राज्य-मन्त्री, उसकी अनुपस्थिति में उक्त अर्थ-मन्त्री, दोनों की ही अनुपस्थिति में, उक्त कमिश्नरों में से अधिकार में सबसे बड़ा सदस्य........ बोर्ड का सभापति होता।[4] "यदि उपस्थित सदस्यों में मतभेद होता और दोनों पक्ष बराबर होते तो वह निर्णायक वोट दे सकता था।[5] एक्ट के अनुसार गण-पूर्ति (Quorum) के लिए तीन सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य थी। इन कमिश्नरों का कोई वेतन नहीं था, वे कोई अनुग्रह[6] नहीं कर सकते थे। किंतु सुदूरपूर्व में ब्रिटिश प्रदेशों के राजस्व, वहाँ की सैनिक एवं असैनिक सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विषय में इन कमिश्नरों को निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण का अधिकार था। इस बोर्ड को कम्पनी के हर एक कागज़, खाते और अभिलेख[7] देखने का अधिकार था। बोर्ड के माँगने पर वांछित उदाहरण अथवा उसकी

---

१. Clause 1. Act of 1784, Keith: Speeches and Documents, vol. I, page 96.

२. इसका नाम था:—"Commissioners for the Affairs of India."

३. 'कोर्ट आव डाइरेक्टर्स' की कार्यवाही को 'बोर्ड आव कंट्रोल' की पुष्टि मिलने के बाद 'कोर्ट आव प्रोप्राइटर्स' उसको रद्द नहीं कर सकता था। Ilbert: Historical Survey, page 45 और C.L. Anand: History of Government in India, part II, page 27.

४. व्यवहारतः अधिकार में बड़ा सदस्य सभापति होता है।

५. Clause 3 of the Act, Keith: Speeches and Documents, vol. 1, page 96.

६. Clause 4. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९७.

७. Clause XVII of the Act. "इस एक्ट की किसी भी बात से इस बोर्ड को उक्त यूनाइटेड कम्पनी के किसी कर्मचारी को नियुक्त करने का अधिकार नहीं होगा" उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १०२ से अनूदित।

प्रतिलिपि प्रस्तुत की जाती थी।[१] कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स या उसकी किसी कमेटी द्वारा, भेजे हुए आदेश या पाई हुई रिपोर्ट या उसकी कार्यवाही और प्रस्ताव आदि सभी को यह बोर्ड देख सकता था।[२] बोर्ड को डाइरेक्टर्स के आदेशों का संशोधन करने का अधिकार था। उस दशा में डाइरेक्टर्स अपने भारत के अधिकारियों को संशोधित आदेश ही भेज सकते थे। बाद में १८५८ के एक्ट में जो अधिकार भारत-मन्त्री को दिये गए बोर्ड को लगभग वे सभी अधिकार कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स और भारत में कम्पनी के अधिकारियों के ऊपर प्राप्त थे। वस्तुतः १७८४ के एक्ट का छठा खंड (Clause VI) बाद के विधानों में लगभग उन्हीं शब्दों में दोहरा दिया गया है।[३]

साधारणतया 'बोर्ड ऑव कंट्रोल' अपने आदेश और निर्देश, बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स के द्वारा ही भेजता। किंतु कुछ मामलों में कमिश्नर अपने आदेश और निर्देश गुप्त कमेटी को भेज सकते थे। यह गुप्त कमेटी डाइरेक्टर्स द्वारा अपने-आप में से ही चुने हुए[४] तीन सदस्यों की होती। कमेटी उन आदेशों को दूसरों को बताए बिना ही भारत की सम्बन्धित सरकारों के पास भेज देती।"[५]

यद्यपि डाइरेक्टर्स-मंडल का भारत-सरकार पर सन् १८५८ में इंगलैंड की राजसत्ता के हाथों में आने तक बहुत बड़ा प्रभाव बना रहा किंतु जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है अन्तिम नियंत्रण इस नए बोर्ड के हाथों में आ गया। सन् १९१८ में भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट में यह लिखा गया है—"हमको इस परिणाम पर नहीं पहुँचना चाहिए कि 'बोर्ड ऑव कंट्रोल' के सभापति की प्रभुता के कारण डाइरेक्टर्स के हाथों में कोई वास्तविक नियंत्रण नहीं रहा। उनकी स्थिति अब भी सुदृढ़ थी, साधारणतया उपक्रमण करने (Initiative) का अधिकार अब भी उन्हीं के हाथों में था; अनुभव-ज्ञान उन्हीं के पास था। यद्यपि वैधानिक उत्तरदायित्व सरकार पर था किंतु अन्त तक

---

१. Clause VI of the Act, Keith : Speeches and Documents, vol. I, page 97.

२. Clause XI उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९८.

३. Clause II Sub-section 2 of the Consolidated Govt. of India Act. Bose : Working Constitution of India, page 104.

४. Clause XVI of the Act, Keith : Speeches and Documents vol. I, page 101.

५. Clause XV उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १००

शासन की अधिकांश छोटी-छोटी बातों पर, उनके विस्तार पर उसका बहुत बड़ा प्रभाव बना रहा।[1]

१७८४ के एक्ट से भारत का एकीकरण एक पग और आगे बढ़ा। एक्ट ने बम्बई और मद्रास के सपरिषद् गवर्नरों के ऊपर सपरिषद् गवर्नर-जनरल के अधिकारों को विस्तृत और सुनिश्चित किया। एक्ट के खंड ३१ में यह कहा गया है कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल को, "विभिन्न प्रेसिडेंसियों और वहाँ की सरकारों का.........राजस्व, सेना, भारतीय सत्ताओं से युद्ध और संधि के मामलों में........अथवा डाइरेक्टर्स मंडल से निर्दिष्ट विषयों में.......... निरीक्षण, नियंत्रण और निर्देश करने का अधिकार होगा।"[2] सपरिषद् गवर्नर-जनरल के ऊपर डाइरेक्टर्स मंडल को भी ऐसा ही अधिकार दिया गया था।

१७८४ के एक्ट से गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की परिषदों के विधान में भी परिवर्तन हुआ।[3] हर परिषद् के तीन सदस्य होते; उनमें सेनापति भी एक सदस्य होता। नियुक्तियाँ अब भी कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स के हाथों में थीं किंतु राज-सत्ता को कम्पनी के सेवकों को पद-च्युत करने या वापिस बुलाने[4] का अधिकार था। कम्पनी के प्रदेशों को पहली बार "ब्रिटिश भारतीय प्रदेश", "इस (ब्रिटिश) राज्य के प्रदेश" कहा गया।[5]

कम्पनी को अपनी व्यवस्था ठीक करने को कहा गया। साथ ही राज्य-विस्तार और विजय की योजनाओं को छोड़ देने और 'अनावश्यक सेवकों का अवच्छेद' करने को कहा गया। "भारत में राज्य-विस्तार और विजय की योजनाओं को कार्यान्वित करना इस (ब्रिटिश) राष्ट्र की नीति, मान और इच्छा के प्रतिकूल" बताया गया।[6]

अन्त में १७८४ के एक्ट ने इस बात की भी पहले से अच्छी व्यवस्था की कि जो अंग्रेज भारत में अपराध करें उन पर इंग्लैंड में मुकदमा चलाकर न्यायानुसार दंड दिया जाय। ऐसे अभियोगों के लिए एक विशेष न्यायालय बनाया गया। इसमें तीन जज और चार लार्ड और छः हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्य होते।

---

१. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918 के पृष्ठ १८, पैराग्राफ़ ३१ का अनुवाद।
२. Clause XXX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०९.
३. Clause XVIII and XIX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०२.
४. Clause XXII उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०४.
५. Clause I उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९६.
६. Clause XXXIV उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १११.

सन् १७८४ के एक्ट से मुख्य बात यह हुई कि देश के शासन का वास्तविक अधिकार 'बोर्ड ऑव कंट्रोल' के सभापति को दे दिया गया।[१] इसके कई कारण थे : पहले सभापति सर हेनरी डण्डास पिट के मित्र थे और वे आरम्भ से ही बोर्ड के अधिकारों को मनवा सकते थे। डाइरेक्टर्स, जिनकी साधारण आय तो कम थी और जिनकी मुख्य प्राप्ति अनुग्रह करने (नौकरी आदि दिलाने) में थी, बोर्ड को इस डर से अप्रसन्न नहीं कर सकते थे कि कहीं उनके रहे-सहे अधिकार भी न छीन लिये जायँ। बोर्ड के सभापति को, पार्लियामेंट को कोई वार्षिक हिसाब नहीं देना पड़ता था और वह लगभग उत्तरदायित्व-निहित था।[२] यद्यपि पिट ने इस बात का ध्यान रखा था कि कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स की स्थिति और प्रतिष्ठा ज्यों-की-त्यों बनी रहे किंतु उपर्युक्त कारणों ने बोर्ड और उसके सभापति को बहुत शक्तिशाली बना दिया।[३]

इस एक्ट के अनुसार भारत में शासन एक निरन्तर बदलती रहने वाली परिषद में निहित हुआ।[४] वारन हेस्टिंग्स के उत्तराधिकारी मिस्टर मैकफर्सन के दुर्बल शासन में इस व्यवस्था के दोष विशेष रूप से स्पष्ट हुए। मिस्टर मैकफ़र्सन सबसे पुराने और अधिकार में सबसे बड़े अधिकारी थे, किंतु उनमें और कोई योग्यता नहीं थी। बाद में जब लार्ड कॉर्नवालिस से[५] गवर्नर-जनरल बनने के लिए कहा गया तो उन्होंने व्यवस्था में परिवर्तन करने और अपने अधिकार

---

१. यद्यपि एक्ट ने अधिकार बोर्ड को संयुक्त रूप में दिया था किंतु वह सभापति के हाथों में केन्द्रित हो गया। प्रो. डॉडवेल लिखते हैं, "यह परिवर्तन बिना किसी दुर्भावना के नहीं हुआ। डंडास आरम्भ से ही प्रमुख स्थिति में था। यह बात सबको, विशेषकर लॉर्ड सिडनी को, बुरी लगी। उन्होंने भारत में स्कॉटलैंडवासियों के प्रति डंडास के भेद-भावपूर्ण व्यवहार पर आपत्ति की। सन् १७८६ में इस परिवर्तन को कानूनी रूप देने का प्रयत्न किया गया। डंडास ने कहा कि इस प्रकार आपका सेवक केवल वस्तुतः ही नहीं वरन् घोषित रूप से भी भारत के लिए राज्य-मन्त्री माना जायगा। किंतु इस कार्यवाही को कानूनी रूप देने के लिए सभापति को अपने साथियों की स्वीकृति अनिवार्य थी।

२. मन्त्रि-मंडल में उसकी स्थिति उसके व्यक्तित्व पर थी।

३. Thakore : Indian Administration to the Dawn of Responsible Govt., page 42.

४. Chesney : Indian Polity, page 19.

५. डंडास ने लॉर्ड कार्नवालिस को भारतीय शासन के लिए संसार-भर में सब

बढ़ाने के लिए कहा। फलतः १७८६ में एक एक्ट बनाया गया। इसके अनुसार असाधारण स्थिति में गवर्नर-जनरल—साथ ही गवर्नरों को भी—अपनी परिषद की स्वीकृति लिये बिना ही निर्णय करने का अधिकार दिया गया। साथ ही लार्ड कॉर्नवालिस को स्वयं ही गवर्नर-जनरल और सेनापति दोनों पदों का काम सँभालने का प्राधिकार मिला। एक्ट ने यह नियम भी बनाया कि सेनापति के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति जिसने भारत में कम से कम बारह वर्ष तक सेवा न की हो, गवर्नर-जनरल या उसकी परिषद् का सदस्य नियुक्त न किया जाय।

पिट ने सन् १७८४ के एक्ट में बोर्ड ऑव कंट्रोल और डाइरेक्टर्स के अलग-अलग अधिकारों को जान-बूझकर निश्चित नहीं किया था और विरोध शान्त करने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग किया था जिस के दोहरे अर्थ हो सकते थे। किंतु जब विधेयक स्वीकार होकर एक्ट बन गया तो डाइरेक्टर्स को प्रसन्न रखने की आवश्यकता समाप्त हो गई और मंत्रिमंडल ने अपना वास्तविक उद्देश्य प्रकट करना आरम्भ किया। फॉक्स की ही तरह पिट का उद्देश्य भी यही था कि कम्पनी को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाय और भारतीय शासन का वास्तविक नियंत्रण कमिश्नरों के बोर्ड को सौंप दिया जाय। इसी दृष्टि से बोर्ड ऑव कंट्रोल के अधिकारों को एक्ट में साधारण किंतु विस्तृत रूप में रखा गया था। आरम्भ से ही बोर्ड ऑव कंट्रोल ने दृढ़ और कठोर ढंग अपनाया और डाइरेक्टर्स के ऊपर अपनी श्रेष्ठता और अपना अधिकार जताया। अगले तीन वर्षों में कई बार मतभेद हुए। यदि कभी बोर्ड ऑव कंट्रोल को झुकना भी पड़ा तो यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया कि डाइरेक्टर्स की जो कुछ भी सत्ता थी वह केवल श्रेष्ठतर शक्ति के निष्क्रिय यंत्र के ही रूप में थी।[१] सन् १७८४ में एक गम्भीर और महत्वपूर्ण मतभेद हुआ। दोनों मंडलों के बीच का यह मतभेद १७८८ के अभिधायक (Declaratory) एक्ट ने समाप्त किया।

से उपयुक्त व्यक्ति बताया: "यहाँ किसी खोई सम्पत्ति की क्षति-पूर्ति नहीं करनी थी, किसी लालच की भूख नहीं मिटानी थी, किसी दरिद्री की व्यवस्था नहीं करनी थी, किन्हीं भूखे आश्रितों का मुँह नहीं भरना था।" Quotation by Thakore from Mill & Wilson, History of India, Vol. V, Chap. IX, in Indian Administration to the Dawn of responsible Government, page 44 का अनुवाद।

१. Ilbert : Historical Survey, pages 67-68.

'बोर्ड ऑव कंट्रोल' ने कम्पनी के व्यय पर (शाही) ब्रिटिश सेना को भारत भेजा था। डाइरेक्टर्स ने बोर्ड के इस अधिकार पर आपत्ति की। बोर्ड ने सन् १७८४ के एक्ट के अन्तर्गत अपना यह अधिकार बताया और फलतः भारत में चार शाही सैन्य-दल भेजे और उनका व्यय भारतीय राजस्व के हिसाब में डाल दिया। डाइरेक्टर्स ने इसका विरोध किया और साथ ही सैन्य-दल को भेजने की आवश्यकता और उसके औचित्य पर भी आपत्ति की। उन्होंने सन् १७८१ के एक्ट की उन धाराओं का सहारा लिया जो रद्द नहीं हुई थीं। इनके अनुसार कम्पनी उन्हीं सैन्य-दलों का व्यय देने को बाध्य की जा सकती थी जिनकी कि उसने स्वयं माँग की हो।

पिट ने ऐसे विवादों को सदा के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से एक अभिधायक विधेयक प्रस्तुत किया। उसके अनुसार बोर्ड ऑव कंट्रोल को अन्तिम अधिकार दे दिया गया। डंडास के मत से इस अधिकार के बिना बोर्ड ऑव कंट्रोल एक निरर्थक संस्था थी।[1] उस विधेयक का विरोध किया गया। यह कहा गया कि व्यय करने के अनियंत्रित अधिकार का अर्थ यह होगा कि कम्पनी की व्यावसायिक निधि राजनीतिक उद्देश्यों[2] के कारण बिलकुल ज़ब्त हो जायगी। भारत में सैन्य-दल भेजने के विरुद्ध दो आपत्तियाँ की गईं। एक तो यह कि कम्पनी को जितनी सेना की आवश्यकता थी, उतनी उसके पास मौजूद थी। साथ ही इंग्लैंड से सेना भेजने की अपेक्षा, कम्पनी के लिए भारत में ही सेना तैयार करने में कम व्यय होता था। दूसरी आपत्ति यह थी कि राज-सत्ता के लिए ऐसी सेना बनाए रखना, जिसके लिए पार्लियामेंट से व्यय स्वीकार न किया गया हो, अवैधानिक था। इसके अतिरिक्त शाही सेना भेजने से भारत में सैन्य-संगठन का काम जटिल हो जाता, क्योंकि इस तरह कम्पनी की सेना और शाही सैन्य-दल एक सूत्र में आ जाते थे।

पिट और डंडास ने इन आपत्तियों से सुलझने का प्रयत्न किया। प्रधान मन्त्री ने समस्त राजकीय स्थल और जल-सेना की असंतोषजनक स्थिति की ओर संकेत करके वैधानिक प्रश्न को समाप्त कर दिया। "वर्तमान प्रश्न पर विचार करने का अर्थ होगा, वैधानिक कानून के महत्त्वपूर्ण किंतु दोषयुक्त भाग की ओर ध्यान आकर्षित करना और उसका सुधार करना।[3] भारत में दो प्रकार के सैनिक संगठन की कठिनाई को पिट ने स्वीकार किया और उसने पार्लियामेंट के भवन में कहा

१. Mill : History of India, Vol. V, page 78.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७५.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७९.

कि भारत में सारी सेना (इंगलैंड की) राज-सत्ता के ही आधीन होनी चाहिए और साथ ही यह भी कहा कि इस सुधार के लिए योजना तैयार हो रही है। सच बात तो यह थी कि पिट और डंडास दोनों ही भारत की सारी शक्ति राज-सत्ता अर्थात् मन्त्रि-मंडल को हस्तान्तरित करने पर तुले हुए थे। पार्लियामेंट और डाइरेक्टर्स की स्पष्ट इच्छा के विरोध में, उनकी नीति भारत में राजनीतिक शक्ति के विस्तार के पक्ष में थी।

मन्त्रि-मंडल द्वारा इस प्रकार अनन्त शक्ति हथियाने के प्रयत्न से काफी विरोध उठ खड़ा हुआ। संदेह के कारण उसके प्रति सतर्कता भी बढ़ी। उन्हें शान्त करने के उद्देश्य से पिट ने कुछ ऐसी धाराएँ जोड़ दीं जिनसे बोर्ड ऑव कंट्रोल के कुछ अधिकार कम होते थे। बोर्ड एक सीमा के अन्दर ही सैन्य-दल भेज सकता था। बोर्ड को पदाधिकारियों का वेतन बढ़ाने अथवा किसी सेना के बदले उपदान देने का अधिकार नहीं था जब तक कि पार्लियामेंट और डाइरेक्टर्स की स्वीकृति न हो। डाइरेक्टर्स को पार्लियामेंट के सामने कम्पनी के आय-व्यय का वार्षिक लेखा रखना होता था।

इस प्रकार १७८४ के एक्ट का अर्थ बताने का प्रयत्न समाप्त हुआ। पार्लियामेंट का यह काम नहीं है कि वह नियमों का अर्थ बताए, यह काम न्यायपालिका का है। किंतु अभिधायक विधेयक में यही उल्टी बात है। उसके अनुसार वह नियम, जिसको धाराओं से सीमित किया गया हो अथवा वह नियम जिस को इस प्रकार सीमित न किया गया हो, दोनों एक ही बातें हैं।[१]

(२)

लॉर्ड कॉर्नवालिस जब भारत आए तो वह गवर्नर-जनरल भी थे और सेनापति भी थे। कुछ विशेष स्थितियों में किंतु पूर्ण सदुद्देश्य के साथ, उन्हें अपनी परिषद की उपेक्षा करने का अधिकार भी था। वह टीपू के साथ एक बड़ी लड़ाई में फँस गए। इस लड़ाई का उन्होंने स्वयं बड़ी कुशलता के साथ संचालन किया। उसमें मालाबार और सलेम के वर्त्तमान जिले और मदुरा जिले के कुछ भाग जीतकर मद्रास प्रेसीडेंसी में मिला दिए गए।

१७८६ के एक्ट मे गवर्नर-जनरल को परिषद् की उपेक्षा करने का अधिकार तो दिया, किंतु उससे परामर्श करना अनिवार्य था। १७९१ में एक एक्ट बनाया गया। इसके अनुसार गवर्नर-जनरल युद्ध समाप्त[२] होने के तीन महीने बाद तक बिना परिषद् के काम कर सकता था। बाद के नियमों में इसे साधारण अधिकार बना दिया गया।

---

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ८०.
२. Chesney: Indian Polity, page 22.

भारतीय इतिहास में लॉर्ड कॉर्नवालिस का शासन स्मरणीय है। लॉर्ड कॉर्नवालिस को भारत में आने पर असाधारण अधिकार दिये गए थे। कॉर्नवालिस के नाम के साथ यह अपयश लगा हुआ था —"वह व्यक्ति जो अमेरिका में पराजित हो चुका था।"[१] भारत में कॉर्नवालिस ने सात वर्ष की अवधि में केवल एक बड़ी लड़ाई ही नहीं जीती[२] वरन् ब्रिटिश भारत की शासन, राजस्व और न्याय-व्यवस्था में बड़े महत्त्वपूर्ण सुधार भी किये।

संभवतः सबसे बड़ा सुधार भारत की सैनिक एवं सिविल नौकरियों से सम्बन्धित था। चेसनी के शब्दों में भारतीय सार्वजनिक सेवा विभाग, "अनेक दोषों से भरा हुआ था।"[३] मिस्टर विन्सेंट स्मिथ बनारस के रेज़ीडेंट का उदाहरण देते हैं, जिसकी वार्षिक आय ४०००० पौंड थी।[४] असली वेतन बहुत कम था। इस प्रचलित कदाचार का मुख्य कारण डाइरेक्टर्स का वह व्यावसायिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार वे खाते में अल्प वेतन दिखाना चाहते थे। उन्हें इस बात की कोई चिन्ता न थी कि परिलब्धि का परिमाण क्या होता है।[५] लॉर्ड कॉर्नवालिस ने यह सब ढर्रा बदल दिया। उन्होंने उचित वेतन दिये और दूसरे प्रकार की आय वर्जित कर दी। अपने[६] ही उदाहरण से उन्होंने सार्वजनिक सेवा और कर्त्तव्य का स्तर ऊँचा किया।

लॉर्ड कॉर्नवालिस ने सार्वजनिक सेवा का नैतिक स्तर ही ऊँचा नहीं किया वरन् शासन-व्यवस्था का भी फिर से संगठन किया। फिर से ज़िलों के क्षेत्र बनाए, और ज़िले को भारतीय शासन की इकाई बनाया। हर ज़िले की मालगुज़ारी व्यवस्था के लिए एक कलक्टर नियुक्त किया जिसको न्यायाधिकार से अलग रखा। हर ज़िले में एक दीवानी न्यायालय था जिसका सभापति एक

---

१. Smith : Oxford History of India—Quotation from Macshman.
(लॉर्ड कॉर्नवालिस की सेना को अक्तूबर १७८१ में अमेरिका के तटवर्ती यॉर्क नगर में हथियार डालने पड़े थे) page 558.

२. सन् १७९२ की श्रीरंगपट्टम संधि से मैसूर युद्ध समाप्त हुआ।

३. Chesney : Indian Polity, page 23.

४. Smith : Oxford History of India, page 557.

५. उपर्युक्त पुस्तक, एवं पृष्ठ।

६. 'लॉर्ड कॉर्नवालिस ईमानदार, परिश्रमी शासक थे। उन्होंने श्री रंगपट्टम की संधि में कोई आर्थिक साझा लेना अस्वीकार कर दिया' उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ ५७४ से अनूदित।

यूरोपियन जज होता। उसको मजिस्ट्रेट का अधिकार होता और वह पुलिस का नियंत्रण भी करता। भारतीय दरोग़ा के आधीन, जो स्वयं ज़िला जज के आधीन होता था, पुलिस-मंडल होता। फ़ौजदारी न्याय प्रान्तीय अदालतों द्वारा कार्यान्वित होता।

यह विचित्र बात है कि जिस तर्क से लॉर्ड कॉर्नवालिस ने मालगुज़ारी और न्याय-विभाग को अलग किया उसी के अनुसार न्याय और कार्यपालिका को अलग नहीं किया। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने कलक्टर को न्यायाधिकार से अलग कर दिया, किंतु ज़िला जज को न्यायाध्यक्ष और पुलिस दोनों का ही काम दे दिया।

लॉर्ड कॉर्नवालिस ने दीवानी न्याय के लिए तीन प्रकार के न्यायालय बनाए। सबसे पहले तो बड़े नगरों और ज़िलों में स्थानीय न्यायालय थे। बड़े नगरों में मुन्सिफ़ और अमीन के न्यायालय थे। जिनमें पचास रुपये तक के मुकदमों का निर्णय होता। इससे अधिक और २०० रुपये तक के लिए रजिस्ट्रार का न्यायालय था। हर ज़िले में एक यूरोपीयन जज के आधीन ज़िला-न्यायालय था। यह जज पद में कलक्टर से बड़ा होता। उसकी सहायता के लिए एक काज़ी होता और एक पंडित होता, जो क्रमशः मुसलमानी-न्याय अथवा हिंदू-न्याय में दक्ष होता। ज़िला-न्यायालय का मौलिक अधिकार भी होता और अपील सुनने का अधिकार भी होता। यह अपील उन अभियोगों पर होती जो मुन्सिफ या रजिस्ट्रार द्वारा तय किये जा चुके थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय केवल अपील के लिए थे। इनको प्रान्तीय न्यायालय कहा जाता। इनमें से एक कलकत्ता के निकट था, दूसरा पटना में था, तीसरा ढाका में और चौथा मुर्शिदाबाद में। इनमें से प्रत्येक न्यायालय में तीन जज होते, एक रजिस्ट्रार होता, एक या अधिक सहायक होते और भारतीय कानूनों को जानने वाले तीन व्यक्ति होते—एक काज़ी, एक मुफ़्ती, और एक पंडित। इनमें छोटे न्यायालयों की अपील सुनी जाती। १००० रुपये तक के मामलों में इनके निर्णय अन्तिम होते। १००० रुपये से अधिक के मामलों की कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती थी। कलकत्ता के न्यायालय को सदर दीवानी अदालत भी कहते थे। वह न्यायालय गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् के सदस्यों से निर्मित होता। इनकी सहायता को एक मुख्य काजी, दो मुफ़्ती, दो पंडित, एक रजिस्ट्रार और कुछ दूसरे कर्मचारी होते। ५०००० रु० से अधिक मूल्य के मामलों की प्रिवी कौंसिल (सपरिषद् इंगलैंड-नरेश) से अपील की जा सकती थी।

फ़ौजदारी न्याय चार प्रान्तीय न्यायालयों के आधीन था। ये न्यायालय एक मंडल से दूसरे मंडल में परिभ्रमण करते और अपील सुनते। ये न्यायालय

वर्ष में चार बार कलकत्ता में, वर्ष में दो बार हर जिले में और प्रान्तीय केन्द्र में हर महीने में एक बार न्याय-कार्य करते। हर मंडल के काम के लिए प्रान्तीय न्यायालय दो हिस्सों में बँट जाता था। एक दल में एक जज और उसके साथ में रजिस्ट्रार और मुफ़्ती होता, दूसरे दल में अन्य दो जज, काजी और दूसरा सहायक होता। मंडल के इन न्यायालयों के ऊपर सदर निजामत अदालत थी जिसमें गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद् के सदस्य और सहायता के लिए एक काजी और दो मुफ़्ती होते। इन प्रान्तीय न्यायालयों और सदर निजामत अदालत के अतिरिक्त हर जिले में शान्ति के न्यायाधिकारी (Justices of the Peace)[1] होते। ये अपने क्षेत्राधिकार के अभियोगों में १५ दिन की जेल या २०० रुपये तक जुर्माना कर सकते थे।

अन्त में, लॉर्ड कॉर्नवालिस ने पुलिस-व्यवस्था को सुधारने का भी प्रयत्न किया। पुलिस के अधिकार जमींदारों को मिले हुए थे जिनके अपने सशस्त्र अनुयायी होते। शहरों में कोतवाल होते, इनके भी अपने सशस्त्र अनुयायी होते। इन व्यक्तियों को पुलिस के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। हर जिले को वृत्तों में बाँट दिया गया। इनमें से प्रत्येक वृत्त लगभग २० मील का था। हर वृत्त के लिए जिला जज एक दरोग़ा नियुक्त करता और इसकी सहायता को सशस्त्र आदमी होते। बड़े-बड़े नगरों को विभागों में बाँटा गया। प्रत्येक विभाग एक दरोग़ा और उसके सशस्त्र आदमियों के आधीन होता। दरोग़ा और उसके सहायक जिला जज के आधीन होते, जो जिले का मुख्य न्यायाधिकारी होता और साथ ही जिले की पुलिस का निरीक्षण और नियंत्रण करता।

शासन के क्षेत्र में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने जो सुधार किये, उनमें तीन बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो है कि यद्यपि कर्मचारियों के वेतन काफी बढ़ाये गए और उन्हें किसी तरह की फ़ीस, कमीशन, भेंट आदि लेने से रोक दिया; किंतु भारतीय सहायकों और नौकरों को अब भी बहुत थोड़ा वेतन दिया जाता। कभी-कभी तो उन्हें कोई वेतन दिया ही नहीं जाता वरन् फ़ीस दी जाती या उपदान दिया जाता। रजिस्ट्रार, अमीन, या मुफ़्ती के लिए कोई वेतन नहीं था। उन्हें हर रुपये में एक आना फ़ीस का मिलता। दरोग़ा का वेतन केवल २५ रुपये मासिक था। हर डाकू या लुटेरे को पकड़ने पर १० रुपये और मिलते। चोरी किये हुए माल को फिर से प्राप्त करने पर कुछ कमीशन मिलता। परिणाम यह हुआ कि दरोग़ा बदमाशों की अपेक्षा भले आदमियों के लिए अधिक आतंक की

१. जिला जज, रजिस्ट्रार और अमीन—ये सब भी शान्ति के न्यायाधिकारी थे।

चीज बन गए।[१] दूसरी बात यह है कि यद्यपि लॉर्ड कॉर्नवालिस ने यह आदेश दिया था कि अब तक सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा जो विनियम बनाये गये हैं, उनको क्रमबद्ध करके सार्वजनिक जानकारी[२] के लिए छापकर प्रकाशित किया जाय, किन्तु भारतीय न्याय-नियमों की संहिता बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। पंडितों और काजियों की सम्मतियों में अन्तर और विकल्प हो सकता था। "हर एक चीज अस्पष्ट और अनिश्चित थी और फलतः मनमानी थी।"[३] अन्त में तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि लॉर्ड कॉर्नवालिस ने शासन से भारतीयों को विधिवत् दूर रखने की नीति अपनाई।[४] मार्शमैन के अनुसार यह लार्ड कॉर्नवालिस की बहुत बड़ी ग़लती थी और अब इस नीति के अविवेक और अनौचित्य को सभी लोग स्वीकार करते हैं।[५]

लॉर्ड कॉर्नवालिस ने एक और बहुत महत्त्वपूर्ण सुधार किया जो उनके सारे सुधारों में सबसे अधिक महत्त्व का था। यह सुधार मालगुज़ारी-व्यवस्था से सम्बन्धित था। कुछ समय पहले[६] तक इसकी बड़ी प्रशंसा की जाती थी, किन्तु अब अधिकांश लेखक उसे बहुत बड़ी भूल बताते हैं। सन् १७९३ में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुज़ारी-व्यवस्था का बन्दोबस्त किया और सन् १७९५ में बनारस डिवीजन का बन्दोबस्त किया। यह स्थायी बन्दोबस्त की

---

१. Smith : The Oxford History of India, page 570.

२. Sapre : The Growth of the Indian Constitution and Administration, page 135.

३. Mill : History of British India, Book VI, page 432

४. Chesney : Indian Polity, page 25.

५. प्रो. डांडवेल लिखते हैं कि भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने में कितनी ही दुस्तर कठिनाइयाँ थीं। सन् १७९१ के एक्ट के अनुसार, "५०० पौंड से अधिक वेतन, परिलब्धि और आय के किसी पद के लिए उसी व्यक्ति की नियुक्ति हो सकती हो जो कम-से-कम तीन साल तक कम्पनी की सेवा में रहा हो।" प्रो. डांडवेल आगे लिखते हैं कि : यदि लार्ड कॉर्नवालिस ने ५०० पौंड प्रति वर्ष से अधिक आय के किसी पद पर किसी भारतीय को नियुक्त किया भी होता तो वह अवैध होता, क्योंकि एक्ट के अर्थानुसार कोई भी भारतीय, कम्पनी का सेवक नहीं था।" Cambridge History of India, Vol. V, page 319 से अनूदित।

६. इस स्थायी बन्दोबस्त के विवेचन के लिए पढ़िये—R. C. Dutt: History of Early British Rule in India.

व्यवस्था थी। सर जान शोर ने बन्दोबस्त का विरोध किया। लेकिन लॉर्ड कॉर्नवालिस ने शोर, जो उस विषय के विशेषज्ञ थे, का मत न मानकर, जल्दी ही स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था कर दी। हाल में इस व्यवस्था की बड़ी तीखी आलोचना हुई है।

(३)

लॉर्ड कॉर्नवालिस का शासन-काल समाप्त होने के समय कम्पनी के अधिकार-पत्र को फिर से जारी करने का प्रश्न पार्लियामेंट के सामने आया। सन् १७७३ में इस अधिकार-पत्र की फिर २० वर्ष के लिए पुष्टि की गई थी। अब यह अवधि समाप्त हो रही थी। इस अवसर पर इंग्लैंड के व्यापारियों और व्यवसायियों ने पूर्वीय वाणिज्य की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन खड़ा किया। किंतु बोर्ड ऑव कंट्रोल और बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स ने अपनी योजना बड़ी चतुराई से तैयार की थी। उन्होंने पूर्वीय वाणिज्य और रोपण (पौध वाली खेती) पर रिपोर्ट तैयार करने के लिए डाइरेक्टर्स की एक कमेटी नियुक्त की। यह रिपोर्ट उचित अवसर पर हाउस ऑव कॉमन्स में प्रस्तुत की जाती। इस बीच २५ फ़रवरी सन् १७९३ को बोर्ड ऑव कंट्रोल के सभापति सर हेनरी डंडास ने भारतीय व्यवस्था की पूर्णतः संतोषजनक स्थिति पर पार्लियामेंट-भवन में एक वक्तव्य दिया और यह जताया कि उस व्यवस्था से सबको लाभ होगा। इस प्रकार अधिकार-पत्र को फिर से जारी कराने के लिए चतुराई से मार्ग तैयार किया गया। पिट उस समय अपनी शक्ति के शिखर पर थे और राष्ट्र का स्वार्थ फ्रांस के साथ युद्ध की समस्या में केन्द्रित था। भवन के सामने अधिकार-पत्र का प्रश्न आने से कुछ पहले यह युद्ध आरम्भ हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में डंडास और पिट को इस अधिकार-पत्र को फिर से जारी कराने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती थी। परिणामस्वरूप १७९३ का एक्ट बना और कुछ साधारण से संशोधनों के बाद बीस वर्ष के लिए कम्पनी के एकाधिपत्य को फिर स्वीकृति दे दी गई।

(४)

१७९३ का एक्ट बहुत बड़ा था। उसने बहुत से पहले नियमों को रद्द कर दिया और कानून का एकीकरण किया, किन्तु उसने बहुत से परिवर्तन और संशोधन नहीं किये।

पहली बात तो यह थी कि पूर्व में कम्पनी के व्यावसायिक एकाधिपत्य को बीस वर्ष की अवधि और मिल गई। अंगरेज़ व्यापारियों और निर्माताओं के विरोध को शान्त करने के लिए ३००० टन के परिमाण तक व्यक्तिगत व्यापार

के लिए अनुमति दी गई। किंतु इस अधिकार पर इतने प्रतिबन्ध[1] थे कि व्यापारियों ने इस नये खुले हुए लाभहीन मार्ग[2] को उपयोग में न लाने का ही निश्चय किया।

इस एक्ट ने दूसरी बात यह की कि बोर्ड ऑव कंट्रोल के सदस्यों और सहायकों को भारतीय राजस्व से वेतन देने की व्यवस्था की। इस प्रकार वह अमंगल ढर्रा आरम्भ हुआ, जो अपने अवांछित परिणामों[3] के साथ सन् १९१९ के एक्ट लागू होने तक बना रहा। इस एक्ट के अनुसार बोर्ड के दो छोटे सदस्यों के लिए प्रिवी कौंसिल का मेम्बर होना अनिवार्य नहीं था।

तीसरी बात यह हुई कि एक्ट ने कितनी ही बड़ी धाराओं में, कम्पनी के राजस्व का नियंत्रण किया। १२,३९,२४१ पौण्ड की वार्षिक बचत का अनुमान किया गया। इसमें से ५ लाख पौण्ड कम्पनी के ऋण के भुगतान में जाते और ५ लाख पौण्ड लाभांश को ८ प्रतिशत से बढ़ाकर १० प्रतिशत करने में खपते। कम्पनी को २० लाख पौण्ड के ऋण का, २०० प्रतिशत के भाव के हिस्सों से १० लाख पौण्ड की पूंजी (Stock) के आधार पर प्रबन्ध करना था। इस नई पूंजी के लाभांश के लिए १ लाख पौण्ड अलग कर दिए गए। किन्तु अनुमानित बचत वस्तुतः हुई नहीं और ब्रिटेन को ५ लाख पौण्ड का अपना वार्षिक भाग प्राप्त नहीं हुआ। साझेदारों को, लाभांश बढ़कर ८ से १० प्रतिशत हो जाने के कारण, अवश्य लाभ हुआ।

एक्ट ने चौथी बात यह की कि भारत की शासन-व्यवस्था में कुछ थोड़े से संशोधन किये। हर प्रेसीडेन्सी की परिषद् की कार्य-पद्धति का विनियमन किया गया और गवर्नर जनरल और गवर्नरों को परिषद् के परामर्श की उपेक्षा कर सकने का अधिकार दिया गया। अन्य प्रेसिडेन्सियों के शासन पर नियंत्रण करने

---

१. व्यक्तिगत व्यापार के लिए जो अनुमति मिली "उसमें सैन्य-सामग्री के आयात पर प्रतिबन्ध था। यही प्रतिबन्ध कपड़े पर था। इसके अतिरिक्त सामान को कम्पनी के गोदामों में रखने और कम्पनी के भाव पर बेचने की भी शर्त थी" Mill : History of British India, Book VI, page 8 से अनूदित।

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १४.

३. बोर्ड ऑव कंट्रोल के सदस्यों को भारतीय राजस्व से वेतन देने का मुख्य परिणाम यह हुआ कि पार्लियामेंट के नियंत्रण के अवसर बहुत घट गए, क्योंकि हर विभाग के व्यय के लिए रकम स्वीकार करने के समय पर ही पार्लियामेंट में उस विभाग के काम की जाँच और आलोचना होती है।

का गवर्नर जनरल को जो अधिकार था उसे पुष्ट किया गया। साथ ही यह भी कहा गया कि जब स्वयं गवर्नर जनरल किसी दूसरी प्रेसीडेन्सी में उपस्थित हो तो वहाँ का गवर्नर और सारा शासन उसके आधीन होगा। गवर्नर जनरल, गवर्नरों, सेनापति और कुछ अन्य बड़े अधिकारियों को अपने पद की अवधि में भारत से बाहर जाने की छुट्टी नहीं मिल सकती थी। यह नियम सन् १९२५ में पार्लियामेण्ट के एक विशेष एक्ट द्वारा बदला गया। गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि किसी दूसरी प्रेसीडेन्सी में जाने के समय, अपनी अनुपस्थिति की अवधि के लिए, वह परिषद् के किसी सदस्य को उप-सभापति नियुक्त कर सकता था जो उसके स्थान पर काम करता। अब सेनापति[1] डाइरेक्टर्स द्वारा विशेष रूप से परिषद् का सदस्य नियुक्त किये जाने पर ही उसका सदस्य हो सकता था अन्यथा नहीं।

एक्ट ने पाँचवीं बात यह की कि कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय का जल-सेना पर जो क्षेत्राधिकार था, उसे सुदूर समुद्रों तक बढ़ा दिया। साथ ही एक्ट के अन्तर्गत, सिविल सर्विस के कर्मचारियों, शान्ति के न्यायाधिकारियों और प्रेसिडेन्सी के नगरों के लिए संमार्जक नियुक्त करने, स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए कर लगाने का अधिकार दिया। बिना अनुज्ञप्ति (License) के मादक द्रव्य के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

इसके अतिरिक्त एक्ट की अन्य धाराएँ एकीकरण के उद्देश्य को पूरा करने वाली थीं।

(५)

सन् १७९३ के एक्ट ने इस बात को फिर से दोहराया कि "भारत में राज्य-विस्तार और विजय की योजनाओं को कार्यान्वित करना, इस (ब्रिटिश) राष्ट्र की नीति, इच्छा और उसके मान के प्रतिकूल है।" 'कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स' को भी अपने[2] कारणों से विजय और विस्तार की यह नीति पसन्द नहीं थी। किन्तु परिस्थितियों के प्रवाह और भारत में उपस्थित अधिकारियों की आकांक्षाओं के कारण व्यवहार में ठीक उलटी नीति अपनाई गई। लार्ड वेल्जली ने गवर्नर जनरल की हैसियत से अपने ७ वर्ष के कार्य-काल में कम्पनी के प्रदेशों का बहुत बड़ा विस्तार किया। पंजाब, सिंध और नेपाल को छोड़कर लगभग सारा भारत, ब्रिटिश प्रभुता के क्षेत्र में आ गया।

१. केवल लॉर्ड कॉर्नवालिस को गवर्नर जनरल और सेनापति दोनों का पद एक साथ मिला था।

२. डाइरेक्टर्स विजय और प्रादेशिक विस्तार की नीति से इस कारण असहमत थे कि उसमें बड़ा भारी खर्च होता था और कम्पनी का लाभ कम होता था।

लार्ड वेल्ज़ली की इन लड़ाइयों से कम्पनी का ऋण बहुत बढ़ गया। ५ वर्ष में वह दूना हो गया और १८०५ में उसका परिमाण २१० लाख पौण्ड हो गया। इसका वार्षिक व्याज २७,९१,००० पौण्ड था।[१] कम्पनी के व्यापार में भी गिराव आया। सन् १८०८ में अपने कोष की स्थिति के कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स बहुत व्यग्र हुए और स्थिति सँभालने के लिए पार्लियामेण्ट से अपील की। कम्पनी का सरकार पर १२ लाख पौण्ड उधार था। अपने प्रार्थना-पत्र में कम्पनी न इस परिमाण को लौटाने के लिए कहा और साथ ही अपने भुगतान करने के लिए इतने ही परिमाण का ऋण माँगा। धन के अनुदान के सम्बन्ध में भारतीय मामलों की वस्तुस्थिति की जाँच करने के लिए ११ मार्च १८०८ को एक कमेटी नियुक्त की गई।[२] १३ जून को रिपोर्ट प्राप्त हुई और कम्पनी को पुराने हिसाब में १५ लाख पौण्ड की रक़म दिया जाना निश्चित हुआ। सन् १८११ में कम्पनी को १५ लाख पौण्ड का ऋण स्वीकार हुआ और सन् १८१२ में उसे प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर २० लाख पौण्ड का ऋण उगाहने की अनुमति मिली। जून १८१२ में पार्लियामेण्ट ने कम्पनी को २५ लाख पौण्ड का एक ऋण और दिया।[३]

सन् १८०८ की कमेटी कम्पनी की वस्तुस्थिति की जाँच का काम पाँच वर्ष तक करती रही और उसने पाँच रिपोर्टें तैयार कीं। इनमें से पाँचवीं रिपोर्ट सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। जुलाई १८१२ में इसे प्रकाशित किया गया और इल्बर्ट के अनुसार, "भारतीय भूमि-व्यवस्था पर उसे अब भी प्रामाणिक माना जाता है और तत्कालीन पुलिस और न्याय व्यवस्था पर भी उसका काम सबसे अधिक प्रामाणिक है।"[४] इस प्रकार पार्लियामेण्ट के सामने अधिकार-पत्र को फिर से जारी करने का प्रश्न आने से पहले भारतीय व्यवस्था की पूरी-पूरी जाँच की जा चुकी थी।

सन् १८१३ में अधिकार-पत्र को फिर से जारी करने के समय मुख्य विवादास्पद प्रश्न यह था कि कम्पनी के व्यावसायिक विशेषाधिकारों को जारी रहने दिया जाय या नहीं। उस समय कम्पनी को राजनीतिक अधिकारों से वंचित करने का कोई प्रश्न नहीं था।

---

१. Mill and Wilson : History of British India, vol. VII, pages 485-486.

२. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १६३.

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ४५४-४५५.

४. Ilbert : Historical Survey, page 73.

उस समय तक कम्पनी को भारत और चीन के साथ व्यापार के लिए एकाधिपत्य प्राप्त था। जहाँ तक चीन के साथ व्यापार का सम्बन्ध था मंत्रि-मंडल उसे अब भी कम्पनी के हाथों में रखना चाहता था। इस प्रस्ताव के लिए महत्वपूर्ण कारण थे। चीन के साथ व्यापार बड़ी विचित्र परिस्थितियों में होता था। चीनी सरकार विदेशियों के सम्पर्क के प्रति अत्यन्त ईर्ष्यालु थी। व्यापार केवल एक बन्दरगाह तक ही नहीं वरन् एक (हाँऊ नामक) वर्ग तक ही सीमित था। इस प्रकार अन्य चीन वासियों को लिए विदेशियों से सम्पर्क निषिद्ध था। अतः वहाँ प्रतिद्वन्द्विता[१] के लिए कोई क्षेत्र ही नहीं था। दूसरी ओर इस बात का भय था कि नए अंग्रेज व्यापारियों की अनभिज्ञता या असावधानी के कारण कहीं चीनी अधिकारी प्रतिकूल न हो जायँ और फलतः उनके साथ व्यापार बिलकुल ही बन्द न हो जाय। इस प्रकार चाय का आना बन्द हो जाता। अंग्रेज जनता चाय की अत्यन्त अभ्यस्त हो गई थी और उसके न आने से जनता में बड़ा तीखापन अनुभव किया जाता। साथ ही सरकार को चाय पर[२] सीमा-शुल्क से ४० लाख पौण्ड की वार्षिक आय होती थी। इस प्रकार चीन के साथ व्यापार बन्द होने से राजस्व को बड़ी भारी क्षति पहुँचती। इन सब बातों को सोचकर सरकार ने आरम्भ से ही कम्पनी के इस एकाधिपत्य को बनाए रखने का निश्चय कर लिया था।

भारत के साथ व्यापार की स्थिति दूसरी थी। कम्पनी के विरोधियों को भारतीय व्यापार के एकाधिपत्य के प्रति ही विशेष आपत्ति थी। सारे ब्रिटेन में व्यापारियों, निर्माताओं और जहाजों के मालिकों ने आन्दोलन खड़ा कर दिया था। लन्दन, ब्रिस्टल, लिवरपूल, ग्लासगो, मैंचेस्टर, शेफ़ील्ड, नौटिंघम, ब्लैकबर्न आदि अनेक नगरों से पार्लियामेण्ट के पास प्रार्थना-पत्र भेजे गए। उनमें यह निवेदन किया गया कि कम्पनी को भारतीय व्यापार के एकाधिपत्य की फिर अनुमति न दी जाय और उस व्यापार के लिए सारी ब्रिटिश प्रजा को समान रूप से स्वतन्त्रता दी जाय। प्रार्थियों ने इस बात पर जोर दिया कि हर ब्रिटिश नागरिक को बिना रोक-टोक, वाणिज्य और व्यापार करने का समान अधिकार है। उन्होंने एडम स्मिथ के तर्क उद्धृत किये और एकाधिपत्य के विरोध तथा स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष की विवेचना की। इस एकाधिपत्य को तोड़ते

---

१. Mill and Wilson : History of British India, vol. VII, page 512.

२. Sir G. Stamson : Considerations on the China Trade :—Quoted by Mill and Wilson : History of British India. Vol. VII pages 511 and 512.

में ब्रिटेन के लिए चार लाभ बताए गए :—(१) ब्रिटिश व्यवसाय और उद्योग का विस्तार; (२) भारतीय व्यापार के यूरोप और अमेरिका के अन्य देशों की ओर विकर्षित होने पर प्रतिरोध; (३) व्यापारिक मूल्य में—विशेषकर यातायात और पण्यशाला के मूल्य में कमी; (४) ब्रिटेन में भारतीय कच्चे माल का सस्ता आयात।[1] कम्पनी ने उत्तर में इन लाभों को काल्पनिक बताया। भारतीय व्यापार बिलकुल लाभदायी नहीं था और भारतीयों के स्वभाव और मापदण्ड के कारण भविष्य में कोई विस्तार संभव नहीं था। डाइरेक्टर्स ने बहुत सी व्यवहारिक कठिनाइयों की ओर संकेत किया और कहा कि भारत के साथ स्वतन्त्र व्यापार से कम्पनी नष्ट हो जायगी और पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त हो जायगा। उनके मत का वारन हेस्टिंग्स, टेनमाउथ, माल्कम और मुनरो-जैसे बड़े पदाधिकारियों ने समर्थन किया। किन्तु जैसा कि मिल के ब्रिटिश भारतीय इतिहास में विल्सन ने संकेत किया है, भारतीय व्यापार के लिए स्वतन्त्रता उपर्युक्त कारणों से नहीं दी गई वरन् यह निर्णय तो नेपोलियन की आज्ञप्तियों से ब्रिटिश व्यवसाय और उद्योग की जो दुर्गति हो रही थी, उससे बचाने की आशा से किया गया।

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में जो विवाद हुआ, उसमें तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए :—(१) भारत में ब्रिटिश उपनिवेश बनाने की वांछनीयता अथवा अवांछनीयता; (२) कम्पनी के व्यापारिक एकाधिपत्य को समाप्त करने का, भारतीय जनता और उद्योगों पर प्रभाव; (३) भारत में (ईसाई) धर्म-प्रचार की आवश्यकता और उपयोगिता।

कम्पनी के कर्मचारियों ने भारत में यूरोपियन बस्ती बसाने के कारण प्रत्याशित भयंकर परिणामों का चित्र खींचा। वारन हेस्टिंग्स ने कहा कि ये (यूरोपियन) वहाँ के निवासियों का अपमान करेंगे, उन्हें लूटेंगे और उन पर अत्याचार करेंगे और इंग्लैण्ड के कोई भी कानून उनको व्यभिचार से न रोक सकेंगे।[2] जैसा कि इल्बर्ट ने कहा है, कम्पनी के समर्थकों का भय निराधार नहीं था किन्तु उसको अत्यन्त उग्र भाषा में अतिरंजित करके प्रकट किया गया था। बाद में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार एक कठोर अनुज्ञप्ति-व्यवस्था के अनुसार यूरोपियनों को बसाने के लिए भारत जाने की अनुमति मिली। उन्हें

१. Mill and Wilson : History of British India, vol. VII, pages 424 and 485.
२. Ilbert : Historical Introduction to the Government of India, page 75.

क्षेत्राधिकार से रोक दिया गया। साथ ही उन्हें स्थानीय शासन के यूरोपियनों और भारतवासियों के सम्पर्क से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का पालन करने को कहा गया।[1]

दूसरी बात जो पार्लियामेण्ट में कही गई थी वह मुक्त व्यापार से भारतीयों को होने वाले लाभ के सम्बन्ध में थी। भारत के निर्यात की मुख्य वस्तुओं पर इंग्लैण्ड के बाजार में रोक लगी हुई थी या उन पर बहुत बड़ा कर लगा हुआ था। जैसा कि डॉ० शाह ने अपनी पुस्तक (History of Indian Tariff, page 105) में कहा है, तथ्य यह था कि "भारत के साथ मुक्त व्यापार का अर्थ या उद्देश्य, इंग्लैण्ड और भारत के बीच मुक्त व्यापार नहीं था। वह तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिपत्य के विरोध में एक स्वार्थलिप्त दुहाई थी।"

अन्त में पार्लियामेण्ट-भवन में और बाहर भी, धर्म-प्रचार के नेताओं ने प्रबल आन्दोलन किया। ये लोग भारत के मूर्ति-पूजकों में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ चाहते थे। विल्बरफोर्स तथा अन्य व्यक्तियों ने भारतवासियों का भीषण चित्र खींचा। यद्यपि मि० मार्श और लार्ड टेनमाउथ ने भारतवासियों की धार्मिक आस्थाओं में हस्तक्षेप न करने की पुरानी नीति का ओजपूर्ण भाषा में प्रतिपादन किया, किन्तु सरकार को झुकना पड़ा। यह कहा गया कि इस देश (इंग्लैण्ड) का यह कर्त्तव्य है कि वह भारतवासियों के हित और सुख को प्रोत्साहन दे और उनके धार्मिक एवं नैतिक विकास के लिए उपयोगी ज्ञान का प्रसार करे। जो व्यक्ति इस उद्देश्य से भारत जाना चाहें उन्हें पर्याप्त सुविधाएं प्रदान की जायेंगी। इस प्रकार इल्बर्ट के शब्दों में, "धर्म-प्रचारक के पीछे रोपक (पौधे लगाने वाला) दिखाई पड़ता है; दोनों के ही प्रति कम्पनी के कर्मचारी ईर्ष्यालु थे।"[2]

सन् १८१३ के एक्ट ने कम्पनी के अधिकार-पत्र को फिर जारी कर दिया। एक्ट ने अन्तिम प्रभुता तो राज-सत्ता में निहित की किन्तु भारतीय प्रदेशों और उनके राजस्व को कम्पनी के ही हाथों में रहने दिया। साथ ही चीन के साथ व्यापार और चाय के व्यापार में कम्पनी के एकाधिपत्य की अवधि २० वर्ष के लिए और बढ़ा दी।

इस एक्ट ने दूसरी बात यह की कि सब ब्रिटिश व्यापारियों को, एक्ट में उल्लेख किये हुए कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत, साधारण भारतीय व्यापार के लिए

१. See the 13th resolution—Appendix X. Mill and Wilson, History of British India, vol. VII, page 608.
२. Ilbert: Historical Survey, page 72 से अनूदित।

स्वतन्त्रता दे दी। एक्ट ने डाइरेक्टर्स को और उनके मना करने पर बोर्ड ऑव कण्ट्रोल को इस बात का अधिकार दिया कि जागृति, सुधार अथवा किसी दूसरे वैध उद्देश्य से भारत जाने वाले व्यक्तियों को अनुज्ञप्ति प्रदान की जाय। बिना अनुज्ञप्ति लिये हुए भारत जाने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जा सकता था।

एक्ट ने तीसरी बात यह की कि उसने भारतीय राजस्व का किस प्रकार उपयोग हो, इसका विनियमन किया। सबसे पहला दायित्व सेना को बनाए रखने का था; दूसरा दायित्व ब्याज देने का था। राजस्व के व्यय का तीसरा अधिकरण असैनिक एवं व्यावसायिक कार्यालयों को बनाए रखने का था। कम्पनी के ऋण को घटाने की भी व्यवस्था की गई। कम्पनी और राष्ट्र में बचत के बटवारे का अनुपात क्रमशः एक और पाँच निश्चित किया गया। कम्पनी को, व्यावसायिक और प्रादेशिक लेखे, पृथक् और स्पष्ट रखने के लिए कहा गया।

एक्ट ने चौथी बात यह की कि कम्पनी की आय से वेतन पाने वाली सेना की संख्या २९००० निश्चित कर दी। एक्ट ने कम्पनी को इस सेना के लिए नियम, विनियम आदि बनाने, उसके लिए युद्ध-सामग्री तैयार करने और सेना-न्यायालय की व्यवस्था करने का अधिकार दिया।

एक्ट ने पाँचवीं बात यह की कि बोर्ड ऑव कण्ट्रोल के अधीक्षण और निर्देशन के अधिकारों को विस्तृत और सुनिश्चित कर दिया। साथ ही भारत की स्थानीय सरकारों को सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत, कर लगाने का प्राधिकार दिया। ये सरकारें कर न देने वालों को दण्ड दे सकती थीं।

एक्ट की छठी बात कम्पनी के सैनिक एवं असैनिक कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था थी। हेलबरी कालेज और एडिस्कोम्ब सैन्य-शिक्षण-केन्द्र को चलाने की व्यवस्था की गई और उन पर बोर्ड ऑव कण्ट्रोल का प्राधिकार कर दिया गया। कलकत्ता, मद्रास और भारत में अन्य स्थानों के कालेजों को भी बोर्ड के विनियमन में कर दिया। भारत में यूरोपियनों के धार्मिक हित के लिए एक विशाल और तीन अन्य बड़े पादरियों की नियुक्ति की गई। भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने और साहित्यिक सुधार और पुनरुत्थान के लिए और साथ ही ब्रिटिश भारतीय प्रदेशों में विज्ञान की शिक्षा के लिए प्रति वर्ष एक लाख रुपया व्यय करने की भी व्यवस्था की गई।

एक्ट की सातवीं बात अंग्रेजों और भारतीयों के बीच जो अभियोग होते, उनके लिए न्याय की व्यवस्था थी।[1] चोरी, जालसाजी और जाली सिक्के बनाने के लिए विशेष दण्ड का नियम बनाया गया।

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये—Ilbert's Historical Introduction, pages 79-80.

(६)

लार्ड वेल्ज़ली के तीन उत्तराधिकारियों को विवश होकर, किसी भी मूल्य पर, हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाना पड़ा। सर जार्ज बारलो ने मराठों को मध्य भारत के राजपूतों के साथ अपनी मनमानी करने को छोड़ दिया। लार्ड मिण्टो ने एक बीच का ढर्रा अपनाया और इंग्लैण्ड के अधिकारियों की नीति को बदलने का प्रयत्न किया। उसने भारतीय महासागर में फ्रेंच द्वीप और हालैण्ड वालों के अधिकार से जावा द्वीप जीता। उसने सर चार्ल्स मैटकाफ़ की कूटनीति द्वारा सन् १८०९ में महाराजा रणजीतसिंह के साथ संधि करने में सफलता प्राप्त की। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सीमा जमुना से आगे बढ़कर सतलुज तक पहुँच गई।

जब अक्तूबर १८१३ में लार्ड हेस्टिंग्स भारत में आया तो उसके सामने सात ऐसे झगड़े थे जिनके निर्णय के लिए संभवतः युद्ध की आवश्यकता हो सकती थी। लार्ड वेल्जली ने स्थिति को ऐसा कर दिया था कि भारत में अंग्रेजों के लिए चुपचाप खड़े रहना असंभव हो गया था। लार्ड हेस्टिंग्स ने वेल्ज़ली के काम को पूरा करने के लिए आगे बढ़ने का निश्चय किया।

लार्ड हेस्टिंग्स ने नेपाल को हराया और सन् १८१६ की सगौली की संधि से ब्रिटिश प्रदेश में कुमायूँ का क्षेत्र—जिसमें नैनीताल, अल्मोड़ा और गढ़वाल जिले थे—और देहरादून का जिला (जिसमें मसूरी और वर्तमान शिमला जिले का कुछ भाग भी था) मिलाया। उसके बाद पिंडारियों, पठानों और मराठा सरदारों से निपटने का प्रयत्न किया। हेस्टिंग्स ने मराठों और पिंडारियों से पठान सरदार अमीर खाँ को अलग कर लिया और उसे टोंक का नवाब बना दिया और बाद में एक बहुत बड़ी फ़ौज की सहायता से पिंडारियों को चारों ओर से घेर लिया। कुछ ही महीनों में पिंडारी नेता-विहीन होकर पहाड़ी खोहों में भाग गए। हेस्टिंग्स ने राजपूताने की बहुत सी बड़ी रियासतों से संधियाँ कीं और मराठा शक्ति को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया। इस समय मराठे—पेशवा, भोंसले (अप्पा साहेब) और होलकर, ये सब—संयुक्त थे। कुछ ही समय में हेस्टिंग्स सबको हराने में सफल हुआ। पेशवा की पेन्शन बाँध दी गई। अप्पा साहेब को गद्दी से उतार दिया गया और उसके राज्य-प्रदेश को छीन लिया गया। इन्दौर राज्य को घटाकर पहले का आधा कर दिया गया। सिंधिया राज्य अलग कर दिया गया और वह किसी का पक्ष न ले सकने के लिए विवश था। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्स ने भारत में पूरी तरह ब्रिटिश प्रभुता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।[1]

१. सिंगापुर का बन्दरगाह भी लार्ड हेस्टिंग्स के राज्य-काल में जीता गया। यह

(७)

लॉर्ड हेस्टिंग्स का शासन-काल शासन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए और साथ ही देशवासियों के प्रति अधिक उदार और सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनाने के लिए भी प्रसिद्ध है। उसने लॉर्ड कॉर्नवालिस की नीति को पलटा, और न्यायाध्यक्ष तथा मालगुज़ारी उगाहने और शासन के काम को एक में मिला दिया। कलक्टर अपने जिले का मुख्य न्यायाध्यक्ष और साथ ही जिला-पुलिस का भी अध्यक्ष बना दिया गया। दरोगा का पद तोड़ दिया गया। उसका काम गाँव के मुखियाओं को सौंप दिया गया। गाँव का लेखा रखने वाले और तलियारी, अथवा गाँव के चौकीदार और साथ ही तहसीलदार, जमींदार, जमीन और कोतवाल सब उनकी सहायता करने।[1] लॉर्ड हेस्टिंग्स ने न्याय के पदों पर भारतीयों की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया और उन्हें अधिक अधिकार दिये। शिक्षा के क्षेत्र में भारतीयों की प्रगति की ओर भी उसने काफ़ी ध्यान दिया। उसी के राज्य-काल में कलकत्ता का हिन्दू-कॉलेज खुला ताकि हिन्दू लड़के यूरोप और एशिया की भाषाएँ सीख सकें और विज्ञान की शिक्षा पा सकें।[2] मार्शमैन ने श्रीरामपुर में ईसाई-धर्म-प्रचार के लिए एक बड़ा केन्द्र खोला। उसके लड़के जे० सी० मार्शमैन (इतिहासकार) ने वहाँ एक कॉलेज खोला, जो सन् १८२७ में एक विश्वविद्यालय बन गया।[3] सन् १८१८ में श्रीरामपुर से भारतीय भाषा में सबसे पहला समाचार-पत्र 'संसार दर्पण' प्रकाशित हुआ। यह एक साप्ताहिक पत्र था; इसका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था।

गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स के ही समय में समाचार-संपादन के नियंत्रण के प्रश्न ने बड़ा महत्त्वपूर्ण रूप धारण किया। इस विषय पर सन् १८२२ में मद्रास के गवर्नर सर टॉमस मुनरो ने एक विस्तृत लेख लिखा। इस लेख ने उस समय के ही विधान पर प्रभाव नहीं डाला वरन् बाद में भी ब्रिटिश नीति को प्रभावित किया।

बन्दरगाह बड़ा था, उसकी स्थिति महत्त्वपूर्ण थी और वहाँ रोम की महत्त्वपूर्ण खानें थीं।

१. Mill and Wilson : History of British India, vol. VIII, page 533.

२. Havell : A Short History of India, page 238.

३. डेन्मार्क के राजा फ्रेडरिक षष्ठम ने इस कॉलेज को डिप्लोमा प्रदान करने का अधिकार दिया और इस प्रकार उसे विश्वविद्यालय में परिणत कर दिया। भारत के लिए यह सबसे पहला विश्वविद्यालय था।

समाचार-संपादन के नियंत्रण के लिए पहले प्रस्ताव, आंग्ल-भारतीय संपादन के प्रति निर्देश करते थे। उस समय तक भारतीय समाचार-संपादन अस्तित्व में भी नहीं था। यह आंग्ल-भारतीय संपादन, देश के गैर-सरकारी अंग्रेजों के हाथों में था और सरकारी नीति का तीव्र आलोचक था। वॉरन हेस्टिंग्स ने आरम्भ से ही पहले अंग्रेजी समाचार-पत्र (बंगाल गजट) के सम्पादक को परेशान किया।[1] उस पर एक के बाद दूसरा, फिर तीसरा अभियोग चलाया गया: अन्त में वह पत्र प्रकाशित होना बन्द हो गया। सन् १७९९ में समाचार-पत्रों के समुचित नियंत्रण के लिए लॉर्ड वेल्जली की सरकार ने बड़े कठोर विनियम बनाए। प्रत्येक समाचार-पत्र सरकारी स्वीकृति के बाद ही प्रकाशित हो सकता था। विनियमों का उल्लंघन करने वालों को तुरन्त ही यूरोप वापस भेज देने का दण्ड था।[2]

लॉर्ड हेस्टिंग्स, समाचार-पत्रों की स्वतंत्र आलोचना के मूल्य में विश्वास करता था। उसने संपादकों को अपने वैध काम करने के लिए प्रोत्साहन दिया। यद्यपि सरकारी निरीक्षण बना रहा, किन्तु पहले ही वर्ष में उसने विनियमों में थोड़ा-सा संशोधन कर दिया। जब सरकारी स्वीकृति देने वाले अधिकारी के विरुद्ध उसके पास शिकायतें पहुँचीं तो उसने इस पद को तोड़ दिया। जैसा कि कुछ लेखकों का मत है इसका अर्थ यह नहीं था कि आगे के लिए संपादन-कार्य को स्वतन्त्रता मिल गई। उसके स्थान पर स्थिति को सुनिश्चित शब्दों में स्पष्ट करने के लिए नये विनियम बनाये गए। सन् १८१८ के विनियमों ने संपादकों को यह आदेश दिया कि वे पत्र में इंग्लैण्ड के भारतीय अधिकारियों की कार्यवाहियों की निंदा प्रकाशित न करें: स्थानीय शासन के राजनीतिक कामों की विवेचना न करें; परिषद् के सदस्यों, न्यायाधीशों अथवा कलकत्ता के बिशप के सार्वजनिक व्यवहार पर वक्रोक्ति न करें; ऐसी कोई विवेचना न करें जिससे देशवासियों को यह भय अथवा सन्देह हो कि उनके धर्म में हस्तक्षेप किया जा रहा है; दूसरे समाचार-पत्रों का कोई ऐसा उद्धरण न प्रकाशित करें जो उपर्युक्त शीर्षकों से सम्बन्धित हो अथवा जिससे भारत में ब्रिटिश शक्ति की प्रतिष्ठा पर आघात होता हो; और किसी के व्यक्तिगत कलंक पर ऐसी कोई चर्चा या ऐसा कोई आक्षेप न करें, जिससे सामाजिक कलह को उत्तेजना मिले।[3]

---

१. यह एक साप्ताहिक पत्र था, जिसको १७८० में मिस्टर जे. ए. हिके ने निकाला।

२. Ghosh: Press and Press Laws in India, pages 3-4.

३. Mill and Wilson : History of British India, vol. VIII, page 582.

सरकारी जाँच का नियम टूट जाने पर नये समाचार-पत्र अस्तित्व में आए। सन् १८१८ में मिस्टर जे. एस. बकिंघम ने 'कलकत्ता जर्नल' प्रकाशित किया। कुछ ही समय में उस पर सरकारी कोप हुआ। सन् १८२३ में संपादक को नोटिस पाने के बाद दो महीने के ही अन्दर भारत छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी गई। समाचार-पत्रों के संपादन के विषय पर सरकार ने फिर विचार किया और सर टॉमस मुनरो के लेख पर विशेष रूप से ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि सन् १८२३ में बंगाल के लिए और सन् १८२७ में बम्बई के लिए पहले से भी अधिक कठोर विनियम बनाये गए। सन् १८२३ के विनियमों का परिचय देने से पहले, सर टॉमस मुनरो के मत का संक्षिप्त वर्णन संगत होगा। सर टॉमस की दृष्टि में यूरोपीय समाचार-पत्रों के सम्पादन की समस्या गम्भीर नहीं थी। सर मुनरो ने लिखा : "जहाँ तक केवल यूरोपियनों का प्रश्न है, चाहे वे सरकारी (कम्पनी के) नौकर हों या न हों, उनके सम्पादन-कार्य की स्वतन्त्रता अथवा उस पर प्रतिबन्ध से कोई विशेष हित या अहित नहीं हो सकता। इस प्रश्न पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।[१] फिर भी मुनरो ने प्रकाशन से पहले उनके समाचारों की जाँच करने और अपराधी सम्पादकों के भारत से बाहर भेज देने के अधिकार को बनाये रखने के लिए कहा। सर मुनरो की विशेष चिन्ता तो भारतीय समाचार-पत्रों के संपादन से सम्बन्धित थी। सर मुनरो ने लिखा :—"यद्यपि यह संकट अभी दूर है किन्तु समाचार-पत्रों को स्वतन्त्रता दे देने पर यह अनिवार्य रूप से हमारे सामने आ जायगा।"[२] उसका भारतीय सेना पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और ब्रिटिश शक्ति को उखाड़ फेंकने के लिए प्रेरक होगा। "उससे जनता में स्वतन्त्रता की भावना फैलेगी और वे विदेशियों को भगाकर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने के लिए प्रेरित होंगे।"[३] सर टॉमस ने यह नियम बताया कि, "स्वतन्त्र समाचार-पत्र और विदेशी शासन—ये दोनों बातें एक दूसरे की बिलकुल विरोधी हैं और बहुत समय तक एक साथ टिक नहीं सकतीं।"[४]

---

१. "The History of Press Lagislation in India" : Modern Review August, 1913.

२. उपर्युक्त

३. उपर्युक्त निबन्ध।

४. उपर्युक्त निबन्ध।

सर टॉमस के मत को मान्यता दी गई और नये विनियम १५ मार्च सन् १८२३ को निबन्धन के लिए सर्वोच्च न्यायालय के सामने आए। इन विनियमों के अनुसार सरकार से अनुज्ञप्ति लिये बिना न कोई प्रेस स्थापित हो सकता था, न कोई समाचार-पत्र निकाला जा सकता था और न कोई पुस्तक प्रकाशित की जा सकती थी। इस अनुज्ञप्ति-व्यवस्था के अनुसार छपे हुए सारे समाचार-पत्र और पुस्तकें निरीक्षण के लिए सरकार के सामने रखी जातीं। सरकारी गज़ट में केवल एक सूचना निकालकर सरकार इन पत्रों और पुस्तकों का चलन रोक सकती थी। राजा राममोहन राय और श्री द्वारकानाथ टैगोर-जैसे विख्यात व्यक्तियों ने इन विनियमों के दोष बताते हुए उनको रद्द करने के लिए एक प्रार्थना-पत्र प्रेषित किया। किन्तु विनियमों का निबन्धन कर दिया गया और वे ५ अप्रैल १८२३ से वैध हो गए। सन् १८३५ में सर चार्ल्स मेटकाफ़ द्वारा फिर दोहराये जाने के समय तक वे बराबर लागू रहे। यद्यपि सर चार्ल्स मेटकाफ़ का कार्य-काल लॉर्ड विलियम बेंटिक के स्थायी उत्तराधिकारी नियुक्त होने तक ही था किन्तु उसने बड़े साहस से काम लिया और लॉर्ड मैकाले की सहायता से १८३५ का एक्ट नं० ११ बनाया। इस एक्ट में १८२३ और १८२७ के विनियमों को दोहराया गया और सारे ब्रिटिश भारत के लिए अनुज्ञप्ति और प्रकाशन से पहले सरकारी जाँच की व्यवस्था को तोड़ दिया गया। उसके बदले इंग्लैण्ड की तरह साधारण निबन्धन का नियम बना दिया गया।

अब हम फिर गवर्नर-जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स के राज्य-काल की घटनाओं के वर्णन पर आते हैं:—अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना जमीन के बन्दोबस्त से सम्बन्धित थी। यह बन्दोबस्त भारत के विभिन्न भागों में—मद्रास, बम्बई और आगरा कमिश्नरी में—अस्थायी आधार पर किया गया। मद्रास और बम्बई के बन्दोबस्त में मुनरो और एल्फिस्टन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

लॉर्ड हेस्टिंग्स का उत्तराधिकारी एक साधारण योग्यता का व्यक्ति था। उसके शासन-काल में भरतपुर की हार और बर्मा-युद्ध (१८२४-२६) के अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं हुई। यह युद्ध यंदाबू की संधि से समाप्त हुआ। इसमें संचालन और योजना की त्रुटियों के कारण बहुत से जीवन व्यर्थ ही नष्ट हुए और बहुत सी सम्पत्ति बेकार ही बरबाद हुई।[1] यंदाबू की संधि से अंग्रेजों को एक करोड़ रुपया और आसाम, अराकान और सालवीन नदी के पूर्व में मर्तबान प्रान्त के कुछ हिस्सों के साथ टेनासरिम के प्रदेश मिले।

---

१. सन् १८३४ में वीर राजा के अत्याचारपूर्ण व्यवहार के कारण कुर्ग को छीन लिया गया।

अगली दशाब्दि में शान्ति रही और सुधार हुए। कुर्ग[1] और दो अन्य महत्त्वहीन स्थानों के अतिरिक्त कोई नए क्षेत्र ब्रिटिश सीमाओं के अन्तर्गत नहीं मिलाये गए। लॉर्ड विलियम बेंटिक के समय में सती-प्रथा बन्द की गई और ठगी का दमन किया गया। बेंटिक के ही राज्य-काल में व्यय में बचत की गई और अफ़ीम के व्यापार में एकाधिपत्य के कारण राजस्व में वृद्धि हुई। कॉर्नवालिस द्वारा अंग्रेजी ढर्रे के प्रान्तीय न्यायालयों को बन्द किया गया और न्यायालयों[2] में फ़ारसी के स्थान पर देश-भाषा को जगह दी गई। साथ ही न्यायपालिका और कार्यपालिका में भारतीयों की नियुक्ति की गई। भारतीय रियासतों की ओर बेंटिक की नीति, दुर्बल और अस्थिर थी। उसने मैसूर के प्रति नीति में दृढ़ता और शीघ्रता से अवश्य काम लिया। बहुत हद तक इसका कारण यह था कि वह इस विषय में इंग्लैण्ड के अधिकारियों की इच्छानुसार काम करने को उत्सुक था। उसके व्यवहार के प्रति केवल यही आपत्ति की जा सकती है कि जहाँ दीनता अहितकर थी वहाँ भी उसने दृढ़ता नहीं दिखाई।[3]

---

१. Smith : The Oxford History of British India, page 659.

२. Havell : A Short History of India, page 241.

३. विन्सेण्ट स्मिथ ने अपनी (उपर्युक्त) पुस्तक में इस नीति के परिणाम का जो बर्णन किया है उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है :—

"अवध में मंत्री, हकीम मेहता का अंग्रेज-सरकार ने साथ छोड़ दिया और उसे राज्य से निकाल दिया। निज़ाम के राज्य की दुर्व्यवस्था को चुपचाप देखा गया। अवयस्क होलकर को सहायता नहीं दी गई और वहाँ भी राज्य की दुर्व्यवस्था हुई। ग्वालियर में भयंकर झगड़े हुए, पर कोई कदम नहीं उठाया गया। गायकवाड़ ने वैर भाव धारण किया। राजपूत रियासतों को गृह-युद्ध में फँसे रहने को प्रोत्साहन दिया गया। उदयपुर में सुधार रोक दिए गए। जयपुर में नीति का अनर्थ में अन्त हुआ; अर्थात् वहाँ ब्रिटिश अधिकारियों पर आक्रमण किया गया जिसके कारण वहाँ का रेज़ीडेण्ट बुरी तरह घायल हुआ और उसका सहायक ब्लेक मर गया।"

चौथा अध्याय

कम्पनी के अन्तिम दिन

(१)

सन् १८३३ में कम्पनी के अधिकार-पत्र की अवधि फिर से बढ़ाने का प्रश्न पार्लियामेण्ट में आने के समय तक इंग्लैण्ड का वातावरण बदल चुका था। विदेशों में व्यापार के क्षेत्र में सरकार द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति का और इंग्लैण्ड में मानव-अधिकार के सिद्धान्त का प्रचार किया जा रहा था। ७ जून १८३२ को सुधार-विधेयक (Reform Bill) एक्ट बन गया और १८३३ में दासता को सारे ब्रिटिश साम्राज्य में अवैध कर दिया। इस वातावरण में कम्पनी के लिए फिर से व्यापारिक एकाधिपत्य के अधिकार-पत्र की अवधि बढ़वाना संभव नहीं था। अतः सन् १८३३ के एक्ट ने सबसे पहला काम यह किया कि चीन के साथ व्यापारिक एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया।

इस एक्ट का दूसरा काम तत्कालीन भारतीय शासन के दो मुख्य दोषों में से एक को दूर करने का प्रयत्न था। पार्लियामेण्ट के सदस्य मिस्टर चार्ल्स ग्राण्ट के शब्दों में यह दोष था, "व्यापारी और सार्वभौम सत्ता का ऐक्य"।[१] एक्ट ने इस दोष को दूर करने के लिए कम्पनी से सुविधापूर्ण शीघ्रता[२] के साथ अपने व्यावसायिक कार-बार को बन्द करने, और साझेदारों को भारतीय राजस्व से १०½ प्रतिशत लाभांश देने और कम्पनी के स्टॉक को क्रय करने के लिए १२० लाख पौण्ड एकत्रित करने को कहा। किन्तु हाउस ऑव कॉमन्स में मि० बकिंघम तथा अन्य सदस्यों का विरोध होते हुए भी पार्लियामेण्ट ने भारतीय शासन, कम्पनी को सौंप दिया। मि० बकिंघम ने इतने बड़े साम्राज्य के राजनीतिक शासन को एक जॉइण्ट स्टॉक कम्पनी को सौंपना असंगत बताया और यह सुझाव दिया कि भारत की सर्वोच्च परिषद् में, भारत में रहने वाले अंग्रेजों और साथ ही स्वयं भारतीयों के कुछ प्रतिनिधि लिये जायँ ताकि स्व-शासन की व्यवस्था का कम-से-कम आरम्भ तो हो ही जाय।[३]

---

१. C. L. Anand : Introduction to the History of Government in India, page 35 के एक उद्धरण का अनुवाद।

२. Section IV of the Act, Keith : Speeches and Documents, vol. I, pages 26-27.

३. C. L. Anand : An Introduction to the History of Government in India, page 38.

लॉर्ड मैकॉले ने इस अवसर पर एक स्मरणीय वक्तृता दी और भारत में कम्पनी का शासन बनाए रखने के पक्ष का प्रतिपादन किया। मैकॉले ने मिल को उद्धृत किया और प्रतिनिधि-सरकार की चर्चा को बेतुका बताया।[१] उसने इस बात को अस्वीकार किया कि हाउस ऑव कॉमन्स भारत में होने वाली बुराइयों पर कोई सक्रिय अथवा कुशल रोक लगा सकेगा।[२] उसने कहा: "यह स्पष्ट है कि भवन के पास इन (भारतीय) विषयों का निर्णय करने के लिए आवश्यक समय नहीं है; न उसको आवश्यक जानकारी है और न उस जानकारी को प्राप्त करने का उद्देश्य ही है। हाल ही में उसके विधान में जो परिवर्तन हुआ है उससे वह ब्रिटिश जनता का अधिक सही प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करने से आज भी वह इतना ही दूर है जितना कि पहले कभी था। भारत की तीन घमासान लड़ाइयों से यहाँ इतनी हलचल नहीं होगी जितनी कि इंग्लैण्ड की एक अपेक्षाकृत बहुत छोटी जगह की सिर फुटौवल से। कुछ ही सप्ताह पहले भारतीय राजस्व के विपक्ष में एक व्यक्ति के दावे का निर्णय किया था। यदि वह अंग्रेजों से सम्बन्ध रखने वाला प्रश्न होता तो यह सभा-भवन मत-विभाजन के इच्छुक सदस्यों के लिए छोटा पड़ता। वह एक भारतीय प्रश्न था और इसी कारण हम गण-पूर्ति भी कठिनाई से कर सके। यहाँ तक कि जब मेरे माननीय मित्र 'बोर्ड ऑव कण्ट्रोल' के सभापति ने अपना मनोरंजक और अत्यन्त योग्यतापूर्ण वक्तव्य दिया और १० करोड़ मनुष्यों के शासन के लिए अपने प्रस्तावों को प्रस्तुत किया, तो उपस्थिति इतनी भी नहीं थी जितनी की किसी नई रेलवे लाइन खोलने अथवा चुंगी की चौकी बनाने के समय होती है।[३]

दूसरी ओर लॉर्ड मैकॉले ने कहा कि "कम्पनी ह्विग या टोरी दोनों में से किसी राजनीतिक दल से अथवा किसी धार्मिक मत या सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं थी। उसके प्रति यह दोष नहीं मढ़ा जा सकता था कि उसने कैथोलिक बिल (Catholic Bill) या सुधार विधेयक (Reform Bill) का पक्ष अथवा विपक्ष लिया। उसका काम करने का दृष्टिकोण अंग्रेजी राजनीति नहीं, वरन् बराबर भारतीय राजनीति रहा है। ····सारे आन्दोलनों के बीच कम्पनी बिलकुल असन्दिग्ध रूप से निष्पक्ष रही है।"[४] भारत में उसके शासन

---

१. Keith: Speeches and Documents on Indian Policy, vol. I, page 234.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३५.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३६-३७।

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३९-२४०.

का इतिहास और भारतवासियों के हित और कल्याण के लिए उसकी उत्सुकता, ये दोनों बातें प्रशंसनीय हैं। "विदेशी, सैनिक और स्वेच्छाचारी शासन में इतनी भलाई की भावना अन्यत्र नहीं मिल सकती।"[१] लॉर्ड मैकॉले ने कहा कि ऐसी परिस्थिति में वह भारतीय शासन को कम्पनी के हाथों से हटा देने के लिए तैयार नहीं था। लॉर्ड मैकॉले के मत को पार्लियामेण्ट ने माना और कम्पनी को भारतीय प्रदेशों और उनके शासन का अधिकार फिर बीस वर्ष के लिए सौंप दिया।

सन् १८३३ के एक्ट ने तीसरी बात यह की कि उसने भारत में बसने के लिए आने वाले यूरोपियनों पर जो प्रतिबन्ध थे उन्हें समाप्त कर दिया और उन्हें ज़मीन का मालिक बनने के लिए कोई रोक-टोक नहीं रहने दी। किन्तु कहीं ये विदेशी भारतवासियों के धर्म और विश्वास आदि से छेड़-छाड़ न करें और उनका अपमान न करें, इस उद्देश्य से भारतवासियों की रक्षा के लिए गवर्नर-जनरल को यथासंभव शीघ्रता के साथ नियम-विनियम बनाने के लिए कहा गया।[२]

सन् १८१३ में यूरोपियनों के भारत में बसने के प्रश्न पर विवाद के समय कम्पनी और उसके उच्च कर्मचारियों[३] ने तीव्र विरोध किया था पर इस बार भारत के उच्च अधिकारियों ने यूरोपियनों के वहाँ बसने की माँग का प्रबल समर्थन किया। सर मेटकाफ़ और लॉर्ड बेंटिक दोनों ने भारत में यूरोपियनों को बसने के लिए बे-रोक-टोक आने देने के पक्ष का प्रतिपादन किया और उसके कितने ही लाभ बताए। एक लाभ तो यह बताया कि उससे भारतीय साम्राज्य की समृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा, दूसरा यह कि उससे राजस्व में वृद्धि होगी और तीसरा यह कि उससे भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य अधिक सुदृढ़ होगा। सन् १८३२ की प्रवर-समिति ने भारत जाने वाले यूरोपियनों पर से प्रतिबन्ध हटाने के लिए व्यावसायिक और औद्योगिक कारण प्रस्तुत किये जैसे, इंग्लैण्ड को विदेशी कच्चे माल के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता हो जाती; भारत में ब्रिटिश माल की माँग बढ़ जाती और इंग्लैण्ड को प्रेषित धन अर्थात् 'होम चार्जेज़' का परिमाण बढ़ जाता।[४] प्रवर-समिति के समक्ष कुछ साक्षियों ने बे-रोक-टोक यूरोपियनों को भारत में

१. Keith : Speeches and Documents on Indian Policy, page 249.
२. Article LXXXV of the Act.
३. इसी पुस्तक का पृष्ठ ४६.
४. History of Indian Tariffs by Shah, pages 128-29.

जाने देने की नीति का खतरा बताया और यूरोपीय उपनिवेश बनाने से देशवासियों[१] का जो अहित होता उसकी ओर ध्यान दिलाया किन्तु मेटकाफ़ और बेंटिक का मत माना गया और भारत में जाने वाले यूरोपियनों पर से सब प्रतिबन्ध हटा लिये गए।

सन् १८३३ के एक्ट ने चौथी बात यह की कि उसने निश्चित और स्पष्ट भाषा में यह उल्लेख किया, "भविष्य में किसी पद के लिए योग्यता[२] की ही कसौटी है" और "केवल अपने धर्म, जन्म-स्थान, जाति अथवा वर्ण के कारण उक्त (भारतीय) प्रदेशों का कोई निवासी अथवा हिज़ मैजिस्टी की प्रजा का कोई भी व्यक्ति, कम्पनी[३] के किसी भी पद या उसकी किसी सेवा के लिए अयोग्य नहीं समझा जायगा।" उक्त खण्ड के कारण लॉर्ड मॉर्ले ने सन् १८३३ के एक्ट को सन् १९०९ से पहले पार्लियामेण्ट द्वारा बनाए हुए भारतीय एक्टों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया।[४] एक बार नीति और स्वार्थ के संकीर्ण विचारों को हटाकर उदार मानवीय सिद्धान्तों को व्यक्त होने का स्थान दिया गया।

नए एक्ट ने चौथी बात यह की कि उसने भारत के गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् के संविधान और अधिकारों में परिवर्तन किये। गवर्नर-जनरल की परिषद् में विधान कार्य के लिए एक विधि सदस्य और बढ़ाया गया। इस नए सदस्य को कार्यपालिका में कोई अधिकार नहीं था। सपरिषद् गवर्नर-जनरल के विधान-कार्य को भी बहुत बढ़ा दिया गया। जैसा कि सन् १८७२ के टैगोर-व्याख्यानों में मिस्टर कॉवेल ने संकेत किया, उस समय का सबसे बड़ा दोष विधान बनाने वाले और शासन करने वाले अधिकारियों का संघर्ष और विधान का अनिश्चित स्वरूप था। पहली बात तो यह थी कि "उस समय भारत में पाँच प्रकार के विधान लागू हो रहे थे।"[५] हर प्रेसीडेन्सी की सरकार को

१. Major Basu: The Colonization of India by Europeans, pages 64 to 94.
२. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I. Despatch of the Court of Directors, 1834, page 120.
३. Clause LXXXVII of the Act.
४. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol I., page 120.
५. Ilbert: Historical Introduction to the Government of India. Quotation on page 84.

नियम-विनियम बनाने का अधिकार था। सपरिषद् गवर्नर-जनरल का विधान बनाने का अधिकार बिलकुल अपर्याप्त था। सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा बनाए हुए नियम-विनियम केवल भारतीय जनता और कम्पनी के सेवकों पर ही लागू होते थे, किन्तु उनका भारत में बसे हुए अन्य अंग्रेजों और विदेशियों पर कोई अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त उनका सर्वोच्च न्यायालय पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं था। सन् १८३३ के एक्ट ने इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। एक्ट ने प्रान्तीय सरकारों के विधान बनाने के अधिकार को हटा दिया और उन्हें केवल यह साधारण अधिकार दिया कि वे जिन विधानों और विनियमों को आवश्यक[1] और उपयोगी समझें उनको लिखकर सपरिषद् गवर्नर-जनरल के पास भेज दें। इस प्रकार भारत में विधान बनाने का अधिकार सपरिषद् गवर्नर-जनरल के हाथों में केन्द्रित कर दिया गया। इन विधानों का क्षेत्राधिकार सब व्यक्तियों, न्यायालयों, स्थानों और वस्तुओं पर था। उक्त (भारतीय) प्रदेशों के प्रत्येक भाग का तथा संधि द्वारा कम्पनी से सम्बन्धित प्रत्येक देशी राज्य और कम्पनी के प्रत्येक सेवक का इन विधानों में समावेश था।[2] राजसत्ता और पार्लियामेण्ट की प्रभुता का समुचित संरक्षण किया गया था।[3]

एक्ट में यह उल्लेख किया गया कि, "उक्त (भारतीय) प्रदेशों और वहाँ के निवासियों से सम्बन्धित, उक्त सपरिषद् गवर्नर-जनरल के हर कार्य और उसकी हर कार्यवाही को रोकने, उसका उल्लंघन और नियंत्रण करने का पार्लियामेण्ट का पूर्ण और स्थायी अधिकार सुरक्षित है...।"[4] सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा बनाए हुए विनियम, जिनको कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स ने अस्वीकार न किया हो, एक्ट कहलाते। उन्हें पार्लियामेण्ट के सामने रखा जाता, किन्तु यह आवश्यक नहीं था कि किसी न्यायालय में उनका निबन्धन किया जाय और उनको प्रकाशित किया जाय। अन्त में अनिश्चितता समाप्त करने के लिए सपरिषद् गवर्नर-जनरल को इंडियन लॉ-कमीशन नाम से एक आयोग (Commission) बनाने का निर्देश किया गया। इस कमीशन को स्थानीय परिस्थितियों[5] का ध्यान रखते हुए शासन के लिए सामान्य विधान बनाना था।

---

१. Clause 66 of the Act. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 96.

२. Clause XLIII of Act, Keith: Speeches on Indian Policy, Vol. I, page 268.

३. Clause XLIII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २६८।

४. Clause LI of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २६९-२७०।

५. Clause LIII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २७१-२७२।

इस आयोग को उक्त प्रदेश की वर्तमान न्याय और पुलिस-व्यवस्था, उनके क्षेत्राधिकार, नियम और उनकी कार्य-पद्धति, लिखित अथवा प्रचलित दीवानी और फ़ौजदारी विधान की जाँच करके सपरिषद् गवर्नर-जनरल को रिपोर्ट देनी थी। पहले विधान-आयोग के सभापति का पद लॉर्ड मैकॉले को मिला। यह आयोग, जितनी आशा थी, उतना काम नहीं कर पाया, लेकिन फिर भी भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) इस आयोग के ही परिश्रम का फल थी। यह सन् १८६० में स्वीकृत होने पर लागू हो गई। इस आयोग ने दीवानी और फ़ौजदारी पद्धति की संहिताओं के लिए भी नींव तैयार कर दी।

एक्ट की छठी बात, बंगाल की अत्यधिक बड़ी प्रेसीडेन्सी को विभाजित करके दो प्रेसिडेन्सियाँ बनाने की व्यवस्था थी, किन्तु यह कार्यान्वित ही नहीं हुई। पहले तो इसे सन् १८३५ के एक्ट से निलम्बित कर दिया गया और बाद में सन् १८५३ के एक्ट से।

एक्ट ने सातवीं बात यह की कि उसने सपरिषद् गवर्नर-जनरल को भारत में गुलामों की दशा सुधारने और सारे भारत में गुलामी-प्रथा (दास-प्रथा) समाप्त करने के लिए उपयुक्त कार्यवाही करने का निर्देश किया।

एक्ट ने आठवीं बात यह की कि एक बिशप के स्थान पर तीन बिशप बनाए और कलकत्ते के बिशप को भारत का मेट्रोपोलिटन बिशप (लाट-पादरी) बना दिया।

अन्त में एक्ट ने हेलबरी में कम्पनी के कॉलेज में भारत के असैनिक सेवकों के शिक्षण की व्यवस्था की और कॉलेज में प्रवेश के लिए विनियम बनाए।

(२)

भारत में किस प्रकार की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय, इस विषय पर एक दशाब्दी से प्राच्यवादियों और आँग्लवादियों में विवाद चल रहा था। लॉर्ड मैकॉले ने सार्वजनिक शिक्षा-कमेटी के सभापति नियुक्त होने पर, अंग्रेज़ी शिक्षा का बड़ा प्रबल समर्थन किया। ७ मार्च १८३५ के प्रस्ताव द्वारा सरकारी निर्णय प्रकाशित हुआ : "ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य भारतवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रसार होना चाहिए और शिक्षा के लिए जो निधि हैं उनका सर्वोत्तम उपयोग अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार में ही होगा।"[1]

लॉर्ड ऑकलैण्ड के राज्य-काल में प्रथम अफ़ग़ान-युद्ध की विपत्ति, एक मुख्य घटना थी। यह युद्ध पामर्स्टन की रूस-विरोधी नीति का प्रत्यक्ष परिणाम था। उसके उत्तराधिकारी के समय में अफ़ग़ानिस्तान से बदला लेने के लिए लड़ाई लड़ी गई

१. Smith: Oxford History of India, page 670

और लार्ड एलेन बोरो और सर चार्ल्स नेपियर ने सिंध पर बलात् अधिकार कर लिया।[1] दास-प्रथा भी इसी अवधि में समाप्त की गई। सन् १८४३ में सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने एक एक्ट (सन् १८४३ का एक्ट नं० ५) बनाया, जिसके द्वारा भारत में दास-प्रथा को अवैध कर दिया गया।

लॉर्ड हॉर्डिग के राज्य-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सिखों के साथ पहली लड़ाई थी। यह युद्ध सन् १८४५ और १८४६ में हुआ और यह इस बात के लिए प्रसिद्ध है कि इसमें, "ब्रिटिश सेना को भारत में सबसे ज्यादा बहादुर और मजबूत सेना का सामना करना पड़ा।"[2] १० फ़रवरी १८४६ को सबरा में सिख सेना परास्त हुई और अंग्रेजों ने शीघ्रता से लाहौर पर अधिकार कर लिया। लाहौर की संधि से युद्ध समाप्त हुआ। इस संधि के अनुसार सतलुज से पूर्व की सारी जमीन, जालंधर का दोआबा, जो सतलुज और व्यास के बीच में था और साथ ही काश्मीर और हजारा के क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ गए। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों को ५ लाख पौण्ड और बहुत सी तोपों की प्राप्ति हुई। सिख-सेना की सीमा (२०००० पैदल और १२००० घुड़सवार) निश्चित कर दी गई। अवयस्क महाराजा दलीपसिंह और उसके मुख्य मंत्री सरदार लालसिंह द्वारा पंजाब के शासन के निरीक्षण के लिए लाहौर में एक ब्रिटिश रेजीडेण्ट का रहना निश्चय हुआ।

सन् १८४८ की जनवरी में लॉर्ड डलहौजी भारत में आया। जब वह कलकत्ता में उतरा तो उसकी अवस्था केवल ३५ वर्ष की ही थी। किन्तु उसका उस समय स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ और उसका ढाँचा बिलकुल टूटा हुआ था। वह आठ वर्ष तक गवर्नर-जनरल रहा, किन्तु इस अवधि में वह कभी भी पूरी तरह स्वस्थ नहीं रहा। प्रायः वह पीड़ित ही रहता था।[3] किन्तु उसका राज्य-काल विशेष रूप से स्मरणीय है और उसकी गणना, वॉरन हेस्टिंग्स, वेल्जली, और लॉर्ड हेस्टिंग्स के साथ पहली श्रेणी के गवर्नर-जनरलों में की जाती है।

लॉर्ड डलहौजी का शासन-काल युद्ध और राज्य-विस्तार के साथ शासन-सुधार और सार्वजनिक हित के कामों के लिए भी समान रूप से प्रसिद्ध है। दूसरे सिख-युद्ध के परिणामस्वरूप सन् १८४९ में पेशावर तक सारा पंजाब ब्रिटिश सीमा के अन्तर्गत आ गया। दूसरे बर्मा-युद्ध के फलस्वरूप ब्रिटिश सीमाओं में रंगून,

१. Smith: The Oxford History of India, page 673.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६९५.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६९९.

प्रोम और पेगू का सारा प्रान्त आ गया। साथ ही चटगाँव से लेकर सिंगापुर तक सारे समुद्र-तट पर ब्रिटिश अधिकार हो गया।

लॉर्ड डलहौज़ी ने भारत में ब्रिटिश राज्य को बढ़ाने के लिए केवल युद्ध-विजय का ही सहारा नहीं लिया वरन् किसी देशी राज्य में उत्तराधिकारी न होने पर उस राज्य पर ब्रिटिश आधिपत्य जमा लेने की नीति से भी काम लिया। इस प्रकार डलहौज़ी ने सितारा, नागपुर, झाँसी, जैतपुर, साँभलपुर और कुछ दूसरी छोटी रियासतों पर अधिकार कर लिया। अवध पर अधिकार एक दूसरे ही प्रकार से—उच्छृङ्खल और मनमाने ढंग से—किया गया। सिक्किम को तत्कालीन राजा द्वारा डॉ० कैम्पबैल और डॉ० हूकर को पकड़ने के अपराध के दण्डस्वरूप ले लिया गया। सहायक सेना के निर्वाह के नाम पर निज़ाम से बरार को ले लिया गया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को ८ लाख रुपये का वार्षिक भत्ता मिलता था। उसके दत्तक पुत्र को यह भत्ता देना अस्वीकार कर दिया गया। सन् १८५५ में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु का लाभ उठाकर, उसके कुटुम्ब के मान और उसके भत्ते को घटा दिया गया। संक्षेप में लॉर्ड डलहौज़ी ने भारत में प्रत्येक संभव उपाय से ब्रिटिश राज्य और शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। सन् १८५७ के उत्थान में, डलहौज़ी की देशी राज्यों को छीनने की नीति भी कुछ अंशों तक उत्तरदायी है।

डलहौज़ी एक अत्यन्त उत्साही और कर्मठ व्यक्ति था। उसने शासन के प्रत्येक विभाग के काम की देख-भाल की और बहुत से सुधार किये; भारत के सर्वोच्च शासन को विभागानुसार व्यवस्थित किया; बंगाल के लिए एक पृथक् उप-गवर्नर नियुक्त किया। उसने एक पृथक् सार्वजनिक निर्माण-विभाग बनाया और ग्राण्ड ट्रंक रोड बनवाने, सिंचाई के लिए नहरें निकालने और रेलवे-लाइन बिछाने के कामों को आरम्भ किया। उसने बिजली के द्वारा तार भेजने की व्यवस्था चलाई और डाक के लिए आधा आना प्रति पत्र की एक ही दर निश्चित की। सन् १८५४ के 'वुड डिस्पैच' नाम से प्रसिद्ध आदेशों को पूरी तरह कार्यान्वित किया और देश की वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था की नींव रखी। लॉर्ड डलहौज़ी ने भारतीय सेना के पुनर्संगठन का भी प्रबन्ध किया और इस विषय पर नौ विस्तृत लेख लिखे; (इन लेखों पर इंग्लैण्ड के अधिकारियों ने ध्यान नहीं दिया)। लॉर्ड डलहौज़ी के कार्य-काल में ही कम्पनी के अधिकार-पत्र की अवधि फिर बढ़ा देने का प्रश्न अन्तिम बार पार्लियामेण्ट के सामने आया।

(३)

अब तक कम्पनी के राज्य का विरोध अंग्रेज़ों ने ही किया था। या तो अंग्रेज़ व्यापारियों ने या अंग्रेज़ प्रगतिवादियों अथवा मानववादियों ने ही अधिकार-पत्र

की अवधि बढ़ाने में आपत्ति प्रकट की थी। किन्तु १८५३ में अधिकार-पत्र की अवधि बढ़ाने का विरोध मुख्यतः भारतीयों ने किया। सन् १८३३ के एक्ट के विभाग नं० ८७ ने भारतीयों में उच्च आशाओं का संचार किया था। कुछ नवयुवक भारत के बड़े पदों के लिए शिक्षित होने को इंग्लैण्ड गए थे। भारत लौटने पर उन्हें बहुत निराशा हुई। जैसा कि गवर्नर-जनरल की परिषद् के सदस्य और इंडियन लॉ कमीशन के सभापति मि. कैमेरन ने कहा,—"इन (सन् १८३३ का एक्ट बनने के पश्चात् के) बीस वर्षों में कोई भी देशी आदमी किसी ऐसे पद पर नियुक्त नहीं किया गया जिसके लिए उसका एक्ट बनने से पहले अधिकार न हो।"[१] तीनों प्रेसिडेन्सियों के निवासियों ने पार्लियामेण्ट के समक्ष, कम्पनी के अधिकार-पत्र की अवधि न बढ़ाने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजे। बंगाल के प्रार्थना-पत्र में द्वैधशासन को समाप्त करने, एक राज्य-मंत्री नियुक्त करने और एक ऐसी भारत-परिषद्, जिसमें कुछ सदस्य निर्वाचित हों और कुछ नाम निर्देशित हों, नियुक्त करने का निवेदन किया गया। इस प्रार्थना-पत्र में भारत के लिए एक विधान-मंडल बनाने; गवर्नर-जनरल को परिषद् की सम्मति से काम करने; प्रेसिडेन्सियों को एक प्रकार की प्रान्तीय स्वायत्तता देने; छोटी नौकरियों का वेतन बढ़ाने और बड़े पदों का वेतन घटाने; सारी ब्रिटिश प्रजा को सिविल सर्विस का पात्र बनाने और उक्त सिविल सर्विस की परीक्षा द्वारा भर्ती करने का निवेदन किया गया।[२]

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों ने सन् १८५२ में जाँच के लिए कमेटियाँ नियुक्त कीं और उनकी जाँच के आधार पर सन् १८५३ का चार्टर-(अधिकार-पत्र) एक्ट तैयार किया।

इस चार्टर एक्ट ने सबसे पहली बात तो यह की कि उसने कम्पनी के अधिकारों को फिर जीवन-दान दिया और उसे हर मैजेस्टी (इंग्लैण्ड की रानी) और उसके उत्तराधिकारियों की ओर से धरोहर के रूप में भारतीय प्रदेशों पर अधिकार बनाए रखने की अनुमति दी। पहले अधिकार-पत्रों में यह अनुमति एक निश्चित अवधि के लिए दी जाती थी, किन्तु इस बार उपर्युक्त अधिकार उस समय तक के लिए दिये गए जब तक कि पार्लियामेण्ट कोई अन्य व्यवस्था न करे।

---

१. C. L. Anand : Introduction to the History of Government in India, Part I, page 41 के एक उद्धरण का अनुवाद।

२. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ४२-४३।

सन् १८५३ के एक्ट ने दूसरी बात यह की कि डाइरेक्टर्स की संख्या को २४ से घटाकर १८ कर दिया गया। इनमें से ६ राज-सत्ता द्वारा नियुक्त किये जाते।

एक्ट ने तीसरी बात यह की कि गवर्नर-जनरल को बंगाल की गवर्नरी के काम से मुक्त कर दिया और बंगाल के लिए एक और गवर्नर को नियुक्त करने की व्यवस्था की। किन्तु नया गवर्नर नियुक्त होने के समय तक गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह डाइरेक्टर्स और बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल की स्वीकृति से एक उप-गवर्नर (Lieut.-Governor) नियुक्त कर दे। यद्यपि उप-गवर्नर की नियुक्ति तो सन् १८५४ में कर दी गई, परन्तु गवर्नर की नियुक्ति सन् १९१२ तक नहीं हुई।

एक्ट ने चौथी बात यह की कि हाल में देशी राज्यों को अधिकार में लेने के कारण जो प्रदेश-विस्तार हुआ था, उसके फलस्वरूप डाइरेक्टर्स को यह निर्देश दिया गया कि वे एक ऐसी नई प्रेसीडेन्सी बनायें, जिसकी शासन-व्यवस्था मद्रास और बम्बई की तरह हो। यदि ऐसा न हो तो एक उप-गवर्नर की नियुक्ति की जाय। इस विभाग में जो अधिकार दिया गया उसके अन्तर्गत १८५९ में पंजाब के लिए उप-गवर्नर की नियुक्ति की गई।

एक्ट ने पाँचवीं बात यह की कि गवर्नर-जनरल की परिषद् के विधि-सदस्य को परिषद् का पूरा सदस्य बना दिया। अब वह कार्यपालिका से सम्बन्धित परिषदों की बैठकों में भाग ले सकता था और अपने मताधिकार का उपयोग कर सकता था।

एक्ट ने छठी बात यह की कि भारत के लिए पहली बार एक पृथक् विधान-परिषद् बनाई। जैसा कि माण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के लेखकों ने संकेत किया, अब पहली बार विधान (कानून) बनाने को सरकार का एक विशेष कार्य माना गया और उसके लिए एक विशेष उपकरण और पद्धति की आवश्यकता अनुभव की गई।[1] गवर्नर-जनरल की परिषद् का विधान-कार्य के लिए विस्तार किया गया। उसमें छः नये सदस्य बढ़ाये गए, जो विधान-सदस्य कहलाते। इस प्रकार विधान-कार्य के लिए परिषद् में १२ सदस्य होते—गवर्नर-जनरल, सेनापति, परिषद् के चार सदस्य और छः विधान-सदस्य; जिनमें से दो सदस्य कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय के अंग्रेज जज् (एक मुख्य न्यायाधीश और एक अन्य न्यायाधीश) होते, और चार सदस्य, मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरे की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त किये हुए सरकारी कर्मचारी होते। प्रान्तीय सरकारों के इन प्रतिनिधियों

1. वस्तुतः यह एक पृथक् विधान-परिषद् नहीं थी। कार्यपालिका-परिषद् ही विधान-कार्य के लिए विस्तृत कर दी गई थी।

में से प्रत्येक को ५००० पौण्ड का वार्षिक वेतन मिलता। इस रूप में भारतीय विधान-मंडल में स्थानीय प्रतिनिधित्व को स्थान दिया गया। परिषद् का काम मौखिक और खुला हुआ होता। प्रत्येक विधेयक पर उचित रूप से विचार होता और उसका प्रवर-समिति में परीक्षण होता। "परिषद् में कम-से-कम एक ऐसा सदस्य होता जिसे स्थानीय विषयों की जानकारी होती। साथ ही परिषद् में अंग्रेज़ी विधि का बहुत बड़ा अंश होता।"[१] इस परिषद् ने अपने-आपको विधान-कार्य से सीमित नहीं रखा किन्तु उसने शिकायतों की जाँच करने और उनको दूर करने वाली एक छोटी प्रतिनिधि-सभा का रूप ले लिया।[२] किन्तु उसका कोई प्रस्ताव बिना गवर्नर जनरल की स्वीकृति के विधि नहीं बन सकता था।

एक्ट ने सातवीं बात यह की कि भारतीय विधि-आयोग की सिफारिशों की जाँच करने के लिए, अंग्रेज आयोगकों के निकाय की नियुक्ति के लिए प्राधिकार दिया। (भारतीय विधि-आयोग इस समय तक टूट गया था।)

एक्ट ने आठवीं बात कम्पनी की आय में से बोर्ड ऑव कण्ट्रोल के सदस्यों और अन्य कर्मचारियों के वेतन की व्यवस्था की। हिज़ मैजेस्टी द्वारा वेतन के परिमाण का निश्चय होता। बोर्ड के सभापति के वेतन के बारे में यह कहा गया कि वह किसी प्रमुख राज्य-मंत्री के वेतन से कम नहीं होना चाहिए।

अन्त में एक्ट ने डाइरेक्टर्स को भारतीय नियुक्तियों में अनुग्रह के अधिकार से वंचित कर दिया और बोर्ड ऑव कण्ट्रोल को इस सम्बन्ध में विनियम बनाने का निर्देश किया। सन् १८५४ में एक कमेटी नियुक्त की गई। इसका सभापति लॉर्ड मैकॉले को बनाया गया। इस कमेटी ने विनियम बनाये। इनके अनुसार सिविल सर्विस की भर्ती, परीक्षा में प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर होती। जनवरी १८५६ से हेलबरी कालेज के लिए दाखिले बन्द कर दिए गए। सन् १८५५ के इसी एक्ट[३] के अनुसार ३१ जनवरी १८५८ से कॉलेज बन्द करा देने का निर्देश किया गया। कम्पनी ने स्वयं ही १८३३ में कॉलेज बन्द कराने की माँग की थी। उसका एक कारण तो कॉलेज का अत्यधिक व्यय था और दूसरा कारण

१. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, p. 3.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३९.

३. 18 and 19. Victoria C. 53. Ilbert: Historical Introduction, page 93.

यह था कि "विदेशों में नौकरी को जाने वाले नवयुवकों का सम्पर्क उन्हीं के जैसे दूसरे नवयुवकों तक सीमित कर देने में बहुत से दुष्परिणाम थे।"[1]

१८५४ में पार्लियामेंट ने एक एक्ट और बनाया, जिसका भारतीय शासन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुआ।[2] इस एक्ट ने सपरिषद् गवर्नल जनरल को इस बात का अधिकार दिया कि वह कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स और बोर्ड आव कण्ट्रोल की अनुमति से, उद्घोषणा द्वारा, ईस्ट इंडिया कम्पनी के किसी प्रदेश के किसी भी भाग को अपने निजी अधिकार और प्रबन्ध में ला सकता है और उस भाग के शासन के लिए आदेश, निर्देश दे सकता है अथवा शासन की व्यवस्था कर सकता है।[3] इस अधिकार का चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति करने में उपयोग किया गया। ऐसे सारे अधिकार, जो केन्द्रीय सरकार के लिए अनावश्यक थे, उन्हें प्रदान कर दिए गए। इसी एक्ट के अन्तर्गत आसाम, मध्य प्रान्त, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त, बर्मा, ब्रिटिश बिलोचिस्तान और दिल्ली के लिए समय-समय पर चीफ कमिश्नर बनाए गए। सन् १८५४ के एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल को इस बात का भी अधिकार दिया कि डाइरेक्टर्स और बोर्ड ऑव कण्ट्रोल की अनुमति से वह विभिन्न प्रान्तों की सीमाओं को निश्चित कर सकता है। साथ ही यह निर्देश दिया गया कि भविष्य में गवर्नर-जनरल के पद में बंगाल के गवर्नर का पद न जोड़ा जाय।

(४)

लॉर्ड डलहौज़ी को दृढ़ विश्वास था कि वह अपने उत्तराधिकारी के लिए शान्तिपूर्ण भारत छोड़कर जा रहा था। उसे इस बात का भान भी नहीं था कि उसने असन्तोष के बीज बो दिए थे, जो कुछ समय में निश्चित रूप से अंकुरित होते और जो देश में ब्रिटिश राज्य के लिए एक भीषण संकट का कारण हो सकते थे। लॉर्ड डलहौज़ी की लड़ाइयों और छीना-झपटी से भारतीय सेना और शासक वर्ग दोनों ही अव्यवस्थित और व्यथित हुए थे। आक्रामक यूरोपीय नई रियासतों से देशवासियों की पुरानी कट्टर वृत्तियाँ उमड़ उठीं। ईसाई धर्म का, सरकारी आश्रय और सहायता के साथ सोत्साह प्रबल प्रचार हो रहा था। उससे लोगों को बलात् धर्म-परिवर्तन का भय और सन्देह हुआ। कैनिंग के इस

१. B. K. Thakore : Indian Administration to the Dawn of Responsible Government, page 62, के एक उद्धरण का अनुवाद.

२. 17 and 18. Victoria C. 53. Mukherji : Indian Constitutional Documents, Vol. I, pages 132 to 134

३. उपर्युक्त पुस्तक, page 19 (XIX)

निर्णय ने कि, "बहादुर शाह[1] की मृत्यु के बाद सम्राट् का पद स्वीकार नहीं किया जायगा," उसको और उसके समर्थकों को बड़ा क्रुद्ध और उत्तेजित कर दिया। इसके अतिरिक्त, नानासहब, झाँसी की रानी और अन्य ऐसे सामन्त थे जिनको उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया था और जो चिढ़े हुए थे। ये सब उस समय की विस्फोटक स्थिति का लाभ उठाने को तैयार थे। दूसरी ओर ब्रिटिश स्थिति बड़ी दुर्बल थी। ब्रिटिश सेना का संगठन और वितरण बड़ा दोषपूर्ण था। सेना में अनुशासन की बहुत बड़ी कमी थी। महत्त्व के स्थानों (जैसे दिल्ली और इलाहाबाद) और साथ ही अधिकांश तोपों का अधिकार भारतीय हाथों में दिया हुआ था।[2] फ़ारस की खाड़ी और चीन के लिए सैन्य-दल भेजे गए थे और भारतीय मोर्चों की विशेषकर बंगाल और उत्तरी पश्चिमी प्रान्त की स्थिति बड़ी दुर्बल थी। चर्बी के कारतूसों का अच्छा बहाना मिला और २३ जनवरी १८५७ को कलकत्ते के पास डमडम से विद्रोह आरम्भ हुआ। मार्च में बैरकपुर, अप्रैल में अम्बाला और मई में मेरठ, लखनऊ और दिल्ली में उभार हुआ। मई में चारों ओर लपटें फैल गई और बाकायदा लड़ाई होने लगी। इसके पाँच मुख्य मोर्चे थे—दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, रूहेलखण्ड और मध्यभारत जिसमें बुन्देलखण्ड भी सम्मिलित था। सिखों, ग्वालियर के सर दिनकर राव, हैदराबाद के सर सालार जंग, नेपाल के सर जंगबहादुर ने समय पर सहायता दी। इस सहायता और कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के शौर्य से स्थिति को सँभाल लिया गया। विद्रोह का दमन हुआ और विद्रोही दल परास्त हुआ। हारे हुए स्थानों को फिर से जीता गया और विद्रोह के नेताओं को दण्ड दिया गया, मार दिया गया अथवा भगा दिया गया।

फिर से व्यवस्था लाने में अँग्रजों ने बड़े अत्याचार किय जिनकी स्मृति भारतीय मस्तिष्क में विद्रोह के दमन के बहुत दिनों बाद तक चुभती रही और उनके ऐसे परिणाम हुए जिनके महत्त्व पर कुछ समय पहले तक ध्यान नहीं गया। "अंग्रेजों ने अपने बन्दियों को बिना अभियोग चलाये मार डाला और उनको मारने का ढंग अत्यन्त बर्बरतापूर्ण था। मुसलमानों को सूअर की खालों से सी दिया, प्राण-दण्ड देने से पहले उन पर सूअर की चर्बी मली, और उनके शरीरों को जलाया और हिन्दुओं को स्वयं अपने-आपको अपवित्र और दूषित करने के लिए विवश किया।" उन्होंने दिल्ली और चारों ओर के देहातों में हजारों असैनिक व्यक्तियों का कत्ल कर दिया। जनरल नील ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि कुछ

---

१. Cambridge History of India, Vol. V, page 607.
२. Smith : The Oxford History of India, page 712.

अपराधी गाँवों को नष्ट करने का निर्णय किया गया और (फलतः) वहाँ के सारे निवासियों का कत्ल कर दिया गया, और जहाँ-जहाँ हमारी (अंग्रेज) सेनाएँ गईं, वहाँ के निवासियों को बिना सोचे-विचारे जला दिया गया।[1] लन्दन के 'टाइम्स' के तत्कालीन संवाददाता रसेल ने अपनी डायरी में ब्रिटिश सेनाओं की बर्बरता का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। यहाँ विस्तृत उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है : उदाहरण के लिए उनमें से एक ही पर्याप्त होगा। हैवलॉक के अग्रिम सैन्य-दल के बारे में उसने लिखा है :—

"उस दल का मुख्य अधिकारी (जनरल) नील का प्रतिस्पर्धी था और वह अपना पौरुष कम न समझता था। दो दिन में बयालीस आदमियों को प्राण-दण्ड दिया गया इस कारण कि प्रस्थान में सेना की ओर उनकी पीठ थी। जिन स्थानों पर उसने विराम किया वहाँ के सारे गाँवों को जला दिया गया। कानपुर के हत्या-काण्ड के नाम पर इस उग्रता को न्याय नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि ये घटनाएँ उक्त हत्या-काण्ड से पहले ही हुईं।"[2]

ऐसी उग्रता को सहज ही विस्मृत नहीं किया जा सकता था। उससे जातीय कटुता की भावना चारों ओर फैली। कालान्तर में यह कटुता लुप्त हो गई होती, किन्तु समय-समय पर १९१९ की जालियान वाले बाग-जैसी निष्ठुरताओं ने उसे जीवित बनाये रखा।

(५)

१८५७ की घटनाओं के फलस्वरूप कम्पनी के राज्य का अन्त हुआ। जैसा कि ब्राइट ने कहा कि, "उक्त प्रश्न पर राष्ट्र की आत्मा—अदमनीय रूप से—जग उठी और उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी को तोड़ देने का निर्णय किया।"[3] प्रधान मंत्री लार्ड पामर्स्टन ने १२ फ़र्वरी १८५८ को हाउस आॉव कॉमन्स में विधेयक प्रस्तुत करते हुए एक स्मरणीय वक्तृता दी और द्वैध शासन-व्यवस्था का अन्त करने के लिए अपने कारण बताए। कम्पनी के शासन का, लार्ड पामर्स्टन के अनुसार, सबसे बड़ा दोष उसकी नितान्त उत्तरदायित्वहीनता थी। "हमारी राजनीतिक व्यवस्था का सिद्धान्त यह है कि सारे शासन-कार्य के लिए मंत्रि-मंडल का उत्तरदायित्व हो—पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायित्व, जनमत के

१. Garret: An Indian Commentary, page 112.
२. Russel. Diary I, page 222, quoted by Garret I.C.S. (Rtd.) in an Indian Commentary, page 113
३. Speech of Lord Palmerston, Keith: "Speeches on Indian policy", vol. I, page 320.

प्रति उत्तरदायित्व, राज्य-सत्ता के प्रति उत्तरदायित्व, किन्तु भारतीय शासन की बागडोर एक ऐसे निकाय के हाथों में है जो पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं है और जिसे राज्य-सत्ता ने नियुक्त भी नहीं किया, किन्तु जिसे कुछ ऐसे व्यक्तियों ने चुना है जिनका भारत से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि कुछ पूँजी में उनका साझा है।[१]

लार्ड पामर्स्टन ने दूसरा दोष यह बताया कि द्वैध शासन-व्यवस्था, असुविधापूर्ण और जटिल है। "शासन-कार्य और उत्तरदायित्व को डाइरेक्टर्स, बोर्ड आव कण्ट्रोल और भारत के गवर्नर-जनरल में विभाजित कर दिया गया है।[२] यह स्पष्ट है कि इन अधिकारियों के उद्देश्यों और आदेशों में ऐक्य संभव नहीं है। किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर भारत में आदेश भेजे जाने से पहले उसका लेखा 'कैनन रो' और 'इंडिया हाउस' के बीच चक्कर काटता है। इस विषय में उसका वृतान्त ऐसा ही विचित्र है जैसा कि एक मुद्रा का, जिसे अनेक हाथों में चक्कर काटना पड़ता है।"[३]

लॉर्ड पामर्स्टन ने इन दोषों को दूर करने के लिए कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स और कोर्ट ऑव प्रोप्राइटर्स तोड़ देने का प्रस्ताव किया। उन्होंने, बदले में एक सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, जो "शासन और मंत्रि-मंडल का सदस्य हो और जिसकी सहायता के लिए एक परिषद् की व्यवस्था हो।"[४] इस परिषद् के आठ सदस्य होते, जिनको राज-सत्ता द्वारा नियुक्त किया जाता। परिषद् के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते थे जो "या तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टर रहे हों या जिन्होंने एक निश्चित अवधि तक भारत में सैनिक अथवा असैनिक पद पर काम किया हो या जो स्थानीय शासन से संबंधित होकर कुछ वर्षों तक भारत में रहे हों।"[५] इनके पद की अवधि आठ वर्ष की होती। हर दो वर्ष बाद क्रम से दो सदस्य अवकाश ग्रहण करते। भारतीय राजस्व में पहले से अधिक व्यय करने के विषयों को छोड़कर, और सब विषयों में सभापति को अन्तिम अधिकार प्राप्त होता।[६]

अन्त में लॉर्ड पामर्स्टन ने कम्पनी के तर्कों और उसकी आपत्तियों का उत्तर दिया :—कम्पनी की पहली आपत्ति यह थी कि भारतीय शासन की

१. Speech of Lord Palmerston, Keith : Speeches on Indian Policy, page 322.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२३.
३. Keith : Speeches on Indian Policy, vol. I, page 324.
४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२९-३३०.
५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३३०.
६. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३०९.

राज-सत्ता को सौंपने पर कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स की निष्पक्ष, निर्दलीय और विशिष्ट रोक की जगह पार्लियामेण्ट की अवांछनीय और असमर्थ रोक होगी। लॉर्ड पामर्स्टन ने उत्तर में पार्लियामेण्ट की नीतिज्ञता, उसके विवेक और उत्तरदायित्व की ओर संकेत किया और साथ ही यह बताया कि भारत के "वे अधिकांश सुधार, जिन पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टर्स गर्व करते हैं, पार्लियामेण्ट में भारतीय शासन पर विवादों के परिणामस्वरूप ही हुए हैं।"[1] सर जार्ज कॉर्नवॉल लेविस की भाषा और भी उग्र थी। उन्होंने कहा: "मुझे पूरा विश्वास है कि इस भूतल पर कोई सभ्य सरकार इतनी भ्रष्ट, विश्वासघातक, लोलुप और लुटेरी नहीं हुई जितनी कि सन् १७६५ से १७८४तक ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार थी।"[2] उन्होंने कम्पनी का राजनीतिक स्वरूप जानने के लिए,[3] पार्लियामेण्ट के लेखे और भवन की रिपोर्ट और प्रामाणिक पत्र देखने के लिए कहा। सन् १७८४ से पार्लियामेण्ट द्वारा नियंत्रण आरम्भ होने के ही बाद कम्पनी का शासन सहनीय हुआ था।

कम्पनी ने इस बात का संकेत किया था कि 'मंत्री की सहायता के लिए भारतीय मामलों में प्रवीण नीतिज्ञों की परिषद् अनिवार्य होगी।'[4] इसी सिलसिले में उन्होंने यह कहा था कि उक्त कार्य के लिए कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से अधिक उपयुक्त कोई निकाय होना सन्देहास्पद है।[5] लॉर्ड पामर्स्टन ने परिषद् की आवश्यकता को स्वीकार किया और कम्पनी द्वारा अनिवार्य बताई हुई बहुत सी बातों की प्रस्तुत विधेयक में व्यवस्था की।

कम्पनी ने तीसरी बात यह कही थी कि एक राज्य-मंत्री को पद-नियुक्ति का अनुग्रहाधिकार देना खतरे से खाली नहीं है। साथ ही कम्पनी ने अपने शासन में भारतीय कर्मचारियों की श्रेष्ठता का कारण यह बताया था कि उक्त अनुग्रहाधिकार करने वाले व्यक्ति निर्दली रहे थे और उन्हें पार्लियामेण्ट में समर्थन अपेक्षित नहीं था।[6] लॉर्ड पामर्स्टन ने उत्तर दिया कि कार्यपालिका सरकार को ऐसे कोई अतिरिक्त अनुग्रहाधिकार नहीं दिये जायंगे जिसके कारण हाउस ऑव कॉमन्स को वैधानिक ईर्ष्या हो सके।[7]

---

१. Keith : Speeches on Indian Policy, vol. I, page 349.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३४०.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१५.
४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१२.
५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३३२.
६. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३०७.
७. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२७.

अन्त में कम्पनी ने यह कहा कि यदि विचाराधीन परिवर्तन उचित भी हों तो वह समय तो निश्चित रूप से उन (परिवर्तनों) के लिए अनुपयुक्त था। कम्पनी ने ऐसे परिवर्तनों को पार्लियामेण्ट से उस समय स्थगित कर देने के लिए निवेदन किया···ताकि उनका हाल के विद्रोह से कोई सम्बन्ध न जोड़ा जा सके। लार्ड पामर्स्टन ने उत्तर में कहा कि असाधारण परिस्थितियों में ही शासन की असुविधाओं की ओर सरकार और जनता का ध्यान आकर्षित होता है; हमारा (इस समय) भारत की वर्तमान व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने का उद्देश्य नहीं है; एक सुदृढ़, अधिक शक्तिशाली और अधिक कारगर शासन के उपकरण[1] को स्थापित करने की जगह वर्तमान दुर्बल व्यवस्था को यथावत् बनाए रखने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, विशेषकर एक ऐसे समय जबकि वहाँ फिर से शान्ति स्थापित करने का कार्य अत्यन्त कठिन है। अन्त में पामर्स्टन ने कहा, "सिद्धान्त अनुग्रहाधिकार, समय और वैधानिक संकट के आधार पर ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण हम इस विधेयक को अविलम्ब स्वीकार न कर सकें।"[2] किन्तु इस विधेयक को विधि-पुस्तक में निबंधित करने का अभी समय नहीं आया था। दूसरे वाचक के कुछ ही समय बाद, पामर्स्टन प्रधान मंत्री के पद से हटा दिए गए। लॉर्ड डर्बी उनके उत्तराधिकारी हुए और मिस्टर डिज़रायली हाउस ऑव कॉमन्स के नेता बने।

नए मंत्रि-मंडल के लिए पामर्स्टन के मंत्रिमंडल की ही नीति का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं था। ३० अप्रैल १८५८ को भवन ने १४ प्रस्ताव स्वीकार किए। इनके आधार पर सरकार ने नया विधेयक तैयार किया। यही विधेयक भारत के श्रेयतर शासन के लिये १८५८ का एक्ट बन गया।

(६)

१८५८ के एक्ट ने भारत के शासन को कम्पनी के हाथों से राज्य-सत्ता के हाथों में सौंप दिया। भविष्य में भारत का शासन 'हर मैजेस्टी' के नाम से, उसी के आधीन होना था[3] और भारत की सारी प्रादेशिक तथा अन्य आय हर

१. Keith: Speeches on Indian Policy, page 328.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२८.

३. Clause II of the Act. Keith: Speeches on Indian Policy, page 370.

मैजेस्टी के नाम में और उसी के आधीन प्राप्त की जानी थी और केवल भारत सरकार के ही कामों में उसका व्यय किया जाना था।[१]

दूसरी बात यह हुई कि बोर्ड ऑव कण्ट्रोल और कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स के सारे अधिकार, हर मैजेस्टी के एक प्रमुख राज्य-मंत्री को हस्तान्तरित कर दिए गए। राज्य-सत्ता को एक पाँचवाँ राज्य-मंत्री नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। यह राज्य-मंत्री भारतीय शासन का काम सँभालता किन्तु इस ब्रिटिश राज्य-मंत्री का वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाता।

एक्ट ने तीसरी बात यह की कि कुल १५ सदस्यों की एक भारत-परिषद् (Council of India) बनाई। इनमें से ७ सदस्य कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स द्वारा निर्वाचित होते और शेष ८ सदस्य राज्य-सत्ता द्वारा नियुक्त किये जाते। परिषद् के आधे से अधिक सदस्य—कम-से-कम नौ—ऐसे व्यक्ति होते जो कम-से-कम दस वर्ष तक भारत में रहे होते और जिन्हें नियुक्ति के समय भारत छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक न हुए होते।[२] भविष्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति राज्य-सत्ता द्वारा की जाती। सदस्यों का कार्य-काल सद्व्यवहार पर था किन्तु पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों की[३] प्रार्थना पर उनको हटाया जा सकता था। प्रत्येक सदस्य को भारतीय राजस्व से एक हज़ार दो सौ पौण्ड का वार्षिक वेतन दिया जाता।[४]

परिषद् को राज्य-मंत्री के निर्देशन के आधीन, इंगलैंड में भारतीय शासन और पत्र-व्यवहार से संबंधित सारा कार्य करना था।[५] राज्य-मंत्री को परिषद् के सभापति का पद दिया गया था और उसे मताधिकार प्राप्त था।[६] बराबर मत होने की दशा में उसे एक अतिरिक्त निर्णायक मत दिया गया था।[७] काम को सुचारु रूप से चलाने के लिये सभापति परिषद् को कमेटियों में विभाजित कर सकता था।[८] यदि परिषद् के अधिकांश सदस्य राज्य-मंत्री के किसी

---

१. Clause II of the Act. Keith : Speeches on Indian Policy, page 370.
२. Clause X of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७२.
३. Clause XII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७४.
४. Clause XIII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७४.
५. Clause XIX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७४.
६. Clause XXI of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७५.
७. Clause XXIII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७५.
८. Clause XX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७४.

प्रस्तावित कार्य के विरुद्ध अपने मत का अभिलेख करते तो राज्य-मंत्री उनकी सम्पत्ति के विरुद्ध[1] काम करने के अपने कारणों का अभिलेख करके उक्त कार्य कर सकता था। किन्तु भारतीय राजस्व के अनुदान अथवा विनियोग के संबंध में उसे परिषद् की सम्मति से कार्य करना अनिवार्य था जिसमें निर्णय बहुमत पर निर्भर होता।[2] भारत के विभिन्न अधिकारियों के नाम-निर्देशन अथवा पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार के विभाजन और वितरण-संबंधी विनियम बनाने में भी राज्य-मंत्री को परिषद् का बहुमत मानना आवश्यक था।[3] साथ ही भारत-सरकार की ओर से क्रय, विक्रय, सौदा करने और ऋण उगाहने के लिए और भारत-सरकार की सारी वास्तविक और निजी सम्पत्ति के मामलों में भी परिषद् का बहुमत ही मान्य होता। राज्य-मंत्री को गवर्नर-जनरल के पास गुप्त राज-पत्र भेजने और वहाँ से गुप्त-राज-पत्र प्राप्त करने का अधिकार भी दिया गया। इन राज्य-पत्रों को परिषद् के समक्ष रखने की आवश्यकता नहीं थी। सभापति अविलंब्य राज्य-पत्रों को परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किये बिना ही भारत भेज सकता था किन्तु उस विषय को अविलंब्य समझने के कारण बताना उसके लिए आवश्यक था। परिषद की बैठकों का समय सभापति निश्चित करता, किन्तु सप्ताह में कम-से-कम एक बैठक होना आवश्यक था।[4]

एक्ट ने चौथी बात यह की कि उसने पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को राज्यसत्ता, सपरिषद् राज्य-मंत्री[5] और भारतीय अधिकारियों में विभाजित कर दिया। ऐसी सब नियुक्तियाँ और पदोन्नति जो भारत-स्थित अधिकारियों के हाथों में हैं वे भविष्य में भी उन्हीं नियमों, विनियमों और प्रचलनों के अनुसार उन्हीं हाथों में बनी रहेंगी। सिविल सर्विस की नियुक्तियाँ परीक्षा में प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर होंगी जिसके विनियम सिविल सर्विस आयोगकों की सहायता से सपरिषद् राज्य-मंत्री द्वारा बनाए हुए होंगे।

---

१. Clause XXV उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७६.

२. Clause XI. Keith : Speeches on Indian Policy, page 378.

३. Clause XXX उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७७.

४. Clause XXII उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७५.

५. सैनिक नियुक्तियों के अनुग्रहाधिकार को राज्य-मंत्री और उसकी परिषद् में विभाजित किया गया।
Clause XXX Keith : Speeches and Documents on Indian Policy, vol, page 377.

एक्ट ने पाँचवीं बात यह की कि कम्पनी की स्थल और जल सेना को, राज्य-सत्ता के अधिकार में सौंप दिया। इनको "हर मैजेस्टी की भारतीय सेना और जलसेना समझा जायगा। इनका कार्य-क्षेत्र, उन्हीं प्रदेशों में, उन्हीं शर्तों पर और यथापूर्व वेतन, पेन्शन, भत्ता और विशेषाधिकार के अनुसार होगा। इनकी पदोन्नति भी उसी भाँति होगी जैसी कि उक्त कम्पनी की सेवा में होती।[1] भविष्य में भारतीय सेना में नई भर्ती के नियम और उसकी शर्तें बदलने का राज्य-सत्ता को अधिकार दिया गया।

एक्ट ने छठी बात यह की कि उसने सपरिषद् राज्य-मंत्री के लिए पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के समक्ष गत वर्ष से पहले वर्ष का आर्थिक लेखा प्रस्तुत करने का नियम बनाया। इस लेखे के साथ में भारत को नैतिक और भौतिक प्रगति और स्थिति के प्रकटीकरण के लिए एक वक्तव्य भी प्रस्तुत करने के लिए कहा गया।[2] एक्ट ने यह भी स्पष्ट किया कि युद्ध आरंभ करने के लिए भारत में आदेश भेजने के तीन महीने के अन्दर ही पार्लियामेण्ट में उसका ब्यौरा दिया जाय। साथ ही यह भी कहा कि भारतीय राजस्व का पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर[3] किसी सैनिक काम के लिए उपयोग नहीं किया जायगा।

अन्त में १८५८ के एक्ट ने सपरिषद् राज्य-मंत्री को एक संयुक्त निकाय बना दिया जो भारत और इंगलैंड में अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

(७)

भारत के श्रेष्ठतर शासन के लिए इस एक्ट को २ अगस्त १८५८ को राजकीय स्वीकृति मिली। १ सितम्बर को कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स की 'अन्तिम (और) गंभीरतापूर्ण सभा' हुई और कम्पनी ने "पूर्व में अपने सेवकों के नाम अन्तिम आदेश दिये," भारत-स्थित अपने अधिकारियों की बहुत प्रशंसा की और अपने उद्योग और साहस, और अपनी चतुराई से बनाए हुए साम्राज्य को अपनी राज्य-सत्ता को इन हृदयस्पर्शी शब्दों में प्रदान किया:—

"हर मैजेस्टी इस मूल्यवान उपहार को—इस विस्तृत भारत देश और वहाँ के परिपूर्ण करोड़ों निवासियों को स्वयं अपने नियंत्रण में लें किन्तु वे उस बड़ी

---

१. Clause LVI Keith : Speeches on Indian Policy. page 380

२. Clause LVI उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७९.

३. Clause IV of the Act उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ३८०.

कम्पनी को जिससे उन्हें यह (उपहार) प्राप्त हुआ है विस्तृत न करें, और उस (कम्पनी) की सफलता से सीखे जाने वाले पाठों को भुला न दें।"[१]

इस प्रकार भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य का अन्त हो गया।

---

१. Smith : The Oxford History of India page 707

भाग २

भारत में ब्रिटिश राज्य

युग १
(सन् १८६१ से १८९२ तक)

पाँचवाँ अध्याय

प्रतिनिधि संस्थाओं का आरम्भ

(१)

सन् १८५८ के भारतीय शासन एक्ट के बनने से भारतीय इतिहास का एक बड़ा युग समाप्त हुआ और एक दूसरा बड़ा—ब्रिटिश राज्य का युग आरम्भ हुआ। १ नवम्बर १८५८ को इस हस्तान्तरण की राजकीय उद्घोषणा हुई। इस उद्घोषणा की भाषा सुन्दर और शालीन थी और वह उदारता, अनुग्रह, मित्रता और न्याय की भावना से परिपूर्ण थी। उसमें देशी राज्यों के शासकों को उनके अधिकारों, उनके मान और उनकी प्रतिष्ठा को बनाए रखने का और सर्वसाधारण को धर्म की स्वतन्त्रता और न्याय के संरक्षण का आश्वासन था। साथ ही इस बात का विश्वास दिलाया गया कि किसी पद की नियुक्ति के लिए जाति और धर्म के कारण कोई भेद-भाव नहीं किया जायगा और वह नियुक्ति केवल शिक्षा, योग्यता और उपयुक्तता के आधार पर होगी।

(२)

१८५७ के भारतीय विद्रोह का मुख्य कारण था शासकों और शासितों के बीच सम्पर्क का अभाव। जैसा कि सर सैयद अहमद ने संकेत किया, परिषदों में भारतीयों का निषेध करने की नीति ने सरकार को जनमत जानने के अवसर से वंचित कर दिया। साथ ही उक्त नीति के कारण ऐसी कोई भी सम्पर्क रेखा न थी जहाँ से दृष्टिकोण और उद्देश्य के सम्बन्ध में सरकार और जनता के पारस्परिक भ्रम दूर किये जा सकें।[१] इसलिए सन् १८६० के अपने प्रसिद्ध लेख में सर बार्टल फ्रेयर ने परिषदों में देशवासियों[२] को लेने पर जोर दिया।

भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने का प्रश्न, ब्रिटिश पार्लियामेंट में सन् १८५८ में भी उठाया गया था, किंतु उस समय भी बहुत से देशवासी, अंग्रेजों का सशस्त्र विरोध कर रहे थे। इसी कारण उस समय यह अधिकार देना अनीतियुक्त समझा गया। सन् १८६१ में, पहली बार भारत में विधान-कार्य के लिए भारतीयों को साथ लेने की व्यवस्था की गई।

---

१. C. L. Anand : Introduction to The History of Govt. in India Part II, pages 72 and 73.

२. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918. page 38.

भारत में विधि-निर्माण की व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पहली बात तो यह थी कि गैर-सरकारी व्यक्ति—यूरोपियन और भारतीय दोनों ही—विधान-कार्य से दूर रखे जाते थे। दूसरी बात यह थी कि विधान-परिषद् के पास न तो पर्याप्त समय था, और न प्रत्येक प्रान्तीय सरकार के एक सरकारी प्रतिनिधि होने की दशा में भी उसे सम्बन्धित विषयों की पर्याप्त जानकारी ही थी, जो वह बम्बई, मद्रास और अन्य नए प्रान्तों के लिए आवश्यक विधान बना सकती। तीसरी बात यह थी कि विधान-परिषद् ने अपने हाथ में ऐसे काम ले रखे थे जो तत्कालीन शासन-व्यवस्था की दृष्टि से बिलकुल असंगत थे। वह परिषद् सन् १८३३ के एक्ट-निर्माताओं के उद्देश्य के विरुद्ध, एक आंग्ल भारतीय लोक-सभा (हाउस ऑव कॉमन्स) की भाँति कार्यपालिका के कामों पर आपत्ति करने लगी थी। और उससे गुप्त राज-पत्रों को भी अपने सामने रखने के लिए जोर देने लगी थी। उसने विधान-योजनाओं को स्वयं विचार करने से पहले राज्य-मन्त्री के समक्ष रखना अस्वीकार कर दिया, साथ ही उसने राज्य-मन्त्री (अथवा १८५८ से पहले बोर्ड ऑव कंट्रोल के सभापति) द्वारा बताए हुए विधानों को बनाने के लिए भी मना कर दिया। सर चार्ल्स वुड ने बार-बार विरोध किया और यह कहा कि परिषद् को ऐसे अधिकार देने का उनका कोई भी उद्देश्य नहीं था किंतु जैसा कि प्रो. डाडवेल ने कहा "किसी विधेयक के परिणामों को अपने उद्देश्यानुसार सीमित करने में असफल रहने वाले, न तो वह पहले विधान-निर्माता थे और न अन्तिम।[१] सन् १८६० में लॉर्ड कैनिंग ने भारत-मन्त्री (अर्थात् भारतीय विषयों से सम्बन्धित राज्य-मन्त्री) को एक राज-पत्र में स्थिति की कठिनाइयों को जोरदार शब्दों में व्यक्त किया। इस राज-पत्र में उक्त स्थिति को ठीक करने के लिए लॉर्ड कैनिंग ने अपने प्रस्ताव भी रखे थे। इस बीच भारत में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनके कारण तुरन्त ही १८६१ का भारतीय परिषद् एक्ट (Indian Councils Act) बनाना पड़ा।" आय-कर-विधेयक के बारे में मद्रास-सरकार और सर्वोच्च सरकार में मतभेद हुआ; विधान-परिषद् के किसी अधिनियम के बिना ······ किसी अविनियमित प्रान्त में विधि प्रस्तुत करने की मान्यता पर शंका की गई। अन्त में गवर्नर-जनरल की विधान-परिषद् ने एक सम्बोधन द्वारा यह माँग की कि भारत-मन्त्री और भारत-सरकार के बीच (किसी विशेष) पत्र-व्यवहार को उसके सामने प्रस्तुत किया जाय।"[२] अतः ६ जून १८६१ को सर चार्ल्स वुड ने

१. Dodwell: History of India from 1858—1918 p. 235.
२. Report on Indian Constitutional Reforms 1918. page 39.

एक विधेयक प्रस्तुत करने के लिए हाउस ऑव कॉमन्स की आज्ञा ली। यही विधेयक बाद में १८६१ का भारतीय परिषद् एक्ट बन गया।

(३)

भारत के वैधानिक इतिहास में १८६१ के भारतीय परिषद एक्ट के महत्त्व के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह, कि उसने गवर्नर-जनरल को विधान के कार्य में भारतीयों को साथ लेने का अधिकार दिया, दूसरा यह कि उसने बम्बई और मद्रास की सरकार को फिर से विधान-कार्य का अधिकार दिया, और अन्य प्रान्तों में भी वैसी ही विधान-परिषद बनाने की व्यवस्था की। इस प्रकार विधान··· की उस नीति का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप अन्त में प्रान्तों को सन् १९३७ में लगभग पूर्ण आंतरिक स्वायत्तता (Complete Internal Autonomy) प्रदान की गई। तत्कालीन भारत-मन्त्री सर चार्ल्स वुड ने पार्लियामेंट में अपने आरम्भिक व्याख्यान में भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने के प्रश्न की विस्तृत विवेचना की किंतु उस (प्रतिनिधित्व के अधिकार) को प्रदान करना नितान्त असंभव माना गया।[१] किंतु देशी राज्यों के शासकों, सामन्तों और उच्च वर्ग के भारतीयों को "अपने अंग्रेजी राज्य के अनुकूल बनाने के उद्देश्य से"[२] विधान-कार्य में साथ लेना आवश्यक समझा गया। अतः एक्ट में गवर्नर-जनरल को विधान कार्य के लिए कार्यपालिका-परिषद् में कुछ अतिरिक्त सदस्यों को नामनिर्देशित कर लेने का प्राधिकार दिया गया।

सन् १८६१ के एक्ट ने एक बात तो यह की कि उसने गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका-परिषद् में एक और—पाँचवाँ सदस्य बढ़ाया जो विधि वृत्ति से सम्बन्धित कोई न्यायकार अथवा वकील होना था।[३] परिषद् के पाँच सदस्यों में से तीन सदस्य ऐसे व्यक्ति होने थे जो नियुक्ति से पहले भारत में कम-से-कम दस वर्ष तक सेवा कर चुके हों।[४] शेष दो में से एक सदस्य स्कॉटलैंड का कम-से-कम पाँच वर्ष का अनुभवी बैरिस्टर या एडवोकेट होना था।[५] भारत-मन्त्री को सेनापति को

१. Pradhan: India's Struggle for Swaraj, page 45.
२. ६ जून १८६१ का सर चार्ल्स वुड का व्याख्यान देखिये। Keith: Speeches and Documents on Indian Policy. Vol. II page 7.
३. Clause III of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१.
४. Clause IX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २५.
५. Clause VI of the Act. उपर्युक्त पुस्तक

(परिषद् का) असाधारण सदस्य नियुक्त करने का अधिकार था। जिस प्रान्त में परिषद् की बैठक हो रही हो, उसके गवर्नर अथवा उप-गवर्नर को असाधारण सदस्य की तरह परिषद् में सम्मिलित करने की व्यवस्था भी की गई। एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल को, केन्द्र से गवर्नर-जनरल की प्रत्याशित अनुपस्थिति के लिए परिषद् का सभापति नियुक्त करने का प्राधिकार दिया। नये विधि और विनियमों पर अपनी स्वीकृति देने, न देने अथवा उनको सम्राट् की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने के अधिकार के अतिरिक्त इस सभापति को गवर्नर-जनरल के सारे अधिकार प्राप्त थे।[1] सपरिषद् गवर्नर जनरल को विधि और विनियम बनाने के अतिरिक्त अपने सब अधिकार गवर्नर-जनरल को दे सकने का प्राधिकार दिया गया था।[2]

एक्ट ने गवर्नर-जनरल को परिषद् का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम और आदेश बनाने का अधिकार दिया।[3] लॉर्ड कैनिंग ने इस अधिकार का उपयोग भारत-सरकार में विभाग-व्यवस्था चलाने के लिए और विभागाध्यक्ष सदस्य (Member-in-charge of the Department) को अपने विभाग के छोटे विषयों का स्वयं तथा अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों का वाइसराय के परामर्श से निपटारा करने के लिए किया।[4]

सन् १८६१ के एक्ट ने दूसरी बात यह की कि उसने विधि और विनियम बनाने के लिए वाइसराय की परिषद् का विस्तार किया। परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या छै से कम और बारह से अधिक नहीं होती थी। इस सम्बन्ध में यह बात आवश्यक थी कि इस प्रकार नियुक्त किये हुए व्यक्तियों में गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या आधे से कम नहीं होगी।[5] अतिरिक्त सदस्यों का कार्य-काल दो वर्ष था। सन् १८५३ के एक्ट के अनुसार बनाई हुई परिषद् द्वारा हथियाए हुए कामों को ध्यान में रखते हुए, इस बार सर चार्ल्स वुड ने परिषद् के अधिकारों को सावधानी से सीमित और निश्चित कर दिया था।

---

१. Clause IX of the Act, Keith : Speeches and Documents on Indian Policy. page 25.

२. Clause VI of the Act. उपर्युक्त पुस्तक,

३. Clause VIII of the Act. उपर्युक्त पुस्तक.

४. सन् १८५९ में लॉर्ड कैनिंग ने विभाग-व्यवस्था को आरम्भ तो कर दिया था पर उसके लिए कोई भी वैध निर्देश अथवा आधार नहीं था। सन् १८६१ के एक्ट से यह आधार मिला।

५. Clause XIX of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २८-२९

प्रदत्त विधानाधिकार भी संकुचित थे। गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व, धर्म, सेना और जल सेना से सम्बन्धित प्रस्ताव, प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। गवर्नर-जनरल को किसी प्रस्ताव को निषिद्ध करने का और अध्यादेश बनाने का पूर्ण अधिकार था।[1] किसी एक्ट को अमान्य करने का राज-सत्ता का अधिकार सुरक्षित था। राज-सत्ता और पार्लियामेंट के साधारण अधिकार का स्पष्ट शब्दों में संरक्षण किया गया था।

१८६१ के एक्ट ने तीसरी बात यह की कि उसने मद्रास और बम्बई की सरकारों को विधियों को बनाने और उनका संशोधन करने का अधिकार फिर से प्रदान कर दिया। इस सम्बन्ध में कुछ विषयों[2] के लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक था। गवर्नर-जनरल को इन विधियों को निषिद्ध करने का और राजसत्ता को भारत-मंत्री के परामर्श पर इन्हें अमान्य कर देने का अधिकार था।

प्रान्तीय विधान-कार्य के लिए हर प्रेसीडेन्सी के गवर्नर को प्रेसीडेन्सी के महाधिवक्ता (Advocate-General) को अपनी परिषद् का सदस्य नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। साथ ही परिषद के लिए अन्य अतिरिक्त सदस्य भी गवर्नर द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इनकी संख्या चार से कम और आठ से अधिक नहीं होती थी। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक था कि इस प्रकार नियुक्त किये हुए व्यक्तियों में गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या आधे से कम नहीं होगी।[3] गवर्नर-जनरल को फोर्ड विलियम प्रेसीडेन्सी के बंगाल-क्षेत्र के लिए भी ऐसी ही विधान-परिषद् बनाने के लिए निर्देश किया गया। इसके अतिरिक्त सपरिषद् गवर्नर-जनरल को उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त और पंजाब नाम से प्रसिद्ध प्रदेशों के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया।[4] क्रमशः जनवरी १८६२ में बंगाल के लिए, सन् १८८६ में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और अवध के लिए और सन् १८९७ में पंजाब के लिए, विधान-परिषद् की स्थापना हुई।

---

१. Clause XXII of the Act. Keith : Speeches and Documents an Indian Policy page 30.

२. भारत-सरकार के सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व, मुद्रा, डाक, तार, सेना, एकस्व, प्रतिलिप्यधिकार, और विदेश-नीति से संबन्धित प्रस्तावों के लिए पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक था।

३. Clause XXIX of the Act. Keith : उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ३५ और ३६.

४. Clause 44 of the Act उपर्युक्त पुस्तक.

अन्त में गवर्नर-जनरल को विधान-कार्य के लिए नये प्रान्त बनाने और उनके लिए उप-गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। साथ ही गवर्नर-जनरल को किसी प्रेसीडेन्सी, प्रान्त या प्रदेश को विभाजित करने अथवा उसकी सीमाएँ घटाने-बढ़ाने का भी अधिकार दिया गया।

(४)

सन् १८६१ में पार्लियामेण्ट ने दो महत्त्वपूर्ण एक्ट और बनाए। इनमें से एक का नाम था, १८६१ का इंडियन सिविल सर्विस एक्ट। इस एक्ट का मुख्य उद्देश्य, कुछ पहली नियुक्तियों को वैध बनाना था। उक्त नियुक्तियाँ, १७९३ के अधिकार-पत्र एक्ट की शर्तों के विरुद्ध,[1] किन्तु समय की आवश्यकतानुसार, कर दी गई थीं। भविष्य में लगभग सारी उच्च असैनिक नियुक्तियाँ सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए सुरक्षित रखी जानी थीं। इन नियुक्तियों का एक परिशिष्ट में निर्देश किया गया और इसमें कार्यपालिका-परिषद् के सदस्य, भारत-सरकार और विभिन्न प्रान्तीय सरकारों के विभागों के कार्यवाहक (Secretary), मुख्य लेखाध्यक्ष (Accountant General), राजस्व बोर्ड के सदस्य आदि से लेकर सहायक कलक्टर तक सभी सम्मिलित थे।

सपरिषद् भारत-मंत्री द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार, सिवल सर्विस आयोगकों के निरीक्षण में उक्त कवेनेण्टेड सिविल सर्विस की भर्ती के लिए लन्दन में प्रतिवर्ष परीक्षा में प्रतिद्वन्द्विता द्वारा छाँट की जाती थी। सन् १८६० में परीक्षार्थियों के लिए अधिकतम आयु की अवधि को घटाकर २२ वर्ष और १८६६ में फिर घटाकर २१ वर्ष कर दिया गया। इसका अर्थ यह था कि भारतीय नवयुवकों को कवेनेण्टेड सिविल सर्विस में—और १८६१ के एक्ट के अनुसार फलतः देश की सारी उच्च असैनिक नियुक्तियों में प्रवेश पाने के लिए द्वार बन्द कर दिया गया और इस सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट और राज-सत्ता द्वारा दिये हुए सारे आश्वासनों की अवज्ञा की गई। तत्कालीन भारतीय सामाजिक एवं शिक्षण परिस्थितियों में, भारतीयों के लिए उक्त कुमारावस्था में लन्दन जाकर परीक्षा में स्पर्धा करना संभव नहीं था। इस सम्बन्ध में यह कहना उचित होगा कि सन् १८६० में भारतीय परिषद् के पाँच सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की गई थी

१. १७९३ के एक्ट के अनुसार परिषद्-सदस्य के पद के नीचे की सारी असैनिक नियुक्तियाँ प्रेसीडेन्सी के सिविल सेवकों के लिए सुरक्षित रखी गई थीं। पदोन्नति कार्य-काल के अनुसार विनियमित थी। इन प्रतिबन्धों को माना नहीं गया। इसी कारण १८६१ के एक्ट से ऐसी नियुक्तियों को वैध बनाने की आवश्यकता हुई।

और उसे भारतवासियों के प्रति पार्लियामेण्ट के आश्वासनों को पूरा करने के लिए मार्ग बताने का काम सौंपा गया था। इस कमेटी ने एक-मात्र संभव मार्ग की सिफारिश की कि सिविल सर्विस की भर्ती के लिए इंग्लैण्ड और भारत में सम-कालिक परीक्षा की व्यवस्था की जाय। सिविल सर्विस आयोगकों के यह कहने पर भी, कि उन्हें उक्त व्यवस्था करने में कोई प्रत्याशित कठिनाई नहीं है, उपर्युक्त सिफारिश को कार्यान्वित नहीं किया गया।[1] इस सम्बन्ध में यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इस विषय पर तत्कालीन भारत-सरकार ने जो सरकारी पत्र प्रकाशित किये थे उनमें १८६० की कमेटी की रिपोर्ट सम्मिलित नहीं की गई थी।

(५)

१८६१ का दूसरा एक्ट था भारतीय उच्च-न्यायालय (Indian High Courts) एक्ट। सन् १८३३ और १८५३ के एक्टों के अनुसार नियुक्त किये हुए विधि-आयोगकों के परिश्रम के फलस्वरूप विधियों और पद्धतियों को संहिताबद्ध किया गया था। दीवानी पद्धति संहिता १८५९ में, भारतीय दण्ड संहिता १८६० में और फ़ौजदारी पद्धति संहिता १८६१ में वैध हो गई। सन् १८६१ का भारतीय उच्च न्यायालय एक्ट बनाकर भारत में न्याय-कार्य को सुधारने के लिए एक और महत्त्वपूर्ण पग आगे बढ़ाया गया। इस एक्ट ने राज-सत्ता को स्पष्ट शब्दों में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। इनकी स्थापना पर पुराने सर्वोच्च न्यायालय और सदर दीवानी तथा फौजदारी न्यायालय तोड़कर उनके क्षेत्राधिकार नये उच्च न्यायालयों को हस्तान्तरित होने थे। इन हर एक नए न्यायालयों में एक मुख्य न्यायाधिपति और अधिक-से-अधिक पन्द्रह अन्य न्यायाधिपति होने थे जिनमें से "मुख्य न्यायाधिपति सहित कम-से-कम एक तिहाई के लिए नियुक्ति से पहले बैरिस्टर होना आवश्यक था और कम-से-कम एक तिहाई के लिए कवेनेण्टेड सिविल सर्विस का सदस्य होना आवश्यक था।"[2] अवशिष्ट स्थानों की पूर्ति ऐसे व्यक्तियों से होनी थी जो कम-से-कम पाँच वर्ष तक न्यायाधिकारी रहे हों अथवा दस वर्ष तक वकील रहे हों। इन न्यायाधिपतियों का कार्य काल "हर मैजिस्टी के प्रसाद-पर्यन्त था"।[3] उच्च न्यायालयों को स्थापित करने के निमित्त

१. Mr. Ramsay Macdonald's book. Government of India. page 103.

२. Clause II of the Act. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, vol. I page 391.

३. Clause IV of the Act. उपर्युक्त पुस्तक।

राजकीय आज्ञा में, उन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार व्यक्त किया जाना था। एक्ट ने पुराने न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त, इन नये न्यायालयों को अपने अपील क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सब न्यायालयों का अधीक्षण करने, उनके आज्ञा-पत्र मँगाने, अभियोग को हस्तान्तरित करने और "उनके कार्य तथा उनकी पद्धति को विनियमित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार भी दिया।"[1] अन्त में एक्ट ने हर मैजेस्टी को इन न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के बाहर अपने भारतीय साम्राज्य के अन्य किसी प्रदेश के लिए उक्त प्रकार के न्यायालय बनाने का अधिकार दिया।[2] सन् १८६६ में उत्तरी पश्चिमी प्रान्त के लिए उच्च न्यायालय स्थापित करने के निमित्त इस अधिकार का उपयोग किया गया।

सन् १८६५ के भारतीय उच्च न्यायालय एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल को किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार से किसी प्रदेश या स्थान को दूसरे[3] न्यायालय के क्षेत्राधिकार में हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया। सन् १८६५ के एक्ट ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल को देशी राज्यों में रहने वाली, सम्राज्ञी की ईसाई प्रजा को उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में लाने का भी अधिकार दिया।

(६)

सन् १८६१ में एक एक्ट और बनाया गया जिससे ईस्ट इंडिया कम्पनी की यूरोपीय सेना की पृथक् सत्ता समाप्त हो गई। इन यूरोपियनों को नियमित सेना में सम्मिलित होने को अथवा पद-मुक्त होने को कहा गया। इसका अर्थ भारत में ब्रिटिश सैन्य-शक्ति को घटाना नहीं था। इसके स्थान पर १८५७ के विद्रोह के बाद सेना के पुनर्संगठन ने उसको काफ़ी बढ़ा दिया था।

१८५७ के भारतीय विद्रोह के समय भारतीय सेना में ४०,००० यूरोपियन और २,१५,००० भारतीय थे। ब्रिटिश राजकीय सैन्य दल की कुल संख्या २४,२६३ थी।[4] इसके अतिरिक्त भारतीय सेना में कम्पनी के लगभग १५,००० ब्रिटिश सैनिक थे। कम्पनी की सेना के तीन पृथक् सैन्य-दल थे—एक बम्बई प्रेसीडेन्सी के लिए, एक बंगाल के लिए और एक मद्रास के लिए। इनकी स्वतंत्र रूप से, विभिन्न नियमानुसार भर्ती होती थी। कम्पनी के इन नियमित

१. Clause XV of the Act. Mukherji: Indian Constitutional Documents.
२. Clause CXI of the Act. उपर्युक्त पुस्तक।
३. Clause III of the Act. उपर्युक्त पुस्तक vol. I, page 412.
४. Appendix I. The Army in India and its Evolution (Government Publication) page 195.

सैन्य दलों के अतिरिक्त अन्य स्थानीय और अनियमित[1] सैन्य-दल भी थे जो देश के विभिन्न भागों में तैयार किये गए थे।[2] कम्पनी के विभिन्न प्रकार के नियमित, अनियमित और स्थानीय सैन्य-दलों के अतिरिक्त, एक बहुत बड़ी पूरक देशी सेना धीरे-धीरे तैयार हो गई थी जो समय पर ब्रिटिश सरकार के काम आ सकती थी। यह सेना देशी राज्यों की थी और इसकी कुल संख्या ३५,००० थी।[3]

१८५७ के विद्रोह से पहले हर प्रेसीडेन्सी का अपना स्वतंत्र सैन्य-संगठन था। यद्यपि युद्ध-काल में दूसरी प्रेसीडेन्सियों में लड़ने और सेवा करने के दायित्व को निश्चित रूप से माना जाता था किन्तु हर प्रेसीडेन्सी की अपनी पृथक् सेना थी। आरम्भ से ही इन सेनाओं को कितनी ही बार दूसरी प्रेसीडेन्सियों में जाकर लड़ना पड़ा था किन्तु विभिन्न नियमानुसार भर्ती की हुई इन सेनाओं के पारस्परिक सहयोग में कठिनाई होती थी। "बंगाल की सेना का वर्गानुसार विभाजन था और उसमें उच्च वर्णों के लोग भर्ती किये गए थे। किन्तु बम्बई और मद्रास के सैन्य-दलों में निम्न वर्णों के लोग[4] भी मिले हुए थे। कुछ प्रेसीडेन्सियों में सैनिकों को अपना कुटुम्ब अपने साथ रखने के लिए स्थान दिया जाता था और कुछ प्रेसीडेन्सियों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी। इसीलिए एक प्रेसीडेन्सी के सैनिक दूसरी प्रेसीडेन्सी में जाकर सेवा करने के लिए तैयार नहीं होते थे। इस सम्बन्ध में कई बार व्यवहार में आज्ञा भंग की गई यहाँ तक कि कभी-कभी उसका रूप विद्रोहात्मक भी हो गया।[5] तथापि सेना में अंग्रेजों और भारतीयों का सम्बन्ध बड़ा मित्रतापूर्ण था। ब्रिटिश अधिकारियों को अपने सैनिकों में पूर्ण विश्वास था और उन्हें "भारतीय सैनिकों पर कोई सन्देह नहीं था। भारत के अधिकांश तोपखाने देशी सैनिकों के हाथों में थे।"[6]

१८५७ के बाद यह सब बदल दिया गया। १८५८ में पील कमीशन नामक

---

१. अनियमित सेनाओं में सबसे महत्वपूर्ण सेना (पंजाब में) सिखों, पठानों और अन्य लड़ाकू जातियों से तैयार की गई थी। Strachey: India; Its Administration and Progress, page 477.

२. Chesney, Indian Polity, pages 285-286.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २८६.

४. The Army in India and its Evolution, page 15.

५. The Army in India and its Evolution, page 17.

६. Strachey: India; Its Administration and Progress, 477.

एक राजकीय आयोग नियुक्त किया गया और इसने १८५९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। पील कमीशन की सिफारिशों के अनुसार सन् १८६१ में सेना का पुनर्संगठन किया गया।

यह संगठन तीन सिद्धान्तों पर अवलम्बित था। १८७९ के भारतीय सेना पुनर्संगठन-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में पहले दो सिद्धान्तों को इस प्रकार बताया है; "विद्रोह के अनुभव ने दो बड़े सिद्धान्त सिखाए हैं—एक तो देश में अदम्य ब्रिटिश सैन्य-शक्ति बनाए रखना और दूसरा सिद्धान्त है, तोपखाने को यूरोपीय हाथों में रखना।"[1] १८५८ की सैन्य-संगठन की पंजाब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में, तीसरा कुटिल सिद्धान्त इन शब्दों में व्यक्त किया है;—पर्याप्त यूरोपीय सैन्य-दल द्वारा संतुलन के अतिरिक्त, प्रत्येक देशी सेना के विरुद्ध दूसरी देशी सेना का संतुलन है। .....उस भेद-भाव को बनाए रखा जाय जिसके कारण एक देश का मुसलमान दूसरे देश के मुसलमान से डरता अथवा घृणा करता है...और भविष्य में सैन्य-दल उन प्रान्तीय और भौगोलिक सीमाओं के ही अनुसार बनाए जायँ जिनमें उक्त भेद-भाव और संघर्ष स्पष्ट हों।"[2]

फलतः सैन्य-संगठन की प्रान्तीय व्यवस्था को बनाए रखा गया और सेना के नियंत्रण का एकीकरण नहीं किया गया।

दूसरी बात यह की गई कि भारतीय सैन्य-शक्ति को काफी घटा दिया गया। "कुछ पैदल और घुड़सवार टुकड़ियों को तोड़ दिया गया, कुछ को मिला दिया गया और कुछ विशेष टुकड़ियों को छोड़कर सारे भारतीय तोपखाने को भी तोड़ दिया गया।"[3]

तीसरी बात यह की गई कि समरोचित और अन्य जातियों में भेद किया गया और सेना के लिए भर्ती मुख्यतः उत्तर भारत की इन कठिन समरोचित जातियों के लिए ही सीमित कर दी गई।

चौथी बात यह की गई कि बंगाल और पंजाब के अधिकांश सैन्य-दलों का, वर्ग के आधार पर, फिर से संगठन किया गया। "इसके अनुसार एक सैन्य-दल में तीन या चार स्थानों की तीन या चार विभिन्न जातियों के सैनिक होते थे किन्तु प्रत्येक वर्ग और जाति को पृथक् उपदल[4] में रखा जाता था।" यह बात देशी

१. Strachey: India; Its Administration and Progress पृष्ठ ४७८ and Garratt : An Indian Commentary, pages 201-2.

२. Garratt उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २०२ के एक उद्धरण का अनुवाद।

३. The Army in India and its Evolution, page 18.

४. Report of the Commission on Indian Army Organi-

सैनिकों के परस्पर संतुलन की नीति के फलस्वरूप की गई। मद्रास और बम्बई की सेनाओं के लिए अब भी स्थानीय और मिश्रित आधार पर भर्ती होती थी। किन्तु बम्बई के सैन्य-दलों में उत्तर भारत[1] के सिख और हिन्दुस्तानियों को भी मिला दिया गया।

पाँचवीं बात यह की गई कि यूरोपीय सैन्य-दल की शक्ति को बहुत बढ़ा दिया गया। "यह निश्चित किया गया कि अनुपात में देशी सेना, यूरोपियन सेना के दूने से बहुत ज्यादा नहीं होनी चाहिए और हर प्रकार के तोपखाने पूरी तरह यूरोपीय हाथों में ही रहने चाहिएँ।"[2] भारत में ब्रिटिश सैनिकों की अधिकतम संख्या ८०,००० निश्चित कर दी। सन् १८७९ में इनकी वास्तविक संख्या ६५,००० और भारतीय सैनिकों की संख्या १,३५,००० थी।[3] "देश के सारे किलों पर···ब्रिटिश तोपखानों का आधिपत्य था। विभिन्न प्रकार की भारी तोपों को चलाने वाले सभी सैनिक···यूरोपीय थे।"[4]

अन्तिम बात थी सैनिक-अफ़सरों की नियत संख्या के विषय में पुरानी व्यवस्था के दो दोषों का सुधार—एक तो विशिष्ट कार्यवश अफ़सरों के बाहर जाने पर उनकी अनुपस्थिति में उनके कार्य-भार को उचित रूप से सँभालने के लिए सुचारु व्यवस्था की गई; दूसरी बात यह कि सेवाओं में पदोन्नति की विभिन्नता को सुधारने के लिए तीन अफ़सर सैन्य-दल बनाए गये। सारे सेना के अफ़सरों को, चाहे वे किसी सेना या दल या किसी असैनिक पद पर काम करते हों, सम्बन्धित प्रान्त के अफ़सर दल का सदस्य होना आवश्यक था।

सन् १८६१ का सैन्य-पुनर्संगठन १८६३ में सम्पूर्ण हुआ। कुछ वर्षों में यह अनुभव किया गया कि नई व्यवस्था भी दोष-रहित नहीं थी। सन् १८७८-८० के अफ़गान-युद्ध के कारण स्थिति का फिर से परीक्षण करना आवश्यक हो गया। फलत: १८७९ में एक दूसरा आयोग[5] नियुक्त किया गया। इस आयोग को

---

zation 1879. Quoted by Strachey: India: Its Administration and Progress. page 480.

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४८०

२. Report of the Commission, Strachey उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४८०

३. Indian Army and its Evolution. page 21.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९

५. यह कमीशन ईडन-कमीशन नाम से प्रसिद्ध है।

सैनिक-व्यय घटाने की मदें खोजने का और युद्ध की दृष्टि से भारतीय सेना की क्षमता बढ़ाने के लिए सिफारिशें करने का काम सौंपा गया।[१]

कमीशन की सिफारिश का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि भारतीय घुड़सवार सैन्य-दल और पैदल सैनिकों की टुकड़ियों में ब्रिटिश अधिकारी नियुक्त कर दिए गए। साथ ही भारतीय सेना को घटाया गया और चार घुड़सवार सैन्य-दल और १८ पैदल सैन्य-दल तोड़ दिए गए। इसके अतिरिक्त हर घुड़सवार दल की शक्ति बढ़ाकर ४९९ के स्थान पर कुल ५५० कर दी गई और प्रत्येक पैदल सैन्य-दल की शक्ति बढ़ाकर ७१२ के स्थान पर ८१२ कर दी गई।[२]

ईडन-कमीशन की सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश प्रेसीडेन्सी सेनाओं को वस्तुतः तोड़ देने के सम्बन्ध में थी किन्तु इसको सन् १८९५ तक कार्यान्वित नहीं किया गया। सैन्य-नियंत्रण और संगठन के एकीकरण से सम्बन्धित परिवर्तनों का वर्णन बाद के अध्याय में किया जायगा।[३]

कम्पनी के हाथों से राजसत्ता के हाथों में शक्ति के हस्तान्तरण के फलस्वरूप ये परिवर्तन हुए : १८५८ में कम्पनी की जल-सेना भी राजसत्ता को हस्तान्तरित कर दी गई किन्तु इसे राजकीय (ब्रिटिश) जल-सेना में मिलाया नहीं गया वरन् सन् १८६३ में उसको तोड़ दिया गया। यह निश्चय किया गया कि भारत की समुद्री रक्षा का दायित्व राजकीय (ब्रिटिश) जल-सेना पर रहे। भारत, ब्रिटिश राज्य-काल में अपनी समुद्री रक्षा के लिए, सदैव (ब्रिटिश) राजकीय जल-सेना पर निर्भर रहा और उसने उक्त जल-सेना के निर्वाह के लिए १ लाख पौंड का वार्षिक अंशदान दिया। पहले महायुद्ध के बाद एक राजकीय भारतीय जल-सेना (Royal Indian Marine) बनाई गई किन्तु उसका काम सेनाओं के यातायात, बन्दरगाहों के निरीक्षण और समुद्री माप तक ही सीमित था।

१. The Army in India and its Evolution. page 21.
२. उपर्युक्त पुस्तक, page 21.
३. इसी पुस्तक का अध्याय १३ देखिये।

छठा अध्याय

शासन और राजनीति में परिवर्तन

(१)

सन् १८६१ का विधान बड़े मौलिक महत्त्व का था। उसने १८६१ के एक्ट के साथ भारतीय शासन के लिए एक पूरा ढाँचा तैयार किया, जो बाद में विधानों द्वारा बहुत से परिवर्तन किये जाने पर भी भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्त तक बना रहा।

शासन के ढाँचे में पहला[1] परिवर्तन १८६९ के भारत-शासन-एक्ट द्वारा किया गया। इसके अनुसार भारत-मंत्री को भारत-परिषद् के रिक्त होनेवाले स्थानों की पूर्ति करने का अधिकार दिया गया। परिषद के सदस्यों का कार्य-काल जो पहले सदाचार पर्यंत था, अब दस वर्ष के लिए निश्चित कर दिया गया।

सन् १८७० में एक और एक्ट बनाया गया। यह सन् १८७० के भारतीय परिषद् एक्ट (Indian Councils Act) नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार पहली बात तो यह हुई कि सपरिषद् गवर्नर जनरल को कुछ विषयों में विनियम बनाने का अधिकार दिया गया। इनको विधान-परिषद् के समक्ष रखने की आवश्यकता नहीं थी। एक्ट के विभाग नं० १ को किसी प्रान्त या क्षेत्र पर लागू कर देने पर वहाँ की कार्यपालिका सपरिषद् गवर्नर-जनरल के समक्ष विनियमों के लेख और उनके प्रस्ताव करने के कारण प्रस्तुत कर सकती थी। उक्त लेखों को सपरिषद् गवर्नर-जनरल की स्वीकृति मिल जाने पर, वे नियम, विधान-परिषद् में प्रस्तुत हुए बिना और बिना उसकी स्वीकृति पाए ही, केन्द्रीय और स्थानीय सूचना-पत्रों (Gazettes) में प्रकाशित होने पर वैध हो जाते थे।

सन् १८७० के एक्ट ने दूसरी बात यह की कि उसने यह नियम बनाया कि जिस प्रदेश में केन्द्रीय विधान-परिषद् की बैठक हो रही हो, वहाँ के उप-गवर्नर अथवा चीफ़ कमिश्नर को एक अतिरिक्त सदस्य के रूप में परिषद् के काम में सम्मिलित किया जाय।

इस एक्ट ने तीसरी बात यह की कि उसने गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया कि यदि उसके मतानुसार भारत में अथवा उसके किसी भाग में, शान्ति,

---

१. सन् १८६५ के एक्ट के अनुसार सपरिषद गवर्नर-जनरल का वैधानिक क्षेत्राधिकार पहले तो देशी राज्यों की ब्रिटिश प्रजा पर बढ़ाया गया। बाद में १८६९ के एक्ट के अनुसार यह अधिकार सम्राट् की सारी भारतीय प्रजा पर दे दिया गया चाहे कोई व्यक्ति भारत में रह रहा हो अथवा विदेश में हो।

सुरक्षा और ब्रिटिश हितों को कोई संकट है तो वह अपनी परिषद के बहुमत के विरोध में भी उक्त बातों को प्रभावित करने वाले प्रस्ताव को र छे ड ऽ देन अथवा अस्वीकार कर सकता था······ (अथवा आवश्यकतानुसार) वैध और कार्यान्वित कर सकता था। उस विषय के तथ्य और विरोध में अभिलिखित कारणों को दो या अधिक सदस्यों की इच्छा पर भारत-मंत्री के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता था।

अन्त में एक्ट ने गवर्नर-जनरल को सिविल सर्विस में भारतीयों को नियुक्त करने का अधिकार दिया। इन नियुक्त भारतीयों को इंग्लैण्ड की परीक्षा में सफल होने की आवश्यकता नहीं थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १८६१ के इंडियन सिविल सर्विस एक्ट, सन् १८६० और १८६६ के परीक्षा-सम्बन्धी विनियमों और भारत की तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों ने देशवासियों के लिए सहायक कलक्टर से उच्चतर पद पाने के लिए द्वार बन्द कर दिया था। असन्तोष का शमन करने के लिए लॉर्ड लॉरेन्स ने विदेशों में अध्ययन के लिए ९ छात्रवृत्तियाँ स्थापित कीं। इनका उद्देश्य भारतीय विद्यार्थियों को इंग्लैण्ड जाकर पढ़ने के लिए और भारत की सिविल सर्विस अथवा अन्य सेवा में आने के लिए प्रोत्साहित करना था। प्रत्येक छात्रवृति में २०० पौंड प्रति वर्ष दिये जाते। किन्तु तत्कालीन भारत-मंत्री ने इस व्यवस्था का अनुमोदन नहीं किया और यह छात्रवृत्तियाँ समाप्त कर दी गईं। किन्तु जैसा कि सन् १८७० के एक्ट में उल्लेख किया गया है, सरकार ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की— "कि प्रमाणित प्रतिभा और योग्यता के भारतीयों को सिविल सर्विस में भर्ती करने के लिए अधिक सुविधाएँ" प्रदान की जायँ[१]। एक्ट के खंड नं० ६ में दी हुई धाराओं को कार्यान्वित करने के लिए भारत-सरकार से नियम बनाने को कहा गया।

(२)

भारत-सरकार को सन् १८७० में एक्ट की व्यवस्था रुचिकर नहीं थी फलतः भारत-मंत्री द्वारा बार-बार अनुबोधन करने पर भी, उसने १८७३ तक इन विनियमों को नहीं बनाया। जब अन्त में ये विनियम बनकर इंग्लैण्ड पहुँचे तो राज-सत्ता के विधि-अधिकारियों[२] ने उनको एक्ट के उद्देश्य और उसकी भावना

१. Clause VI of the Act Mukherjee: Indian Constitutional Documents vol. I page 235.

२ C. L. Anand: History of the Government of India, part II page 255.

के बिलकुल विरुद्ध पाया। इन विनियमों में एक्ट[1] का अर्थ अत्यन्त संकुचित कर दिया गया था। सन् १८७५ में लॉर्ड नॉर्थ ब्रुक की सरकार द्वारा नये नियम बनाए गए। इन नियमों को सिविल सर्विस के न्याय-विभाग की एक या दो नियुक्ति के अतिरिक्त कार्यान्वित ही नहीं किया गया।[2] सन् १८७९ में भारत-सरकार ने एक (मि० रैमजे मैकडोनेल्ड के शब्दों में गर्हित) राज-पत्र में भारतीयों के लिए कवेनेण्टेड सिविल सर्विस का द्वार बन्द करने का प्रस्ताव किया। वायसराय (लॉर्ड लिटन) ने इस राज-पत्र के साथ एक गुप्त पत्र में अपने मनोभावों को प्रकट किया। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया "कि इंग्लैण्ड और भारत, दोनों की ही सरकारें इस आक्षेप का सन्तोषप्रद उत्तर देने में असमर्थ हैं कि उन्होंने प्रदत्त प्रतिज्ञाओं को पूर्ण रूप से [3]भंग करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय का उपयोग किया है।········शिक्षित देशी व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है और सरकार इनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए प्रबन्ध किये बिना ही, उनकी वृद्धि को प्रोत्साहन दे रही है। एक्ट की उन व्यवस्थाओं के अनुसार, जिन्हें इन देशी आदमियों ने पढ़कर हृदयंगम किया है, यदि उन नौकरियों में, जो अब तक कवेनेण्टेड सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए सुरक्षित रही हैं, किसी देशी आदमी को लिया गया तो पदोन्नति के निष्पक्ष नियमानुसार उसे उच्चतर पदों पर पहुँचने की आशा होगी और इस पदोन्नति के लिए उसका अधिकार होगा। हम सब इस बात को जानते हैं कि ऐसी आशाओं और इन अधिकारों को न तो पूरा किया जा सकता है और न पूरा किया जायगा। हमको दो में से एक बात छाँटनी है—या तो हम उन पर रोक लगा दें या उन्हें धोखा दें और हमने कम-से-कम सीधा रास्ता छाँटा है। इंग्लैण्ड में परीक्षा का प्रबन्ध, और हाल ही में परीक्षार्थियों के लिए घटाई हुई आयु—ये सब ऐसे निश्चित और स्पष्ट छल हैं जो एक्ट को निरर्थक बना देते हैं।[4] फलतः लॉर्ड लिटन ने भारतीयों के लिए कवेनेण्टेड सिविल सर्विस का द्वार बन्द करने का, और साथ ही १८७० के एक्ट की धाराओं का पालन करने के उद्देश्य से देशी लोगों के लिए एक अवंगुठित नौकरी स्थापित करने का प्रस्ताव किया। किन्तु

१. Quoted by Ramsy Macdonald in his Government of India, Page 103.

२. Decennial Report on Moral and Material Progress, 8892, Extracts given by Chablani and Joshi: Readings in Indian Constitution and Administration page 361.

३. Ramsay Macdonald, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०४।

४. C.L. Anand: History of Government in India, part II. page 255 के एक उद्धरण का अनुवाद.

उस राज-पत्र को अवज्ञापूर्वक[1] अस्वीकार कर दिया गया और भारत-सरकार से १८७० के एक्ट को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने को कहा गया। सन् १८७९ तक सरकार ने ये नियम बनाकर तैयार किये जिनके अनुसार सिविल सर्विस का विधिप्रोक्त विभाग बनाया गया।

सन् १८७९ के नियमों ने, सपरिषद् गवर्नर-जनरल को, प्रान्तीय सरकार द्वारा सिफारिश किये हुए प्रतिष्ठित और मान्य कुटुम्बों के भारतीयों में से कुछ व्यक्तियों को सिविल सर्विस में नियुक्त करने का अधिकार दिया। इन नियुक्तियों की संख्या भारत-मंत्री द्वारा की हुई नियुक्तियों की संख्या के पंचमांश से अधिक नहीं हो सकती थी। इस अनुपात को इंग्लैण्ड के अधिकारियों ने घटाकर षष्ठमांश कर दिया और साथ ही परीक्षा द्वारा भारतीयों को सिविल सर्विस में घुसने से रोकने के लिए परीक्षार्थियों की अधिकतम आयु को घटाकर १९ वर्ष कर दिया।

इन नियमों को उचित रूप में कार्यान्वित नहीं किया गया। शिक्षा और योग्यता की दृष्टि से अनुपयुक्त व्यक्तियों को प्रतिष्ठित और मान्य[2] कुटुम्बों के सदस्य होने का बहाना बनाकर नियुक्त कर दिया गया। भारतीयों ने तो आरम्भ से ही इस व्यवस्था का विरोध किया था; वे इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में प्रतिद्वन्द्विता के लिए समान अवसर चाहते थे। देश में प्रबल आन्दोलन खड़ा किया गया जिसके फलस्वरूप १८८६ में लॉर्ड डफ़रिन ने सारे प्रश्न की जाँच के लिए एक लोक-सेवा आयोग (Public Service Commission) की नियुक्ति की। सर चार्ल्स ऐचिसन को इस आयोग का सभापति बनाया गया और इसके १५ सदस्य थे, जिनमें से पाँच भारतीय थे। दिसम्बर १८८७ में भारत-सरकार को रिपोर्ट दी गई।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इंग्लैण्ड और भारत में समकालिक परीक्षाओं की व्यवस्था करने का विरोध किया।[3] जो तर्क दिये गए, वे बड़े विचित्र और कुटिल थे। आयोग ने इस बात की शंका प्रकट की कि सफल भारतीय परीक्षार्थियों में उच्च शासन-कार्य के लिए आवश्यक गुण पर्याप्त परिमाण में होंगे भी अथवा नहीं।[4] आयोग ने यह मत प्रकट किया कि भारत में उक्त परीक्षा असमान रूप से कार्यान्वित होगी : जाति के कुछ महत्त्वपूर्ण वर्ग बिलकुल बहिष्कृत हो जायेंगे

१. Ramsay Macdonald : "Government of India" page 104.

२. प्रतिष्ठित व्यक्तियों को नियुक्त करने के पक्ष में तर्कों के लिए देखिए—Chablani and Joshi : Readings in Constitution and Administration page 362.

३. आयोग के तीन भारतीय सदस्यों ने अपने मत का अभिलेख किया।

४. Report of the Public Service Commission, 1886. page 49.

और कुछ वर्गों को अनुचित लाभ होगा। साथ ही यह कहा गया कि प्रतिवर्ष पूर्ति करने के लिए कुछ गिने-चुने स्थान होंगे और अधिकांश परीक्षार्थियों के असफल और निराश होने से एक ऐसा असन्तुष्ट वर्ग बन जायगा जो सरकार के लिए व्यग्रता का कारण हो सकता है।[1] अन्त में आयोग ने "(भारत में स्थायी रूप से अंग्रेज अधिकारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली) उक्त सर्विस की भर्ती अंग्रेजी सिद्धान्तों और शासन-ढंग के अनुरूप करने के महत्त्व पर जोर दिया।[2] सर जॉन स्ट्रैची ने वास्तविक कारण को अधिक स्पष्टता के साथ प्रकट किया : "हमारे उद्देश्य के बारे में किसी प्रकार का कपट नहीं है। यह उद्देश्य, उन कार्यपालक पदों को—जिनकी संख्या बहुत नहीं है—अपने आदमियों के हाथों में रखना है। (भारत) देश में हमारा राज्य इन (आदमियों) पर और हमारी राजनीतिक और सैनिक शक्ति पर निर्भर है।"[3]

आयोग को स्पष्टतः एक ऐसी योजना की सिफारिश करने के लिए नियुक्त किया गया था, कि जिसके अनुसार सिविल सर्विस में भारतीयों की विस्तृत और उच्चतर नियुक्ति के सम्बन्ध में, उन (भारतियों) के प्रति न्याय किया जा सके। आयोग की सिफारिशों पर कवेनेण्टेड सिविल सर्विस नाम तोड़ दिया गया और समस्त लोक-सेवाओं को तीन श्रेणियों—साम्राज्यीय, प्रान्तीय और अधीन—में विभाजित कर दिया गया। सारे महत्वपूर्ण उच्च पद पहली श्रेणी के अन्तर्गत थे और इनके लिए नियुक्ति सपरिषद भारत-मंत्री के आधीन थी। इनमें से अधिकांश पदों से भारतवासी, जातीय प्रतिबन्ध[4] अथवा नियम, विनियम[5] की व्यावहारिक कठिनाइयों द्वारा बहिष्कृत कर दिए गए थे। इंडियन सिविल सर्विस के लिए अब

---

१. Report of the Public Service Commission 1886 page 49.
२. उपर्युक्त रिपोर्ट।
३. Strachey: India: Its Administration and Progress page 54.
४. पुलिस-परीक्षा में ब्रिटिश प्रजा के यूरोपीय व्यक्ति ही बैठ सकते थे।
५. सार्वजनिक निर्माण विभाग (P. W. D), वन-विभाग आदि के लिए या तो राजकीय इंजीनियरों अथवा हिल कालेज के स्नातकों की नियुक्ति की जाती। इनका व्यय भारत के सिर मढ़ा जाता किन्तु इनमें ब्रिटिश प्रजा के यूरोपियनों को ही प्रवेश मिल सकता था। विशुद्ध भारतीयों को प्रवेश पाने में बहुत कठिनाई होती। इसके बाद भी एक निश्चित अत्यल्प प्रतिशत से अधिक संख्या में भारतीय नियुक्त नहीं किये जा सकते थे।

अधिकतम आयु २३ वर्ष कर दी गई थी ताकि कुछ भारतीय विद्यार्थी इंग्लैण्ड की परीक्षा में बैठ सकें। अन्य दो श्रेणियों के लिए भर्ती, साधारणतया, भारतीयों अथवा यहाँ बसे हुए लोगों में से, प्रान्तीय सरकारों द्वारा की जाती थी। विधिप्रोक्त सिविल सर्विस तोड़ दी गई और उसके स्थान पर कुछ पद—जिनकी संख्या समस्त भारत के लिए केवल ६१ थी और—जिन पर उच्च सेवा के सदस्य आसीन थे, सूचीबद्ध किये गए और उनके लिए पदोन्नति द्वारा प्रान्तीय सेवकों की नियुक्ति कर दी गई। इस प्रकार अन्त में १८७० के एक्ट की धाराओं का सूचीबद्ध पदों की व्यवस्था से पालन किया गया। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन पदों के सेवक उच्च सेवा में प्रवेश नहीं पा सकते थे और उन्हें यूरोपियनों का केवल दो तिहाई वेतन मिलता था।

(३)

गवर्नर-जनरल और भारत-मंत्री दोनों की ही परिषदों में उन्नीसवीं शताब्दी की आठवीं दशाब्दी के विधानों द्वारा थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया। सन् १८७४ के भारतीय परिषद् एक्ट ने हर मैजेस्टी को वायसराय की परिषद् के लिए छठा—सार्वजनिक निर्माण-कार्य-सम्बन्धी—सदस्य नियुक्त करने का अधिकार दिया।[1] हर मैजेस्टी को आवश्यकता होने पर परिषद् के सदस्यों की संख्या घटाकर फिर पाँच करने का अधिकार दिया गया। इसके लिए विधि-सदस्य के अतिरिक्त अन्य किसी सदस्य द्वारा अवकाश ग्रहण करने पर रिक्त स्थान की पूर्ति न करने का नियम था।

१८७६ के भारतीय परिषद् एक्ट ने भारत-मंत्री को विशेष और निश्चित योग्यता वाले व्यक्तियों को भारतीय परिषद् के सदस्य नियुक्त करने का अधिकार दिया। किसी समय तीन से अधिक नियुक्तियाँ नहीं की जा सकती थीं। यद्यपि १८६९ के एक्ट के अनुसार परिषद् के सदस्यों का कार्य-काल दस वर्ष कर दिया गया था किन्तु उक्त सदस्यों का कार्य-काल सदाचार पर्यन्त था। समय से पहले किसी सदस्य की कार्य-अवधि को विशेष कारणों से समाप्त करने पर, एक लेख में उन कारणों को पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के समक्ष रखना आवश्यक था।

इल्बर्ट का विचार है कि यह एक्ट भारतीय परिषद् में सर हेनरी मैन की नियुक्ति के उद्देश्य से बनाया गया था।

सन् १८८९ में भारतीय परिषद्-न्यूनन-एक्ट बनाया गया। इसके अनुसार भारत-मंत्री को, भारतीय परिषद की संख्या दस न हो जाने तक रिक्त स्थानों की पूर्ति न करने का अधिकार दिया गया था।

---

१. Clause I. of the Act. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, page 191.

(४)

सन् १८७६ में राजकीय उपाधि एक्ट बनाकर १८५८ की कमी को पूरा किया गया। उस समय १८५८ में कम्पनी द्वारा भारतीय शासन को राज-सत्ता के हाथों में सौंपने के फलस्वरूप, इंग्लैण्ड की महारानी के पद और उसकी स्थिति में कोई (वैध) परिवर्तन नहीं किया गया था। उपर्युक्त उपाधि के अभाव में भारतीय शासकों द्वारा एक संभ्रम का बराबर अनुभव किया जा रहा था और १८७५-७६ में भारत में प्रिंस ऑव वेल्स (इंग्लैण्ड के राजकुमार) के आने के कारण एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।[१] अतः लॉर्ड नॉर्थब्रुक की सरकार ने महारानी द्वारा एक नई उपर्युक्त उपाधि धारण करने के लिए प्रस्ताव किया। ऐश्वर्य-प्रेमी, साम्राज्यवादी डिज़रायली को, जो उस समय इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री था, यह प्रस्ताव बहुत रुचा। फलतः १८७६ का राजकीय उपाधि-एक्ट बना। इस एक्ट के अनुसार हर मैजेस्टी की पूरी उपाधि यह हुई : "ईश्वरानुग्रहीता, ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड के संयुक्त राज्य की महारानी, धर्मरक्षिका और भारत की सम्राज्ञी, विक्टोरिया।"[२] (Victoria, by the grace of God, of the United Kingdom of Great Britain and Ireland, Queen, Defender of the Faith and Empress of India.)

इस एक्ट का एक परिणाम यह हुआ कि देशी राज्य, भारतीय साम्राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत आ गए और भारतीय शासकों की वैध स्थिति बदल गई। वे सर्वोच्च सत्ता के मित्र होने के स्थान पर साम्राज्याधीन नरेश हो गए। देशी राज्यों के साथ संधि में जिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि-सिद्धान्तों को मान्यता दी गई थी, अब वे अमान्य हो गए। "सर्वोच्च सरकार को किसी संरक्षित राज्य के आन्तरिक विषयों में सकारण हस्तक्षेप करने और आवश्यकता होने पर शासक को भी बदल देने में अब कोई झिझक नहीं रही।"[३]

---

१. उपर्युक्त पुस्तक (Page XXVIII).

२. भारत की सम्राज्ञी के लिए भारतीय भाषा में कैसरे-हिन्द का उस समय उपयोग किया जिसका कारण उसका ऐतिहासिक और साम्राज्यवादी स्वरूप था।

३. Smith : Oxford History of India, Pages 739-40 से भारत-सरकार के १८९१ के एक प्रस्ताव का अनुवाद:—भारत-सरकार (जो सम्राज्ञी का प्रतिनिधित्व करती है) और देशी राज्यों के (जो सम्राज्ञी की प्रभुता के अन्तर्गत हैं), पारस्परिक सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का कोई प्रश्न ही नहीं है। सम्राज्ञी की प्रभुता के अन्तर्गत देशी राज्य, प्रतिनिधि भारत-सरकार के आधीन हैं।

(५)

सन् १८६१-९२ में भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में, अन्तिम प्रदेश को अनुबंधित किया गया। विन्सेण्ट स्मिथ के शब्दों में, "अब कुछ लेने को शेष ही नहीं रहा था।" विदेशी प्रभाव को दूर रखने के उद्देश्य से दो बड़े युद्ध लड़े गए। अफ़गान-युद्ध में रूस के प्रभाव को और बर्मा-युद्ध में फ्रांस के प्रभाव को दूर रखना था।

१८५७ के विद्रोह के बाद भारत-सरकार ने कुशल निष्क्रियता की नीति का अनुसरण किया था और इसके कारण अफ़गानिस्तान में रूस का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसके निवारण के लिए लॉर्ड लिटन को गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया। उसने क़लात-क्षेत्र में क्वेटा के महत्त्वपूर्ण स्थान पर अधिकार किया। अफ़गानिस्तान के विरुद्ध युद्ध घोषित किया गया, जो नवम्बर १८७८ में आरम्भ हुआ। कुछ समय बाद शानदार विजय हुई और २६ मई १८७९ की गंडमक की संधि से युद्ध समाप्त हुआ। इस संधि के अनुसार अंग्रेजों को पिशीन ज़िला प्राप्त हुआ और अफ़गानिस्तान के (विदेश) सम्बन्ध ब्रिटिश नियंत्रण में आ गए। किन्तु यह सन्धि कुछ ही महीनों में समाप्त हो गई। ३ सितम्बर १८७९ को काबुल में अंग्रेज़-राजदूत का कत्ल कर दिया गया। फलतः दुष्कर एवं व्ययपूर्ण युद्ध आरम्भ किया गया। अन्त में लॉर्ड रिपन ने अमीर अब्दुर्रहमान से समझौता किया, जो अधिक स्थायी सिद्ध हुआ। इसके अनुसार अफ़गानिस्तान पर ब्रिटिश नियंत्रण हो गया और पिशीन भी भारत-सरकार के अधिकार में रहा।

तीसरा बर्मा-युद्ध हिन्द चीन की ओर से फ्रांसीसी प्रभाव को दूर रखने के लिए लड़ा गया। यह केवल एक पखवारे तक चला और २५ नवम्बर सन् १८८६ को समाप्त हो गया। फलतः उत्तरी बर्मा ब्रिटिश अधिकार में आ गया और नरेश थीबौ को (बर्मा से) निर्वासित कर दिया गया।

सातवाँ अध्याय

वैधानिक विकास

१८६१-१८९२

(१)

सन् १८६१ और १८९२ के बीच, भारत में वैधानिक महत्त्व की कितनी ही घटनाएँ हुईं। ब्रिटिश राजघराने और भारतीय नरेशों तथा जनता में पारस्परिक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुए। सन् १८६९ में महारानी विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र हिज रॉयल हाइनेस ड्यूक ऑव एडिनबरा भारत आए और १८७५-७६ में

तत्कालीन (ब्रिटिश) राजकुमार ने जो बाद में एडवर्ड सप्तम हुए सारे देश का पर्यटन किया और उन्हें जनता का उत्साहपूर्ण हार्दिक स्वागत प्राप्त हुआ। इसी समय में भारत-सरकार और गृह-सरकार में गंभीर मतभेद उठ खड़े हुए और फलतः वायसराय ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। इस युग की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएं ये हैं:— १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस (समाचार-संपादन) एक्ट बना और रद्द हुआ; १८७८ में भारतीय शस्त्र एक्ट बना; कपास पर सीमा-शुल्क समाप्त किया गया, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों के न्याय और उनकी निष्पक्षता के प्रति विश्वास समाप्त हो गया; देश में आर्थिक निक्षेपण और स्थानीय स्वशासन के विस्तार की नीति विकसित हुई; इल्बर्ट बिल पर भीषण और आवेशपूर्ण विवाद हुआ; और इंडियन नेशनल कांग्रेस तथा देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की स्थापना हुई।

(२)

१८५८ के एक्ट में गवर्नर-जनरल और भारत-मंत्री की पारस्परिक वैधानिक स्थिति को सुस्पष्ट कर दिया गया था। जैसा कि भारत-मंत्री ने १८७१ में एक राज-पत्र में कहा, "भारतीय विषयों के अंतिम नियंत्रण और निर्देशन का अधिकार गृह-सरकार को है।"[१] स्वयं भारत में व्यवस्था करने वालों की उच्च प्रतिष्ठा, "उन्हें अधीनता के आवश्यक बंधन से तनिक भी मुक्त नहीं करती।"[२] फिर भी १८७० तक व्यवहार में स्थिति बिलकुल भिन्न थी। (भारत के) स्थानीय शासक को बहुत बड़ी स्वतन्त्रता थी। संचार साधन की कठिनाइयों और देरी के कारण भारत-मंत्री कोई वास्तविक नियंत्रण नहीं कर पाता था और प्रायः वायसराय, इंगलैंड के अधिकारियों के समक्ष कार्यान्वित प्रस्ताव के तथ्य प्रस्तुत करता था। वस्तुतः भारत का अधिकारी वर्ग भारत-मंत्री को "वाइसराय का प्रतिनिधि समझने लगा था जो उस (वायसराय) के कामों को इंगलैंड की पार्लियामेण्ट और जनता को समझाता था।" किन्तु १८७०में इंगलैंड से लाल सागर होते हुए भारत तक समुद्री तार की लाइन पूरी हो जाने पर स्थिति बिलकुल बदल गई। भविष्य में भारत-मंत्री के लिए भारत-सरकार का पूर्ण नियंत्रण करना संभव हो गया और १८७० के बाद इंडिया ऑफ़िस (अर्थात् सपरिषद् भारत-मंत्री का कार्यालय), हर विषय में—कार्यपालिका और विधान में—सिद्धान्त और साथ ही व्यवहार की छोटी बातों में भी नियंत्रण

१. Report on Indian Constitution Reform 1918 pages 22 and 23 के एक उद्धरण का अनुवाद

२. Sir Bartle Frere, Quoted by Dodwell : History of India.

करने लगा। कठोर नियंत्रण के कारण संघर्ष के अवसर बढ़े,[1] और कभी-कभी स्थिति इतनी विकट हो गई कि वाइसरायों को त्याग-पत्र देने पड़े। १८७६ में लॉर्ड नॉर्थब्रुक के साथ यही बात हुई।

(३)

गृह-सरकार और लॉर्ड नॉर्थब्रुक की सरकार में उपयुक्त गंभीर मतभेद कपास के सीमा-शुल्क तोड़ने के प्रश्न पर हुआ। यह अभिलेख करते हुए दुःख होता है कि भारतीयों के लिए और किसी बात ने इतनी स्पष्टता से अंग्रेजों के न्याय और निष्पक्षता के प्रदर्शन को झूठा और खोखला सिद्ध नहीं किया जितना कि कपास के सीमा-शुल्क-संबंधी इस विवाद ने। लंकाशायर के स्वार्थ के लिए भारतीय हितों का निर्लज्जता[2] के साथ जान-बूझकर बलिदान कर दिया गया।

भारतीय कपास-उद्योग की वृद्धि से शंकित होकर मैंचेस्टर के चेम्बर्स ऑव कॉमर्स (व्यवसायी समुदाय) ने जनवरी १८७९ में भारत-मंत्री को एक स्मरण-पत्र भेजा और उसमें सूत पर ३½ प्रतिशत और सूती कपड़े पर ५ प्रतिशत के तत्कालीन भारतीय आयात-शुल्क का विरोध किया गया। साथ ही यह आक्षेप किया गया "कि ब्रिटिश भारत में संरक्षित व्यापार बढ़ रहा है जो भारत और ब्रिटेन दोनों के ही अहित में है।"[3] अन्त में उक्त सीमा-शुल्क तोड़ देने की माँग की गई। भारत-सरकार ने एक विशिष्ट समिति की सिफारिशों पर आयात-शुल्क की दर घटाने का निर्णय किया और लम्बे रेशे वाली कपास पर ५ प्रतिशत आयात-शुल्क लगाने के लिए भी अपनी सहमति प्रकट की, किन्तु कपास पर सीमा-शुल्क तोड़ने के लिए मना किया, क्योंकि "उससे देशी उद्योग का वस्तुतः कोई संरक्षण नहीं हो सकता था।"[4] भारत-मंत्री और भारत-सरकार ने एक-दूसरे को कई राजकीय-पत्र भेजे; किन्तु दोनों की स्थिति वही रही। गृह-सरकार का यह आक्षेप था कि कपास

---

१. विशेषकर उस समय जब भारत मंत्री और वाइसराय विभिन्न राजनीतिक दलों के समर्थक हों, यथा लॉर्ड नॉर्थब्रुक और तत्कालीन भारत-मंत्री।

२. सर जॉन स्ट्रैची ने विधान-परिषद् में १८७७ में स्पष्ट कहा, "मैंचेस्टर के हित, जिनकी कुछ मूर्ख अवज्ञा करते हैं, केवल एक बड़े और जाग्रत वर्ग के ही हित नहीं हैं वरन् उनमें करोड़ों अंग्रेजों का स्वार्थ है। मुझे यह कहने में कोई लज्जा नहीं है कि मेरी दृष्टि में, अपने देश के प्रति मेरे कर्त्तव्य से बढ़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है।" Bannerjee : Fiscal Policy in India, pages 75 and 76 से अनूदित.

३. Report of Indian Fiscal Commission, 1922, page 88.

४. Bannerjee : उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९०

सीमा-शुल्क से "भारतीय निर्माता को झूठा प्रोत्साहन मिलता था और उसका भारतीय और साम्राज्य के हितों पर गंभीर प्रभाव था।"[१] भारत-सरकार ने अपने मत-समर्थन के लिए तथ्य और आंकड़े बताते हुए[२] यह कहा : "कि (उक्त) शुल्क संरक्षणात्मक नहीं था; भारत-सरकार इतनी राजस्व-आय का बलिदान नहीं कर सकती थी; और सरकार का यह कर्त्तव्य है कि इस विषय पर विचार करते समय वह भारतीय हितों का ध्यान रखे·····और आयात-शुल्क को तोड़ना इन हितों के विरुद्ध है।"[३] लॉर्ड नॉर्थब्रुक भारतीय हितों का बलिदान करने को तैयार नहीं थे। फलतः उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ा और उनका स्थान लॉर्ड लिटन ने लिया। नये वायसराय ने अपने अर्थ-सदस्य सर जॉन स्ट्रैची की सहायता से ब्रिटिश सरकार और पार्लियामेंट की आज्ञाओं का पालन किया। इस आज्ञा के अनुसार "भारत की आर्थिक परिस्थितियों में जैसे ही संभव हो कपास के माल पर वर्तमान सीमा-शुल्क को अविलम्ब" तोड़ देना था। इसके पालन के लिए वायसराय को अपनी परिषद् के बहुमत[४] की अवहेलना करनी पड़ी। सर अर्सकोन पैरो के मतानुसार वायसराय का यह कृत्य "अवैधानिक और भविष्य के लिए जोखमपूर्ण उदाहरण था।"[५] भारत-शासन-एक्ट के विभाग नं० ४१ के अनुसार वाइसराय को केवल उस समय अपनी परिषद् के बहुमत की अवहेलना करने का अधिकार था जब उसकी सम्मति में, "ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा, शांति या उसके हितों को कोई संकट हो।"

वायसराय के कृत्य से भारत में जनमत अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। "३ मई १८७९ को बम्बई में एक प्रतिष्ठित और बड़ी सभा हुई। उसमें हाउस ऑव कॉमन्स के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक प्रार्थना-पत्र स्वीकार किया गया।"[६] भारत-मंत्री की

---

१. Bannerjee Fiscal Policy in India पृष्ठ ७२.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६८.

३. Report of Indian Fiscal Commission 1922 page 96.

४. परिषद् के चार सदस्यों के विरोधी अधिलेख ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य हैं।

५. Bannerjee : Fiscal Policy in India page 84 के एक उद्धरण का अनुवाद।

६. Mody : Sir Pherozeshah Mehta vol I page 105 भारत के यूरोपीय व्यापारी समुदाय ने भी वायसरॉय के कृत्य की तीव्र निन्दा की। उदाहरण के लिए बंगाल के व्यवसायी समुदाय ने गवर्नर-जनरल को यह लिखा कि यह अत्यन्त दुःख की बात है "कि श्रीमान् की सरकार की प्रजा के हितों और उनकी स्पष्ट इच्छाओं के विरुद्ध इंगलैंड के अल्प

परिषद् के सात सदस्य पक्ष में और सात विपक्ष में थे,[1] किन्तु भारत-मंत्री ने उक्त कृत्य की पुष्टि की और हाउस ऑव कॉमन्स ने कार्यान्वित बातों के लिए एक प्रस्ताव द्वारा अपनी सहमति दी, साथ ही भविष्य में सीमा-शुल्क बिलकुल समाप्त करने के लिए कहा। १८८२ में पिछली बात का पालन हो गया।

(४)

१८५७ में अनुज्ञप्ति-एक्ट केवल एक वर्ष के लिए बनाया गया था। इसके अनुसार प्रत्येक छापेखाने को एक अनुज्ञप्ति लेनी पड़ती थी जिसे कभी भी रद्द किया जा सकता था। अनुज्ञप्ति के लिए प्रार्थना-पत्र सपरिषद गवर्नर-जनरल के पास भेजे जाते थे। अनुज्ञप्ति प्रदान करने में हर प्रकार की शर्तें रखी जा सकती थीं और साथ ही बिना कारण बताए उस प्रार्थना-पत्र को अस्वीकार भी किया जा सकता था। "ब्रिटिश सरकार के उद्देश्यों अथवा उसकी योजनाओं को दोष देने वाले·······अथवा उस (ब्रिटिश सरकार) के प्रति घृणा जाग्रत कराने वाले अथवा उसकी और उसके सिविल या सैनिक सेवकों की सत्ता को दुर्बल करने वाले लेख प्रकाशित नहीं किये जा सकते थे।" सन् १८६७ में, सन् १८३५ के एक्ट नं०११ की धाराओं को फिर वैध कर दिया गया। किन्तु १८७० में भारतीय दंड-विधान का सुपरिचित विभाग नं० १२४ ए० बनाया गया, इसके अनुसार उस व्यक्ति को जो उच्चारित, अथवा वाचन के लिए निर्दिष्ट शब्दों द्वारा, अथवा संकेत या स्पष्ट प्रदर्शन द्वारा, अथवा अन्य किसी प्रकार से, सम्राज्ञी अथवा ब्रिटिश भारत में विधिवत् स्थापित सरकार के प्रति,अभक्ति की भावनाएँ उत्तेजित करता है अथवा उत्तेजित करने का प्रयत्न करता है,दंड दिया जा सकता है। यह दंड आजीवन अथवा किसी अल्प अवधि के लिए देश-निर्वासन, और साथ में जुर्माना भी हो सकता है अथवा तीन वर्ष तक के लिए कारावास और साथ में जुर्माना भी हो सकता है अथवा केवल जुर्माना हो सकता है।"[2]

१८५८ के बाद भारत में छापेखानों की संख्या तेजी से बढ़ी। सन् १८६० तक समाचार-पत्रों की संख्या ६४४ हो गई। इनमें ४०० से अधिक पत्र देशी भाषाओं मुख्यतः बंगला के थे। लॉर्ड लिटन ने भारत आकर जिस नीति को अपनाया उससे सर्व साधारण में रोष फैल गया था और १८७७ के दुर्भिक्ष की दारुण यातनाओं ने जनता को अदम्य बना दिया था।[3] समाचार-पत्र प्रबल आन्दोलन कर रहे थे।

संख्यक व्यक्तियों के हितों को मान्यता दी जा रही है।"

१. Indian Fiscal Commission Report 1922, page 92.

२. Ranchhodas and Thakore : Indian Penal Code. page 110.

३. Wedderburn : Allan Octavian Hume, page 79-81.

सरकार को घबराहट हुई और उसने दमन की नीति को अपनाया। फलस्वरूप उस वर्ष का वर्नाकुलर प्रेस (समाचार-संपादन) एक्ट बना और साथ ही भारतीय शस्त्र एक्ट भी बनाया गया।

१३ मार्च १८७८ को वायसराय ने भारत-मंत्री के पास एक तार भेजकर, सन् १८७० के आइरिश कोअर्शन एक्ट के नमूने पर एक समाचार-सम्पादन-विधि बनाने के लिए तार द्वारा स्वीकृति भेजने का निवेदन किया। वायसराय ने अपने तार में उक्त विधि की रूप रेखा भी दी और "देशी समाचार-पत्रों की उग्र और अब प्रत्यक्ष रूप से विद्रोहोत्तेजक भाषा के कारण" स्थिति को भयावह बताया। दूसरे ही दिन अनुमति प्राप्त हो गई। उसी दिन विधेयक प्रस्तुत किया गया और दो घंटों में कानून बना दिया गया।

सन् १८७८ के इस एक्ट ने जो प्रायः "गैगिंग (मुखावरोधक) एक्ट" नाम से प्रसिद्ध है, मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दिया कि वह—प्रान्तीय सरकार की पूर्व स्वीकृति से——किसी मुद्रक अथवा प्रकाशक को प्रतिभूति (Security) जमा करने अथवा शर्तनामा लिखने की आज्ञा दे सकता था। इस शर्तनामे के अनुसार वह मुद्रक या प्रकाशक ऐसी कोई बात मुद्रित या प्रकाशित नहीं कर सकता था जिससे सरकार के प्रति अभक्ति की और विभिन्न जातियों में परस्पर घृणा की भावना उत्तेजित होने का भय हो। अवांछित प्रकाशन होने पर, सरकार को चेतावनी देने और मुद्रणालय और प्रतिभूति आदि को ज़ब्त करने का अधिकार दिया गया। इससे बचने का दूसरा मार्ग यह था कि मुद्रक सरकारी अधिकारी के समक्ष पहले मुद्रण के बाद किन्तु प्रकाशन से पहले सारे लेख प्रस्तुत करे और उस अधिकारी द्वारा अस्वीकृत सारी बातों को निकालकर प्रकाशित करे।

१८७८ का यह एक्ट सन् १८७० के आइरिश कोअर्शन एक्ट से (जो आयलैंड-वासियों से संबंध रखता था) कहीं अधिक उग्र था। इसके अनुसार मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध किसी न्यायाधिकारी से कोई अपील नहीं की जा सकती थी। सर अर्सकीन पैरी ने भारतीय परिषद् की कार्यवाही में अपने विरोध के अभिलेख में इसे, "एक प्रतिगामी, विवेकहीन और भविष्य में भारत की प्रगति के लिए घातक" प्रस्ताव बताया। "कोई साम्राज्यवादी विधि बनाने वाला, विरोधी समाचार संपादन का मूलोच्छेद करने के लिए इससे अधिक घातक उपकरण नहीं बना सकता।"[1]

इस मुखावरोधक एक्ट का भारतीय शिक्षित-वृत्तों में, विशेषकर बंगाल में जहाँ इसको कठोरता के साथ कार्यान्वित किया गया था, प्रबल विरोध हुआ।

१. Mody : Sir Pherozeshah Mehta Vol. II. pages 96-97.

कलकत्ते के टाउन-हॉल में एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें ५००० व्यक्ति उपस्थित हुए। सभा ने उक्त एक्ट का विरोध किया और उसे रद्द करने के लिए 'हाउस ऑव कॉमन्स' से निवेदन किया। इंगलैंड में मंत्रि-मंडल के बदलने और भारत के लिए लॉर्ड रिपन के नये वायसराय नियुक्त होने तक, यह आन्दोलन इंगलैंड और भारत, दोनों ही स्थानों में चलता रहा।

लॉर्ड रिपन एक्ट को रद्द करने के लिए उत्सुक थे किन्तु उन्हें परिषद् के अन्दर और बाहर सरकारी विरोध का अतिक्रमण करने में कुछ समय लगा और उन्हें "लुई १८ और चार्ल्स १० के युग के फ्रांसीसी अनुदार-दल के तर्क ध्यान में आए"[1] और अन्त में मुखावरोधक एक्ट सन् १८८२ में आकर रद्द हो पाया।

प्रो० डॉडवेल का यह कथन सत्य है कि लॉर्ड रिपन का यह काम "और सब कामों से बहुत आगे" था,[2] क्योंकि मुनरो द्वारा बहुत पहले कहे हुए शब्दों के अनुसार, "स्वतन्त्र समाचार-पत्र और विदेशी शासन, ये दोनों बातें विरोधी हैं और बहुत समय तक एक साथ टिक नहीं सकतीं।"[3]

(५)

इस वर्ष का दूसरा दमनकारी एक्ट, भारतीय शस्त्र एक्ट था। इसके अनुसार भारतीयों को अनुज्ञप्ति के बिना शस्त्र रखना, ले जाना अथवा उनका व्यापार करना दंडनीय अपराध था। एक्ट को कार्यान्वित करने के लिए, अपराधियों को कड़ा दंड देने की व्यवस्था की गई।[4] इस एक्ट के अन्तर्गत बनाए हुए नियमों के अनुसार, यूरोपीय और अन्य गोरे लोग अथवा यूरेशियन और कुछ सरकारी अधिकारी और प्रतिष्ठित व्यक्ति एक्ट की धाराओं से मुक्त कर दिए गए।[5] प्रेसीडेन्सी नगरों और

१. Lucien Wolf: Life of Lord Ripon Vol II. page III.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ११४.
३. Dodwell: History of British India. 1858-1918. pages 252–253.
४. एक्ट की धाराओं का पालन न करने पर साधारणतया कारावास या जुर्माने या दोनों दंड की व्यवस्था थी। इस कारावास की अवधि तीन वर्ष तक हो सकती थी। किन्तु छिपाने या छिपाने का प्रयत्न करने की दशा में कारावास की अवधि सात वर्ष तक हो सकती थी। साथ में जुर्माना भी हो सकता था और दंड में केवल जुर्माना भी हो सकता था। Section X of the Act. F. C. Widge: Indian Arms Act XI. 1878. pages 47, 68 and 69.
५. See Schedule 1, of the Rules item 13, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १७०.

रंगून में पुलिस कमिश्नरों को और ब्रिटिश भारत में जिलाध्यक्षों को अधिकारी व्यक्तियों द्वारा प्रार्थियों का पूर्वचरित जान लेने पर, एक नियत समय के लिए अनुज्ञप्ति प्रदान करने का अधिकार दिया गया। इन व्यक्तियों को अनुज्ञप्ति के बदले में नियत देय देना आवश्यक था।[1] इस नियम का बड़ी संकुचित भावना और कठोरता के साथ पालन किया गया और भारतीय नवयुवकों में भेद भाव किया गया। इन कारणों से साहसी भारतीयों को उक्त प्रस्ताव विशेष रूप से गर्हित लगा।

(६)

लॉर्ड रिपन की नीति उदार और जन-प्रिय थी। उनके कार्य-काल में 'इल्बर्ट बिल' नामक विधेयक पर भीषण और तीक्ष्ण जातीय विवाद हुआ। इस विधेयक का उद्देश्य, कवेनेण्टेड सिविल सर्विस के भारतीय और अंग्रेजी सदस्यों के अत्यन्त अनुचित भेद-भाव को दूर करना था। तत्कालीन विधि के अनुसार प्रेसीडेन्सी नगरों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में रहने वाले यूरोपियनों का अभियोग-परीक्षण केवल यूरोपियन मजिस्ट्रेट या न्यायाधिकारी ही कर सकते थे। भारतीय मजिस्ट्रेट या न्यायाधिकारी चाहे वह उस जिले के अन्य यूरोपीय अधिकारियों से पद में बड़ा भी होता, किन्तु वह उक्त अभियोगों का निर्णय नहीं कर सकता था। जैसा कि श्री आर. सी. दत्त ने कहा, इस भेद-भाव के कारण भारतीय अफ़सरों की सत्ता बहुत क्षीण होती थी। बंगाल के उप-गवर्नर सर एशले ईडन ने स्वीकार किया कि "इस बात का कोई पर्याप्त कारण नहीं दिखाई देता कि उपयुक्त अनुभव और शिक्षण से जिला-मजिस्ट्रेट और जिला जज के पद पर प्रतिष्ठित, कवेनेण्टेड सर्विस के भारतीय सदस्यों को यूरोपियनों पर वह क्षेत्राधिकार प्राप्त न हो जो उक्त सर्विस के अन्य सब सदस्यों को प्राप्त होता है।"[2] अतः लॉर्ड रिपन की सरकार ने इस क्षुद्र जातीय भेद-भाव को दूर करने का निर्णय किया और इस उद्देश्य के एक विधेयक का लेख बनाकर स्वीकृति के लिए इंगलैंड भेजा। २ फरवरी १८८३ को यह विधेयक विधान-परिषद् में प्रस्तुत किया गया।[3]

यूरोपियनों ने सारे देश में विशेषकर बंगाल में बड़ा कोलाहल मचाया। "कलकत्ते के व्यवसायी इस प्रश्न से संबंधित नहीं थे; किन्तु वे भी उतने ही उग्र

१. See, Rule No. 30.......

२. J. N. Gupta : Life and Works of R. C. Dutt. page 94 के एक उद्धरण का अनुवाद।

३. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये Mody : Sir Pherozeshah Mehta Vol. II. pages 125-128 and Lucien Wolf: Life of Lord Ripon, Vol. II, pages 128-150.

हुए जितने कि इस प्रश्न से संबंधित बिहार के रोपक (Planters)। लॉर्ड रिपन के सत्कार-सम्मेलनों का बहिष्कार किया गया····स्वयं लॉर्ड रिपन का अपमान किया गया। उनके विरुद्ध जो भाव धारण किया गया था वह अप्रिय रूप से उस औपनिवेशिक भावना का द्योतक था जिसे पश्चिमी हिन्द द्वीप समूह के अधिवासियों ने अपने दासों को स्वत्व देने के सम्बन्ध में प्रदर्शित किया था अथवा उस भावना का स्मरण कराता था जिससे दक्षिण अफ्रीका के अधिवासीगण, वहाँ के आदिवासियों में ईसाई धर्म का प्रचार करते थे।"[१]

एक सुरक्षा संस्था बनाई गई और सवा लाख से अधिक रुपया[२] एकत्रित किया गया। कलकत्ते के टाउन हॉल में आंग्ल भारतीयों का रोष प्रकट करने वाली एक विशाल सभा हुई। इसमें जो व्याख्यान दिये गए, उनकी उग्रता, औचित्य की सारी सीमाओं के परे थी। प्रेसीडेन्सी में अन्य सब स्थानों पर भी ऐसी ही सभाएँ हुई। आंग्ल भारतीय समाचार-पत्रों की, विशेषकर 'इंगलिशमैन' की भाषा अत्यन्त भावुक और विवेकशून्य हो गई। इस आन्दोलन में स्वेच्छासैनिकों (volunteers) को सामूहिक रूप से पद-त्याग करने को उत्तेजित किया गया। कुछ व्यक्तियों ने उपाहार गृहों में सैनिक वर्ग की मनोवृत्ति को भी परखा··दूसरे शब्दों में सेना में अभक्ति उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया।[३]

इस विधेयक की लॉर्ड रिपन के शब्दानुसार शासन में सुविधा की दृष्टि से आवश्यकता थी, किन्तु न्याय्य होते हुए भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अथवा अविलंब्य नहीं था।"[४] इसके विरोध में जो उग्र भावनाएँ उठ खड़ी हुईं, उनका अनुमान करना कठिन है। लॉर्ड रिपन ने कहा, "यदि मुझे पता होता कि क्या (परिणाम) होगा तो मैंने अपने-आपको इस तूफान में नहीं डाला होता।"[५] लॉर्ड रिपन ने अनुभवी अधिकारियों से परामर्श किया था पर ऐसा प्रतीत होता है कि सर हेनरी मेन[६] के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने किसी प्रकार उपद्रव की आशंका नहीं की।

१. Dodwell : History of India. 1858-1918. page 261.
२. Bannerjee : A Nation in the Making. page 85.
३. Lucien Wolf : Life of Lord Ripon. Vol. II. page 128.
४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १३६.
५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १३५
६. वह भारत का परिषद् का सदस्य था और इन दिनों पेरिस में था। परामर्श किये जाने पर उसने जो लेख लिखा उसे भारत-मंत्री-परिषद् में पढ़ने के बाद कहीं रखकर भूल गए और वह भारत नहीं भेजा जा सका। उसमें मैन ने लिखा था, "यह भावनाओं का प्रश्न है और यहाँ भावनाओं की प्रतिद्वन्द्विता है।

लॉर्ड रिपन ने कारणों की जाँच की थी और उसका यह निष्कर्ष था : "न्यायाधिपतियों का वेतन घटाने और मिस्टर मित्र को कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति बनाने के कारण अभिवक्ता वर्ग में बड़ा क्षोभ हुआ है और वह वर्ग सरकार को क्षति पहुँचाने के अवसर के लिए अत्यन्त लालायित था। उक्त विधेयक का विरोध करने का विचार[1] कुछ अंगरेज बैरिस्टरों को न्याय-सभा के पुस्तकालय में सूझा था।" खुफिया विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष मि. लैम्बर्ट के अनुसार कलकत्ते के पूँजीपतियों को इस बात का भय हुआ कि चाय के बगीचे में काम करने वाले उनके गोरे अभिकर्त्ताओं के साथ, भारतीय जजों की अध्यक्षता में काम करने वाले फ़ौजदारी न्यायालयों द्वारा, उचित न्याय नहीं हो सकेगा। यूरेशियन समुदाय, रुड़की विधेयक के कारण चिढ़ा हुआ था। इस विधेयक के अनुसार इंजीनियरिंग कॉलेज में केवल शुद्ध एशियावासियों को ही दाखिला मिल सकता था। अपने सारे समाज द्वारा इन आक्षेपों के समर्थन के लिए, यूरोपीय स्त्रियों के लिए खतरे की आवाज़ उठाई।[2]

विधेयक के मूल रूप में सत्र ज़िला मजिस्ट्रेटों और ज़िला जजों को यूरोपियनों के अभियोग-निर्णय का अधिकार दिया गया था। प्रेसीडेन्सी नगरों के बाहर प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया था कि वे बिना जाति-भेद किये, प्रथम श्रेणी के उन मजिस्ट्रेटों को, जिन्हें वे उपयुक्त समझें, उक्त अधिकार दे दें। अगस्त १८८३ में भारत-सरकार को विधेयक में संशोधन करने के लिए भारत-मंत्री की अनुमति मिल गई। इस संशोधन के अनुसार नए अधिकार केवल ज़िला मजिस्ट्रेटों और ज़िला जजों को देने का निश्चय किया गया। किन्तु विरोधियों को

जातीय भेद-भाव के कारण भारतीय जजों के अधिकारों पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे वे अपने को अपमानित अनुभव करते हैं। देशी व्यक्तियों को अधिकार देने से यूरोपीय समुदाय सशंकित है क्योंकि उसे चिढे हुए भारतीयों द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग का भय है। यह कारण यूरोपीय भावनाओं के विस्फोट का बहाना रहा है। वर्तमान प्रस्ताव के कारण ऐसा विस्फोट हो सकता है और तब हमें उसके औचित्य पर शंका हो सकती है उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३७९–३८१.

१. Lucien Wolf : Life of Lord Ripon Vol. II p. 130

२. उपर्युक्त पुस्तक; पृष्ठ १३१। इस आवाज कास बसे अधिक प्रभाव हुआ। मेरेडिथ टाउनसेण्ड ने टॉम ह्यग को एक पत्र में लिखा, "क्या आप ऐसे देश में रहना चाहेंगे जहाँ आपकी पत्नि को आया को चाँटा मारने के झूठे अपराध पर तीन दिन का कारावास हो सकता है, जहाँ न्यायाध्यक्ष देशी आदमी हो .... जो गोरे आदमियों का अपमान करने के लिए अवसरों की टोह में रहता हो।

ये संशोधन भी मान्य नहीं था। अन्त में एक समझौता हुआ जो "कॉनकॉर्डेट" के नाम से परिचित है। सन् १८८४ के एक्ट नं० ३ में इसे अभिलिखित किया गया। इस एक्ट ने भारतीय जिला मजिस्ट्रेट और जिला-जजों को यूरोपीय प्रजा के अभियोग-निर्णय का अधिकार दिया, किन्तु इस प्रतिबन्ध के साथ कि यूरोपीय अपराधी को छोटे से छोटे अभियोग में भी ऐसी जूरी द्वारा अपने अभियोग का निर्णय कराने का अधिकार होगा, जिसके कम-से-कम आधे सदस्य यूरोपियन या अमेरिकन होंगे। यूरोपियन मजिस्ट्रेट और जजों को संक्षिप्त अभियोग-निर्णय के अधिकार से वंचित कर दिया। किन्तु जिला-मजिस्ट्रेटों के अधिकारों को बढ़ा दिया। अब वे छः महीने तक का कारावास दंड दे सकते थे और दो हजार रुपये तक जुर्माना कर सकते थे।

१८८४ के एक्ट ने वस्तुतः, न तो जातीय भेद-भाव को दूर किया और न शासन की असुविधाओं को ही दूर किया। पहले जातीय भेद-भाव न्यायाधिकारियों में किया जाता था, अब वह अपराधियों में कर दिया गया। कुछ विषयों में स्थिति पहले से भी अधिक बिगड़ गई। सर जॉन स्ट्रेची के शब्दों में एक्ट ने भारत में यूरोपियनों को वह अधिकार दिया जो, "किसी अंगरेज को अपने देश के किसी मजिस्ट्रेट के न्यायालय में प्राप्त नहीं हो सकता था।"[1] साथ ही स्थिति बड़ी विचित्र कर दी गई। सर जॉन के ही शब्दों में, "बहुत से ऐसे जिले हैं जहाँ जूरी के लिए पर्याप्त संख्या में यूरोपियन अथवा अमेरिकन नहीं रहते। ऐसी दशा में अभियोग को किसी अन्य जिले में भेजना होगा जहाँ जूरी बनाई जा सके। सन् १८७२ से पहले जब यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा का अभियोग निर्णय उच्च न्यायालय में होता था तो कठिनाइयों के बारे में आक्षेप किये जाते थे और न्याय न मिलने के अपवाद किये जाते थे; वादियों और साक्षियों को घर से बहुत दूर जाना होता था। अब फिर उन्हीं अपवादों और आक्षेपों के लिए अवसर दिया गया है।"[2]

इल्बर्ट-विधेयक के विवाद से भारतीयों की आँखें खुलीं। उन्होंने यह अनुभव किया कि जहाँ यूरोपियनों के विशेषाधिकारों और स्थापित स्वार्थों का संबंध है, वहाँ न्याय की आशा नहीं की जा सकती और अपना समानाधिकार स्थापित करने के लिए उन्हें एक लम्बे संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए। इस विवाद ने भारतीयों को संगठित आन्दोलन का महत्त्व और मूल्य भी प्रदर्शित किया। ये शिक्षाएँ बड़े काम की थीं।

---

१. Sir John Strachey: India its Administration and Progress, page 111.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ११२.

आठवाँ अध्याय

वित्तीय निक्षेपण और स्थानीय स्वशासन

(१)

सन् १८३३ से ही भारत के समस्त वित्तीय अधिकार सपरिषद् गवर्नर-जनरल के हाथों में केन्द्रित थे। "सब प्रान्तों के सारे राजस्व की एक निधि होती थी। सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा ही व्यय का प्राधिकार दिया जा सकता था।"[१] प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय उपकरों (cesses) के अतिरिक्त कोई अन्य कर लगाने अथवा ऋण उगाहने का अधिकार नहीं था। अतः भारत-सरकार की अनुमति के बिना, प्रान्तीय सरकारें न तो कर लगा सकती थीं, न ऋण उगाह सकती थीं और न व्यय ही कर सकती थीं।

एक विस्तृत और विभिन्नतापूर्ण देश में उक्त केन्द्रीकरण के बहुत से दोष थे। भारत-सरकार को स्थानीय आवश्यकताओं का ज्ञान न के बराबर था और साथ ही उसे यह भी ज्ञात नहीं था कि राजस्व के स्थानीय अधिकरणों की किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है। इस व्यवस्था में विभिन्न प्रदेश, केन्द्रीय राजस्व-कोष के समक्ष अपनी माँग रखने में अनुचित प्रतिद्वन्द्विता करते थे और उन्हें मितव्ययिता के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं था। जैसा कि सर जॉन स्ट्रैची ने कहा, "सार्वजनिक आय का वितरण भ्रष्ट होकर छीना-झपटी में परिवर्तित हो गया था; जो उग्रतम होता था उसी की जीत होती थी और उपयुक्तता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। स्थानीय मितव्ययिता से कोई स्थानीय लाभ नहीं होता था। अतः अपव्यय को रोकने के लिए उत्साह न के बराबर था। स्थानीय आय-वृद्धि से, स्थानीय लाभ न होने के कारण, वहाँ की राजस्व-आय को बढ़ाने का प्रयत्न, न्यूनतम था।"[२]

इस व्यवस्था के दोषों की ओर कितने ही अधिकारियों का ध्यान आकर्षित हुआ था। जनरल डिकेन्स ने सन् १८६० में ही सुधार के लिए सुझाव दिया था। अर्थ-सदस्य मि. लेंग ने सन् १८६१-६२ और १८६२-६३ में सरकारी बजट प्रस्तुत करने के समय अपने वक्तव्य में इस विषय की ओर ध्यान आकर्षित किया था। सन् १८६७ में सर रिचर्ड स्ट्रैची ने प्रान्तीय वित्त के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित योजना भी बनाई थी, किन्तु इस विषय पर लॉर्ड मेयो के समय तक कोई कार्यवाही नहीं

१. Strachey: India, its Administration and Progress page 121.

२. The Report on Indian Constitutional Reforms 1918 page 69.

की गई। १४ दिसम्बर १८७० को लॉर्ड मेयो की सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव ने कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन किये और वित्तीय निक्षेपण की नीति आरम्भ की जो बाद में क्रमशः विकसित की गई।

सन् १८७० के प्रस्ताव ने प्रान्तीय सरकारों के लिए वार्षिक अनुदान निश्चित किये और साथ में व्यय के उल्लिखित शीर्षकों को और उनसे होने वाली राजस्व-आय को उन्हें सौंप दिया। ये विभाग थे :—जेल, निबन्धन, पुलिस, शिक्षा, डॉक्टरी नौकरियाँ (Medical Services), मुद्रण, सड़क, सरकारी इमारतें और विभिन्न सार्वजनिक सुधार। आय में कमी होने की दशा में स्थानीय कर लगाए जा सकते थे अथवा व्यय घटाया जा सकता था। वर्ष समाप्त होने पर यदि आय का कोई अंश व्यय न हो पाया हो तो उस पर केन्द्रीय राजस्व-कोष का कोई अधिकार नहीं हो सकता था। स्थानीय सरकार उस अंश को अपनी इच्छानुसार[1] अपने काम में ला सकती थी। प्रान्तीय सरकारों को कुछ शर्तों के अधीन नियुक्तियाँ करने का अधिकार भी दिया गया। इस सम्बन्ध में ये दो बातें आवश्यक थीं कि एक तो किसी नियुक्ति का मासिक वेतन २५० रु. से अधिक नहीं हो सकता था और दूसरी बात यह थी कि नियुक्तियों के वेतन की व्यवस्था नियत अनुदान में से ही की जानी थी।

लॉर्ड मेयो की सरकार ने यह आशा की कि नई व्यवस्था के कारण "अधिक समझदारी और मितव्ययिता से काम लिया जायगा; आर्थिक व्यवस्था में निश्चितता का वह अंश आ जायगा, जिसका अब तक अभाव था; और सर्वोच्च एवं प्रान्तीय सरकारों के व्यवहार और मनोभावों में अधिक सामंजस्य हो सकेगा।"[2] साथ ही यह आशा की "कि स्वशासन के विकास के लिए, नगरपालिका संस्थाओं को सुदृढ़ करने के लिए और शासन-कार्य में भारतीयों और यूरोपियनों को अधिकाधिक साथ लेने के लिए प्रस्तावित नीति से, क्षेत्र विस्तृत होगा।"[3]

इस नई व्यवस्था का मुख्य दोष यह था कि विभिन्न अनुदानों का निश्चय, १८७०-७१ में विभिन्न प्रान्तों के व्यय के आधार पर किया गया। तत्कालीन असाम्य को दूर करने, और प्रान्त की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार अनुदान निश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। जैसा कि डॉ० ज्ञानचन्द ने कहा है, "मितव्ययी प्रबन्ध होने के कारण अथवा केन्द्रीय सरकार तक पहुच में कठिनाई

१. Para 18. of the Resolution. Mukherjee. Indian Constitutional Documents vol. I page 628.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६२९. Para 22.

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६३०. Para 23.

होने के कारण अथवा पिछड़ेपन या अनुन्नत होने के कारण, जिन प्रान्तों का व्यय कम था, उन्हें, मितव्ययिता, दीनता अथवा पिछड़ेपन का दण्ड दिया गया।"[१]

इस व्यवस्था का दूसरा दोष यह था कि राजस्व की उगाही में मितव्ययिता लाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस प्रकार प्रान्तीय सरकारों का स्वार्थ अपनी आय के मितव्ययी उपयोग और समुचित वितरण में तो था, किन्तु राजस्व की उगाही में ऐसा कोई स्वार्थ नहीं था। इसके अतिरिक्त आबकारी और मुद्रांक (स्टाम्प) शुल्क में बड़ी धाँधलेबाजी की जाती थी और उगाही में सरकार को राजस्व की हानि होती थी।" अतः १८७७ की योजनानुसार लॉर्ड लिटन की सरकार ने उगाही में प्रान्तीय सरकारों का स्वार्थ निहित करने का प्रयत्न किया।

१८७७ की योजना को वाइसराय की परिषद् के तत्कालीन अर्थ-सदस्य सर जॉन स्ट्रैची ने तैयार किया था। इस योजना के अनुसार व्यय के कुछ और शीर्षक भी प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिए गए। इनमें मालगुज़ारी, आबकारी, स्टाम्प, सामान्य शासन, लिखने का सामान, विधि और न्याय की गणना थी। इन सेवाओं के बदले में प्रान्तीय सरकारों का स्थायी अनुदान नहीं बढ़ाया गया वरन् प्रान्त में उगाही हुई राजस्व की कुछ मदों में उनका साझा कर दिया गया। आबकारी, रसीद, विधि, न्याय आदि कुछ अधिकरणों से प्राप्त होने वाली राजस्व-आय प्रान्तीय सरकारों को इस शर्त पर दे दी गई कि इन अधिकरणों की अनुमानित आय के एक निश्चित परिमाण से अधिक आय होने पर सर्वोच्च सरकार उस अतिरिक्त परिमाण का आधा भाग ले लेगी और घाटा होने पर उसमें भी आधा साझा करेगी।[२]

प्रान्तीय सरकारों को वित्तीय नियंत्रण के अधिकार सौंपने का प्रयोग सुचारु रूप से चला। लॉर्ड रिपन, उनके अर्थ-सदस्य मेजर बेरिंग (बाद में लॉर्ड क्रोमर) तथा उनकी सरकार ने वित्तीय विषयों में प्रान्तीय उत्तरदायित्व को और अधिक बढ़ाने का निर्णय किया। यह निर्णय ३० सितम्बर १८८१ के प्रस्ताव द्वारा किया गया।

१८८२ की योजना के अनुसार निश्चित अनुदान देने की व्यवस्था तोड़ दी गई और प्रान्तीय सरकारों को राजस्व की कुछ मदें पूरी तरह दे दी गईं और कुछ अन्य मदों में उनका साझा कर दिया गया। राजस्व की मदों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया :—साम्राज्यीय, प्रान्तीय और विभाजित। प्रान्तीय वर्ग के राजस्व

१. Gyan Chand : The Financial System of India, page 143.

२. Mukherjee : Indian Constitutional Documents. vol. I. page LXI.

पर प्रान्तों को पूर्णाधिकार दिया गया और विभाजित वर्ग के राजस्व पर प्रांतीय और साम्राज्यीय सरकार को प्रायः समान अनुपात में अधिकार दिया गया। साम्राज्यीय शीर्षकान्तर्गत राजस्व,केन्द्रीय सरकार के व्यय के लिए था। मालगुजारी की साम्राज्यीय शीर्षक में गणना की गई थी, किन्तु प्रान्तीय आय में कमी होने पर उक्त मालगुजारी आय का एक निश्चित भाग देकर पूर्ति करने की व्यवस्था की गई। साम्राज्यीय शीर्षक में सीमा-शुल्क, डाक और तार,रेलवे, अफीम, नमक, उपहार, टकसाल, होम चार्जेज और सैनिक विभाग की गणना थी। दीवानी विभागों और प्रान्तीय सार्वजनिक निर्माण-विभाग की आय पूर्ण रूप से प्रान्तीय थी। आबकारी, रसीद, वन और निबन्धन की मदें दोनों में विभाजित थीं। अनिश्चितता को समाप्त करने के उद्देश्य से १८८२ के प्रस्ताव द्वारा पंचवर्षीय बन्दोबस्त की व्यवस्था चलाई गई। युद्ध और दुर्भिक्ष-सम्बन्धी असाधारण व्यय के बारे में साम्राज्यीय और प्रांतीय सरकारों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध को भी प्रस्ताव में स्पष्ट किया गया। साधारणतया, अत्यन्त असाधारण और विपत्तिपूर्ण परिस्थितियों के अतिरिक्त युद्ध के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों से कोई माँग नहीं की जा सकती थी। दुर्भिक्ष-व्यय के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों की शीघ्र और समय पर सहायता करने के लिए वचन दिया गया। बीमा और दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए भारत-सरकार की १५ लाख पौण्ड की वार्षिक बाँट में से, प्रान्तीय सरकारें अकाल के लिए विशेष निधि संग्रह कर सकती थीं।

इस प्रकार प्रान्तीय सरकारों की स्थिति में काफी सुधार हुआ। सन् १८८४ में प्रान्तीय वित्त के असाधारण चढ़ाव-उतारों को रोकने के लिए हर प्रान्तीय सरकार के आकलन अवशेष (Credit balance) की न्यूनतम सीमा निश्चित कर दी गई। १८८२ की इस व्यवस्था का १८८७ में, १८९२ में और फिर १८९७ में नवीकरण किया गया और उसके निहित सिद्धांतों को यथावत् रखा गया। किंतु प्रत्येक नवीकरण के समय पंचवर्षीय बन्दोबस्त की व्यवस्था के मुख्य दोष सामने आये। १८९६ में सर्वोच्च विधान-परिषद् में बंगाल के उप-गवर्नर ने अपने भाषण में इन दोषों का इन शब्दों में वर्णन किया:—"मैं, प्रति पाँच वर्ष बाद संशोधन करने की वर्तमान व्यवस्था का विरोध करता हूँ। प्रान्तीय भेड़ को गिराकर उसके ऊन को पूरी तरह उतार लिया जाता है और नये रोयें बढ़ने तक उसे ठिठुरन के लिए छोड़ दिया जाता है। प्रान्तीय व्यवस्था का इतिहास साधारणतया इस प्रकार है—पहले दो वर्षों में कृपणता और मितव्ययिता बरती जाती है और कामों को स्थगित किया जाता है, फिर दो वर्ष तक स्वाभाविक गति और विधि से काम किया जाता है और अन्तिम वर्ष में अवशिष्ट निधि का इस भय से अपव्यय किया जाता है कि कहीं संशोधन के समय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग से

सर्वोच्च सरकार बचे हुए परिमाण को छीन न ले। यदि यह बात चरित्र को गिराने वाली नहीं है तो कम-से-कम अनुचित अवश्य है। मेरी सम्मति में सर्वोच्च सरकार को हर पाँच वर्ष बाद प्रान्तीय भेड़ को उपर्युक्त प्रकार से नहीं मूँडना चाहिए........ यदि भारत-सरकार नवीनीकरण के हर अवसर पर यथासंभव कम परिवर्तन करे तो स्थानीय सरकारों का बहुत बड़ा हित होगा। वह आर्थिक निश्चितता, जो १८७० की वर्तमान योजना की एक मुख्य वस्तु थी, केवल इस प्रकार से ही व्यवहार में अनुभव की जा सकती है।"[१]

(२)

वित्तीय निक्षेपण की नीति के साथ स्थानीय स्वशासन के विकास को प्रोत्साहन देने की नीति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सन् १८७० के प्रस्ताव-प्रवर्तकों ने यह आशा की थी कि स्वशासन के विकास के लिए, नगरपालिका-संस्थाओं को दृढ़ करने के लिए और शासन-कार्य में भारतीयों और यूरोपियनों को अधिकाधिक साथ लेने के लिए, वित्तीय निक्षेपण की नीति से क्षेत्र विस्तृत होगा।

प्रेसीडेंसी नगरों में नगरपालिका सरकार १८७० से बहुत पहले से थी किंतु अन्य नगरों में नगरपालिका-सरकार बनाने का प्रथम प्रयत्न सन् १८४२ के एक्ट नं. दस द्वारा किया गया। इस एक्ट के अनुसार "हर सार्वजनिक स्थान के निवासियों को स्वास्थ्य और सुविधा की दृष्टि से श्रेष्ठतर प्रबन्ध करने का अधिकार दिया गया।"[२] स्वेच्छा के सिद्धांत पर आधारित होने के कारण किसी स्थान के दो तिहाई निवासियों के प्रार्थना-पत्र देने पर ही उक्त अधिकार का उपयोग किया जा सकता था।..............केवल एक नगर में उक्त प्रबन्ध किया गया किंतु वहाँ के निवासियों ने कर देना केवल अस्वीकार ही नहीं किया वरन् उगाही करने वाले कलक्टर पर अनधिकार प्रवेश का अभियोग भी चलाया।[3] इस एक्ट को १८५० में रद्द कर दिया गया और भारत के विभिन्न प्रान्तों में नगरपालिका-संस्थाएँ बनाने के लिए उसी वर्ष का एक्ट नं. २४ बनाया गया। सन् १८४२ का एक्ट, प्रत्यक्ष कर की व्यवस्था से बहुत अप्रिय हो गया था। सन् १८५० के

१. Quoted by G. K. Gokhale in his evidence before Welby Commission of 1897. page 11. Appendix 1.—Speeches of Gokhale.

२. Moral and Material Progress Report 1882. Chablani and Joshi: Readings in Indian Administration page 400

३. Imperial Gazetteer of India. Vol. IV. p. 286

एक्ट में परोक्ष कर के लिए अनुमति दी गई। यह एक्ट भी अनुज्ञाप्रद था:—"प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह एक्ट को किसी नगर में इस बात का विश्वास हो जाने पर ही कार्यान्वित करे, कि नगर-निवासी प्रार्थना-पत्र के पूरी तरह अनुकूल हैं। तदुपरान्त सरकार को मजिस्ट्रेट और कुछ अन्य व्यक्तियों को कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। कमिश्नरों की संख्या आवश्यकता पर निर्भर थी। इन कमिश्नरों को नियम बनाने के विस्तृत अधिकार दिये गए। इन्हीं अधिकारों के अन्तर्गत वह चुंगी-कर, जो आजकल भारत में इतना प्रचलित है, पहली बार वैध हुआ।"[१] इस एक्ट का उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त और बम्बई में ही विस्तृत रूप से लाभ उठाया गया। सन् १८६३ में राजकीय सेना संमार्जन आयोग (Royal Army Sanitary Commission) ने अपनी रिपोर्ट दी। इसकी सिफारिशों के फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में नगरपालिका-एक्ट बनाए गए। बंगाल का एक्ट १८६४ में बना, मद्रास का १८६५ में, पंजाब का १८६७ में और उत्तरी पश्चिमी प्रान्त का १८६८ में। इन एक्टों के अनुसार नगरपालिका बनाने के लिए, निर्वाचन का उपयोग करने का प्राधिकार दिया गया, किंतु इसका उपयोग वस्तुतः केवल पंजाब और मध्यप्रान्त में ही किया गया। नवनिर्मित नगरपालिकाओं का मुख्य काम संमार्जन का सुधार था।

सन् १८७० के प्रान्तीय वित्त-सम्बन्धी प्रस्ताव ने ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान दिलाया कि उसके फलस्वरूप शिक्षा, संमार्जन, निःशुल्क चिकित्सा और स्थानीय सार्वजनिक निर्माण के लिए निर्दिष्ट निधि की व्यवस्था द्वारा स्थानीय अभिरुचि, निरीक्षण और सावधानी को अभिव्यक्ति मिल सके। इस उद्देश्य से विभिन्न प्रान्तों में १८७१ और १८७४ के बीच नए नगरपालिका-एक्ट बनाए गए। इनमें अधिकार-वृद्धि के साथ निर्वाचन-सिद्धांत के विस्तार की व्यवस्था की गई किंतु केवल मध्य प्रान्त में ही सार्वजनिक प्रतिनिधित्व को विस्तृत रूप में सफलता के साथ अपनाया गया। १८८२ के स्थानीय स्वशासन-प्रस्ताव में १८७० की नीति के परिणामों का इन शब्दों में सारांश दिया गया है:—"सन् १८७० के बाद.........बड़ी भारी प्रगति हुई थी। स्थानीय उपकरों से बहुत बड़ी आय हुई थी और कुछ प्रान्तों में आय-व्यवस्था को बिना किसी रोक-टोक के, स्थानीय निकायों को सौंप दिया गया था। नगरपालिकाओं की संख्या और उपयोगिता में भी वृद्धि हुई थी। किंतु देश के विभिन्न भागों की प्रगति में अब भी इतना बड़ा असाम्य

१. Moral and Material Progress Report. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ४०१

था कि उसके लिए विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों का कारण नहीं दिया जा सकता। कुछ स्थानों में स्थानीय प्रबन्ध के लिए परिगृहीत सेवाएँ केन्द्रीय शासन के हाथों में सुरक्षित थीं। सभी स्थानों में पुलिस-कार्य के सम्बन्ध में नगरपालिकाओं से एक बड़े परिमाण में खर्चा लिया जाता था किंतु उस पुलिस पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था।[१]

लॉर्ड रिपन की सरकार ने अपने १८८१ के प्रान्तीय वित्त-सम्बन्धी प्रस्ताव के स्थानीय स्वशासन-विकास के विषय पर प्रान्तीय सरकारों की सम्मति आमंत्रित की थी। उसने अपने निजी प्रस्तावों को १० अक्तूबर १८८१ को प्रान्तीय सरकारों के पास भेजा और उनसे उस पर अपनी सम्मति प्रकट करने को कहा। फलस्वरूप १८८२ का स्थानीय स्वशासन-सम्बन्धी प्रसिद्ध प्रस्ताव बना।

(३)

१८८२ के प्रस्ताव से भारत में स्थानीय स्वशासन कारगर रूप से आरम्भ हुआ। स्थानीय स्वशासन के विकास का प्रतिपादन "शासन में सुधार के मुख्य उद्देश्य" से नहीं किया गया, वरन् इस कारण कि वह "राजनीतिक और सामान्य जागृति के लिए एक उपकरण के रूप में वांछनीय था।" "कुछ समय बाद स्थानीय ज्ञान और अनुराग के कारण स्थानीय शासन में कुशलता स्वतः बढ़ेगी।"[२] सरकारी विभागों पर भार कम होगा और लोक-भावना से प्रेरित, शिक्षित और वृद्धि-कर वर्ग को काम देकर नये कार्यालय खोलने की माँग पूरी होगी।[३] प्रस्ताव में कहा गया कि "सरकारी अधिकारियों ने विगत प्रयत्नों में सदुद्देश्य से प्रेरित होकर किंतु बार-बार हस्तक्षेप करके इन प्रयत्नों को कुचल दिया था।"[४] तदुपरान्त प्रस्ताव ने भविष्य की नीति निर्धारित की।

पहली बात तो यह थी कि केवल बड़े या छोटे नगरों में ही नहीं वरन् सारे देश में स्थानीय मंडल बनाने थे। इन मंडलों की निश्चित निधि और उनके निश्चित दायित्व को स्पष्ट कर दिया गया था।[५] ग्राम्य क्षेत्रों में स्थानीय परामर्श-समिति की जगह इन्हीं मंडलों को मिलनी थी। उनके कार्य में स्थानीय अनुराग बढ़ाने के लिए

---

१. Mukherjee. Indian Constitutional Documents. Vol. I. page 639.

२. Para 5. of the Resolution उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४२.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४२, प्रस्ताव का छठा पैराग्राफ।

४. Mukherjee: Indian Constitutional Documents Vol. I. page 643. Para 7.

५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४४, प्रस्ताव का पैराग्राफ़ नं. १०.

और स्थानीय ज्ञान का उपयोग करने के लिए यह नियम बनाया गया कि. "इनमें से किसी मंडल का क्षेत्र किसी दशा में बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए।"[१] यह सुझाव रखा गया कि बड़े-से-बड़ा क्षेत्र, तहसील या ताल्लुका हो। इन स्थानीय मंडलों के ऊपर जिला-मंडल बनने थे। इन ज़िला-मंडलों को नियंत्रण के लिए कुछ अधिकार दिये गए।

दूसरी बात यह थी कि प्रस्ताव में छोटे और बड़े नगरों में स्थानीय शासन के निर्वाह और विस्तार के लिए व्यवस्था की गई थी। नगरों के मंडलों को यथासंभव स्वतन्त्र रखना था, किंतु कुछ विषयों में ज़िला-परिषद् के नियंत्रण-सम्बन्धी कुछ अधिकार हो सकते थे।

तीसरी बात यह थी कि प्रस्ताव में यह निश्चित कर दिया गया था कि "सरकारी सदस्यों की संख्या किसी भी दशा में कुल संख्या की एक तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिए।"[२] इस प्रकार शहरी और ग्राम्य दोनों प्रकार के मंडलों में ग़ैर-सरकारी सदस्यों का प्राधान्य होना था। ग़ैर-सरकारी सदस्यों का कार्य-काल दो वर्ष के लिए निश्चित था।

चौथी बात यह थी कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने इस बात की सिफारिश की "कि स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए,[३] निर्वाचन-व्यवस्था को अधिकाधिक व्यवहार में लाया जाय" साथ ही "हर प्रान्त को अपने लिए उपयुक्त व्यवस्था छाँटने के लिए विभिन्न योजनाओं के प्रयोग करने का सुझाव दिया गया।"[४] यह कहा गया कि "साधारण मत, संचित मत, क्षेत्र विभागानुसार निर्वाचन, सारे नगर द्वारा निर्वाचन, न्यूनाधिक अर्हता द्वारा निर्वाचन, जाति और व्यवसाय के अनुसार निर्वाचन और साथ ही अन्य निर्वाचन-प्रणालियों का प्रयोग किया जा सकता है।" प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आकर्षित करने के उद्देश्य से यह नियम बनाया गया कि मंडल के भारतीय सदस्यों के नाम के साथ उनके कार्य-काल की अवधि में रायबहादुर अथवा खाँ बहादुर की सम्मानार्थ उपाधि व्यवहार में लाई जाय।

पाँचवीं बात सपरिषद् गवर्नर-जनरल की यह इच्छा थी कि ग्राम्य और शहरी दोनों प्रकार के स्थानीय मंडलों के सभापति[५] यथासंभव गैरसरकारी

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents. पृष्ठ ६४४, प्रस्ताव का पैराग्राफ नं० १०.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४५, प्रस्ताव का पैराग्राफ़ नं. १२.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४५, प्रस्ताव का पैराग्राफ़ नं. १३.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४६ प्रस्ताव का पैराग्राफ़ नं. १४.

५. उपर्युक्त पुस्तक, Vol. I, p. 649, para 19 of the Resolution.

व्यक्ति हों। उसका यह कहना था कि जब तक मुख्य कार्यपालिका-अफ़सर नगरपालिका और जिला-समिति के सभापति होंगे तब तक इन समितियों द्वारा, उनके सदस्यों का, स्थानीय प्रबन्ध-कार्य के लिए कोई वास्तविक शिक्षण नहीं होगा। और उस समय तक गैरसरकारी सदस्य स्थानीय विषयों में कोई सक्रिय दिलचस्पी भी नहीं ले सकेंगे।"[१] गैरसरकारी सदस्य ज़िले के कार्यपालिका अध्यक्ष के साथ भिड़ने की जोखिम नहीं उठाना चाहेंगे।

अन्त में प्रस्ताव ने स्थानीय मंडलों के समुचित नियंत्रण की व्यवस्था की। यह नियंत्रण अन्दर से न होकर बाहर से होना था।[२] कार्यपालिका-अधिकारियों के लिए नियंत्रण के दो अधिकार सुरक्षित किये गए। पहला अधिकार तो यह था कि "कुछ कार्यवाहियों को मान्य बनाने के लिए उनकी स्वीकृति आवश्यक थी। इन कामों में निम्न बातों की गणना थी:—ऋण उगाहना, अधिकृत करों के अतिरिक्त अन्य कर लगाना, नगरपालिका-सम्पत्ति को हस्तान्तरित करना, साम्प्रदायिक प्रश्नों से सम्बन्धित विषयों में हस्तक्षेप, सार्वजनिक शान्ति को प्रभावित करने वाले विषय, इत्यादि। दूसरा अधिकार यह था कि स्थानीय शासन, विशेष परि-स्थितियों में मंडल की कार्यवाही में हस्तक्षेप कर सकता था और उसे रद्द कर सकता था। साथ ही किसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य की दीर्घकालीन उपेक्षा की दशा में, स्थानीय शासन को मंडल का निलम्बन करने का अधिकार दिया गया। जब तक उक्त उपेक्षित कर्त्तव्य का संतोषप्रद रूप से पालन न हो, तब तक मंडल का कार्य करने के लिए स्थानीय सरकार द्वारा कुछ व्यक्तियों को नियुक्त करने की व्यवस्था थी।"[३]

सन् १८८३–१८८४ में, उक्त प्रस्ताव जारी होने के कुछ ही समय बाद, उसकी नीति को कार्यान्वित करने के लिए, विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन एक्ट बनाये गए।

---

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, पैरा १८, पृष्ठ ६४८-६४९.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४७-६४८, पैराग्राफ़ नं. १७.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६४७-४६८, प्रस्ताव का पैराग्राफ़ नं. १७.

नवाँ अध्याय

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का आरंभ

(१)

भारती यइतिहास में सन् १८६१ से लेकर १८९२ तक के युग का, राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण एक स्थायी महत्त्व है। सन् १८८५ में, दिसम्बर के २८, २९ और ३० दिनांक को देश के विभिन्न भागों से ७२ प्रमुखभारत वासी, राजनीतिक काम के लिए एक सर्वसम्बन्धित कार्यक्रम निश्चित करने के उद्देश्य से बम्बई में एकत्रित हुए। "भारतीय इतिहास में, इतना महत्त्वपूर्ण और व्यापक सम्मेलन, इससे पहले कभी नहीं हुआ था।"[1]

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना और राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ के बारे में कितने ही कारण बताये गए हैं। लाला लाजपतराय के अनुसार इनमें से मुख्य कारण था—प्रवर्तकों का साम्राज्य को छिन्न होने से रोकने के लिए तीव्र इच्छा।

पिछली शताब्दी की आठवीं दशाब्दी में भारतीय स्थिति निश्चित रूप से विस्फोटक थी। १८७७ के दुर्भिक्ष के बाद असन्तोष बराबर बढ़ रहा था। कांग्रेस के पिता, मि० ह्यूम ने देश के विभिन्न भागों के सरकारी प्रतिवेदनों (reports) को देखा था। इनके अनुसार सर्वसाधारण में असन्तोष उफन रहा था और उनकी उग्रता बढ़ रही थी। यह संभव था कि शिक्षित वर्ग में से कोई चिढ़ा हुआ नवयुवक आगे आकर जन-संगठन करने लगता और—"उसे राष्ट्रीय विद्रोह में परिणत कर देता।"[2] कम-से-कम मि० ह्यूम के विश्वासानुसार भारत में एक भयंकर विस्फोट का तात्कालिक संकट निश्चय रूप से वर्तमान था। सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार बम्बई-प्रेसीडेन्सी के दक्षिण भाग में तो उपद्रव फूट भी पड़े। "इनका आरम्भ इधर-उधर की छोटी डकैतियों से हुआ .... बाद में डाकुओं के इन दलों का दमन पुलिस की सामर्थ्य के बाहर हो गया; तब पूना का सारा सैन्य-दल उन्हें दबाने को भेजा गया। ......अधिक शिक्षित वर्ग में से एक नेता मिल गया, जो अपने-आपको शिवाजी द्वितीय कहता था। उसने सरकार को चुनौतियां दीं और (बम्बई के गवर्नर) सर रिचर्ड टेम्प्ल के सिर के लिए ५०० रुपये का पुरस्कार घोषित किया और जिस

---

१. Chirol: India page 80 से पहले अधिवेशन के सभापति श्री उमेश चन्द्र बनर्जी के व्याख्यान के एक उद्धरण का अनुवाद।

२. Lajpat Rai: Young India. pages 135–138

प्रकार से मराठा-शक्ति ने आरम्भ में अपने-आपको स्थापित किया था, उसी प्रकार से राष्ट्रीय विद्रोह का नेतृत्व करने का दावा किया।"[१]

लाला लाजपतराय इस निष्कर्ष पर पहुँचे :—"अतः इन दोनों नेताओं (मि० ह्यूम और सर विलियम वेडरबर्न) के शब्दों में कांग्रेस का तात्कालिक उद्देश्य, ब्रिटिश साम्राज्य को इस संकट से बचाना था।"[२]

यह असंभव नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में बचाने, और साथ ही ब्रिटिश सम्पर्क से उत्पन्न शक्ति के निष्क्रमण के लिए कांग्रेस का सुरक्षा-छिद्र के रूप में उपयोग करने के विचार, सिविल सर्विस से निवृत्त, कांग्रेस के इन दोनों नेताओं के मस्तिष्क में रहे हों। किन्तु यह विश्वास करना कठिन है कि दादाभाई नौरोजी, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, तैयबजी, रानाडे, तैलंग और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी-जैसे भारतीय नेता इस उद्देश्य से प्रेरित थे। जैसा कि लाला लाजपतराय ने स्वीकार किया है, स्वयं मि० ह्यूम भी अन्य एवं उच्चतर उद्देश्यों से विशेष रूप से प्रेरित थे "ह्यूम को स्वतन्त्रता का व्यसन था। दुःख और दरिद्रता के दृश्य से उनका हृदय कराह उठता था। भारतवासियों के प्रति अपने देशवासियों के 'कायरता-पूर्ण' व्यवहार से उन्हें बड़ा क्षोभ होता था।···इतिहास के गम्भीर अध्ययन से उन्हें यह बात भलीभाँति ज्ञात थी कि कोई भी सरकार, चाहे वह राष्ट्रीय हो अथवा विदेशी हो, सार्वजनिक माँगों को केवल नीचे से दबाव पड़ने पर ही स्वीकार करती है।····अतः वह यह चाहते थे कि भारतवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए 'प्रहार' करें।.....प्रथमारंभ था संगठन। फलतः उन्होंने संगठन के लिए मंत्रणा दी।"[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कांग्रेस की स्थापना में ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने की इच्छा का कोई बहुत बड़ा महत्त्व नहीं था। वस्तुतः काफी समय से, कितनी ही शक्तियाँ काम कर रही थीं। उनके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय हुआ। सन् १८८० के पश्चात् इस आन्दोलन को जन्म देने वाली मुख्य बातों को छै शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) पश्चिम के राजनीतिक आदर्शों की प्रेरणा; (२) धार्मिक पुनरुत्थान और भारत के प्राचीन वैभव के प्रति श्रद्धाभाव; (३) आर्थिक असन्तोष और ब्रिटिश आश्वासनों के पूर्ण न किये जाने के कारण निराशाभाव; (४) भारतीय समाचार-पत्रों का और साथ ही देशी साहित्य का

१. Lajpat Rai: Young India. page 137.

२. उपर्युक्त पुस्तक. पृष्ठ १३३.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ, १४१-१४२.

प्रभाव; (५) संचार साधनों का विकास और साम्राज्ञीय दरबारों का आयोजन; और (६) शासक जाति के उद्धत एवं अहंकारपूर्ण व्यवहार के कारण, जातीय भावनाओं में कटुता की वृद्धि, लॉर्ड लिटन का प्रमत्त एवं अविवेकपूर्ण शासन और हत भाग्य इल्बर्ट-विधेयक के सम्बन्ध में यूरोपियनों तथा आंग्ल भारतीयों द्वारा उग्रता और संगठित तीक्ष्ण प्रचार का प्रदर्शन।

भारत की राजनीतिक जागृति में पश्चिमी शिक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। उसके द्वारा भारतवासी सर्वोत्तम अंग्रेजी विचारों के—मिल्टन, बर्क, मिल, मैकॉले, स्पेन्सर आदि के ग्रन्थों के—सम्पर्क में आये। पश्चिमी शिक्षा ने भारतवासियों में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, स्वशासन आदि के जीवन-प्रेरक विचार भरे और फलत: उन्हें देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति[1] से असन्तुष्ट कर दिया और वे स्वशासन संस्थाओं के लिए तथा नौकरियों में श्रेष्ठतर स्थानों के लिए माँग करने लगे। दूरदर्शी अंग्रेजों ने इस परिणाम की पहले ही प्रत्याशा की थी। लॉर्ड मैकॉले ने कहा था कि "यूरोपीय शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक दिन वे (भारतवासी) यूरोपीय संस्थाओं के लिए माँग करेंगे" और आंग्ल इतिहास के लिए वह "अधिकतम गर्व का दिन" होगा।[2] साथ ही पश्चिमी शिक्षा ने समूचे भारत को एक राष्ट्र-भाषा का मूल्यवान उपहार दिया। इसी के माध्यम से भारतवासियों के लिए, परस्पर निकट आना, विचार व्यक्त करना और सभाओं तथा सम्मेलनों में मिलकर सर्वसम्बन्धित कार्यक्रम बनाना, संभव हुआ।

पश्चिम के साथ वास्तविक, व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण, अंग्रेजी शिक्षा के उक्त परिणाम और भी प्रखर हो उठे। भारतीय नवयुवक उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड गए; साथ ही अन्य भारतवासी अन्य उद्देश्यों से विदेश गये। विदेशों में अपने प्रवास से, ये भारतवासी, स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-विधि से विशेष रूप से परिचित हुए। इस प्रवास ने उन्हें स्वतन्त्रता का मूल्य सिखाया और उनके मस्तिष्क से दीनतापूर्ण एवं दास्य-मनोवृत्ति को दूर किया। विदेशों से लौटने वाले भारतीयों को यहाँ का दासतापूर्ण वातावरण खलता था और वे उद्विग्न और असन्तुष्ट होते थे। उनका यह असन्तोष संक्रामक सिद्ध होता था।

---

१. पश्चिमी शिक्षा के तात्कालिक परिणाम अच्छे नहीं थे। इस नई शिक्षा-सुरा ने बहुत से तरुण भारतीयों को बिलकुल भ्रष्ट कर दिया और उन्हें अराष्ट्रीय बना दिया। वे बुरी यूरोपीय बातों का अनुकरण करने लगे। "अत्यधिक मद्यपान और साथ ही विचार, रुचि और चरित्र का असंयम व्यापक हो गया।"

२. Speeches of Lord Macaulay. July 10th 1833. Keith: "Speeches and Documents on Indian Policy". Vol. I. page 265.

(२)

इसी दिशा में एक दूसरी बात का प्रभाव हुआ। यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन किया और पुरानी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की प्रशंसा की। मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रौथ, सैसून बुर्नफ़ आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने "संस्कृत भाषा की सम्पन्नता एवं श्रेष्ठता का ····उसके ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व का······(संक्षेप में) भारतीय सभ्यता के आधारभूत हिन्दू साहित्य का····केवल पश्चिमी जगत् के लिए ही नहीं, वरन् स्वयं भारत के लिए भी प्रकटीकरण किया।"[1]

इस सम्बन्ध में विभिन्न धार्मिक सुधारकों का काम और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। लोगों ने उस खाई को अनुभव किया, जो सन् १८६१-१८९२ के भारत और उस प्राचीन युग के भारत में थी, जब वेद और उपनिषद् प्रकट किये गए थे और जब अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की गई थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के पूर्वगामी एवं प्रेरक, धार्मिक सुधार-आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्यसमाज, थियोसॉफ़ी और श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का समावेश था। ये सुधार-आन्दोलन, मुख्यत· धार्मिक होने के साथ ही, राष्ट्रीय भी थे। इन्होंने भारतवासियों को अपने महान उत्तराधिकार के प्रति सचेत किया और उनमें राष्ट्रीय भावना जाग्रत की। धर्म ने राष्ट्रीयता को प्रेरित किया।

(३)

जैसा कि मि० गैरट ने कहा है, "राष्ट्रीयता में शिक्षित वर्ग का अनुराग, हमेशा ही, कुछ हद तक आर्थिक और कुछ हद तक धार्मिक कारणों से हुआ है।"[2] यह निर्विवाद सत्य है कि देश की आर्थिक स्थिति के ह्रास ने और सरकार की अराष्ट्रीय आर्थिक नीति ने, भारतीयों के उच्च पदों से बहिष्कृत करने की नीति के साथ मिलकर, भारतवासियों में ब्रिटिश विरोधी और राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने में बहुत बड़ा प्रभाव डाला।

विदेशी मशीन से बने माल के साथ प्रतिद्वन्द्विता न कर सकने के कारण, भारत के उद्योग-धंधे नष्ट हो गए थे और देश निर्धन होता जा रहा था। सरकार ने संरक्षण देने और सहायता करने के स्थान पर, इंग्लैण्ड के स्वार्थ के लिए मुक्त व्यापार की नीति को जान-बूझकर अपनाया और उन धंधों के विनाश में सहयोग दिया। इस पुस्तक के सातवें अध्याय में कपास सीमा-शुल्क-सम्बन्धी विवाद का विवरण दिया जा चुका है। उक्त विवाद के कारण व्यावसायिक एवं उद्योग वर्गों की सद्भावनाएँ समाप्त हो गई थीं। हस्तशिल्प नष्ट हो जाने के कारण धरती (कृषि) पर दबाव

१. Chirol India. page 80.
२. Garrat: An Indian Commentary. 119.

प्रति दिन बढ़ रहा था; विभिन्न दोषों के कारण कृषि की दशा भी अच्छी नहीं थी। विनिमय नीति अस्वाभाविक थी और ब्रिटिश व्यावसायिक हितों पर निर्भर थी। इन दोनों बातों ने दोषों को और भी प्रखर बना दिया था। शासन-व्यवस्था अत्यन्त व्ययपूर्ण थी। विदेशी राज्य के कारण, बहुत बड़ी धनराशि देश से बाहर जाती थी। सर्वसाधारण की निर्धनता स्थायी हो गई थी और उन्हें कुचले डालती थी और वर्षा के अभाव में दुर्भिक्ष पड़ते थे। शिक्षित वर्गों की स्थिति भी आर्थिक दृष्टि से अनिश्चित थी। उनकी संख्या द्रुत गति से बढ़ रही थी। वे औद्योगिक और व्यावसायिक जीवन के लिए अयुक्त थे—क्योंकि तत्कालीन शिक्षा का एक-मात्र उद्देश्य था, सरकारी नौकरियों के लिए आदमी तैयार करना। किन्तु नौकरी के उच्च पदों के लिए द्वार बन्द था और छोटी नौकरियों में वेतन बहुत कम था और उन नौकरियों की संख्या भी स्वाभाविक रूप से सीमित थी। शिक्षित वर्ग में बेकारी बढ़ रही थी। हर मैजेस्टी की उद्घोषणा और अन्य घोषणाओं ने बड़ी ऊँची आशाएँ जाग्रत की थीं—किन्तु लॉर्ड लिटन की स्पष्टवादिता ने क्षोभ और असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि भारत में सबसे पहला संगठित आन्दोलन १८७७-७८ में भारतीय सिविल सर्विस के सम्बन्ध में हुआ। इसका संगठन कलकत्ते की इंडियन एसोसियेशन ने किया था। सन् १८७७ में २५ मार्च को कलकत्ते के टाउन-हॉल में एक विराट सभा हुई "जो इसी सम्बन्ध में समस्त भारत के लिए ऐसी ही और अधिक विराट् सभाओं की पूर्वगामिनी थी।"[1] सिविल सर्विस के प्रश्न पर एक स्मरण-पत्र स्वीकार किया गया और लाल मोहन घोष को इंग्लैण्ड जाकर हाउस ऑव कॉमन्स में स्वयं ही उसे प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया गया।

इस आन्दोलन के सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सारे देश का दौरा किया था। उन्होंने इस आन्दोलन का महत्त्व इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

"आन्दोलन तो साधन था; परीक्षाएँ प्रतिद्वन्द्विता के लिए अधिकतम सीमा बढ़ाने की, और समकालिक परीक्षा की व्यवस्था करने की, उद्देश्यों में गणना थी; किन्तु इन सब बातों की तह में, सिविल सर्विस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य, भारतवासियों में एकता और सुदृढ़ता की भावना को जाग्रत करने का विचार था।"[2]

---

१. "सारे देश में—लाहौर, अमृतसर, मेरठ, इलाहाबाद, दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, अलीगढ़, बनारस, बम्बई, सूरत, अहमदाबाद, पूना और मद्रास में सभाएँ हुईं। Bannerjee : A Nation in the Making page 44 से अनूदित।

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४४.

(४)

अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों ने, जिनके मालिक और सम्पादक भारतीय ही थे, राष्ट्रीय जागृति को उत्पन्न किया और उसका पोषण किया। देश के आंग्ल भारतीय और भारतीय समाचार-पत्रों के बीच एक बड़ी खाई थी। आंग्ल भारतीय पत्र राष्ट्रीयता-विरोधी थे और सदा सरकार का पक्ष लेते थे। वे शासक और शासित जातियों के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता की नीति को व्यवहार में लाने के कट्टर विरोधी थे। दूसरी ओर भारतीय पत्र राष्ट्र-वादी, सरकारी नीति के आलोचक और जातीय समानाधिकार के प्रतिपादक थे। इसके अतिरिक्त वे पत्र, देश का शासन और नियंत्रण करने के लिए, भारतीयों के अधिकार का भी प्रतिपादन करते थे। सरकारी और ग़ैर-सरकारी आंग्ल-भारतीयों का यह सामान्य आक्षेप रहा है कि भारतीय पत्रों का—विशेषकर अंग्रेजी भाषा के पत्रों का—दृष्टिकोण द्रोहात्मक रहा है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय पत्रों ने विभिन्न (संपादन सम्बन्धी) कानूनों और अध्यादेशों के कारण बड़ी क्षति उठाई है और उन्होंने स्वदेश की बहुत बड़ी सेवा की है। आरम्भ में कोई राष्ट्रीय मंच नहीं था और उसका काम समाचार-पत्रों ने ही किया। उन्होंने शिक्षित वर्गों को जगाया और उनमें स्वदेश-भक्ति की भावना और राष्ट्रीय चेतना के बीज बोये। भारतीय पत्रों ने भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीतिक सुधार के पक्ष में निरन्तर प्रचार किया। यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा कि विभिन्न भाषाओं में —विशेषकर बंगला में —लोक-साहित्य के विकास ने महत्त्वपूर्ण काम किया। बंकिमचन्द्र चटर्जी-विरचित 'आनन्द मठ' को कुछ लोगों ने "आधुनिक बंगाली देशभक्ति की गीता" कहकर पुकारा है। इसी पुस्तक में 'वन्दे मातरम्' गान पहली बार सामने आया। 'आनन्द मठ' ने बंगाल में क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता की पाठ्य पुस्तक का काम किया।

(५)

आधुनिक यातायात के विकास ने भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि में सहायता की। संचार साधनों ने विस्तृत देश को एक सूत्र में गूँथ दिया और भौगोलिक ऐक्य सुस्पष्ट हो गया। अब, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सिविल सर्विस-सम्बन्धी अखिल भारतीय दौरे की तरह, राष्ट्रीय पैमाने पर प्रचार करना, और अत्यधिक दूरी के कारण विच्छिन्न लोगों में राष्ट्रीयता और एकता की भावना भरना संभव हो गया।

१८७७ में इंगलैण्ड की महारानी द्वारा नई उपाधि धारण करने के समय, वाइसराय ने उसकी घोषणा के लिए दिल्ली में एक विशाल दरबार किया और इसमें सम्मिलित होने के लिए देश के प्रत्येक भाग से राजा, नवाब और सामन्त आदि आए। यह देखकर राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को अखिल भारतीय सम्मेलनों का

आयोजन करने और अखिल भारतीय पैमाने पर राष्ट्रीय संस्था के संगठन करने का विचार सूझा। १८७७ के इस दरबार-समारोह पर भारतवासियों को बड़ा रोष हुआ, क्योंकि उस समय देश एक बहुत बड़े अकाल के चंगुल में था। किन्तु इस ऐश्वर्यपूर्ण प्रदर्शन द्वारा संयुक्त भारत का भान होने के कारण मि. अम्बिकाचरण मजूमदार ने उसे 'छद्मवेश में आशीर्वाद' बताया।"[1]

(६)

राष्ट्रीय एकता की भावना का निर्माण करने वाले कारणों में, शासकों और शासितों के बीच, जातीयता की कटु भावनाओं में वृद्धि का एक प्रमुख स्थान है।

१८५७ के विद्रोह से पहले भारतीयों और अंग्रेजों के पारस्परिक सम्बध घनिष्ठ एवं मित्रतापूर्ण थे। उस समय कोई वर्णगत अथवा जातिगत पक्षपात नहीं था। अंग्रेज संख्या में बहुत थोड़े थे और भारतीयों के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते थे। अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे जिनसे कितने ही प्रसिद्ध वंश अस्तित्व में आए। इनके अतिरिक्त अस्थायी और अनियमित सम्बन्ध भी होते थे।[2] किन्तु विद्रोह के बाद ये सब बातें बदल गईं।

ब्रिटिश भारत के इतिहास में, १८५७ के विद्रोह ने एकदम काया-पलट कर दी। शासकों और शासितों के पारस्परिक सम्बन्ध बिलकुल बदल गए। अंग्रेजों के हृदय में भारतवासियों के प्रति अविश्वास भर गया और जनता के प्रति सरकार की सारी नीति बदल गई। विद्रोह के कारण जो अविश्वास की नीति बनी, उसी के फलस्वरूप भारतीयों का—इनमें अत्यन्त राज-भक्त भी सम्मिलित थे—वास्तविक शक्ति अथवा महत्त्व के स्थानों से—जैसे सेना, पुलिस, विदेश और राजनीतिक विभाग से—बहिष्कार किया गया; सारे देश का निःशस्त्रीकरण किया गया और शस्त्र-एक्ट को बड़ी क्षुद्रता के साथ कार्यान्वित किया गया, और सैन्य शक्ति द्वारा सर्वसाधारण को आतंकित किया गया। इन बातों से एक ओर तो जनता में कटुता, घृणा और अवज्ञा की भावना बढ़ी और दूसरी ओर दीनता और दास्य मनोवृत्ति[3] बढ़ी। ऐसी दशा में अंग्रेजों और भारतीयों के बीच आदर, मित्रता और सहृदयता की भावनाओं का बना रहना असंभव हो गया।

---

१. A.C. Mazumdar: Indian National Evolution. page 33

२. Garrat: An Indian Commentary. page 115.

३. विद्रोह ने इस बात को प्रकट किया कि अंग्रेज अपने पूर्वाधिकारियों से श्रेष्ठतर नहीं थे। नादिरशाह की तरह अंग्रेजों ने भी दिल्ली में कत्ले-आम किया। मुगलों ने गाँवों को जलाकर, दोषी और निर्दोषी, सभी की हत्या करके अपनी सत्ता जमाई। अंग्रेजों ने उस परम्परा का पालन किया। अंग्रेज गुप्त शत्रु हो

विद्रोह के बाद, भारत में आने वाले अंग्रेज नवयुवकों के मस्तिष्क में भारतीयों के बारे में बड़ी विचित्र धारणाएँ होती थीं। वे, पंच के तत्कालीन हास्य-चित्रों के अनुसार[१] भारतीयों को ऐसा जन्तु समझते थे, जो आधा वनमानुष और आधा नीग्रो था, और जिसे केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था, और जिसके लिए जनरल नील और उसके साथियों का घृणा और आतंक का व्यवहार ही उपयुक्त था। जब भारत आने पर वे अपने उन देशवासियों के सम्पर्क में आते थे जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी घृणा की भावनाएँ, दृढ़तर हो जाती थीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ स्वतन्त्रता के साथ घुलना-मिलना और उनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना असंभव था। *अतः उन लोगों ने अपनी छावनियाँ और बस्तियाँ अलग बनाईं। साथ ही उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार-नीति बनाई। मि० गैरट के अनुसार इसके तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त थे : एक तो यह कि एक यूरोपियन का जीवन, कितने ही भारतीयों के जीवन के बराबर था। दूसरा यह कि "प्राच्य देशवासी केवल भय को ही समझता था।" तीसरा यह, कि वे वहाँ (भारत में) लोक-हित के लिए नहीं, वरन् अपने त्याग के फलों का स्वाद लेने के लिए, और साथ ही अपने निजी लाभ के लिए आये थे।[२] इन बातों के भयंकर परिणाम हुए और भारतीयों तथा अंग्रेजों के बीच की खाई बराबर बढ़ती गई।

आंग्ल-भारतीयों की मनमानी और आतंकपूर्ण नीति भारतीयों को विशेष रूप से खटकती थी। १८७२ में मलेरकोटला के उपद्रव में, बिना अभियोग-निर्णय किये, ४९ सिखों को तोप से उड़ा दिया गया।[३] इसके अतिरिक्त और बहुत-सी ऐसी घटनाएँ बार-बार हुईं जिनमें अंग्रेजों ने भारतीयों की हत्या की अथवा उनके साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया।[४] इन अपराधों के लिए या तो कोई दंड ही नहीं दिया

गए। विद्रोह के बाद आत्म दैन्य की वह भावना आरम्भ हुई जो ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक थी। Garrat: An. Indian Commentary, page 44.

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४५.

२. Garrat : उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४४.

३. Writes Sir Henry Cotton:—For my part I can recall nothing during my service in India more revolting and shocking than these executions.

४. Theodore Morrison: Imperial Rule in India. page 280. से अनूदित उद्धरण :—"बैरकपुर के एक प्रतिष्ठित वकील की बर्बरतापूर्ण ढंग से हत्या करने के अपराध में,

गया अथवा केवल साधारण-सा जुर्माना कर दिया गया। उपर्युक्त बातों ने सर्व-साधारण के मस्तिष्क में घृणा की ज्वाला को जीवित बनाए रखा। साथ ही जब कभी उपर्युक्त प्रकार की घटनाएँ होती थीं तो सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी अंग्रेज उनका समर्थन करते थे और आंग्ल-भारतीय पत्र उग्र आन्दोलन खड़ा कर देते थे। इन बातों से स्थिति और भी बिगड़ जाती थी। सर हेनरी कॉटन लिखते हैं: "यदि किसी चाय के रोपक पर किसी असहाय कुली को निर्दयतापूर्वक पीटने का अभियोग चलाया जाता है, तो उसका निर्णय करने के लिए चाय के रोपकों की जूरी बनाई जाती है। यह जूरी स्वाभाविक रूप से अभियुक्त के पक्ष में होती है। यदि उच्च न्यायालय के हस्तक्षेप से या अन्य किसी कारण से दोष-सिद्धि होती है तो अंग्रेजों का सारा जनमत उस निर्णय की निन्दा करता है। आंग्ल-भारतीय समाचार-पत्र अग्नि में आहुति डालते हैं और अपने पत्र में इस विरोध को व्यक्त करते हैं। अपराधी के व्यय के लिए चन्दे की उगाही की जाती है। प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा सरकार के लिए स्मरण-पत्र तैयार किये जाते हैं और उनमें अभि-युक्त के छुटकारे के लिए निवेदन किया जाता है।"[१] इसका स्वाभाविक परिणाम था जातीय कटुता में वृद्धि। जैसा कि मि० गैरट ने संकेत किया है, भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोतरी में उक्त कटुता की भावना का बहुत बड़ा प्रभाव हुआ।

(७)

लार्ड लिटन के राज्य-काल में ऐसी बहुत सी घटनाएँ हुईं जिनके फलस्वरूप भारत में जातीय विरोध और कटुता की भावनाओं में वृद्धि हुई। साम्राज्यीय दरबार समारोह के समय, भारतीय लोग भीषण दुर्भिक्ष की भयंकर कठिनाइयों में मृत्यु से संघर्ष कर रहे थे। "इस दरबार के अतिरिक्त, काबुल पर स्वेच्छानुसार आक्रमण किया गया···और दूसरा अफ़ग़ान-युद्ध हुआ; रूसी आतंक के कारण सेना में बहुत बड़ी वृद्धि की गई और वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षा सीमा बनाने के लिए काफी व्यय किया गया········; एक असहाय और निरपराध जनता का पूरी तरह निःशस्त्री-करण किया गया (किन्तु यूरोशियनों को नहीं छेड़ा गया); देशी पत्रों का मुखा-

---

तोपखाने के तीन आदमी अभियुक्त हुए किन्तु उनको केवल सात वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। इस पर एक सैनिक अधिकारी ने कहा कि 'संसार के अन्य किसी भाग में इन आदमियों को फाँसी की सजा दी जाती। इस पर लन्दन के एक पत्र ने कहा कि नाम जाने बिना यह विश्वास करना कठिन है कि भारत में ऐसा भी कोई अंग्रेज है जिसकी उक्त अधिकारी की सी सम्मति है।"

१. Sir Henry Cotton : New India, Page 48.

रोधन किया गया; लंकाशायर के स्वार्थ के लिए कपास-सीमा-शुल्क का बलिदान किया गया।"[१] उपर्युक्त सारी बातें भारतवासियों के लिए अत्यन्त अरुचिकर थीं और उनका प्रबल विरोध हुआ और उनके कारण, सर्वसाधारण में प्रचार और आन्दोलन के लिए विभिन्न भारतीय संस्थाओं का संगठन किया गया।

किन्तु अभी अखिल भारतीय संगठन को अस्तित्व में लाने के लिए स्थिति परिपक्व नहीं हो पाई थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना करने के लिए अभी इल्बर्ट विधेयक पर आंग्ल-भारतीय आन्दोलन, और शासक वर्ग के क्षुद्र स्वार्थ उसके जातीय अहंकार तथा उसकी उग्रता का प्रदर्शन होना आवश्यक था।"[२]

(८)

इल्बर्ट विधेयक-सम्बन्धी विवाद में भारतीयों की असफलता ने प्रान्तों की जनता को जगाया और तीन प्रेसिडेन्सियों में पिछले कुछ समय से जो राजनीतिक संस्थाएँ काम कर रही थीं, उनमें नया जीवन भर दिया। कलकत्ता के इंडियन ऐसोसियेशन ने १८३३ में एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया था। इसमें बंगाल के अधिकांश बड़े नगरों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और इसे "राष्ट्रीय संसद् की दिशा में प्रथम चरण" बताया [३]गया। १८८४ में मद्रास महाजन सभा ने मद्रास में एक प्रान्तीय सम्मेलन किया। ३१ जनवरी १८८५ को बम्बई में एक सार्वजनिक सभा हुई और उसके फलस्वरूप बम्बई प्रेसिडेन्सी एसोसियेशन अस्तित्व में आया। सन् १८७०में पूना में 'सार्वजनिक सभा' नामक संस्था बनी और उपयोगी काम करती रही। उसने "पश्चिमी भारत को जगाने में और साथ ही सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं पर जनमत तैयार करने में महत्त्वपूर्ण काम किया।"[४] सन् १८८३ में एक मार्च को मि० ह्यूम ने [५]कलकत्ता-विश्वविद्यालय के

---

१. A. C. Mazumdar : Indian National Evolution.

२. इसी पुस्तक के छठे और सातवें अध्यायों को देखिये। जातीय भेद-भाव को समाप्त न कर सकने का कारण यह बताया गया कि "आंग्ल-भारतीय जाति के सुसंगठित और प्रबल विरोध का सन्तुलन करने के लिए सारे देश में प्रबल एवं संयुक्त समर्थन का अभाव था।" A. C. Mazumdar: Indian National Evolution, page 39. के एक उद्धरण से अनूदित।

३. Reported by Mr. Wilfred Blant. Quoted in Bannerji: A Nation in the Making pages 86-87.

४. Kellock : Mahadeva Govind Ranade. page 25.

५. मि० ह्यूम भारत के एक प्रतिष्ठित ब्रिटिश अधिकारी थे। उन्होंने १८८२ में सर्विस से त्याग-पत्र दे दिया था और वे शिमले में बस गए थे। वे 'इंडियन नेशनल कांग्रेस के पिता' के नाम से परिचित हैं।

स्नातकों के नाम एक खुला पत्र सम्बोधित किया और उनसे राष्ट्रीय सेवा के लिए आत्मसमर्पण करने की अपील की। मि० ह्यूम ने इस पत्र में "इस शाश्वत सत्य पर जोर दिया कि सुख और स्वतन्त्रता के लिए, आत्म त्याग और निस्वार्थता से ही विश्वसनीय निर्देश मिलता है।"[१] उसके बाद सन् १८८४ के दिसम्बर में, देश के विभिन्न भागों का प्रतिनिधित्व करने वाले १७ भले और सच्चे व्यक्तियों ने मद्रास में दीवान बहादुर रघुनाथ राव के निवास-स्थान पर एक बैठक की और राष्ट्रीय संस्था[२] बनाने के उद्देश्य से देश के विभिन्न भागों में काम करने का निश्चय किया। इनमें से अधिकांश व्यक्ति मद्रास में थियोसॉफ़िकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए आये थे। लगभग इसी समय एक 'इंडियन यूनियन' स्थापित हुई। १८८५ के मार्च में इस यूनियन ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया और आगामी बड़े दिन पर पूना में इस उद्देश्य से एक सम्मेलन बुलाया कि राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ता परस्पर परिचित हो सकें और आगामी वर्ष के लिए विचार-विनिमय द्वारा राजनीतिक कार्यक्रम निश्चित कर सकें।"

इस विज्ञापन को प्रकाशित करने से पहले मि० ह्यूम ने वायसराय लॉर्ड डफ़रिन से परामर्श कर लिया था और उन्होंने वायसराय के सुझाव पर उक्त संस्था को राजनीतिक रूप दिया था अन्यथा उनका निजी विचार तो सामाजिक सम्मेलन के लिए एक मंच बनाने का था। लॉर्ड डफ़रिन यह चाहते थे कि नई संस्था इंग्लैण्ड के राजकीय विरोधी दल की भाँति काम करे···सरकार को यह बताये कि शासन में कहाँ और क्या दोष हैं और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है।"[३]

विज्ञापन को प्रकाशित करके और साथ ही सम्मेलन के लिए दिनांक (२८, २९ और ३० दिसम्बर १८८५) निश्चित करके, मि० ह्यूम, इंग्लैण्ड में उसके अनु-कूल वातावरण बनाने के उद्देश्य से, वहां गए। कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए वह समय पर भारत लौट आए। हैजा फैल जाने के कारण सम्मेलन का स्थान पूना से हटाकर बम्बई कर दिया गया। इस प्रकार १८८५ के १८ दिसम्बर को, राष्ट्रीय महत्त्व के राजनीतिक विषयों पर विचार करने के लिए, इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला सम्मेलन बम्बई में हुआ।[४] इसमें देश के विभिन्न भागों के बहत्तर प्रतिनिधि

---

१. Mazumdar - Indian National Evolution. page. 47

२. Annie Besant : How India wrought for Freedom page 1.

३. Mazumdar उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५१

४. लगभग इसी समय कलकत्ता में एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें केवल बंगाल

सम्मिलित हुए। उस समय के बाद कांग्रेस का अधिवेशन भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक किसी एक महत्वपूर्ण केन्द्र में प्रतिवर्ष हुआ है।

कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था थी और उसमें देश के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व था। आरम्भ में मुस्लिम प्रतिनिधियों की संख्या कुछ कम थी[१] और तत्कालीन, महान् मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद कांग्रेस से दूर थे, यहाँ तक कि उन्होंने बनारस के राजा शिवप्रसाद की सहायता से 'परम राजभक्तों' की एक विरोधी संस्था बनाई थी।[२] अन्यथा कांग्रेस पूरी तरह लोक-प्रतिनिधि संस्था थी[3] और सन् १९०७ के विभेद तक, लगभग सभी प्रमुख भारतीय उसकी परिधि के अन्तर्गत थे। साथ ही, मि० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न, सर हेनरी कॉटन, मि० एण्ड्रिड यूल और मि० नॉर्टन-जैसे अनेक योग्य एवं उदारमना आंग्ल-भारतीय भी कांग्रेस में सम्मिलित थे।[४] सूरत की फूटके समय तक कांग्रेस एक उदार और नरमदली संस्था थी और

के ही नहीं वरन् उत्तरी भारत के नगरों—मेरठ, इलाहाबाद, बनारस···से भी प्रतिनिधि आए। "सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अमीर अली, मुख्य संगठनकर्त्ता थे। उन्हें बम्बई के सम्मेलन का जब पता लगा तो उस समय तक देर हो गई थी और कलकत्ता सम्मेलन का निलंबन करना संभव नहीं था किन्तु अगले वर्ष से वे लोग कांग्रेस में मिल गए और उसको हार्दिक सहयोग दिया।" Bannerjee : A Nation in the Making page 89-99.

१. पहले अधिवेशन में दो मुस्लिम प्रतिनिधि आये, दूसरे में ३३ और छठे में १०७.

२. मि. ह्यूम ने कांग्रेस-विरोधियों को तीन वर्गों में बाँटा:—(१) आंग्ल-भारतीय अधिकारी और पत्र, (२) कुछ नासमझ किन्तु ईमानदार भारतीय, (३) कुछ अवसरवादी···जैसे मुस्लिमवर्ग। मि० ह्यूम के अनुसार इस विरोध की प्रेरणा बाहर से फूट डालकर राज्य करने की नीति से चिपके हुए कुछ भ्रान्त अधिकारियों से मिली। उन्होंने विरोधी आन्दोलन को अस्वाभाविक और कुटिल बताया। Wedderburn: Allam Octarian Hume. Pages 71 to 73. से अनूदित।

३. ये प्रतिनिधि लोक-निर्वाचित नहीं थे। वे राष्ट्र के सर्वोत्तम विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे।

४. लाला लाजपतराय लिखते हैं, "इस आन्दोलन को एक अंग्रेज ने, एक अंग्रेज वायसराय के सुझाव पर चलाया। यह आन्दोलन अन्दर से नहीं उठा था।" (Young India page 154 से अनूदित)। यह सच है कि मि० ह्यूम प्रमुख संगठनकर्ता थे। और लॉर्ड डफ़रिन के परामर्श से ही उन्होंने कांग्रेस को राजनीतिक रूप दिया। किन्तु यह भी सच है कि सन् १८८८ में डफ़रिन

केवल शिक्षित वर्गों तक ही सीमित थी।[१] श्री तिलक और संभवतः श्री गोखले के अतिरिक्त उसके नेतागण स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत बलिदान करने को तैयार नहीं थे। आत्म-निर्भर एवं स्वतंत्र कार्यवाही के स्थान पर वे 'राजनीतिक भिक्षा' में विश्वास करते थे। किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि १८८५-१९०७ के युग में इंडियन नेशनल कांग्रेस राज-भक्ति प्रदर्शित करती थी, उसकी सुचिन्तित नीति नरमदली थी और उसकी भाषा निवेदनात्मक ही नहीं वरन् याचनापूर्ण थी तथापि, उसने उस युग में, भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधने और उनसे राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जागृति फैलाने के लिए, महत्वपूर्ण मौलिक काम किया था।

दसवाँ अध्याय

१८९२ का भारतीय परिषद् एक्ट

(१)

इंडियन नेशनल कांग्रेस के कार्य का पहला परिणाम था सन् १८९२ का भारतीय परिषद् एक्ट। कांग्रेस ने अपने पहले ही अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा सरकार की वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष प्रकट किया था और यह निवेदन किया था, कि परिषदों में, निर्वाचित सदस्यों को प्रचुर अनुपात में सम्मिलित करके

ने आन्दोलन का विरोध किया और कांग्रेस को नगण्य अल्पसंख्यकों की संस्था बताया। जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कांग्रेस तो एक मूलतः राष्ट्रीय आन्दोलन की पराकाष्ठा थी। प्रान्तीय राजनीतिक संस्थाओं ने आधार तैयार कर दिया था और राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १८८३ में ही प्रकट किया था। जिस समय बम्बई में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ ठीक उसी समय कलकत्ता में राष्ट्रीय सम्मेलन हो रहा था।

१. Sir Valentine Chirol: Indian Unrest page 154-155. से एक अनुवाद: "वह केवल एक वर्ग का अथवा एक वर्ग के भी एक खण्ड का प्रतिनिधित्व करती है। इस वर्ग में पश्चिमी शिक्षा पाए हुए व्यवसायी, वकील, डॉक्टर, अध्यापक, संपादक आदि मध्यम श्रेणी के लोग हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह वर्ग महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है किन्तु वह कुल जनसंख्या के शतांश से अधिक नहीं है।

······सुधार और विस्तार किया जाय; उत्तरी पश्चिमी प्रान्त और अवध, और साथ में पंजाब के लिए भी वैसी ही परिषदें बनाई जायें और; परिषदों को बजट पर चर्चा करने और "कार्यपालिका से शासन के प्रत्येक विषय पर प्रश्न करने" का अधिकार दिया जाय।[१]

पहले दो वर्षों तक कांग्रेस की कार्यवाहियों के प्रति सरकार की दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण रही, किन्तु १८८८ से उसकी नीति एकदम बदल गई। कारण यह था कि कांग्रेस भारत और इंगलैंड—दोनों ही स्थानों—में अत्यधिक ध्यान आकर्षित करने लगी थी। लॉर्ड डफ़रिन ने कांग्रेस को शिक्षित भारतीयों की 'नगण्य संख्या' की[२] प्रतिनिधि संस्था बताया। इलाहाबाद के लिए निर्दिष्ट चौथे अधिवेशन के मार्ग में हर प्रकार की बाधाएँ डाली गईं और १८९० में सरकारी नौकरों को कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित न होने के लिए अनुदेश दिये गए।

तथापि लॉर्ड डफ़रिन ने परिषदों के सुधार के लिए कांग्रेस की माँग पर ध्यान देना आवश्यक समझा। उसने अपनी परिषद् की एक कमेटी नियुक्त की और उसकी सहायता से, "प्रान्तीय परिषदों के विस्तार के लिए, उनका पद और कार्यक्षेत्र बढ़ाने के लिए, उनमें निर्वाचन-सिद्धान्त······अंशतः पुरःस्थापन करने के लिए और उनके राजनीतिक स्वरूप को विस्तृत करने के लिए एक योजना" तैयार की।[3] किंतु संसद् व्यवस्था (Parliamentary System) के पुरःस्थापन के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। कार्यपालिका अब भी "किसी स्थानीय सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं की गई; वह यथापूर्व ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी बनी रही।"[४] इसी कारण उक्त योजना में नाम निर्देशित अंश का आधिक्य बनाये रखने की और साथ ही कार्यपालिका-अध्यक्ष को अपनी परिषद् की उपेक्षा करने के अधिकार की व्यवस्था की गई।[५]

भारत-मंत्री ने उक्त योजना में और सब बातों का अनुमोदन किया लेकिन निर्वाचन-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। अस्तु, अभी भारत-मंत्री और भारत-

१. Resolution No. 3.—Besant, How India wrought for freedom. page 13.

२. Speech of Lord Dufferin at St. Andrews Club. Calcutta.

३. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 42.

४. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 43.

५. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ४४

सरकार के बीच राजकीय पत्र-व्यवहार चल ही रहा था कि १८९० में मि० चार्ल्स ब्रैडलॉ ने हाउस ऑव कॉमन्स में, १८६१ के भारतीय परिषद एक्ट का संशोधन करने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत कर दिया। मि. ब्रैडलों को सन् १८८९ के कांग्रेस-अधिवेशन का सभापतित्व करने के लिए बुलाया गया था। इस अधिवेशन में कांग्रेस-द्वारा स्वीकृत सुधार-योजना को ही उक्त विधेयक में रूप दिया गया। इस योजना की मुख्य बातें यह थीं:-निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था हो; सरकारी सदस्य एक चौथाई से अधिक न हों; सम्राज्यीय एवं प्रान्तीय विधान-परिषदों में निर्वाचित सदस्य कुल के आधे से कम न हों। भवन के व्यस्त कार्यक्रम में विधेयक पर ध्यान नहीं दिया गया।[1]

१८९० में हाउस ऑव लॉर्ड्स में सरकारी प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और उस भवन ने कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधनों के साथ उसे स्वीकार कर लिया। हाउस ऑव कॉमन्स में यह विधेयक पहले वाचन से आगे नहीं बढ़ पाया। अन्ततः १८९२ में संशोधित सरकारी विधेयक को दोनों भवनों ने स्वीकृति दी और इस प्रकार १८९२ का भारतीय परिषद् एक्ट बना।

(२)

इस एक्ट ने पहली बात तो यह की कि उसने अतिरिक्त सदस्यों की संख्या को बढ़ा दिया। सर्वोच्च परिषद् के लिए इनकी संख्या कम-से-कम दस और अधिक-से-अधिक १६ निश्चित की गई; बम्बई और मद्रास की परिषदों के लिये न्यूनतम सीमा ८ और अधिकतम सीमा २० थी। साथ ही बंगाल की अधिकतम सीमा २० और उत्तरी पश्चिमी प्रान्त तथा अवध की अधिकतम सीमा १५ थी।[2]

पार्लियामेण्ट के सदस्य मि. श्वान ने अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में इस वृद्धि को अत्यन्त तुच्छ और दयनीय बताया। किन्तु मि०कर्ज़न ने समर्थन किया और यह तर्क प्रस्तुत किया, "कि किसी विचारशील निकाय की क्षमता उसकी संख्या शक्ति से अनिवार्य रूप से संबंधित नहीं है·····बहुत बड़े निकाय. . .मितव्ययी शासन के प्रोत्साहक नहीं होते, परन्तु वे प्रायः अपनी शक्ति को अस्पष्ट और निरर्थक वार्तालाप में खपा देते हैं।"[3]

---

१. मि. ब्रैडलॉ ने अगले वर्ष फिर प्रयत्न किया किन्तु फिर भी असफल रहे।

२. Clause 1. Sub section 1 and 2 of the Act, Mukherjee : Indian Constitutional Documents vol. I, page 227.

३. Keith : Speeches and Documents on Indian Policy vol. II. page 60.

एक्ट ने दूसरी बात यह की कि उसने सपरिषद् गर्वनर-जनरल को सपरिषद् भारत-मंत्री के अनुमोदन से अतिरिक्त सदस्यों के नाम निर्देशन के लिए विनियम बनाने और "उन विनियमों को कार्यान्वित करने के लिए पद्धति निश्चित करने का अधिकार दिया।"[१] जैसा कि लॉर्ड किम्बरले ने कहा है, सरकार ने आश्वासन दिलाया कि इस खण्ड के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल के लिए ऐसी व्यवस्था करना संभव होगा कि उसके अनुसार वह निर्वाचन द्वारा छाँटे हुए व्यक्तियों में से नाम-निर्देशन कर सकेगा।[२]

एक्ट ने तीसरी बात यह की कि उसने परिषदों को वार्षिक वित्तीय विवरण पर चर्चा करने का अधिकार दिया——"बजट की हर मद पर एक-एक करके मत देने का अधिकार नहीं दिया, वरन् सरकार की वित्तीय नीति की पूर्ण एवं स्वतंत्र समालोचना करने का अधिकार दिया।"[३]

अन्त में परिषदों के सदस्यों को गवर्नर-जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा निर्मित नियमों और प्रतिबंधों के अन्तर्गत सार्वजनिक विषयों पर प्रश्न पूछने का अधिकार भी दिया गया।[४]

---

१. Clause I. Sub section 4 of the Act, Mukherjee : Indian Constitutional Documents. vol 5. page 227.

२. Keith : Speeches and Documents on Indian Policy vol. II page 60.

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५६

४. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५७

युग २

(सन् १८९२ से १९०९ तक)

ग्यारहवाँ अध्याय

शासन तथा संविधान से संबंधित परिवर्तन

(१)

भारत के वैधानिक विकास में अगला महत्त्वपूर्ण सीमांक है सन् १९०९ का भारतीय परिषद् एक्ट। इसमें लॉर्ड मॉर्ले और लॉर्ड मिण्टो के नाम से संबंधित सुधार योजनाओं को रूप दिया गया। सन् १८९२ से १९०९ तक के युग में कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रशासनीय कार्य एवं परिवर्तन हुए; इनमें से अधिकांश के साथ लॉर्ड कर्ज़न का नाम जुड़ा हुआ है। इन परिवर्तनों में मौलिक बात है, शासन का केन्द्रीकरण और अधिकारीकरण; किन्तु वित्तीय क्षेत्र में, पिछले युग में आरंभ की हुई निक्षेपण की नीति को ही व्यवहार में लाया गया। लॉर्ड कर्ज़न के राज्य-काल में एक ओर तो भारतवासियों के प्रति, साथ ही उनकी योग्यता और सचाई के प्रति अविश्वास था, और दूसरी ओर कुशलता एवं निपुणता[1] के लिए दृढ़ खोज थी, फिर चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हों। किन्तु इस युग १८९२–१९०९ की सबसे अधिक महत्त्व की घटना यह थी कि लोगों में एक नई भावना का—आत्म-विश्वास और पौरुष की भावना का और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए बलिदान करने की तत्परता का जन्म हुआ। इस युग के अन्तिम छः वर्षों में बड़ी भारी उथल-पुथल हुई और दो राजनीतिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ—एक धारा थी आतंकवादी एवं अराजकतावादी और दूसरी थी शौर्यपूर्ण राष्ट्रीयतावादी जिसके नेता थे, श्री तिलक, अरविन्द घोष, बाबू विपिनचन्द्रपाल और लाला लाजपतराय। कांग्रेस दो दलों में बँट गई—नरम दली और उग्र दली; और ब्रिटिश सरकार ने उग्रता और क्रांति के ज्वार को रोकने के लिए नरमदली लोगों और मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने और परिषदों में सुधार करने की नीति अपनाई। ये सुधार, मॉर्ले मिण्टो सुधार के नाम से प्रसिद्ध हैं।

---

१. ३० सितम्बर १९०५ को लॉर्ड कर्ज़न ने अपनी विदाई के एक व्याख्यान में कहा: "एक शब्द में मेरे काम का परिचय पूछा जाय तो मैं कहूंगा, कुशलता। वही उद्देश्य है और वही हमारे शासन की कुंजी है।" Nevinson: The New Spirit in India. page 13 से अनूदित।

(२)

सन् १८९२–१९०९ के युग में सबसे पहली बात तो यह थी कि वित्तीय निक्षेपण की नीति को जारी रखा गया। लॉर्ड कर्ज़न की सरकार ने सन् १८८२ की व्यवस्था के चौहरे दोषों[1] को दूर करने के लिए सन् १९०४ में अर्ध-स्थायी बन्दोबस्त किया। इसमें प्रत्येक प्रान्त का राजस्व में साझा निश्चित कर दिया गया और सम्राज्ञीय आवश्यकता की असाधारण परिस्थिति के अतिरिक्त इस साझे में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। कालान्तर में अनुभव से यह पता लगने पर कि प्रान्तीय आवश्यकता की दृष्टि से उक्त बँटवारा अनुचित अनुपात में हुआ है, तो उस दशा में भी उस साझे में परिवर्तन हो सकता था।[2] यहाँ बँटवारा तत्कालीन आवश्यकताओं के आधार पर किया गया था और विशेष कार्यों की पूर्ति के लिए वार्षिक अनुदान की व्यवस्था थी। इससे तत्कालीन असाम्य स्थायी कर दिया गया किन्तु अनिश्चितता दूर हो गई और अपव्यय के लिए अथवा बचत को समाप्त करने के लिए कोई लालच नहीं रहा। प्रान्तीय बचत को हथियाने की नीति छोड़ने के फलस्वरूप मितव्ययिता केवल संभव ही नहीं हुई वरन् उसे प्रोत्साहन भी मिला।

यह व्यवस्था सन् १९०४ में आरंभ हो गई और सन् १९०६ तक यह सब प्रान्तों में लागू हो गई। अप्रैल १९०७ में इसे बर्मा में भी कार्यान्वित कर दिया गया। कुछ नगण्य परिवर्तनों के अतिरिक्त सन् १९१२ तक मूलतः यही व्यवस्था बनी रही।

(३)

इस युग में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि भारत की सेना का एकीकरण किया गया और युद्धकालीन क्षमता की दृष्टि से उसका पुनर्संगठन किया गया। इसका श्रेय है लॉर्ड किचनर को जो, १९०२ से १९०९ तक भारत में सेनापति थे। यद्यपि सुधार-योजना को नवम्बर १९०३ में सरकार के समक्ष रखा गया था किन्तु वास्तविक पुनर्संगठन १९०८ तक पूरा नहीं हो पाया। इस दिशा में ब्रिटिश पार्लिया-मेण्ट ने १८९३ में मद्रास और बम्बई सेना एक्ट बना कर एक महत्वपूर्ण पग आगे बढ़ाया। इस एक्ट के अनुसार मद्रास और बम्बई की सेनाओं के सेनापतियों के पद तोड़ दिये गए, भारत की सारी सेना को एक सेनापति के आधीन कर दिया गया और सपरिषद् गवर्नर-जनरल को उसके नियंत्रण का अधिकार दिया गया।[3]

---

१. इसी पुस्तक का आठवाँ अध्याय देखिये। ये चार दोष थेः—दोहराने के समय होने वाले झगड़े; अपव्यय; मालगुज़ारी की उगाही में अत्यन्त कठोरता; और विभिन्न प्रान्तों की विषमता में वृद्धि।

२. Report on Indian Constitutional Reforms 1918. page 70.

३. सेना के एकीकरण के लिए मार्ग तैयार किया जा चुका था। सन् १८६४ में

सन् १९०८ में भारतीय सेना के दो भाग थे। इनमें से प्रत्येक भाग अथवा सेना में पाँच डिवीज़न थे। उत्तरी सेना का केन्द्र मरी में था और लड़ाकू मोर्चा पेशावर में था; दक्षिणी सेना का केन्द्र पूना में था और उसका मोर्चा क्वेटा में था। प्रत्येक सेना का एक पृथक् सेनाध्यक्ष था जिस पर संचालन, निरीक्षण और शिक्षण का दायित्व था किन्तु शासन कार्य से उसका कोई संबंध नहीं था।[1] शासन के लिये दोनों ही सेनाएँ, प्रधान सैन्य-केन्द्र के आधीन थीं। सैनिक अफ़सरों और अधिकारियों के शिक्षण के लिये कैम्बरले के नमूने पर क्वेटा में एक कॉलेज खोल दिया गया था।

लॉर्ड किचनर के सुधारों के फलस्वरूप भारतीय सेना की शक्ति[2] और कुशलता[3] में वृद्धि हुई किन्तु साथ ही सैन्य-व्यय बहुत बढ़ गया। इन सुधारों से सेना में भारतीयों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और सामरिक तथा असामरिक जातियों के भेद को और अधिक बढ़ा दिया गया। पुराना वर्ग-भेद भी जारी रखा गया। यद्यपि ब्रिटिश सैन्य-दल का उपयोग मुख्यतः आन्तरिक सुरक्षा के लिए ही था और उस पर भारतीय सीमाओं के संरक्षण का विशेष दायित्व नहीं था, तथापि उसकी शक्ति में वृद्धि की गई।[4]

(४)

भारतीय सेना के पुनर्संगठन एवं पुनर्वितरण के प्रश्न के साथ सीमा-नीति और नियंत्रण के प्रश्न का घनिष्ठ संबंध था। सीमा प्रान्तीय ज़िलों पर पंजाब और केन्द्रीय सरकार का दोहरा नियंत्रण था जिसके कारण संघर्ष होते थे, अस्थिरता

सेना के तीन लेखा-विभागों को मिलाकर एक कर दिया गया था; सन् १८७६ में तीन अश्व-विभागों को मिला दिया गया था; १८८४ में आर्डिनेंस विभागों को मिला दिया गया था और १८९१ में तीनों प्रान्तों के अधिकारी दल को एक भारतीय अधिकारी दल में मिला दिया गया था।

१. Indian Army and its Evolution. page 31

२. इस वृद्धि के बाद सेना में ९ पैदल और ८ घुड़सवार दल हो गए; आन्तरिक सुरक्षा के लिये ८२००० सैनिकों के अतिरिक्त सेना में कुल १५२००० सैनिक हो गए।

३. इस पुनर्संगठन के कारण एक प्रबल सेना हेलमन्द्र और एक सेना काबुल भेजना संभव हुआ—Frazer : India under Curzon and after. page 407.

४. विद्रोह के बाद ब्रिटिश सेना, भारत में आधिपत्य सेना के रूप में रही है न कि सुरक्षा सेना के रूप में।

रहती थी, अत्यधिक केन्द्रीकरण था और कामों में अतिशय विलम्ब होता था।[1] लॉर्ड कर्ज़न ने इस द्वैध नियंत्रण को तोड़कर, एक पृथक् उत्तरी सीमा प्रान्त बनाने का प्रस्ताव किया। इस नए प्रान्त के लिए, भारत-सरकार के प्रति उत्तरदायी एक चीफ़ कमिश्नर की व्यवस्था थी। इस प्रस्ताव को भारत-मंत्री ने स्वीकार किया और सम्राट एडवर्ड सप्तम के जन्म-दिन पर १९०१ में ९ नवम्बर को नया प्रान्त बन गया।

लॉर्ड लैंसडाउन ने जाने से पहले, सीमा प्रान्तीय प्रदेश पर पूर्ण नियंत्रण की प्रगतिशील नीति आरंभ कर दी थी। कुछ सैनिक विशेषज्ञों ने सिंधु नदी पर सीमा बनाने की नीति का प्रतिपादन किया था। लॉर्ड कर्ज़न ने मध्य स्थिति को अपनाया। उसने अग्रिम मोर्चों के १५,००० ब्रिटिश अथवा नियमित सैनिकों में से १०,००० को वापिस बुला लिया और जन जाति क्षेत्रों (Tribal Territory) की रक्षा का काम उन्हीं में से तैयार किये हुए १०,००० अनियमित सैनिकों को सौंप दिया। उसने नियत अवधि के बाद इन जातियों को भत्ते में निश्चित रकम देने की व्यवस्था को अपनाया। बदले में इन लोगों का यह दायित्व था कि सड़कों और घाटियों के मार्ग खुले रहें, उस क्षेत्र में शान्ति रखी जाय और अपराधियों को दंड दिया जाय।[2] ब्रिटिश क्षेत्र में लूट-मार के हमले रोकने के लिए, अनियमित सैन्य-दल की सहायतार्थ, सैनिक पुलिस की व्यवस्था थी। निकट के सुविधापूर्ण केन्द्रों में नियमित सैन्य-दल थे जो आदेश पाने पर अविलम्ब धावा बोलने को तैयार रहते थे। अन्त में सड़कों का सुधार किया गया और सैनिक यातायात की सुविधा के लिये महत्त्वपूर्ण रेलवे मार्ग बनाए गये। इस प्रकार भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ की गई।

(५)

लॉर्ड कर्ज़न ने शासन के अन्य क्षेत्रों में भी केन्द्रीकरण की नीति को अपनाया। उसने शिक्षा, कृषि, संमार्जन, सिंचाई, पुरातत्त्व, खानों इत्यादि के विषयों में निर्देशन और नियंत्रण के लिए विशेषज्ञों की नियुक्तियाँ कीं। उसने यह अनुभव किया कि सुनिश्चित एवं समान नीति के तथा केन्द्रीय नियंत्रण के अभाव में उपर्युक्त विषयों का शासन ठीक नहीं होता था। अतः उनके दोषों को दूर करने के उद्देश्य से शिक्षा, पुरातत्व, वाणिज्य, तथ्य और गुप्तचर कार्य—इनमें से प्रत्येक विभाग के लिए एक-एक डाइरेक्टर-जनरल की; कृषि और सिंचाई के लिए इंस्पेक्टर-जनरल की; संमार्जन के लिए निरीक्षक की और खानों के लिये मुख्य निरीक्षक की, नियुक्तियाँ की गईं।

लॉर्ड कर्ज़न ने बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेन्सी सरकारों की स्वायत्तता को

---

१. Ronaldshay : Life of Lord Curzon. Vol. II. page 134

२. Frazer : India under Curzon and After, pages 53-54.

समाप्त करके उन्हें अन्य प्रान्तीय सरकारों के स्तर पर लाने का भी प्रयत्न किया। किन्तु भारत-मंत्री और ब्रिटिश मंत्रि-मंडल ने इसके लिये अनुमति नहीं दी।

(६)

केन्द्रीकरण की नीति के साथ अधिकारीकरण की नीति को भी अपनाया गया। स्थानीय निकायों और विश्वविद्यालयों-जैसी सार्वजनिक संस्थाओं में भी सरकारी अधिकारियों को घुसा दिया गया ; परीक्षा में प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर नियुक्ति की जगह नाम निर्देशन की नीति अपनाई गई; और उच्चतर पद अंगरेजों के लिए सुरक्षित रखे गए, क्योंकि "उनमें अपने पैतृकाधिकार पोषण और शिक्षा के कारण, शासन के लिए अनिवार्य, चरित्र बल, शासन के सिद्धान्तों का बोध और मनोयोग था।"[१] लॉर्ड रिपन की तरह लॉर्ड कर्जन को भारतवासियों को स्वशासन के लिए शिक्षा देने में विश्वास नहीं था। भविष्य में कुशलता और स्वतन्त्रता के लिए वह वर्तमान में कुशलता का बलिदान करने को तैयार नहीं था। अतः स्थानीय स्वशासन को रोकने के लिए और विश्वविद्यालयों के अधिकारीकरण के लिए उसने दो एक्ट बनाए।

१८९९ के कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट ने कार्पोरेशन के सदस्यों की संख्या को ७५ से घटाकर ५० कर दिया। ये २५ सदस्य करदाताओं के प्रतिनिधियों में से कम किये गए। ब्रिटिश सदस्यों का निश्चित बहुमत कर दिया गया और भारतीयों को कार्पोरेशन और उसकी कमेटियों में अल्पसंख्यक बना दिया गया। जनता ने इसका तीव्र विरोध किया और कार्पोरेशन के २८ भारतीय सदस्यों ने संयुक्त रूप से त्याग-पत्र दे दिया।

इसी नीति के कारण १९०४ का भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट बना। जैसा कि लॉर्ड रोनैल्डशे ने कहा है:—उसका मुख्य उद्देश्य विश्वविद्यालयों की सीनेट और शासन-समिति का यूरोपीयकरण था और इन विश्वविद्यालयों को पूर्ण रूप से सरकारी विश्वविद्यालय बनाना था।[२] लॉर्ड कर्जन ने सन् १९०० में ही विश्वविद्यालयों की शिक्षा के संबंध में सरकारी दायित्व और नियंत्रण की नीति का प्रतिपादन किया था। १९०४ के एक्ट में उसी नीति को रूप दिया गया था। सारे देश के शिक्षित भारतीयों ने इस एक्ट का प्रबल विरोध किया। फ़्रेजर ने लिखा है:—"उन (भारतीयों) को इस बात का पूरा विश्वास था कि वायसराय विश्व-विद्यालय व्यवस्था को क्षति पहुँचाना चाहते हैं।"[३]

---

१. Buchan : Lord Minto के एक उद्धरण का अनुवाद।

२. Ronaldshay: The Life of Lord Curzon. Vol. II page 162.

३. Frazer: India under Curzon and After. page 181.

सन् १९०४ के एक्ट में तीन मुख्य उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया था—(१) विश्वविद्यालय का कार्य केवल परीक्षा लेने तक ही सीमित न हो वरन् वहाँ अध्ययन और अनुसंधान को सक्रिय प्रोत्साहन दिया जाय—यह बात कई दशाब्दियों तक केवल एक आशा-मात्र ही रही, (२) विश्वविद्यालय और उसके अन्तर्गत कॉलिजों में घनिष्ठतर संबंध हो और कॉलिजों का कठोरतर नियंत्रण हो, और (३) सीनेट, सिण्डीकेट और फ़ैकल्टी का आकार कम किया जाय। नई सीनेटों के ८० प्रतिशत सदस्यों के सरकार द्वारा नाम निर्देशित किये गए।

लॉर्ड कर्ज़न की जीवनी लिखने में जैसा कि लॉर्ड रोनैल्डशे ने कहा है इस एक्ट ने आशाओं को पूरा नहीं किया:– "सत्य इस बात को मानने के लिए विवश करता है कि वायसराय ने जितना समय और ध्यान दिया था उसकी तुलना में .....जो वास्तविक परिवर्तन हुए वे नहीं के बराबर थे।"[1]

ज़मीन और मालगुज़ारी, मुद्रा एवं व्यवसाय, सिंचाई, पुलिस, रेलवे-शासन और सरकारी शासन-संबंधी सुधारों में लॉर्ड कर्ज़न को अधिक सफलता मिली।

शासन ढर्रेवार हो गया था और उसमें गति एवं सुचारुता का अभाव था। विचाराधीन प्रश्न पर इतनी रिपोर्ट और सम्मतियाँ लिखी जाती थीं कि उन रिपोर्टों के बीच वास्तविक प्रश्न खो जाता था।[2] इसके कारण निर्णय में बहुत देर होती थी—एक विषय तो निर्णय के लिए इकसठ वर्षों तक लटका रहा। लॉर्ड कर्ज़न ने कितने ही सुधार सुझाये। उसने विभिन्न विभागों को अपने विषयों का व्यक्तिगत परामर्श द्वारा निपटारा करने की सलाह दी और साथ ही लम्बे विवादों से बचने, नोट लिखने का काम घटाने और शीघ्र निर्णय[3] करने के लिए कहा।

लॉर्ड कर्ज़न के अन्य सब प्रशासनीय सुधारों का वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं है किन्तु पुलिस और रेलवे-शासन-संबंधी सुधारों का संक्षिप्त विवरण देना उचित होगा।

सन् १८६० के पुलिस-कमीशन की सिफारिशों के आधार पर १८६१ में पुलिसव्यवस्था का पुनर्संगठन किया गया था। हर प्रान्त में पुलिस-विभाग का साधारण प्रबन्ध एक इंस्पेक्टर-जनरल के आधीन था। हर ज़िले में एक यूरोपियन सुपरिंटेण्डेण्ट था और बड़े जिलों में उसके साथ एक यूरोपियन सहायक भी होता था। प्रत्येक ज़िला वृत्तों में बाँटा गया था और प्रत्येक वृत्त एक इंस्पेक्टर के आधीन

---

१. Ronaldshay The Life of Lord Curzon page 195.
२. उपर्युक्त पुस्तक, Vol. II, page 26.
३. Frazer: India under Curzon and After page 256.

किया गया था। हर वृत्त को कितने ही थानों में बाँटा गया था और हर थाने का दायित्व एक हैड कान्स्टेबल को दिया गया था। इन थानों के अन्तर्गत सार्जेण्ट और अन्य कान्स्टेबल थे। ये सब नौकरियाँ, आधीन नौकरियों के वर्ग में गिनी जाती थीं। ज़िला-मजिस्ट्रेट को निरीक्षण और प्रबन्ध के सामान्य अधिकार प्राप्त थे।

पुलिस-व्यवस्था के प्रति एक आम शिकायत थी और सन् १९०२ में सर एण्ड्रिउ फ्रेज़र की अध्यक्षता में एक पुलिस-कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन ने विस्तृत सिफारिशें कीं जो १२७ शीर्षकों में बाँटी गई थीं। अधिकांश सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार किया और सन् १९०५ में उन्हें कार्यान्वित कर दिया गया। कमीशन की मुख्य सिफारिशें ये थीं:—(१) पुलिस-संगठन में हैड कान्स्टेबल वर्ग से उच्चतर पदों के लिए पदोन्नति द्वारा भर्ती न की जाय वरन् उस उच्च एवं पृथक् वर्ग के लिए सीधी भर्ती की जाय; (२) वेतन बढ़ाये जायँ[1]; (३) पुलिस-शक्ति में वृद्धि की जाय और पुलिस-कार्य के लिए गाँवों के वर्तमान अभिकरणों का उपयोग किया जाय, (४) अफ़सरों और कान्स्टेबलों के लिए शिक्षण-शालाएँ खोली जायँ, (५) जाँच के ढंग में सुधार हो; (६) स्थानीय निरीक्षण और देख-भाल से काम का निर्णय किया जाय; आंकड़ों से नहीं; (७) अपराधियों की खोज के लिए प्रान्तीय विभाग स्थापित किये जायँ और साथ ही एक डाइरेक्टर के आधीन एक केन्द्रीय विभाग हो।

सन् १९०५ के पुनर्संङ्गठन के फलस्वरूप पुलिस-शासन का व्यय, जो सन् १९०१-१९०२ में २६,९१,३४४ पौण्ड था, सन् १९११-१२ में बढ़कर ४६,०२,९९७ पौण्ड हो गया। किन्तु पुलिस-दल की कुशलता में वृद्धि इसी अनुपात में नहीं हुई और वह अब भी पहले की तरह अप्रिय बना रहा।

भारत में रेलवे-शासन भी असन्तोषप्रद था। लॉर्ड कर्जन ने अपनी मंत्रणा के लिए रेलवे-विशेषज्ञ सर टॉमस राबर्टसन को इंगलैंड से बुलाया। उसने रेलवे-शासन में आमूल सुधार करने की आवश्यकता बताई। उसी की सिफारिशों के आधार पर सन् १९०५ में एक रेलवे बोर्ड बनाया गया। इस बोर्ड में सभापति के अतिरिक्त दो सदस्य और थे। सन् १९०८ में इस बोर्ड और उसके सहायकों को एक पृथक् रेलवे-विभाग में परिणत कर दिया गया। इस विभाग का अपने अध्यक्ष द्वारा वायसराय से सीधा संबंध था, उसके विस्तृत अधिकार थे; और उसका अपना महागणक और मुख्य इंजीनियर था। यह विभाग वणिज और उद्योग के सदस्य के आधीन था।

१. कान्स्टेबल के लिए ८ रु० प्रति महीने के न्यूनतम वेतन के लिए सिफारिश की गई किन्तु सरकार ने केवल ७ रु० महीने वेतन देना निश्चित किया।

(८)

इस युग में वैधानिक महत्त्व की कई उल्लेखनीय घटनाएँ हुईं। सन् १८९३ में हाउस ऑव कॉमन्स ने इंडियन सिविल सर्विस के लिए समकालिक परीक्षा का प्रस्ताव स्वीकार किया; महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हुई; एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक हुआ; दिल्ली-दरबार हुआ और प्रिन्स ऑव वेल्स (राजकुमार) भारत में आए; सन् १९०४ में और फिर सन् १९०७ में भारतीय परिषद् एक्ट बना; वायसराय की परिषद् के सदस्यों की स्थिति का और साथ ही भारत-मंत्री और गवर्नर-जनरल के संबंध का स्पष्टीकरण हुआ।

समकालिक परीक्षाओं के प्रस्ताव के स्वीकृत होने का श्रेय श्री दादाभाई नौरोजी को है जो उस समय हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्य थे। भारत-मंत्री के अनुसार प्रस्ताव केवल एक वोट से स्वीकृत हुआ था। उसे सम्मति के लिए भारत भेजा गया था; किन्तु मद्रास सरकार[1] के अतिरिक्त केन्द्रीय और अन्य प्रान्तीय सरकारों ने उसका प्रबल विरोध किया था।

२३ जनवरी १९०१ को महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हुई। लॉर्ड कर्जन ने उसके राज्य-काल की स्मृति में एक ऐसे स्मारक की स्थापना करने का निश्चय किया जिसमें विगतकालीन महत्त्वपूर्ण उपाख्यानों का और साथ ही भविष्य[2] में उसी प्रकार की वस्तुओं का संग्रहालय हो। फलतः ५५०००० पौण्ड के व्यय पर कलकत्ते का प्रसिद्ध विक्टोरिया मेमोरियल हॉल बना। लार्ड रोनैल्डशे के अनुसार मुग़लों के बाद वह भारत की सर्वोत्तम इमारत है और ब्रिटिश राज्य का सर्वोपरि वैभवपूर्ण स्मारक है।[3]

लॉर्ड कर्जन ने एडवर्ड सप्तम से आगामी शिशिर में भारत आकर राज्याभिषेक दरबार करने का प्रस्ताव किया; किन्तु जब यह स्वीकार नहीं हुआ तो उसने एक साम्राज्यीय दरबार के लिए प्रस्ताव किया। यह वैभवपूर्ण दरबार १ जनवरी १९०३ को हुआ; इसमें सैन्य-व्यय के अतिरिक्त १८०००० पौण्ड खर्च किये गए। देशी राज्यों ने जो अपरिमित धनोत्सर्ग किया वह अलग था।

इसी युग में तत्कालीन प्रिन्स ऑव वेल्स और प्रिन्सेज भारत आए। बंग-भंग के कारण देश में रोष छाया हुआ था और उस वातावरण के कारण अव्यवस्था का भय था किन्तु उनके पर्यटन में कोई अनुचित बात नहीं हुई।

---

१. मद्रास-सरकार ने १८७८ के मुखवरोधक एक्ट का भी विरोध किया था।

२. Ronaldshay : Life of Lord Curzon Vol. II page 155.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १६२.

(९)

१८७४ के एक्ट की धाराओं के अनुसार सार्वजनिक निर्माण सदस्य की नियुक्ति (१८७५ में) की गई और उसी एक्ट के अनुसार (लॉर्ड कर्जन के भारत में आने पर) उस पद को तोड़ दिया गया। सन् १९०३ में वायसराय ने फिर (इस बार व्यवसाय और उद्योग-विभाग के लिए) परिषद् का छठा सदस्य नियुक्त करने के लिए ज़ोर दिया। १९०४ के भारतीय परिषद् एक्ट से यह अधिकार मिला। एक्ट ने सम्राट् को गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका-परिषद् में एक छठा साधारण सदस्य नियुक्त करने का अधिकार दिया। इस प्रकार व्यवसाय और उद्योग के लिए सन् १९०५ में छठे सदस्य की नियुक्ति की गई।

सन् १९०७ में भारत-परिषद्-एक्ट द्वारा, भारत-परिषद् के संविधान में भी परिवर्तन किया गया। इस एक्ट के अनुसार भारत-मंत्री को सदस्यों की संख्या बढ़ाकर १४ करने का अधिकार दिया गया। नौकरी की शर्त में भी परिवर्तन किया गया और अवधि को दस वर्ष से घटाकर पाँच वर्ष कर दिया गया। सदस्यों का वेतन १२०० पौण्ड प्रतिवर्ष से घटाकर १००० पौण्ड प्रतिवर्ष कर दिया गया और कार्य-काल को भी १० वर्ष के स्थान पर ७ वर्ष कर दिया गया।

(१०)

सन् १८९२ में विधान-परिषदों के आकार और अधिकारों में वृद्धि होने पर यह प्रश्न उठा कि क्या कार्यपालिका-परिषद् के सदस्य, विधान-मंडल में अपनी इच्छानुसार अपना मत प्रकट कर सकते हैं और क्या वे अवसर आने पर परस्पर विरोध कर सकते हैं ? सन् १८९५ में २६ जून को भारत-मंत्री ने एक राज-पत्र द्वारा इस बात को अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया और स्पष्ट शब्दों में यह सिद्धान्त रखा कि कार्यपालिका-परिषद्, कार्यपालिका और विधान दोनों ही कामों में संयुक्त और सुदृढ़ है। "अपनाई हुई नीति, सारी सरकार की नीति है और उन लोगों को, जो शासन के सदस्य रहना चाहते हैं, उस नीति को स्वीकार करना चाहिए और उसे प्रोत्साहन देना चाहिए।"[1]

अगले कुछ ही वर्षों में वायसराय की कार्यपालिका-परिषद् में गंभीर मतभेद उठ खड़े ए और अन्त में लॉर्ड कर्जन ने त्याग-पत्र दे दिया। विवाद, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रश्न पर था कि देश की शासन-व्यवस्था में सेनापति की क्या स्थिति है ? लॉर्ड किचनर ने जो स्थिति अपनाई थी वह वैधानिक दृष्टि से गलत थी और व्यवहार में जोखिम से भरी हुई थी। जैसा कि लॉर्ड कर्जन ने कहा वह

१. Dumbell : Loyal India : A Survey of Seventy Years. pages 37 and 38.

(किचनर) एक साथ, सेनापति और युद्ध-मंत्री दोनों ही होना चाहते थे। तत्कालीन राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण ब्रिटिश सरकार ने सेनापति का वायसराय से अधिक पक्ष लिया।[१] भारत-मंत्री ने एक समझौते का प्रस्ताव किया। उसमें वायसराय ने कुछ संशोधन किया और दोनों पक्षों ने उसे स्वीकार कर लिया।[२] किन्तु जब उसे कार्यान्वित करने का समय आया तो वायसराय को यह पता लगा कि भारत-मंत्री उसे उचित रूप में कार्यान्वित नहीं करना चाहते थे। वायसराय ने जनरल बॅरो का नाम सुझाया था किन्तु भारत-मंत्री ने उस सुझाव को अस्वीकार किया और एक अन्य व्यक्ति को रसद-विभाग का दायित्व सौंपने का प्रस्ताव किया। ऐसी परिस्थिति में लॉर्ड कर्जन ने तार द्वारा अपना त्याग-पत्र दे दिया। १२ अगस्त १९०५ के इस त्याग-पत्र को स्वीकार कर लिया गया और लॉर्ड मिण्टो को लॉर्ड कर्जन का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया गया।

सन् १९०६ में १९ मार्च को जो व्यवस्था अन्तिम रूप से अपनाई गई, उसके अनुसार सेना-विभाग को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। सेना-विभाग सेनापति के आधीन किया गया और सेना के रसद-विभाग के दायित्व को नए सदस्य को सौंप दिया गया। इस व्यवस्था के अनुसार सेनापति का काम अत्यधिक हो गया। सन् १९०९ में पर्याप्त काम न होने के कारण रसद-विभाग तोड़ दिया गया। उस समय सेनापति का काम और भी अधिक हो गया। जैसा कि मेसोपोटामियन-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा:—किसी व्यक्ति के लिए सेनापति और परिषद् के सेना-सदस्य का काम एक साथ करना संभव नहीं था और युद्ध-काल में उसकी स्थिति और भी विकट थी। पहले महायुद्ध के समय में मेसोपोटामिया के विरुद्ध सैन्य-संचालन में यह बात दुःखद रूप से स्पष्ट हो गई। सैन्य-व्यय और सेना के भारतीयकरण की दृष्टि से भी स्थिति गंभीर थी। सैनिक नियंत्रण की अपेक्षा सिविल नियंत्रण में सैनिक व्यय घटाना और भारतीयकरण की गति बढ़ाना सरलतर था।

(११)

लॉर्ड कर्जन के त्याग-पत्र से भारतीय सरकार के दो अध्यक्षों के संबंध का प्रश्न फिर सामने आ गया—एक ओर इंगलैंड में वैध, अन्तिम सत्ता थी, और दूसरी

---

१. सूडान की विजय के बाद किचनर को राष्ट्रीय महारथी समझा जाता था और यह भय था कि उसके त्याग-पत्र देने से इंगलैंड का मंत्रि-मंडल अपने पद पर टिक नहीं सकेगा।

२. समझौते में यह तय हुआ कि सेनापति के अतिरिक्त एक रसद-विभाग का सदस्य होगा जो सैन्य विषयों पर सरकार के लिए दूसरे परामर्शदाता का काम करेगा।

और भारत में सरकार का स्थानीय अध्यक्ष था। वैध स्थिति स्पष्ट और निश्चित थी। गवर्नर-जनरल, भारत-मंत्री के आधीन था और उसे भारत-मंत्री के आदेशों और अनुदेशों का पालन करना था।[1] तथापि व्यवहार में दोनों के संबंध समय-समय पर बदलते रहते थे और वे उनके निजी व्यक्तित्व पर निर्भर थे। यह बात १८९२-१९०९ के युग में विशेष रूप से स्पष्ट हुई। इस समय में भारत का वायसराय एक अत्यन्त दृढ़ और कठोर व्यक्ति था और कुछ ही समय बाद इंडिया-ऑफ़िस में उसका समकालीन (लॉर्ड मॉर्ले) एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति और मंत्रि-मंडल का अत्यन्त प्रभावशाली सदस्य था और जो लोकतन्त्र का प्रबल समर्थक होते हुए भी व्यवहार में स्वेच्छाचारी था।

लॉर्ड कर्ज़न का वायसराय की स्थिति में दो भारत-मंत्रियों से संबंध रहा। ये दोनों उसके निजी मित्र और प्रशंसक थे और उसके साथ अधिक-से-अधिक निबाहने का प्रयत्न करते थे किन्तु अन्त में उन्हें उसकी अवहेलना करनी पड़ी। जैसा कि सर ए. गोडले ने कहा—सबको यह विश्वास था "कि आप अपने विरोध को अधिकृत सरकारी सीमाओं के परे ले जाते हैं और गृह-सरकार पर, अपनी बात मनवाने के लिए जोर डालते हैं।"[2] अन्त में स्थिति ऐसी हो गई कि भारत-मंत्री के हाथों लॉर्ड कर्ज़न को मुँह की खानी पड़ी। भारत के इतिहास में भारत-मंत्री और गवर्नर-जनरल के परस्पर संबंध में इस प्रकार के पराभव का कोई दूसरा दृष्टांत नहीं है।[3]

गृह-सरकार के साथ, लॉर्ड कर्ज़न के स्निग्ध संबंध न होने का कारण था उसका व्यक्तिगत स्वभाव। वह दूसरों का दृष्टिकोण नहीं समझता था। उसका स्वभाव स्वेच्छापूर्ण और दृढ़ था। इन अवगुणों के साथ शारीरिक अस्वस्थता, कार्य-बाहुल्य और कष्टकर जलवायु की बातें और मिल गईं। उसमें सहानुभूति और व्यवहार-कौशल की कमी थी फलतः लोगों से अनिवार्य रूप से संघर्ष होता था। यद्यपि वह अत्यन्त योग्य, अध्यवसायी और कर्मठ था, उसमें संगठन-शक्ति और शासन-सामर्थ्य थी, वह कर्तव्यपरायण और न्यायप्रिय था, और साथ ही वह जन-हित करने और

---

१. "आप इस बात का विश्वास नहीं करेंगे कि भारत-मंत्री अपने वैध कामों को छोड़कर पार्लियामेण्ट के लिए जॉर्ज (लॉर्ड कर्ज़न) का राजदूत हो जाता है" लेडी कर्जन को मि · · · के एक पत्र से उद्धृत अंश का अनुवाद।

२. उदाहरण के लिए जब ब्रिटिश सरकार ने दिल्ली-दरबार के लिए टैक्स की उगाही में सम्राट् का नाम जोड़ने के लिए मना कर दिया तो लॉर्ड कर्ज़न ने सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी के पास सहायता के लिए समुद्री तार भेजा।

३. लॉर्ड रिपन के अनुसार अवध के सिलसिले में एलनबोरो के कैनिंग को राज-पत्र के बाद भारत-सरकार में ऐसे पराभव का और कोई उदाहरण नहीं है।

शासन को कुशल बनाने के लिए उत्सुक था तथापि वह इंगलैंड और भारत में सार्वजनिक विश्वास और समर्थन प्राप्त करने में असफल रहा।

लॉर्ड कर्ज़न के उत्तराधिकारी लॉर्ड मिण्टो का व्यक्तित्व दूसरे ही ढंग का था। मिण्टो की जीवनी में कहा गया है : "मिण्टो ने भारत-मंत्री के स्वभाव को चतुराई से समझ लिया और उसके संकटों से बचने के लिए अपने-आपको तैयार कर लिया। उसका उद्देश्य यह था कि धैर्यपूर्ण तर्कों और चतुरतापूर्ण सुझावों से मि. मॉर्ले को यह विश्वास हो जाय कि भारत-सरकार की नीति का उपक्रमण उनके ही हाथों से हो रहा है।"[१] लॉर्ड मिण्टो के राज्य काल समाप्त होने के समय उनके पारस्परिक संबंध कुछ खिच गए थे। इसका कारण था भारत-सरकार पर गृह-सरकार का कठोर नियंत्रण। लॉर्ड मिण्टो ने लिखा है : " जो लोग वस्तुस्थिति से परिचित हैं वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक छोटी-से-छोटी बात में भी हस्तक्षेप किया गया है।"[२] किन्तु मिण्टो की चतुराई, शिष्टता और व्यवहार-कुशलता ने स्थिति को बचाया और लॉर्ड मिण्टो ने हर बात में अपना काम निकाल लिया।

बारहवाँ अध्याय

धार्मिक राष्ट्रीयता का आरम्भ

(१)

सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना होने पर भारत का राष्ट्रीय आंदोलन आरम्भ हो गया था। उसी आंदोलन के फलस्वरूप पार्लियामेंट ने १८९२ का भारतीय परिषद् एक्ट बनाया। इस एक्ट के सुधारों ने कांग्रेस को संतुष्ट नहीं किया और उसने १८९३ में बड़े दिन पर अपने अधिवेशन के समय अपने असंतोष को व्यक्त किया। निर्वाचन-व्यवस्था को बहुत घुमा-फिरा कर रखा गया था, परिषदों के सदस्यों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। वाइसराय की परिषद् में अथवा स्थानीय परिषद् में पंजाब को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं दिया गया था; निर्वाचन के लिए जो नियम बनाये गए वे अनुचित थे—कुछ वर्गों को प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से बिलकुल वंचित कर दिया गया था और कुछ हितों को अत्य-

१. Buchan : Lord Minto. pages 223 & 224.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१२-३१३.

धिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया था।[१] नियम बनाने में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि छँटे हुए लोग, जहाँ तक संभव हो, स्वतंत्र व्यक्ति न हों, वरन् ऐसे हों कि उनको सरलता से प्रभावित किया जा सके।[२] ग़ैरसरकारी सदस्यों की संख्या बहुत कम थी।[३] परिषदों के कार्य और अधिकार अत्यन्त सीमित थे। ऐसी दशा में राष्ट्रीय उत्थान के उद्देश्य से उपयोगी काम करने के लिए परिषदों में क्षेत्र बहुत संकुचित था। वह काम अन्य राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के मंच से और भारतीय पत्रों के द्वारा ही किया जा सकता था।

राष्ट्रीय जागृति एवं पुनर्जन्म के लिए काम करने वाली इन अन्य संस्थाओं में इंडियन नेशनल कांग्रेस प्रमुख थी। प्रति वर्ष दिसम्बर के अन्त में शिक्षित भारतीय, जिनका राजनीतिक काम में और राष्ट्रीयता बनाने में अनुराग था, क्रम से प्रत्येक प्रांत के किसी महत्वपूर्ण नगर में एकत्रित होते थे। ये लोग राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर विशेषकर शासन, शिक्षा एवं अर्थ-व्यवस्था-संबंधी विषयों पर विचार-विनिमय करते थे और अपने दृष्टिकोण को विनीत, तर्कयुक्त एवं राजभक्तिपूर्ण भाषा में लिखे हुए प्रस्तावों द्वारा व्यक्त करते थे। भारतीय पत्रों में इन प्रस्तावों को और नेताओं के व्याख्यानों को प्रकाशित किया जाता था और उनकी समालोचना की जाती थी। देश के सहस्रों भारतीय इन चीज़ों को पढ़ते थे, उन पर विवाद करते थे और यह स्वाभाविक ही था कि इन बातों से उन लोगों का हृदय और मस्तिष्क प्रभावित होता था। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि कांग्रेस के इन प्रस्तावों का सरकार पर कोई प्रभाव नहीं था और सरकार प्रस्तावित सुधार नहीं करती थी। परन्तु कांग्रेस के काम का लोक-शिक्षण के लिए बहुत बड़ा महत्त्व था। सार्वजनिक कामों में दिलचस्पी लेने वाले लोगों की संख्या बढ़ रही थी और राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर जनमत तैयार हो रहा था। सरकार के कामों पर ध्यान रखा जाता था और बीसवीं शताब्दी के पहले पाँच वर्षों में उनके प्रति प्रबल विरोध उठ खड़ा हुआ। वस्तुतः लोगों में एक नए जीवन का संचार हो गया था और

---

१. Resolution 1 of 1893 Besant : How India Wrought for Freedom. page 177.

२. उदाहरण के लिए बम्बई में ६ स्थानों में से दो स्थान यूरोपीय व्यवसायियों को दिये गए थे किंतु भारतीय व्यवसायियों को एक भी स्थान नहीं दिया गया था। सिंध को दो स्थान दिये गए थे किंतु बम्बई-प्रेसीडेंसी के केन्द्रीय डिवीज़न को, जिसमें पूना और सतारा थे, कोई स्थान नहीं दिया गया था।

३. केन्द्रीय विधान-परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या २४ थी। इसमें से १४ सरकारी सदस्य थे, ५ नाम निर्देशित ग़ैर-सरकारी सदस्य और ५ निर्वाचित।

राष्ट्रीय आंदोलन विस्तृत होकर जन-आंदोलन के रूप में परिणत हो रहा था। इस समय राष्ट्रीयता में दो विचार-धाराएँ आरंभ हुईं। इन दोनों में धार्मिक भावना समाई हुई थी। किंतु मार्ग दोनों का अलग था। दोनों ही विचार-धाराओं के नेता-गण साहसी व्यक्ति थे। उनमें आत्म-बलिदान और स्वतंत्रता की भावना थी; प्रबल देश-प्रेम था और विदेशी राज्य के प्रति तीव्र घृणा थी। पुराने कांग्रेसियों की भाँति उन्हें अंगरेजों की उदारता और सचाई में विश्वास नहीं था और न उनकी राजनीतिक भिक्षा-वृत्ति में ही कोई निष्ठा थी। उन्हें तो आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र कार्य में विश्वास था। इन नेतागणों की प्रेरक भावनाएँ एक ही थीं; वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकरण के विरुद्ध थे; वे प्रबल ही नहीं वरन् उग्र राष्ट्रवादी थे; उनका उद्देश्य था स्वतंत्र भारत; जो फिर प्राचीन वैभव, समृद्धि एवं पवित्रता से परिपूर्ण हो। दोनों में भेद केवल मार्ग का था। उग्र दल का राजनीतिक आंदोलन में और ब्रिटिश चीजों और संस्थाओं के बहिष्कार द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में विश्वास था। वे सरकारी कार्यालय, न्यायालय, और स्कूल आदि सब संस्थाओं के बहिष्कार के पक्ष में थे और वे उनके स्थान पर राष्ट्रीय न्याय-मंडल, पंचायत, स्कूल आदि स्थापित करना चाहते थे। क्रांतिकारी दल को पश्चिमी क्रांतिकारी साधनों में, विशेषकर बम और पिस्तौल द्वारा आतंकवाद, राजनीतिक हत्याओं और राजनीतिक डकैतियों में विश्वास था।

(२)

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में नई राष्ट्रीयता के उदय के लिए कोई इस प्रकार का एक कारण नहीं दिया जा सकता कि उसके द्वारा पूर्व प्रतिष्ठा से च्युत ब्राह्मण[१] वर्ग शक्ति हथियाना चाहता था अथवा इस राष्ट्रीयता के तल में केवल बंग-भंग का असंतोष था और लॉर्ड कर्जन के अप्रिय राज्य-काल के प्रति रोष था अथवा इसका कारण कांग्रेस के अब तक के साधनों की असफलता का अनुभव था। उक्त पिछले दो कारणों के अतिरिक्त और कई कारण भी थे जिनके फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने एक नई दिशा ग्रहण की और उसमें दो—उग्र तथा क्रांतिकारी—विचार-धाराएँ उत्पन्न हुईं।

पहली बात तो यह थी कि विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनका भारतीय मस्तिष्क पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। १८९६ में इटली को एबीसीनिया[२] के निवासियों ने परास्त किया और १९०५ में जापान ने रूस को हराया। इन दोनों

---

१. Chirol : Indian Unrest. page X and XI and 40 & 43

२. "इटली की हार ने १८९७ में तिलक के आंदोलन में घृताहुति दी" Garrat : An Indian Commentary, page 134.

घटनाओं के और विशेषकर पिछली घटना के कारण यूरोपीय श्रेष्ठता और अजेयता के प्रति विश्वास समाप्त हो गया और सारे एशिया में एक नये युग का जन्म हुआ।[1]

भारतवासियों में एक नई आशा का जन्म हुआ और वे जापान की बढ़ती हुई महानता के कारणों से परिचित होने के लिए उसके इतिहास का अध्ययन करने लगे। उसकी सफलता अनन्य देश-भक्ति में और बलिदान तथा राष्ट्रीयता की भावना में निहित बताई गई। "इन गुणों के आश्चर्यपूर्ण प्रभाव पर विचार किया गया और लोगों को यह बोध हुआ कि भारत-जैसा गुलाम और निहत्था देश भी इन गुणों के द्वारा अपने-आपको इंगलैंड के घातक बंधनों से मुक्त कर सकता है।[2] ये विचार मिस्र, रूस, फ़ारस और तुर्किस्तान-जैसे प्राच्य एवं अर्ध-प्राच्य देशों के राष्ट्रीय उत्थान और स्वतंत्रता के आंदोलनों के वर्णन पढ़ने से और भी पुष्ट हुए। इस संबंध में यह कहना आवश्यक है कि मैज़िनी, गैरीबाल्डी और केवर के प्रेरक नेतृत्व में इटलीवासियों द्वारा राष्ट्रीय ऐक्य और स्वतंत्रता प्राप्त करने का भी यहाँ बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मैज़िनी के जीवन और उसकी कृतियों पर भारतीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी गईं, अनुवाद किये गए और भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने अपने देशवासियों में स्वदेश-प्रेम जाग्रत करने के लिए इटली के उदाहरण से काम लिया।

देश की घटनाओं का प्रभाव और भी अधिक हुआ। भारत में लॉर्ड कर्ज़न ने कुशलता की खोज में जो कठोर नीति अपनाई थी, उसने भारतीय नवयुवकों की आशाओं और आकांक्षाओं को पैरों तले कुचल दिया था और वे यहाँ की परिस्थितियों से असन्तुष्ट हो उठे थे। सन् १८९२-१९०९ की अवधि में ब्रिटिश सरकार ने कई अप्रिय एक्ट बनाए और कार्यान्वित किये। देश में इनके विरोध का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ और भारतवासियों के मस्तिष्क में विदेशी राज्य के प्रति घृणा का संचार हुआ। पिछले अध्याय में कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट (सन् १८९९) और भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट (सन् १९०४) के परिणामों का वर्णन किया जा चुका है। इस अवधि के अन्य अप्रिय कार्यों की ओर संक्षेप में ध्यान दिलाना उचित होगा।

इन अप्रिय विधियों में सबसे पहला स्थान सन् १८९१ के स्वीकृति वय एक्ट (Age of Consent Act) का था। इस एक्ट में स्वीकृत वय को १० से बढ़ाकर १२ वर्ष कर दिया गया था। इस सुधार का मि. मलाबारी ने उपक्रमण किया था किंतु श्री तिलक और पं. शशधर ने इसका तीव्र विरोध किया था। सारे देश के

---

१. Pradhan : India's Struggle for Swaraj, page 75.
२. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ७५।

कट्टर लोगों में इसके प्रति बड़ा रोष था। सन् १९०४ में एक दूसरा एक्ट बना जिसके प्रति भारतीयों में बड़ी तीखी भावना जाग्रत हुई। यह एक्ट सरकारी गोप्य विषयों से संबंधित था। इस एक्ट में १८८९ के इंडियन ऑफ़िशियल सीक्रेट्स एक्ट और १८९८ के एक्ट नं. ४ को दो दिशाओं में बढ़ा दिया गया था। सन् १८८९ के एक्ट में केवल सैनिक भेद देना ही दंडनीय था अब उसमें सिविल (असैनिक) विषयों का भेद देना भी दंडनीय कर दिया गया। साथ ही १८९८ के एक्ट में समाचार-पत्रों की समालोचना के संबंध में जिन बातों को अपराध बताया गया था, उनमें यह जोड़ दिया गया कि ऐसी समालोचनाएँ, जिनसे विधि-निर्मित सत्ता अथवा सरकार के प्रति अनास्था अथवा घृणा जाग्रत हो, दंडनीय हैं। सन् १८९८ के एक्ट के अनुसार साम्राज्य अथवा ब्रिटिश भारत में विधि-निर्मित सरकार के प्रति, अभक्ति की भावनाएँ उत्तेजित करने को अथवा उत्तेजित करने के प्रयत्न को राजद्रोह बताया गया था। भारतीय दंड संहिता में एक नया विभाग (नं. १५३ ए) जोड़ दिया गया था जिसके अनुसार वर्ग-द्वेष को प्रोत्साहन देने वाले अपराधी दंडनीय थे।

लॉर्ड कर्ज़न की सीमा प्रांतीय और अफ़गानिस्तान तथा तिब्बत-संबंधी नीति से भी भारतवासी अप्रसन्न थे। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार और सैन्य-व्यय में वृद्धि के विरुद्ध थे। इन्हीं कारणों से वे चीन और दक्षिण अफ़्रीका के लिए भारतीय सेना भेजने के विरोधी थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादी योजनाओं में भारतीय सेना के उपयोग के कारण भारतवासियों में तीव्र रोष था।

उपर्युक्त बातें अप्रिय तो थीं तथापि सन् १९०५ और बाद के वर्षों के सरकार-विरोधी आंदोलन को जन्म देने के लिए ये बातें स्वयमेव अपर्याप्त थीं। इन सब बातों के साथ मौलिक बात यह थी कि बंग-भंग के संबंध में व्यापक विरोध के होते हुए भी लॉर्ड कर्ज़न की सरकार की मूढ़तापूर्ण एवं कुटिल दृढ़ता की नीति ने लोगों के रोष को चरम सीमा पर ला दिया था और परिणामस्वरूप वह आंदोलन फूट पड़ा।

(२)

सन् १९०५ में १६ अक्तूबर को, प्रकटतः शासन में सुविधा और कुशलता के कारणों से बंग-भंग किया गया। यह सच है कि ८ करोड़ जनसंख्या का बंगाल प्रांत एक अध्यक्ष—और वह भी एक उप-गवर्नर—के लिए बहुत बड़ा दायित्व था। किंतु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तत्कालीन बंगाल में बहुत से अ-बंगाली लोग थे। बिहार और उड़ीसा, तत्कालीन बंगाल के अन्तर्गत थे और उनकी जनसंख्या २ करोड़ १० लाख थी। शासन में कुशलता लाने की दृष्टि से बंगाल को ऐसे दो भागों में बाँटा जा सकता था जिनमें से एक बंगला बोलने वाला होता और दूसरा अन्य भाषाओं के बोलने वाला। वस्तुतः छै वर्ष बाद यह बात की भी गई।

किंतु सन् १९०५ के बंग भंग के अनुसार स्वयं बंगाल को दो भागों में विभाजित किया गया। नये बंगाल की कुल जन-संख्या ५ करोड़ ४० लाख थी इसमें से बंगला-भाषियों की संख्या केवल १ करोड़ ८० लाख थी। पूर्वी बंगाल और आसाम के नये प्रांत की कुल जन-संख्या ३ करोड़ १० लाख थी और इसमें २$\frac{१}{२}$ करोड़ बंगलाभाषी थे और १ करोड़ ८० लख मुसलमान थे। स्पष्ट है कि इस विभाजन का उद्देश्य वस्तुतः शासन में सुविधा का नहीं था वरन् वह तो बहुत कुटिल और गूढ़ था। जैसा कि लॉर्ड रोनल्डशे ने कहा है, "प्रांत के जाग्रत वर्ग के अनुसार इस विभाजन द्वारा बंगाली राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई दृढ़ता पर आक्रमण किया गया था।"[१] जिस ढंग से विभाजन की योजना बनाई गई और उसको कार्यान्वित किया, उससे और साथ ही इस विषय में लॉर्ड कर्ज़न के व्याख्यानों से यह स्पष्ट है कि वास्तविक उद्देश्य फूट डालकर राज्य करने की नीति के अनुसार लोगों को धर्म के आधार पर विभाजित करना था और हिंदुओं और मुसलमानों में द्वेष भाव फैलाना था। श्री मजूमदार ने लिखा है : "नई चेतना को कुचलने के लिए, लोगों को परस्पर विभाजित करने के उद्देश्य से लॉर्ड कर्ज़न पूर्वी बंगाल गये। वहाँ पर इसी उद्देश्य से एकत्रित की हुई मुसलमानों की सभाओं में उन्होंने कहा कि यह विभाजन केवल शासन की सुविधा के ही लिए नहीं किया जा रहा था वरन् उसके द्वारा एक मुस्लिम प्रांत भी बनाया जा रहा था जिसमें इस्लाम और उसके अनुयायियों की प्रधानता होगी. . . . ।" ?[२] विभाजन के समर्थकों ने भारतीय विरोध के लिए यह कारण प्रस्तुत किया है कि वकील राजनीतिज्ञों और संपादकों को विभाजन के फलस्वरूप[३] भौतिक और राजनीतिक क्षति का डर था। किंतु उन्होंने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि इस आंदोलन की प्रेरक शक्ति एक प्रबल भावना थी।[४] मि. नेविन्सन ने लिखा है : "रोष की मूल में भावना है. . . . . . .और क्योंकि यह भावना है इसी कारण किसी भौतिक लाभ और शासन की सुविधा से इसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती।"[५] अतः यह कहना असत्य है कि आंदोलन के समर्थक भौतिक हितों से प्रेरित थे। दूसरी ओर अधिकांश

१. Ronaldshay : Life of Lord Curzon. vol. I. page 332.
२. A. C. Mazumdar : Indian National Evolution, page 207.
३. Frazer : India under Curzon & After page 384. Also Ronaldshay : Life of Lord Curzon. vol. Ik. page 332.
४. Ronaldshay : उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ३२२
५. Nevinson : The New Spirit in India. page 172.

लोगों के लिए प्रेरक शक्ति यह इच्छा थी कि सर्वसाधारण में ऐक्य और राष्ट्रीयता की भावना बनी रहे। साथ ही यह भी सच है कि पूर्वी बंगाल के बहुत से मुसलमानों को लॉर्ड कर्ज़न की बातों ने लुभा लिया और वे नए, मुस्लिम बहुमत प्रांत में अपने पुरस्कारों के स्वप्न देखने लगे। फिर भी केवल बंगाल में ही नहीं वरन् सारे देश में अधिकांश लोगों ने विभाजन का तीव्र विरोध किया। फलतः एक सुसंगठित एवं अनुशासनपूर्ण प्रबल आंदोलन हुआ।

(४)

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में देश में अकाल, प्लेग आदि राष्ट्रीय विपत्तियों का सामना करने के लिए सरकार ने संतोषजनक नीति नहीं अपनाई। सरकारी आर्थिक नीति तो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल थी ही। परिणाम यह हुआ कि सरकार के प्रति रोष और भी अधिक बढ़ा और साथ ही नई राष्ट्रीयता को पुष्टि मिली।

१८९६-९७ में बड़ा भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। ब्रिटिश राज्य काल में उस समय तक ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था। सन् १८९७ के वसंतकाल में सहायता पाने वाले अकाल-पीड़ितों की संख्या ४० लाख से ऊपर पहुँच गई थी। मरने वालों की संख्या भी बहुत बड़ी थी।[1] सहायता के लिए और मालगुज़ारी दोहराने के लिए सरकारी मशीन बड़ी धीमी चाल से चल रही थी; कष्ट और कठिनाइयों से हाहाकार मचा हुआ था। बम्बई प्रांत में प्लेग की महामारी आरंभ हो जाने से दशा और भी बिगड़ गई। सन् १८९८ के अन्त तक अभिलिखित मृत्यु-संख्या १,७३,००० पर पहुँच गई जो संभवतः वास्तविक संख्या से बहुत कम थी। सरकार ने उपायों को सोत्साह अंगीकार किया, किंतु उन्हें कार्यान्वित करने का ढंग ग़लत था। पूना के प्लेग कमिश्नर मि. रैण्ड ने ब्रिटिश सैनिकों से काम लिया। ये सैनिक मकानों में घुसकर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की जाँच करते थे और प्लेग का संदेह होने पर उन्हें अलग अस्पतालों में ले जाते थे। इससे लोगों में बड़ा रोष फैला। उपद्रव आरंभ हो गए। पत्रों में उग्र लेख लिखे गए। एक भावुक नवयुवक ने अप्रिय प्लेग कमिश्नर मि. रैण्ड को गोली से मार दिया। उसके साथी ने तत्काल पकड़े जाने के भय से लेफ़्टिनेंट ऐपर्स्ट को गोली से मार दिया। ऐपर्स्ट, रैण्ड के पीछे एक गाड़ी में आ रहा था। इस काण्ड के बाद कठोर दमन और आंदोलन हुआ; महाराष्ट्र इसका विशेष क्षेत्र था।

सारे देश में असंतोष का प्रबल ज्वार उमड़ रहा था। दुर्भाग्य से १८९९ में वर्षा न होने के कारण भारत में फिर १८९९-१९०० में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। यह

---

१. Frazer : India under Curzon and After, page 4.

दुर्भिक्ष पहले से भी अधिक भयंकर था और इससे पहले से भी अधिक लोग पीड़ित हुए।

इन दारुण दैवी आपदाओं और कष्टों के कारण लोगों में बड़ा असंतोष हुआ और सरकार को विशेष रूप से दोष दिया गया। जनता के अनुसार उनके दुःखों की जड़ सरकार की वह आर्थिक नीति थी जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल थी। इस प्रकार सर्वसाधारण में अपने विदेशी शासकों के प्रति तीखापन बहुत बढ़ गया।

सरकार की राष्ट्र-विरोधी आर्थिक नीति ने ब्रिटिश राज्य के प्रति सर्वसाधारण के मस्तिष्क में जो घृणा उत्पन्न और पुष्ट की उसके महत्त्व के बारे में कोई अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। विदेशी राज्य से देश अत्यन्त निर्धन हो गया था। इस युग में दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, राणाडे, डी. एन. वाचा और सर विलियम डिगली के अनुसंधानों और लेखों ने निर्धनता की उक्त स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया था। सर थियोडोर मॉरिसन ने इस मत का प्रतिवाद करने का प्रयत्न भी किया किंतु भारतीय नेताओं और पत्रों ने भारत से इंगलैंड के लिए होने वाले द्रव्य-निकास से सर्वसाधारण को भली-भाँति परिचित करा दिया था। भारत में ब्रिटिश सरकार की इस नीति के कारण जनता का विदेशी शासकों की न्यायप्रियता और सचाई में से बिश्वास उठ गया और ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ बढ़ गईं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है लॉर्ड कर्ज़न का कुशलता, केन्द्रीकरण और अधिकारीकरण के लिए विशेष मोह था। और स्वशासन और भारतीयकरण के लिए विरोध था। १९०४ में कर्ज़न ने भारतीयों के निराकरण को बड़े चुभने वाले ढंग से उचित ठहराया। उसमें लोगों के लिए एक खुली चुनौती थी। उनसे कहा गया कि सर्वोच्च सिविल पद केवल अगरेज़ों के ही लिए थे क्योंकि उनमें अपने पैतृकाधिकार, पोषण और शिक्षा के कारण, शासन के लिए अनिवार्य, चरित्र-बल, शासन के सिद्धांतों का बोध और मनोयोग था। कुछ शिक्षित भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए संगठन करने लगे।

इसी संदर्भ में ध्यान देने योग्य कुछ आर्थिक प्रश्न हैं जिनके संबंध में भारत सरकार ने ब्रिटिश व्यावसायिक, औद्योगिक और वित्तीय स्वार्थों के लिए भारतीय हितों को निर्लज्जता के साथ बलिदान किया। सन् १८९४ में कपास-सीमा शुल्क का विवाद फिर उठ खड़ा हुआ और वित्तीय आवश्यकताओं के कारण जो ५ प्रतिशत का साधारण कर लगाया गया था उससे सूती माल को छूट देने पर बड़ा आंदोलन हुआ। भारत-मंत्री ने इस कठिनाई को हल करने के लिए यह प्रस्ताव किया कि नई कर-सूची में विदेशों से आने वाले सूती माल को सम्मिलित किया

जाय और उसका संतुलन करने के लिए २० नं. से ऊँचे माप के भारत में तैयार किये हुए सूत पर उत्पादन-कर लगाया जाय। भारतीयों का विरोध होते हुए भी दिसम्बर १८९४ में इस प्रस्ताव को वैध कर दिया गया। किंतु लंकाशायर को इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि १८९६ में दो नये प्रस्ताव स्वीकार किये गए। एक के अनुसार सूती माल पर आयात-कर घटाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया और दूसरे के द्वारा भारतीय मिलों के सूती माल पर ३½ प्रतिशत का प्रत्यक्ष उत्पादन कर लगा दिया गया। भारत परिषद् में सर जेम्स पाइल और सर एलेक्ज़ेण्डर आर्बथ्नॉट ने इन अरक्षणीय एक्टों का विरोध करते हुए कहा "कि इस उत्पादन-कर से वस्तुतः कोई संतुलन नहीं होता था क्योंकि भारतीय मिलों के मोटे सूती माल में और लंकाशायर के बारीक माल में कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी; भारतीय बाज़ार में दोनों की माँग थी।" देश में बड़ा आंदोलन हुआ और अंगरेज़ी राज्य के प्रति घृणा और तीखेपन को बड़ा पोषण मिला।

भारतीय मुद्रा और विनिमय का प्रबन्ध अंगरेज़ी स्वार्थों के अनुसार होता था। भारतीय व्यापारी वर्ग इस कारण बड़ी कठिनाई अनुभव करता था। एक भारतीय लेखक ने भारतीय आलोचना को संकलित रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है:— "ये आलोचनाएँ मुख्यतः, स्वर्ण रक्षित मान को भारतवर्ष में स्वर्ण पाट के रूप में रखने के स्थान पर, अन्य प्रतिभूतियों (Securities) में लगाने के विरुद्ध थीं; रेलवे-व्यय के संबंध में सरकार की तत्कालीन कठिनाइयों को दूर करने के लिए, उस रक्षित मान को काम में लाने के विरुद्ध थीं; कागज़ी द्रव्य के रक्षित मान को, भारत से लन्दन के लिए स्थानांतरित करने के विरुद्ध थीं; स्वर्ण मान की सुरक्षा के लिये सोने के स्थान पर चाँदी रखने के विरुद्ध थीं; और ऊँचे भाव पर कौंसिल के विनिमय पत्रों के असीमित विक्रय के विरुद्ध थीं। इस विक्रय के कारण भारत में सोने का आना रुक गया था जिसके फलस्वरूप देश की आवश्यकता से अधिक मात्रा में कागजी द्रव्य का परिचलन अनिवार्य हो गया था। इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि ७ करोड़ पौंड से अधिक परिमाण की भारतीय सम्पत्ति, भारत से लन्दन के लिये स्थानांतरित हो गई। इस भारतीय संपत्ति को अत्यल्प ब्याज पर लन्दन के सेधियों को उधार दिया गया जबकि भारत में रुपये की कमी थी यहाँ तक कि एक समय पर सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर भी ऋण उगाहना संभव नहीं था यद्यपि ब्याज की दर अस्वाभाविक रूप से अधिक रखी गई थी।"[1] इस नीति के विरुद्ध भारतवासियों में प्रबल रोष फैलना स्वाभाविक ही था, और भारतीय व्यापारी वर्ग का सरकार पर से विश्वास उठ गया।

---

१. Indian Year Book, 1931. page 860 के एक उद्धरण से अनूदित।

(५)

भारत में नई राष्ट्रीयता के जन्म और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं की वृद्धि का पाँचवाँ कारण था, भारतवासियों के प्रति आंग्ल-भारतीयों का अहंकारयुक्त व्यवहार और आंग्ल-भारतीय पत्रों का भारतीय-विरोधी दृष्टिकोण और प्रचार। इन वर्षों में कितनी ही बार ब्रिटिश सैनिकों और अन्य व्यक्तियों ने असहाय भारतीयों के साथ घातक मार-पीट की और कई बार आहत व्यक्ति मर भी गए किंतु गोरे अपराधी दंड से बच गए अथवा उन्हें बहुत साधारण-सा दंड दिया गया। लॉर्ड कर्ज़न ने थोड़े ही समय में यह अनुभव किया कि इस प्रकार के अभियोगों से भारत में ब्रिटिश राज्य के बने रहने के लिए बहुत बड़ा संकट है और फलतः ऐसे अभियोग ध्यान में आने पर उसने अपराधियों को दंड दिलाने की व्यवस्था की। एक अभियोग में अपराधियों ने दो भारतीयों की हत्या की थी। उस संबंध में लॉर्ड कर्ज़न ने भारत-मंत्री को अपने अभिलेख में लिखा, "पता नहीं, इन अभियोगों के बारे में आपके क्या विचार हैं। किंतु इनसे मेरी आत्मा तो कराह उठती है।"[१] उदाहरण के लिए इन दोनों अभागे अभियोगों की चर्चा की जा सकती है। एक मामले में ब्रिटिश सैनिकों ने "एक देशी स्त्री को बलात्कार से मार डाला। उन सैनिकों को कोई दंड नहीं दिया गया। इतना ही नहीं वरन् स्थानीय सैनिक अधिकारियों ने सारे मामले को दबा देने का प्रयत्न किया और स्थानीय सिविल अधिकारियों ने अपनी उदासीनता से उनके प्रयत्नों का समर्थन किया।"[२] दूसरे अभियोग में सन् १९०२ में सियालकोट में स्थित (9th. Lancers) घुड़सवार दल के दो सैनिकों ने एक भारतीय रसोइये को इतना पीटा कि वह मर गया। उस रसोइये का अपराध यह था कि उसने उनके लिये एक देशी स्त्री का प्रबन्ध करने के लिये मना कर दिया था। पहले अभियोग में कोई कार्यवाही नहीं की गई—लॉर्ड कर्ज़न के हस्तक्षेप करने पर केवल कुछ अनुशासन संबंधी कार्यवाही की गई।

इन अपराधों और हत्याओं का होना स्वयं दुर्भाग्यपूर्ण था किंतु इससे भी बुरी बात यह थी कि आंग्ल-भारतीय समाचार-पत्रों से ऐसे व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता था। वस्तुतः जातीय कटुता की भावनाओं को फैलाने में आंग्ल-भारतीय पत्रों ने जो काम किया वह अत्यन्त निंद्य था। लाहौर के सिविल एण्ड मिलिट्री गज़ट-जैसे महत्त्वपूर्ण पत्र भी शिक्षित भारतीयों को गालियाँ देते थे।[३] वे आंग्ल-भारतीयों को अपराध करने के लिए उत्तेजित करते थे; इन पत्रों को इसके लिए कोई दंड नहीं दिया

१. Ronaldshay : Life of Lord Curzon. Vol-II. p. 246
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७१.
३. शिक्षित भारतीयों को 'वाचाल बी. ए.', 'हीन जाति बी. ए.', 'गुलाम'

जाता था। मि. किंग्सफ़ोर्ड नामक एक अप्रिय मजिस्ट्रेट को गोली मारने के प्रयत्न में दो अंगरेज़ स्त्रियों की मृत्यु हो गई। इस पर कलकत्ते के 'एशियन' ने लिखा, "मिस्टर किंग्सफ़ोर्ड को अब एक बहुत बड़ा अवसर मिला है। हमारा ऐसा ध्यान है कि वह पिस्तौल से निशाना मारने में होशियार हैं। हम मौजर पिस्तौल की ओर उसका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं........ हम आशा करते हैं कि मिस्टर किंग्सफ़ोर्ड को एक बड़ा शिकार हाथ लगेगा। हम उनके से अवसर के लिए ललचाते हैं। उनके निवासस्थान की ओर अथवा स्वयं उनकी ओर यदि कोई अपरिचित देशी आदमी आय तो उसको गोली मार देना उनके लिये पूर्ण रूप से न्याय्य है।"[1]

आंग्ल-भारतीय पत्रों में ऐसे लेख प्रकाशित होते थे और उन पत्रों को कोई वैध दंड नहीं मिलता था। इन लेखों के कारण कटुता की भावना बढ़ती थी और कभी-कभी हिंसा भी होती थी। भारतीय चरित्र पर उच्च पदों से जो कलंक लगाया जाता था उसके कारण भारतीयों को बड़ा क्षोभ होता था। फ़र्वरी १९०५ में लॉर्ड कर्ज़न ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपना दीक्षांत भाषण दिया। उसमें उन्होंने पश्चिमी लोगों की सचाई की और प्राच्यवासियों की धूर्तता की गाथा गाई। उसी व्याख्यान में यह कहा गया कि भारत राष्ट्र जैसी कोई चीज़ नहीं है। सारे देश में क्रोध का उफ़ान आया और विरोध में भारत के विभिन्न भागों में सभाएँ की गईं। वायसरॉय के शब्दों ने बहुत से बंगाली नवयुवकों को उग्र-दल का समर्थक बना दिया।

दक्षिण अफ़्रीका में भारतीयों के साथ जो व्यवहार हो रहा था उसके कारण भी भारत में ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ पुष्ट हुईं। आरंभ में भारतवासी शर्तबन्द मजदूर की तरह दक्षिण अफ़्रीका गये थे किंतु उनके बाद में कुछ व्यापारी और अन्य व्यवसायी भी गये थे। दक्षिण अफ़्रीका में, विशेषकर बोर उपनिवेशों में सभी भारतीय समाज से बहिष्कृत थे। उन पर व्यक्तिगत कर लगता था। शहरों के बाहर कुछ निर्दिष्ट स्थानों में "घूरों[2] पर उन्हें रहना पड़ता था।" कुछ उपनिवेशों में वे राज मार्ग पर नहीं चल सकते थे और न रेल के पहले और दूसरे दर्जे में यात्रा कर सकते थे। वे वहाँ का सोना नहीं रख सकते थे और न रात के ९ बजे के बाद

"घुड़सवार भिखमंगे", "नीच जाति" आदि गालियाँ दी जाती थीं—Nevinson : The New Spirit in India, pages 17-18 से अनुवादित।

१. Nevinson : The New Spirit in India, page 229.

२. Besant: How India Wrought for Freedom, page 280.

घर के बाहर रह सकते थे।[१] वस्तुतः वहाँ रहने की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने बोर प्रजातंत्र से अपने झगड़े के कारणों में इन शर्तों की भी गणना की। एक अवसर पर उन्होंने कहा कि, "हमारी भारतीय प्रजा के इस अपमान से हमारा रक्त उबलने लगता है।" बोर युद्ध में ब्रिटिश विजय हुई किंतु स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ वरन् दशा और बिगड़ गई। सन् १९०७ में ट्रांसवाल में एशियाटिक रजिस्ट्रेशन एक्ट बना। इसके अनुसार भारतीयों को अपराधी जातियों की तरह अंगुलियों की छाप देकर अपना निबंधन कराना आवश्यक था। भारतवासियों ने इस अपमानजनक नियम को अस्वीकार किया और महात्मा गांधी[२] के नेतृत्व में 'सत्याग्रह' किया। उन्होंने अपना निबंधन कराने के लिए मना कर दिया और फलतः महात्मा गांधी और अन्य सहस्रों भारतीयों को कारावास दंड दिया गया। संघर्ष कई वर्षों तक चला और उसमें भारतीयों का आर्थिक और नागरिक जीवन छिन्न हो गया।[३]

दक्षिण अफ़्रीका की स्थिति की भारतवासियों के मस्तिष्क में प्रतिक्रिया हुई। एक ओर तो महात्मा गांधी और उनके साथियों के साहसपूर्ण विरोध के लिए प्रशंसाभाव था; सत्याग्रहियों की सहायता के लिए सार्वजनिक चन्दे किये गये और देश के विभिन्न भागों में सहायता और सहानुभूति के लिए सभाएँ की गईं। दूसरी ओर भारतवासियों के साथ जो व्यवहार किया जाता था उसके प्रति रोष था। भारतवासियों की दृष्टि में गृह-सरकार और दक्षिण अफ़्रीका के उपनिवेशों की सरकारों में कोई भेद नहीं था। सारा दोष ब्रिटिश सरकार पर मढ़ा गया और इस प्रकार देश में ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं में बहुत बड़ी वृद्धि हुई।

६

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में देश में जो नया जीवन दिखाई दिया उसके कुछ कारणों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त और भी कारण थे—स्कूलों और कॉलिजों का प्रभाव; कांग्रेस और भारतीय पत्रों के कई

१. Thompson: The Reconstruction of India, page 76.
२. मिस्टर गांधी—जो उस समय इसी नाम से परिचित थे—आरम्भ में एक मुकदमे में १८९३ में दक्षिण अफ़्रीका गये थे। नेटाल में भारतीयों की दशा देखकर उन्होंने वहीं बसने का निश्चय किया। डरबन के पास उन्होंने एक बस्ती बसाई। वहाँ के निवासियों के लिए सरल और प्राकृतिक जीवन का आदर्श था। वहीं गांधीजी ने सत्याग्रह के सिद्धान्त का पहली बार प्रतिपादन किया।
३. Kohu: History of Nationalism in the East, page 401.

दशाब्दियों के आन्दोलन का प्रभाव; स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और श्रीमती एनी बीसेन्ट के महान् एवं धार्मिक व्यक्तित्वों का प्रभाव; और आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसॉफ़िकल सोसाइटी तथा भारत सेवक समिति (Servant of India Society) आदि संस्थाओं के कार्यों का प्रभाव। वस्तुतः उस समय भारत में अनेकांगी पुनर्जागरण दिखाई दे रहा था। कला के नये केन्द्र खोले जा रहे थे; बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे उपन्यासकारों और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवियों और द्रष्टाओं द्वारा भातीय भाषाओं की सम्पन्नता बढ़ रही थी; तिलक और भंडारकर जैसे व्यक्तियों के अनुसंधानों के फलस्वरूप ज्ञान की सीमायें बढ़ रही थीं; भारतीय संगीत, प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति का पुनरुत्थान हो रहा था और सबसे बड़ी बात यह थी कि लोगों को अपने पूर्वजों की उपलब्धियों पर गर्व हो रहा था। पश्चिमी वस्तुओं और पश्चिमी पोशाक के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई; पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी रहन-सहन से विकर्षण हुआ। भारतीय वस्तुओं और भारतीय विचारधारा के प्रति प्रेम जाग्रत हुआ। विदेशों में भी स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता की नई भावना दिखाई पड़ी। वस्तुतः १९०५ के राष्ट्रीय आन्दोलन को देश के धार्मिक पुनरुत्थान से प्रेरणा मिली। तिलक, अरविन्द, बारीन्द्र घोष, विपिन चन्द्र पाल और लाजपतराय—ये सब महत्वपूर्ण नेता धार्मिक भावनाओं से प्रेरित थे। अरविन्द घोष इस युग की भावनाओं का और इस युग की विचारधारा का मूर्तमान स्वरूप थे। वे राजनीतिक जीवन में तीर की तरह आये और उसी वेग से लुप्त भी हो गये। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीयता, किसी राजनीतिक उद्देश्य अथवा भौतिक सुधार के किसी साधन से कहीं बड़ी चीज़ थी। उनकी दृष्टि में उसके चारों ओर एक ऐसा तेज पुंज था जो मध्यकालीन सन्तों की दृष्टि में धर्म पर बलि हो जाने वालों के चारों ओर होता था।[1]

७

सन् १९०५ में नये राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय का एक कारण यह भी था कि कांग्रेस के तरुण वर्ग की राजनीतिक भिक्षावृत्ति में आस्था मिट चुकी थी। लॉर्ड कर्ज़न के आधीन भारत सरकार की नीति ने कांग्रेस के स्वर की अवहेलना की और शिक्षित वर्ग को निरन्तर अपमानित किया तथा इस प्रकार तरुण राष्ट्रवादियों को उग्रवादी बना दिया। इन लोगों को अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता में कोई विश्वास नहीं रहा था। ये लोग इस निश्चय पर पहुँचे थे कि प्रार्थना-पत्रों द्वारा कुछ प्राप्त करना असम्भव है। इन लोगों की दृष्टि में विदेशी राज्य स्वयं अपमानजनक था। उनको आत्म-निर्भर स्वतन्त्र कार्य में विश्वास था किन्तु अंग्रेज़ों

१. Nevinson: The New Spirit in India, page 226.

की उदारता और परोपकारिता से उन्हें किसी प्रकार की आशा नहीं थी। उन्होंने अपना कार्य-क्रम निश्चित किया—विदेशी वस्तुओं का, विदेशी संस्थाओं का बहिष्कार; स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग और राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना।

८

१९०५ में बड़े दिनों पर बनारस में कांग्रेस अधिवेशन के समय नई भावना ने अपने आपको व्यक्त किया। सन् १९०४ के अधिवेशन का सभापतित्व सर हैनरी कॉटन ने किया था। उस अधिवेशन में सर कॉटन के नेतृत्व में एक शिष्ट मंडल नियुक्त किया गया था और उसे वायसरॉय के समक्ष अधिवेशन के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया था। किन्तु लॉर्ड कर्ज़न ने उस शिष्टमंडल से मिलना अस्वीकार कर दिया और कांग्रेस की अवहेलना की। फलतः यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश जनता को भारतवासियों के कष्टों से परिचित कराने के लिए श्री गोखले और लाला लाजपतराय का एक शिष्टमंडल इंग्लैण्ड भेजा जाय।

पुराने कांग्रेसियों का भारत के ब्रिटिश शासकों की न्यायनिष्ठा में से विश्वास उठ गया था किन्तु ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और ब्रिटिश जनता की आन्तरिक न्याय-प्रियता में उनका विश्वास अब भी बना हुआ था। आरम्भ से ही उन्होंने इंगलैंड में कांग्रेस के काम पर जोर दिया था। सन् १८८९ में कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी की स्थापना हुई थी और उसके निर्वाह के लिए ४५००० रु. स्वीकार किये गए थे। १८९३ में एक ब्रिटिश पार्लियामेण्टरी कमेटी का संगठन किया गया था। इस कमेटी को हाउस ऑव कॉमन्स में भारतीय दृष्टिकोण व्यक्त करने का काम सौंपा गया था। पार्लियामेन्ट के सदस्यों और ब्रिटिश जनता को सही सूचना देने के लिए 'इंडिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला गया। ब्रिटिश जनमत को शिक्षित और प्रभावित करने के लिए कांग्रेस ने समय-समय पर प्रमुख भारतीयों के शिष्टमंडल इंग्लैंड भेजे थे। पहले शिष्टमंडल को सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के आधीन १८८९ में इंग्लैंड भेजा गया था। दूसरा शिष्टमंडल १८९० में इंग्लैंड गया। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है एक शिष्टमंडल १९०५ में भेजा गया। किन्तु उसके सदस्यों को—और कम से कम एक सदस्य को तो निश्चय ही बड़ी निराशा हुई। ब्रिटिश जनता अपने निजी विषयों में अत्यन्त व्यस्त थी; ब्रिटिश समाचार-पत्र भारतीय आकाँक्षाओं को व्यक्त करने के लिए तैयार नहीं थे और भारतीय समस्याओं को लोगों तक पहुँचाना बहुत कठिन था।[1] लाला लाजपतराय ने बनारस अधिवेशन में अपने देशवासियों से कहा कि स्वतन्त्रता पाने के लिए उन्हें केवल अपने आप पर ही भरोसा करना होगा।

---

१. Lajpat Rai: Young India, pages 169-170.

इस संदेश का बनारस अधिवेशन के तरुण वर्ग पर विशेष प्रभाव पड़ा। उस समय तक बंगाल का विभाजन हो चुका था और विदेशी के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार का आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। विषय समिति में महत्वपूर्ण मतभेद थे किन्तु पुराने राष्ट्रवादियों के झुक जाने से समझौता होगया। कांग्रेस शिविर में तरुण प्रतिनिधियों ने एक खुला सम्मेलन किया और एक नया राष्ट्रीय दल बनाया। इस दल ने कांग्रेस के अन्तर्गत रहना निश्चित किया और निष्क्रिय विरोध एवं राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को अपनाया।

सन् १८९२ के बाद कांग्रेस ने फिर १९०५ में पहली बार राजनीतिक सुधारों की माँग की। हाउस ऑव कॉमन्स में भारतीय प्रतिनिधित्व देने के लिये माँग की गई और साथ ही वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् और बम्बई तथा मद्रास की कार्यकारिणी परिषदों में भी भारतीयों को नियुक्त करने के लिये मांग की गई।[1]

राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में १९०६ की कांग्रेस का विशेष महत्व है। इस अधिवेशन पर सभापति दादाभाई नौरोजी ने पहली बार स्वराज्य के लक्ष्य की घोषणा की। नरम दल के कांग्रेसियों ने मुख्यत: तिलक[2] को सभापति न बनने देने के उद्देश्य से ८२ वर्ष के वृद्ध दादाभाई नौरोजी को इंग्लैंड से विशेष रूप से बुलाया था। कांग्रेस में विच्छेद का भय था किन्तु दादाभाई के कौशल ने और साथ ही जनमत ने स्थिति को बचा दिया। इस जनमत के कारण नरम दल के कांग्रेसी, उग्र दल के बहुत निकट आ गये थे। नरम दल वालों के अनुसार बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा-संबंधी स्वीकृत प्रस्ताव, आवश्यकता से कहीं अधिक कठोर थे। अत: अगले वर्ष सूरत में उन्होंने इन प्रस्तावों में संशोधन करने का प्रयत्न किया और वस्तुत: इसी प्रयत्न के कारण कांग्रेस में फूट पड़ी। सन् १९०७ में बड़े दिनों पर सूरत कांग्रेस की फूट के लिये कौन उत्तरदायी है, यहाँ पर इस विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों दलों में गंभीर मतभेद था और केवल शब्द परिवर्तन से वह मतभेद दूर नहीं हो सकता था। दोनों दल अपनी बात पर दृढ़ थे। एक को अपने बहुमत पर विश्वास था और दूसरे दल को अपने भविष्य और सार्वजनिक समर्थन पर विश्वास था। ऐसी परिस्थिति में फूट अनिवार्य थी। समझौते के लिए सारे प्रयत्न असफल रहे[3] और १९०७ में २७ दिसम्बर को उपद्रव और अव्यवस्था के अत्यन्त खेदपूर्ण वातावरण में अधिवेशन विच्छिन्न हो गया।

---

१. सन् १९०५ के अधिवेशन का प्रस्ताव नं० २. Besant: How India Wrought for Freedom, pages 432 and 433.

२. Athalye: Life of Lokmanya Tilak, page 151.

३. २७ दिसम्बर को सभापति ने निर्वाचन के बाद अपना आसन ग्रहण किया। तब

नरम दली नेताओं ने दूसरे दिन २८ दिसम्बर को कांग्रेस पंडाल में पुलिस के संरक्षण में एक सम्मेलन किया। कुल १६०० प्रतिनिधियों में से इस सम्मेलन में १००० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इनमें लाला लाजपतराय भी थे। लगभग १०० प्रमुख कांग्रेसी नेताओं की एक कमेटी बनाई गई जिसे कांग्रेस का विधान तैयार करने का काम सौंपा गया। यह विधान १९०८ में तैयार हुआ। इसमें कांग्रेस कार्य के लिये पुरानी पद्धति और परम्परा की पुष्टि की गई और वैधानिक साधनों—वर्तमान शासन व्यवस्था में क्रमबद्ध सुधारों—द्वारा स्वराज्य प्राप्ति का लक्ष्य प्रकट किया गया।

इस पुनरुत्थापित कांग्रेस ने १९०८ के बड़े दिन के अवसर पर डा० रासबिहारी घोष की अध्यक्षता में मद्रास में अपना अधिवेशन किया और इसमें ६०६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यह कांग्रेस, प्रचलित ढंग पर काम करती रही। प्रतिवर्ष बड़े दिन के अवसर पर वह देश के किसी महत्वपूर्ण नगर में अपना सम्मेलन करती थी और राजनीतिक सुधार के लिए तथा लोगों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा ठीक करने के लिये अपनी माँग प्रस्तुत करती थी।

लोकमान्य तिलक एक प्रस्ताव प्रस्तुत करने को खड़े हुए। उसके लिये नियमानुसार एक दिन पहले सूचना दी जा चुकी थी परन्तु सभापति ने आज्ञा प्रदान नहीं की। तिलक मंच से नहीं हटे। नरम दल वालों ने उन्हें वहाँ से नीचे खींचना चाहा। उसी समय एक मराठी जूता मंच की ओर फेंका गया जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और फ़ीरोजशाह मेहता के लगा। कुछ ही देर में बहुत से आदमी लाठियाँ लिये हुए दौड़ पड़े और वे जिस किसी को नरम दली होने का सन्देह करते, उसी को मारते। "भारतीय महिलायें पंडाल से बाहर खिसक गईं; मंच के नेता भी खिसक गये—तिलक को उनके अनुयायी ले गये—किन्तु पंडाल में बड़ा उपद्रव हुआ—कुर्सियाँ फेंक कर मारी गईं, लाठियाँ चलीं और बहुत से सिर फूट गये।" अन्त में पुलिस ने आकर पंडाल को खाली करा दिया। Nevinson: The New Spirit in India, pages 256-259.

तेरहवां अध्याय

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनः वैधानिक एवं क्रान्तिकारी

१

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक से प्रेरणा पाकर और उन्हीं के नेतृत्व में महाराष्ट्र में सार्वजनिक आन्दोलन आरम्भ हुआ।

सर वैलेण्टाइन शिरोल ने तिलक को ब्रिटिश राज्यसत्ता के प्रति अभक्ति की प्रेरणा देने वालों में अत्यन्त भयंकर बताया है और उसके अनुसार वस्तुतः तिलक ही भारतीय अशान्ति के जन्मदाता[१] थे। दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवादियों की भाषा में, तिलक स्वदेशभक्तों के आदर्श थे और भारत में साम्राज्यवाद विरोधी सार्वजनिक आन्दोलन के वास्तविक संस्थापक थे। तिलक में अपने देश और उसके निवासियों के लिए अत्यन्त प्रबल प्रेम था। अपने देश में चारों ओर दुःख, और दारिद्रय, पतन और अज्ञता को देखकर उनका हृदय कराहता था। उन्होंने अपने देशवासियों को उक्त व्याधियों से मुक्त करने के लिए अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। उन्हें लोगों के विदेशी एवं पश्चिमी दृष्टिकोण के प्रति घृणा थी और उन्होंने हिन्दू धर्म और भारतीय वस्तुओं के प्रति अपने देशबन्धुओं को जगाने के लिए यथासंभव प्रयत्न किया। उन्हें प्राचीन भारत के वैभव पर और आर्यों की उपलब्धियों पर गर्व था। वे भारत को फिर उच्चतम स्तर पर ले जाना चाहते थे। उनके अनुसार विदेशी राज्य एक अभिशाप था और भारत की दुर्दशा का वही मुख्य कारण था। राजनीति में उनका सिद्धान्त यह था कि लक्ष्य के न्याय्य होने पर उसके लिए सब साधन न्याय्य होते हैं। उनकी दृष्टि में देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक उपाय उचित था। वे कुशल और चतुर राजनीतिज्ञ थे। संपादन-कला तो मानो उनकी रगों में समाई हुई थी। उनमें असाधारण साहस था। विरोधी के नाते वे दृढ़ और भयंकर थे। उन्हें जिस सामग्री पर काम करना था उसे वे अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने अपने ज्ञान का पूरा लाभ उठाया। लोगों में नई भावना और नया जीवन भरने के लिए उन्होंने हिन्दू देवताओं और महापुरुषों को अपना उपकरण बनाया। उन्होंने महाराष्ट्र में हिन्दू नवयुवकों का संगठन करने के लिए गोहत्या-विरोधी समितियां

---

१. Chirol: Indian Unrest, pages 40–41.

खोलीं, अखाड़ खोले, लाठी चलाने के लिए क्लब स्थापित किये और इस प्रकार उनमें पौरुष और साहस की भावना भरकर उन्हें केवल हिन्दू-धर्म के लिए ही नहीं वरन् मातृ-भूमि की सेवा के लिए वीर सैनिक बनाया। वे लोगों को बलवान, पौरुष-युक्त, साहसी, निर्भय, स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर बनाना चाहते थे। उन्होंने मंच और समाचार-पत्र दोनों की सहायता से लोगों को स्वावलम्बी होने का तथा आत्म-निर्भर स्वतन्त्र कार्य करने का पाठ पढ़ाया। उन्होंने जीवन के आरम्भ में ही अपना मार्ग निश्चित कर लिया था और उस मार्ग पर चलने के लिए उन्होंने कष्ट और कठिनाइयों का सामना किया। वे अपने अध्यवसाय, अनुराग, बलिदान, साहस और दृढ़ निश्चय की सहायता से उस मार्ग पर पूरी तरह बने रहे। अपने विचारों के कारण उन्हें तीन बार जेल जाना पड़ा। अन्तिम बार तो उन्हें छै वर्षों के लिए कारावास दण्ड दिया गया था। किन्तु यह सब होते हुए भी उन्हें अपने उद्देश्य में बहुत हद तक सफलता मिली। लोगों ने उनका आदर किया और वे देशभक्तों के सिरमौर हुए। उनके प्रयत्नों से देश, स्वतन्त्रता की देहली पर आ गया।

लोगों में पौरुष, अनुशासन, संगठित कार्य एवं देशभक्ति की भावना भरने के उद्देश्य से तिलक ने १८९३ में गणपति उत्सव मनाने की परम्परा डाली। स्कूल और कॉलिज के विद्यार्थियों को इन उत्सवों में भाग लेने के लिए प्रेरणा दी गई और राजनीतिक प्रचार के लिए इन उत्सवों को काम में लाया गया। ये उत्सव महाराष्ट्र में लोकप्रिय होगए। और इस प्रकार प्रान्त में राजनीतिक शिक्षा के लिए मूल्यवान उपकरण होगए।

गणपति उत्सव की सफलता से सन्तुष्ट होने पर तिलक ने १८९५ में शिवाजी उत्सव आरम्भ किया। इस बार उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक था। तिलक, लोगों के सामने एक राष्ट्रीय महापुरुष का उदाहरण रखकर उन्हें स्वदेश सेवा के लिए प्रोत्साहित करना चाहते थे। उन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता मिली। इस उत्सव ने महाराष्ट्र की जनता और वहाँ के नवयुवकों को विशेष प्रोत्साहन दिया और उनमें से बहुत से लोगों में यह आकांक्षा हुई कि वे भी देश की उसी प्रकार सेवा करें जिस प्रकार शिवाजी ने अपने समय में मातृ-भूमि की सेवा की थी।

इन अवसरों पर जुलूस निकाले जाते थे, उनमें नवयुवक अपनी लाठी चलाने की कला का प्रदर्शन करते थे, सभाएँ होती थीं, धार्मिक एवं राष्ट्रीय गाने गाये जाते थे, कविताएँ पढ़ी जाती थीं और राजनीतिक व्याख्यान होते थे। यद्यपि स्वयं तिलक राज्य के प्रति अभक्ति अथवा हिंसा का प्रचार नहीं करते थे तथापि उन्होंने दूसरों को इस बात के लिए नहीं रोका कि वे विदेशी राज्य के विरुद्ध जनता को न भड़कायें अथवा उसमें क्रान्ति और हिंसा का प्रचार न करें। दो चपेकर बन्धु क्रान्ति-कारी थे और उन्होंने इन उत्सवों का जातीय घृणा और हिंसा के प्रचार के लिए

उपयोग किया। उनके द्वारा पढ़ी जाने वाली कविताएँ सर्वसाधारण को हिंसा के कामों के लिए उत्तेजित करने वाली होती थीं:—"सुनिये। राष्ट्रीय युद्ध के लिए हम समर भूमि में प्राणों की बाजी लगाएँगे; हम अपने शत्रुओं के रक्त से पृथ्वी को रंग देंगे, ये शत्रु हमारे धर्म का नाश करने वाले हैं, हम उन्हें मारकर ही मरेंगे. . . . . .।" "क्या आपको अपनी दासता पर लज्जा नहीं आती. . . .ये दुष्ट गायों और बछड़ों की हत्या करते हैं. . . .मर जाओ किन्तु अंग्रेजों को मार दो . . . .यह देश हिन्दुस्तान कहलाता है, फिर यहाँ अंग्रेजों का राज्य क्यों है।" [१]

जिस समय प्रान्त में दुर्भिक्ष और प्लेग के कारण प्रबल असन्तोष और घोर दुःख छाया हुआ था, उस समय उपर्युक्त कविताओं को पढ़ा गया। आर्थिक कठिनाइयों को कम करने लिए तिलक ने स्वेच्छापूर्ण सहायता का संगठन किया था। तिलक ने इस बात का भी प्रचार किया था कि जो किसान लगान देने में असमर्थ हों वे लगान न दें। उन्होंने लोगों से वीर बनने के लिए अपील की। उन्होंने कहा कि जो लोग लगान नहीं दे सकते वे निर्भय होकर उसके लिए मना कर दें। उन्होंने लोगों को शान्त रहने के लिए कहा और अन्न-उपद्रव रोकने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। इसी प्रकार जब पूना में प्लेग का प्रकोप हुआ तो उन्होंने सेवा की भावना से प्रेरित होकर बड़े साहस से काम लिया और अपने आपको जोखिम में डालकर एक प्लेग के अस्पताल का संगठन किया और लोगों की यथासंभव सहायता करने के लिए स्वयं नगर में रहे। किन्तु लोगों के कष्टों की कोई सीमा नहीं थी और असन्तोष बराबर बढ़ रहा था। ऐसी दशा में ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को पनपने के लिए उपर्युक्त वातावरण मिला और जनता में सरकार-विरोधी प्रचार को सफलता मिली।

दामोदर और बालकृष्ण नामक दो चपेकर बन्धुओं ने एक संस्था बनाई थी जिसका उद्देश्य हिन्दू-धर्म के मार्ग की बाधाओं को दूर करना था। यह संस्था १८९५ में पूना में स्थापित की गई थी। आरम्भ में शारीरिक और सैनिक शिक्षण का कार्य-क्रम था किन्तु कुछ ही समय में यह संस्था क्रान्तिकारी हो गई। पूना के अप्रिय प्लेग कमिश्नर रैण्ड और लेफ्टिनेण्ट एअर्स्ट को गोली से मारने के अपराध में दामोदर चपेकर पर अभियोग चलाया गया और उसे दोहरी हत्या के लिए अभिशस्त किया गया। [२] चपेकर बन्धुओं की इस संस्था पर अन्य हिंसा के कामों का भी दायित्व था। दामोदर चपेकर ने अपने भाई के साथ बम्बई में विक्टोरिया की मूर्ति को कलुषित करने का अपराध स्वीकार किया। इस संस्था के चार सदस्यों को फाँसी

१. Sedition Committee (Rowlatt) Report 1918, page 2.
२. Sedition Committee Report 1918, page 3.

दी गई और एक को दस वर्ष का कठोर कारावास दण्ड दिया गया। इनका अपराध यह था कि इन्होंने पूना के एक मुख्य कान्स्टेब्ल को गोली मारने का प्रयत्न किया था और दो भाइयों की इसलिए हत्या की थी कि इन भाइयों ने दामोदर चपेकर[1] को गिरफ़्तार करने के लिए सरकार को सूचना दी थी और उन्हें सरकार ने इनाम दिया था।

मि० रैण्ड और एअर्स्ट की हत्या से आंग्ल-भारतीय क्षेत्रों में उद्विग्नता छा गई और आंग्ल-भारतीय पत्रों ने भारतीय पत्रों का मुंह बन्द करने और तिलक पर अभियोग चलाने की मांग की। तिलक पर, दोहरी हत्या के लिए वातावरण उत्पन्न करने का दोष मढ़ा गया। तिलक का पत्र 'केसरी' जनता में संमार्जन के नियमों को बलात कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश सैनिकों के उपयोग का प्रबल विरोध कर रहा था काल, वैभव, मोदवृत्त और प्रतोद आदि अन्य भारतीय पत्र भी प्रबल विरोध कर रहे थे। जो नरम दली नेता पूना छोड़ कर चले गये थे वे भी सरकारी पद्धति के विरोध में हल्ला मचा रहे थे। तिलक का कहना यह था कि केवल हल्ला मचाना निरर्थक था। आंग्ल-भारतीय पत्रों ने इसका यह अर्थ लगाया कि तिलक ने हिंसात्मक उपायों को काम में लाने का प्रतिपादन किया। इन सब बातों के साथ तिलक के एक व्याख्यान को जोड़ दिया गया। इस व्याख्यान में जो सन् १८९७ में १२ जून को शिवाजी उत्सव के अवसर पर दिया गया था तिलक ने अफ़ज़ल खां की हत्या को न्याय्य ठहराया था। आंग्ल- भारतीयों के अनुसार इस व्याख्यान से चपेकर बंधुओं को दोहरी हत्या के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला।

अपने व्याख्यान में तिलक ने अपना यह मत प्रकट किया था कि "महापुरुष सामान्य नैतिक सिद्धान्तों से ऊपर होते हैं। ....गीता में कृष्ण ने कहा है कि यदि हम स्वार्थ की भावनाओं से प्रेरित न हों, तो अपने गुरुओं और सम्बन्धियों की हत्या में भी कोई पाप नहीं होता। शिवाजी ने अपने पेट के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने दूसरों की भलाई के प्रशंसनीय उद्देश्य से ही अफ़ज़ल खां की हत्या की थी। ईश्वर ने हिन्दुस्तान म्लेच्छों को नहीं दिया था। कूपमण्डूक की भाँति अपने दृष्टिकोण को सीमित न करो। दण्ड संहिता से ऊपर उठकर भगवद्गीता के पवित्र वातावरण में महापुरुषों के कृत्यों पर विचार करो।"[2]

आंग्ल-भारतीय आन्दोलन को सफलता मिली। १८९७ में २७ जुलाई को तिलक को गिरफ़्तार किया गया। उनके साथ ही 'केसरी' के मुद्रकऔर पूना के 'वैभव', 'मोदवृत्त' और 'प्रतोद' के सम्पादकों को भी गिरफ़्तार किया गया। नटु बन्धुओं पर

१. Sedition Committee Report 1918, पृष्ठ ४.
२. Chirol: Indian Unrest, pages 46-47.

प्रान्त के राजनीतिक आन्दोलन से सम्बन्धित होने का सन्देह किया गया। ये दोनों भाई दक्षिण के प्रमुख और धनी ज़मींदार थे। १८२७ के विनियम नं० २५ के अन्तर्गत इनको देश से निर्वासित कर दिया गया और उनकी सम्पत्ति पर सरकार ने अधिकार कर लिया। सारे देश में खलबली मच गई और चारों ओर तीखापन फैल गया।

तिलक के अभियोग का निर्णय एक अंग्रेज जज (मिस्टर जस्टिस स्ट्रैची) और ९ सदस्यों की एक विशेष जूरी ने किया। इनमें से छै सदस्य यूरोपियन थे जो मराठी भाषा से अपरिचित थे। अभियोग राजद्रोह का था और महाधिवक्ता के अनुसार उसका हत्या से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु जूरी को निर्देश देने में जज ने महाधिवक्ता का स्थान ले लिया। कलकत्ते के 'इंडियन मिरर' ने लिखा है: "मि. जस्टिस स्ट्रैची ने दुर्भिक्ष और प्लेग की निःसंकोच रूप से चर्चा की....यह बताया कि जनता को ब्रिटिश सैनिकों का उपयोग पसन्द नहीं था.....फिर पूना की हत्याओं की चर्चा की और अन्त में निस्संकोच होकर यह मत प्रकट किया कि उपर्युक्त बातों के कारण अनिवार्य रूप से संघर्ष और रोष का ऐसा वातावरण बना और ऐसी भावनाएँ उत्तेजित हुईं कि उनकी पृष्ठ-भूमि में मि० रैण्ड और लेफ्टिनेण्ट एअर्स्ट की हत्या होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।"[1] जूरी के छः सदस्यों ने तिलक को अपराधी ठहराया और उन्हें १८ महीने का कठोर कारावास दण्ड दिया गया।

श्री तिलक की अभिशस्ति से चारों ओर असन्तोष हुआ और जज के व्यवहार पर रोष हुआ। उसकी परिभाषा के अनुसार 'भक्ति का अभाव' 'अभक्ति' था। और इससे सर्वसाधारण में बड़ी उद्विग्नता हुई। अँगरेज़ों के पत्र 'डेली हेराल्ड' ने भी सरकार को चेतावनी दी।[2] सारे भारतीय पत्रों की ओर से सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि "हमारी हार्दिक धारणा यही है कि श्री तिलक निर्दोष हैं और उनके दंड पर सारा राष्ट्र अत्यन्त दुखी है।[3] संस्कृत के यूरोपियन विद्वानों को बड़ा धक्का

---

१. Athalye: Lafe of Lokmanya Tilak, page 99.

२. Daily Herald की आलोचना का अनुवाद: "असन्तोष, अशिष्टता कुटिलता का बाहुल्य हो सकता है पर उसका कुछ महत्व नहीं है। वास्तविक राजद्रोह सिद्ध कीजिये और उसका अपराध से सम्बन्ध दिखाइये। हम उस दंड का समर्थन करेंगे। किन्तु लुटेरों की प्रशंसा में वक्रोक्ति के आधार पर······सरकार का मार्ग संकटपूर्ण है।" Athalye : The Life of Lokmanya Tilak, pages 99-100.

३. उपर्युक्त पुस्तक,: पृष्ठ १००.

पहुँचा और प्रोफ़ेसर मैक्समुलर ने अनुकंपा के लिये एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया। इसमें कितने ही प्रभावशाली व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये। यह प्रार्थना-पत्र महारानी की सेवा में भेजा गया। उसके फलस्वरूप 'ओरायॉन' के विद्वान् लेखक को रात में साहित्यिक काम करने के लिए कुछ सुविधायें दी गईं और उसे अवधि पूरी होने से छः महीने पहले ही छोड़ दिया गया।

२

भारत के राजनीतिक वातावरण में १८९९ से १९०४ तक निरुद्ध शांति रही। यह शांति आने वाले झंझावात की द्योतक थी। सन् १९०५ के अन्तिम महीनों में यह झंझावात फूट पड़ा और इसका प्रकोप सर्वत्र विशेषकर बंगाल में चार वर्ष तक रहा।

इस तूफ़ान का आरम्भ सन् १९०५ में बंगाल के विभाजन से हुआ। सन् १९०५ में १९ जुलाई को सरकारी प्रस्ताव द्वारा विभाजन की योजना का प्रख्यापन किया गया। समस्त भारतीय जनता के अभूतपूर्व विरोध के होते हुए भी उसे इसी वर्ष १६ अक्टूबर को कार्यान्वित किया गया।

१९ जुलाई के प्रस्ताव के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद, महाराजा जतीन्द्र मोहन ठाकुर की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई। इसमें कलकत्ते के सभी प्रमुख व्यक्ति उपस्थित हुए और साथ ही सभा में कुछ प्रमुख अंगरेज़ भी आये।[1] सभा ने वायसरॉय के पास इस आशय का एक तार भेजने का निश्चय किया कि प्रस्ताव में कुछ विशेष संशोधन कर दिये जायँ। इन संशोधनों की रूप-रेखा वही थी जिन्हें अन्त में १९११ में स्वीकार किया गया। इस प्रकार शासन की आवश्यकताएँ भी पूरी होती थीं और सारी बंगभाषी जनता भी एक प्रान्त में रहती थी। किन्तु लॉर्ड कर्ज़न दृढ़ थे—उनका कारण शासन के स्थान पर राजनीति से मुख्यतः संबंधित था। वे दोनों जातियों के बीच एक खाई तैयार करना चाहते थे और साथ ही बंगाल की नई राष्ट्रीयता को कुचलना चाहते थे। जनता भी विरोध करने के लिये दृढ़ थी। उसने विभाजन के संशोधन के लिए एक संगठित आन्दोलन करने का निश्चय किया। बंगाल में सर्वत्र विरोध सभाएँ की गईं और १९०५ में ७ अगस्त को कलकत्ते के टाउन हॉल में विभाजन के निवारणार्थ एक विराट सभा हुई। इसके लिए इतना जन-समूह एकत्रित हुआ कि सभा को तीन स्थानों में विभाजित किया गया—दो सभाएँ टाउन हॉल में, एक नीचे की मंजिल में और दूसरी ऊपर की मंजिल में और तीसरी सभा बेंटिक मूर्ति के पास मैदान में। इन सभाओं में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बहिष्कार की प्रतिज्ञा[2] को पढ़ा और लोगों से उस

१. Bannerjee : A Nation in the Making.

२. प्रतिज्ञा इस प्रकार थी "मैं आज से एक वर्ष तक इंग्लैंड की बनी हुई किसी वस्तु

पर हस्ताक्षर करने की अपील की। इसी ढंग की सभाएँ बंगाल में अन्य स्थानों पर हुईं। उनमें स्वदेशी के प्रयोग और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के प्रस्ताव स्वीकार किये गए और बहिष्कार संबंधी प्रतिज्ञा की गई।[1]

इस आन्दोलन के होते हुए भी १६ अक्तूबर को विभाजन कर दिया गया। उस दिन सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। कलकत्ते के कार्यक्रम में चार बातें मुख्य थीं:– (१) राखी बंधन–विभाजित प्रान्तों की एकता के प्रतीक स्वरूप पुरुषों की कलाइयों में लाल धागे बाँधे गए; (२) हड़ताल और उपवास; (३) पेरिस के एक भवन (Hotel des Invalides) के नमूने पर एक 'फेडरेशन हॉल' का शिलान्यास। इस भवन में बंगाल के सब जिलों की मूर्तियां रखी जानी थीं। पृथक किये हुए जिलों की मूर्तियों को, फिर एक होने के दिन तक[2] ढका रखना था। और (४) बुनकर-उद्योग की सहायता के उद्देश्य से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा एक राष्ट्रीय निधि की स्थापना। इसके लिए सायंकाल को एक सार्वजनिक सभा हुई और ७०००० रुपये तो सभास्थल में ही एकत्रित हो गए।

विभाजन हुआ। पूर्वी बंगाल और आसाम का नया प्रान्त बना। इस प्रान्त की राजधानी ढाका में बनाई गई और उसके लिए सर बैमफ़ील्ड फ़ुलर को उप गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। किन्तु आन्दोलन यथापूर्व गति से चलता रहा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओं ने सारे नये प्रान्त का परिभ्रमण किया, विराट सभाओं में भाषण दिया और उपस्थित जनों से स्वदेशी और बहिष्कार की शपथ ग्रहण कराई। राष्ट्रीय पत्रों द्वारा प्रबल प्रचार किया गया। बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी आन्दोलन फैल गया। सन् १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन ने राजनीतिक बहिष्कार और आर्थिक स्वदेशी, दोनों बातों के लिए स्वीकृति दी। सन् १९०६ में इस स्वीकृति की और भी प्रबल भाषा में पुष्टि की गई। दोनों आन्दोलनों को काफी सफलता मिली। इंग्लैंड से सूती और अन्य माल का आयात घट गया और भारत के बुनकर-उद्योग को और अन्य धंधों को बड़ा प्रोत्साहन मिला।[3] स्कूल और कॉलेज के विद्यार्थियों में ये आन्दोलन विशेष रूप

का क्रय नहीं करूंगा। ईश्वर शक्ति दे।" Bannerjee : A Nation in the Making, pages 189-191.

१. २० जुलाई और २६ अक्टूबर के बीच बंगाल में लगभग २००० सभाएँ हुईं।

२. Bannerjee : उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१३.

३. पूर्वी बंगाल की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार १९०५-०६ में बहुत सी फैक्ट्रियां बनीं और विदेशी आयात में १६ प्रतिशत कमी हुई। १९०७ की मई में लन्दन के टाइम्स के अनुसार मैंचेस्टर से सूती कपड़े के आयात में

से प्रिय हो गए। विद्यार्थी गण नई राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थे। विभाजन-विरोधी सभाओं में वे बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे। उन्होंने बहिष्कार और स्वदेशी की प्रतिज्ञा की। वे वन्दे मातरम् का गान गाते थे और वन्दे मातरम् द्वारा परस्पर अभिवादन करते थे। राष्ट्रीय सेवा के लिये वे स्वयं सेवक बने और उन्होंने विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया। अपने उत्साह में कुछ लोगों ने मर्यादा का उल्लंघन किया किन्तु उनकी उग्रता को पूर्वी बंगाल के शासन की प्रतिक्रियावादी दमनकारी और द्वेषपूर्ण नीति से ही प्रेरणा मिली। स्वदेशी सभाओं को बलपूर्वक विछिन्न किया गया; स्वदेशी के प्रचार को रोका गया। अश्विनीकुमार दत्त जैसे स्वदेशी के प्रचारकों को परेशान किया गया और उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। धरना देने वालों को गिरफ्तार किया गया और छोटे-छोटे अपराधों के लिये अत्यन्त कठोर (दृष्टान्त रूप) दण्ड दिया गया। "एक मामले में चार नवयुवकों ने विदेशी चीनी को नष्ट कर दिया। इसका मूल्य १ शिलिंग २ पेंस था। इन नवयुवकों को तीन और चार महीनों का कारावास दंड दिया गया और उन पर काफी जुर्माना किया गया।"[१] जिला मजिस्ट्रेटों ने शिक्षण संस्थाओं के अध्यक्षों को यह आदेश दिया कि यदि किसी स्कूल के विद्यार्थियों ने आन्दोलन में भाग लिया तो उस स्कूल को सरकारी सहायता नहीं दी जायगी; उसके विद्यार्थियों को छात्र वृति के लिये प्रतिद्वन्दिता करने का अधिकार नहीं होगा और विश्वविद्यालय द्वारा उनको अंगीकार नहीं किया जायगा।"[२] कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' ने इन आदेशों की निंदा की और कहा कि इससे "देश पर मरने वालों की सेना तैयार होने में सहायता मिलेगी।"[३] सर सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं: "किंतु एक के बाद एक करके कई आदेश पत्र भेजे गये और प्रत्येक से उत्तेजना में वृद्धि हुई; रोग का शमन होने के स्थान पर उसका प्रकोप बढ़ता ही गया।"[३] इनमें वन्दे मातरम् संबंधी आदेश पत्र सबसे अधिक हास्यास्पद था। सर फ़ुलर की सरकार ने सार्वजनिक सड़कों पर वन्दे मातरम्[४] की आवाज लगाना अवैध घोषित कर दिया। इस आदेश पत्र को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने अत्यन्त कठोर नियम बनाए। अप्रैल १९०६ में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के लिये बारीसाल में प्रतिनिधि एकत्रित हुए। पुलिस ने उन पर हमला

४२४,९२,५०० गज़ की कमी हुई। देखिये, Nevinson : The New Spirit in India, pages 181-182.

१. Nevinson : The New Spirit in India, page 185.

२. Bannerjee : A Nation in the Making, page 204.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २०५.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २०५.

किया और सम्मेलन को भंग कर दिया। सारे देश में इस पर विरोध सभाएँ हुईं।"[१] कलकत्ते की एक सभा में राय नरेन्द्र नाथ सेन ने कहा कि इस दमन का एकमात्र परिणाम यह होगा कि नवयुवक अराजकतावादी हो जाएँगे। मद्रास की एक सभा में भारत मंत्री से यह प्रार्थना की गई कि वे हस्तक्षेप करें और इस घटना से संबंधित अधिकारियों को दंड दें।"[२]

किंतु पूर्वी बंगाल की सरकार ने अपना ढर्रा नहीं बदला। उसने केवल दमन की नीति को ही जारी नहीं रखा वरन् जनता में फूट डालने और मुसलमानों का पक्ष लेने की नीति को भी आगे बढ़ाया। मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए और विभाजन विरोधी आन्दोलन में हिन्दुओं को पृथक करने के लिये सर बैम्फ़ील्ड ने हर प्रकार के उपायों का उपयोग किया। ढाका के नबाब सलीमुल्ला ने आरंभ में विभाजन को "पाशविक व्यवस्था" बताया। उसका समर्थन प्राप्त करने के लिए उसे १ लाख पौण्ड का ऋण दिया गया। "बहुत से सरकारी पदों को मुसलमानों के लिये सुरक्षित रखा गया और कुछ स्थानों को उपयुक्त मुसलमान न मिलने पर रिक्त रखा गया।"[३] अधिकारियों की छेड़छाड़ तो केवल हिंदुओं के ही लिए थी। उन्हें सरकारी पदों से दूर रखा गया। हिन्दू स्कूलों को सरकारी अनुग्रह और सहायता से वंचित किया गया। जब मुसलमान उपद्रव करते थे तो पुलिस अपराधियों को दंड देने के लिये हिन्दू घरों पर छापा मारती थी। हिन्दू बस्तियों में गुरखा सैनिकों को सुरक्षा के लिये नियुक्त किया गया।[४] उप-गवर्नर ने इस बात की हंसी करते हुए इस प्रकार व्यक्त किया कि उनको अपनी दो पत्नियों में मुस्लिम पत्नी अधिक प्रिय थी। "मुसलमानों को इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि ब्रिटिश अधिकारी उनके सब अत्याचारों को[५] क्षमा कर देंगे।" मुसलमान मौलवी चारों ओर यह कहते फिरते थे कि हिन्दुओं के प्रति हिंसा करने के बदले में अथवा हिन्दुओं की दुकानें लूटने और हिन्दू विधवाओं को भगाने के बदले में मुसलमानों को कोई दंड नहीं दिया जाएगा। एक लाख पुस्तिका प्रकाशित की गई उसमें इन्हीं बातों का प्रतिपादन किया गया था।"[६] कामिला, जमालपुर और ढाका आदि कई स्थानों में उपद्रव आरभ हो गए। ढाका में तीन दिन और तीन रात तक मुस्लिम उपद्रवियों का आधिपत्य रहा और उन्होंने धनी मारवाड़ी रत्नकारों को जी भरकर लूटा।[६]

---

१. Bannerji : A Nation in the Making, page 219.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३२
३. Nevinson : The New Spirit in India, page 192.
४. Nevinson : The New Spirit in India, page 202.
५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९१.
६. Mazumdar : Indian National Evolution, page 235.

मिस्टर नेविन्सन ने इन घटनाओं के कुछ ही बाद पूर्वी बंगाल का दौरा किया। वे लिखते हैं:—"कुछ लोग मारे गए, मन्दिर भ्रष्ट किये गए, मूर्तियां तोड़ी गईं, दुकानें लूटी गईं और बहुत सी हिन्दू विधवाओं का अपहरण किया गया। कुछ नगर उजड़े हुए थे; हिन्दू जनता ने पक्के मकानों में शरण ले ली थी; स्त्रियों ने तालाबों में छिप कर रातें बिताईं थीं; सामुदायिक बलात्कार बढ़ गया था और मेरे परिभ्रमण के समय भी सारे जिलों में आतंक छाया हुआ था।"[१]

पूर्वी बंगाल की सरकार की इस नीति के बड़े दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुए। "बंगाल में धार्मिक झगड़े आरम्भ हो गए।"[२] सरकार ने इसके लिए बहिष्कार आन्दोलन और हिन्दू स्वयंसेवकों को दोष दिया। ये स्वयं सेवक हिन्दू विधवाओं की और अन्य व्यक्तियों की मुस्लिम गुण्डों से रक्षा करने का असफल प्रयत्न करते थे। उपद्रव के अभियोगों से यह बात स्पष्ट है कि धार्मिक झगड़ों की जड़ मुसलमानों के इस विश्वास में थी कि सरकार मुसलमानों के पक्ष में है और मुसलमानों को न्यायालयों से डरने का कोई कारण नहीं है। वस्तुतः मुसलमानों का पक्ष लेने में सरकार बहुत आगे बढ़ गई थी। साम्प्रदायिक विष शासन की हर शाखा में प्रविष्ट हो गया था और न्यायालय भी उसके प्रभाव से बचे नहीं थे। कामिला के उपद्रव सम्बन्धी अभियोग में जज ने प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों का पक्ष लिया।[३] सरकार का कहना यह था कि हिन्दू विभाजन विरोधी थे और सरकार के लिए विभाजन विरोधी आन्दोलन कुचलना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि बंगाल में उग्र दल की बड़े वेग से वृद्धि हुई। राष्ट्रीयता की दो नई विचार धाराओं का जन्म हुआ। एक विचार धारा वैधानिक थी और इसके नेता अरविन्द घोष और विपिन चन्द्र पाल थे; दूसरी क्रान्तिकारी थी और इसके नेता बारीन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त थे।

---

१. एक यूरोपीय मजिस्ट्रेट ने एक उपद्रव अभियोग की रिपोर्ट में लिखा है "कुछ मुसलमानों ने डंके की चोट यह घोषणा की थी कि सरकार ने उन्हें हिन्दुओं को लूटने की स्वतंत्रता दे दी थी।" एक अपहरण अभियोग में उसी मजिस्ट्रेट ने लिखा है कि मुसलमानों में इस बात की घोषणा की गई थी कि सरकार ने उन्हें हिन्दू विधवाओं से निकाह करने की स्वतन्त्रता दे दी थी।"—Nevinson: The New Spirit in India, page 198.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९३.

३. Bannerjee: A Nation in the Making, page 218 —उच्च न्यायालय ने उक्त जज के व्यवहार पर प्रबल आपत्ति की।

३

पिछले अध्याय में नये राष्ट्रीय दल, उसके सिद्धान्तों और उसके कार्यक्रम का उल्लेख किया जा चुका है।[१] इस समय भारत में विवेकानन्द के महान व्यक्तित्व की प्रेरणा से बहुत बड़ा हिन्दू पुनरुत्थान हो रहा था। इन दोनों (नये राष्ट्रीय, और हिन्दू पुनरुत्थान) आन्दोलनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया और यह बात बंगाल में विशेष रूप से प्रकट हुई। जैसा कि सर वैलेण्टाइन शिरोल ने कहा है:— "इस नयी राष्ट्रीयता के युद्ध घोष "स्वदेशी" और "स्वराज्य" हैं और उनका अर्थ केवल आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं है। उनका अर्थ विदेशी जाति, और विदेशी सभ्यता के आदर्शों के स्थान पर, सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक और नैतिक क्षेत्र में पुरानी हिन्दू परम्पराओं का संगठित उत्थान करना है। इस विचार-धारा के कुछ प्रतिपादकों की हार्दिक सचाई के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। अरविन्द घोष की भांति उनको यह दृढ़ विश्वास है कि "देश की सारी नैतिक शक्ति हमारे साथ है, न्याय हमारे साथ है, प्रकृति हमारे साथ है और ईश्वरीय नियम जो सर्वोपरि है वह भी हमारे कार्य को न्याय्य ठहराता है।"[२] मिस्टर बिपिन चन्द पाल लिखते हैं :— "भारत में राष्ट्रीय चेतना और आकांक्षाओं की पुनर्जाग्रति के कारण ....शक्ति उपासना के प्राचीन आदर्श का पुनरुत्थान हुआ है। दुर्गा, काली, जगद्धात्री और भवानी आदि शक्ति की विभिन्न प्रतिमाओं को नया अर्थ दिया गया है। ये प्राचीन देवी और देवता आधुनिक मस्तिष्क में पुनः प्रतिष्ठित किये गये हैं और उनकी एक नयी ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय व्याख्या भारत की आत्मा और मस्तिष्क के समक्ष रखी गई है।"[३]

लोगों के मस्तिष्क पर, विशेषकर बंगाल के तरुणवर्ग पर इस नये राष्ट्रीय दल के नेताओं का बहुत बड़ा प्रभाव हुआ। सन् १९०६–१९०८ में इस दल की शक्ति में बहुत वृद्धि हुई और उसके प्रभाव ने बहिष्कार तथा स्वदेशी के आन्दोलनों को बहुत सहायता दी। इस दल के तत्वावधान में राष्ट्रीय शिक्षण सस्थायें चलाई गईं। कलकत्ते में एक कालेज चलाया गया। अरविन्द घोष इसके प्रिन्सीपल थे। मंच और पत्र, दोनों के द्वारा दल जोरों से प्रचार कर रहा था। बिपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष ने अपने मुख पत्रों—'न्यू इण्डिया' तथा 'बन्दे मातरम्'—द्वारा प्रबल और प्रभावशाली भाषा में स्वतन्त्र भारत का आदर्श प्रस्तुत किया और धार्मिक राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों की व्याख्या की। बिपिन चन्द्र पाल के अनुसार डोमीनियन स्टेटस

१. इसी पुस्तक का बारहवां अध्याय देखिये।
२. Chirol : Indian Unrest, page 12.
३. B. C. Pal : The Soul of India, pages 186-187.

(औपनिवेशिक स्वराज्य) का आदर्श अव्यवहार्य था। उन्होंने कहा :— "क्या इंगलैंड जैसे छोटे देश के लिये भारत जैसे विशाल देश के साथ निष्पक्ष परिस्थितियों में प्रतिद्वन्द्विता करना संभव है? जब भविष्य में भारत पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होगा तो इंगलैंड उसको जापान की भांति अपना मित्र बनावेगा किन्तु साझेदारी नहीं करेगा क्योंकि इस साम्राज्य की कम्पनी में भारत अनिवार्य रूप से सबसे अधिक प्रभावशाली साझेदार होगा।[1] उन्होंने अरविन्द घोष के साथ तरुण वर्ग के समक्ष पूर्ण रूप से स्वतन्त्र भारत का आदर्श प्रस्तुत किया और कहा कि हमें अंग्रेजों से कोई दान नहीं लेना वरन् इस स्वतन्त्रता को अपने प्रयत्नों से प्राप्त करना है। इसके लिये जो साधन बताये गये वे इस प्रकार थे :—स्वदेशी का प्रयोग किया जावे, विदेशी वस्तुओं का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया जावे, निष्क्रिय विरोध किया जावे और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार किया जावे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अश्विनी कुमार दत्त और भूपेन्द्र नाथ बसु जैसे नरमदली नेताओं के कार्यक्रम में नये दल के कार्यक्रम की अन्तिम बात नहीं थी। नये दल ने सरकारी नौकरियों के बहिष्कार के लिये ही प्रचार नहीं किया वरन् सरकार से स्वतन्त्र किन्तु समानान्तर जन शासन व्यवस्था बनाने के लिये भी कहा।

इस राष्ट्रीय दल को अपने जीवन के पहले दो वर्षों में काफ़ी सफलता मिली किन्तु बाद में सरकारी दमन नीति के कारण इस दल के लिये काम करना अत्यन्त कठिन हो गया। साथ ही क्रान्तिकारी दल के अस्तित्व में आने के कारण भी यह राष्ट्रीय दल पृष्ठभूमि में पड़ गया।

४

राष्ट्रीय दल के प्रचार के साथ ही साथ, क्रान्तिकारी दल का भी अत्यन्त उग्र और उत्तेजक प्रचार हो रहा था। इस दल के नेता थे बारीन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्र नाथ दत्त। बारीन्द्र घोष, अरविन्द घोष के छोटे भाई थे और भूपेन्द्र दत्त, स्वामी विवेकानन्द के छोटे और अकेले भाई थे। इस दल का प्रचार 'युगान्तर' और 'संध्या' द्वारा होता था। जैसा कि सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और राय नरेन्द्रनाथ सेन जैसे नरम दली नेताओं ने कहा इस आतंकवाद और क्रांतिवादी के लिये सरकार की दमनकारी एवं प्रतिक्रियावादी नीति उत्तरदायी थी। इस नीति ने विशेषकर अप्रैल १९०६ में बारीसाल सम्मेलन को बलात भंग करने की घटना ने दोनों प्रांतों के तरुण वर्ग के भावुक हृदयों को आतंकवाद और क्रान्ति के मार्ग पर ढकेल दिया था।

बारीन्द्र घोष ने आरंभ में सन् १९०२ में एक राजनीतिक प्रचारक की तरह

---

१. Chirol : Indian Unrest, pages 13-14.

स्वतन्त्रता के आदर्श को फैलाने का प्रयत्न किया था। सन् १९०५ में वे बंगाल लौट कर आये और उस समय तक उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि देश में विशुद्ध राजनीतिक प्रचार का कोई प्रभाव नहीं होगा और संकटों का सामना करने के लिए लोगों को आध्यात्मिक शिक्षण द्वारा ही समर्थ बनाया जा सकता है। उन्होंने 'युगान्तर' नामक पत्र चलाया और उसके द्वारा सर्वसाधारण में राजनीतिक एवं धार्मिक प्रचार किया। उन्होंने इसी उद्देश्य के लिए १४-१५ नवयुवक कार्यकर्त्ताओं को तैयार किया। "हमारी दृष्टि सुदूर भविष्य में क्रांति पर जमी हुई है और हम उसके लिए तैयार होना चाहते हैं.....".[१]

बारीन्द्र घोष ने एक निबन्ध लिखा जिसके शीर्षक का भाव था 'भारत में गीता के युग का पुनरागमन'। इस लेख द्वारा उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों को समझाया। "श्रीकृष्ण ने गीता में कहा था कि जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होगा, तब धर्म की संस्थापना के लिए और अधर्म के विनाश के लिए ईश्वरावतार होगा"। "वर्तमान परिस्थितियों में धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युदय दृष्टिगोचर हो रहा है। मुट्ठी भर विदेशी लुटेरे करोड़ों भारतवासियों को बरबाद कर रहे हैं और भारत की संपत्ति को लूट रहे हैं। इस दासता के चक्र में अनगिनती लोगों की पसलियां चूर चूर हो गई हैं... भारतवासियो, डरो नहीं ! ईश्वर निष्क्रिय नहीं रहेगा। .....वह अपने वचन का पालन करेगा। ईश्वर के शब्दों में दृढ़ विश्वास रख कर ईश्वरीय शक्ति का आवाहन करो....हृदय में दिव्य ज्योति आने पर मनुष्य असम्भव कार्य भी कर सकते हैं।"[२]

उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम में ६ बातें बताई गईं। पहली बात तो यह थी कि पत्रों की सहायता से प्रबल प्रचार द्वारा शिक्षित लोगों के मस्तिष्क में दासता के प्रति घृणा जाग्रत कर दी जावे। दूसरी बात यह थी कि लोगों के मस्तिष्क से बेकारी और भूख का डर दूर कर दिया जावे और उनमें मातृभूमि और स्वतन्त्रता का प्रेम भर दिया जावे। इसके लिए संगीत और नाट्यकला को साधन बनाया गया। राष्ट्रीय वीरों और शहीदों के जीवन चरित्र का अभिनय द्वारा चित्रण करने के लिए कहा गया और साथ ही देश-भक्ति से ओत-प्रोत गानों को हृदयस्पर्शी संगीत द्वारा लोगों तक पहुंचाने के लिए कहा गया।[३] तीसरी बात यह थी कि शत्रु को प्रदर्शनों और आन्दोलन—बन्देमातरम् जलूस, स्वदेशी सम्मेलन, बहिष्कार

---

१. सन् १९०८ को २२ मई को एक मजिस्ट्रेट के सामने बारीन्द्र घोष का वक्तव्य —Sedition Committee Report, 1918, page 20.

२. Chirol: Indian Unrest, pages 90 and 91.

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ९३।

सभा आदि—में व्यस्त रखा जावे। चौथी और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह थी कि नवयुवकों की भर्ती की जावे, छोटे-छोटे जत्थों में उनका संगठन किया जावे, उन्हें शारीरिक व्यायाम, शस्त्रोपयोग और शक्ति-उपासना की शिक्षा दी जावे, उन्हें क्रांतिकारी साहित्य पढ़ाया जावे, और उन्हें अनुशासन, आज्ञापालन और दल के भेद को गुप्त रखना सिखाया जावे। पांचवीं बात शस्त्र प्राप्त करने के संबंध में थी—बम बनाये जावें, बन्दूकों और अन्य शस्त्रों की चोरी की जावे, विदेशों से शस्त्रों को क्रय करके भारत में गुप्त रूप से लाया जावे। अन्तिम बात धन के संबंध में थी—चन्दे तथा दान द्वारा और साथ ही क्रांतिकारी डकैतियों द्वारा इसकी व्यवस्था होनी थी। "अंग्रेजों की विधि पाशविक बल पर स्थित है और यदि हम अपने आपको स्वतंत्र करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करते हैं तो वह उचित ही है।"[१] बंगाल के नवयुवकों को इस बात का प्रोत्साहन दिया गया कि वे जगें, उठें और विदेशी राज्य का अन्त करें—"क्या शक्ति का बंगाली उपासक रक्त बहाने में संकोच करेगा? इस देश में अंग्रेजों की संख्या डेढ़ लाख से अधिक नहीं है और प्रत्येक ज़िले में अंग्रेज़ों की संख्या कितनी है? दृढ़ संकल्प होने पर ब्रिटिश राज्य का एक दिन में अन्त किया जा सकता है। प्राणों की बलि देने से पहले शत्रु के प्राण ले लो। स्वतंत्रता की वेदी पर शत्रु का रक्त बहाने के बाद अपने प्राणों की बलि देने पर ही देवी की उपासना पूर्ण होगी।"

बारींद्र घोष, भूपेंद्रनाथ दत्त और उनके सहयोगियों के काम का परिणाम यह हुआ कि कितनी ही गुप्त और क्रांतिकारी संस्थाएं स्थापित हो गईं। "बारीन्द्र घोष और उनके साथियों ने 'अनुशीलन समिति' नाम की एक संस्था बनाई। कुछ ही समय में एक संस्था बंगाल की राजधानी कलकत्ता में और दूसरी संस्था पूर्वी बंगाल की राजधानी ढाका में काम करने लगी। एक समय पर तो ढाका संस्था की ५०० शाखाएं थीं................. ।"[२]

ये संस्थाएं रूस और इटली की गुप्त संस्थाओं के नमूने पर बनाई गई थीं और इनके कार्यक्रम में आतंकवाद के कामों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सन् १९०७ के बाद बंगाल के क्रांतिकारियों ने बहुत से आतंकपूर्ण अपराध किए। संभवतः इन लोगों का सबसे पहला काम ६ दिसम्बर १९०७ को मिदनापुर के पास बम द्वारा उप-गवर्नरों की रेलगाड़ी उड़ाने का प्रयत्न था। २३ दिसम्बर १९०७ को फ़रीदपुर ज़िले में एक रेलवे स्टेशन पर ढाका के भूतपूर्व ज़िला मजिस्ट्रेट मि. ऐलेन की पीठ में गोली मारी गई किंतु वह घातक सिद्ध नहीं हुई।

---

१. Chirol: Indian Unrest, page 94.

२. Sedition Committee Report, 1918, pages 21 and 22.

बंगाल में क्रांतिकारी अपराधों का इतिहास, उपर्युक्त दोनों घटनाओं से आरम्भ होता है। किन्तु आन्दोलन के आरंभिक दिनों में ही एक और घटना हुई और उसके फलस्वरूप इंगलैंड और भारत में बड़ा उद्वेग हुआ। क्रांतिकारी दल ने, मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) के जज मि. किंग्सफोर्ड की हत्या करने का काम, खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नामक अपने दो सदस्यों को सौंपा था। बिहार आने से पहले मि. किंग्सफ़ोर्ड कलकत्ते के मुख्य प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट थे और उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं को कठोर दण्ड दिये थे। उन्होंने कई प्रतिष्ठित घरानों के नवयुवकों को शारीरिक दण्ड दिया था।[1] और इसके कारण वे अत्यन्त अप्रिय हो गये थे। क्रांतिकारी दल ने उनकी हत्या करने का निश्चय किया। पहले तो उन्होंने एक बड़े विलक्षण उपाय से काम लिया। उन्होंने मि. किंग्सफ़ोर्ड से मांगी किसी पुस्तक को हथिया लिया। तदुपरान्त उन लोगों ने पुस्तक के पृष्ठों को बीच में से काट लिया और रिक्त स्थान में एक बम रख दिया और उसमें एक स्प्रिंग लगा दी ताकि पुस्तक खोलने पर बम का विस्फोट हो जावे। पुस्तक को पार्सल से मि. किंग्सफ़ोर्ड के पास भेज दिया गया किन्तु तुरन्त आवश्यकता न होने के कारण उन्होंने उस पार्सल को नहीं खोला। कुछ महीने बाद किसी क्रांतिकारी से यह भेद प्रकट हो गया। इस उपाय के असफल हो जाने पर खुदी राम बोस और प्रफुल्ल चाकी को हत्या के लिए नियुक्त किया गया और वे बम लेकर मुज़फ़्फ़रपुर गये। मि. किंग्सफ़ोर्ड के बंगले की ओर से एक गाड़ी आ रही थी और इन लोगों ने यह समझकर कि उसमें अत्यन्त अप्रिय मि. किंग्सफ़ोर्ड होंगे, उस बम को गाड़ी पर फेंक दिया। किन्तु उस गाड़ी में मिसेज़ कैनेडी और मिस कैनेडी नामक दो अंग्रेज़ महिलायें थीं और उस बम के कारण उनकी मृत्यु हो गई। सन् १९०८ की ३० अप्रैल को यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई। दो दिन बाद अपराधी पकड़े गये—प्रफुल्ल चाकी ने तुरन्त गोली मार कर आत्महत्या कर ली। खुदीराम बोस पर मुकदमा चलाया गया। उसने हत्या का आक्षेप स्वीकार किया और उसको फाँसी दी गई। सर वैलेण्टाइन शिरोल लिखते हैं :—"इस प्रकार वह बंगाल के राष्ट्रवादियों के लिये राष्ट्रीय वीर और शहीद हो गया। विद्यार्थियों और अन्य व्यक्तियों ने उसके लिये शोक की पोशाक पहनी, दो तीन दिन के लिये स्कूल बन्द कर दिये गये और उसकी स्मृति में श्रद्धांजलियां

---

१. सुशील सेन नामक १५ वर्षीय विद्यार्थी को बेंत से मारा गया। इस घटना से देश में बड़ा रोष उत्पन्न हुआ। Bannerjee : A Nation in Making, page 248. इसके अतिरिक्त देखिये P. C. Roy Life and Times of C. R. Das, page 51.

अर्पित की गईं । बहुत से लोगों ने उसके चित्र खरीदे और बहुत से लोगों ने ऐसी धोतियां पहनीं जिनके किनारे पर खुदीराम बोस का नाम बुना हुआ था।"[1]

मुज़फ़्फ़रपुर की घटना के दो दिन ही बाद कलकत्ते में एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी षड्यन्त्र का पता लगा। २ मई को कुछ बम, डाइनेमाइट और कारतूस पकड़े गये। इनके अतिरिक्त कुछ पत्र-व्यवहार भी पुलिस के हाथों में आया। इसके फलस्वरूप ३९ व्यक्ति पकड़े गये और उन पर अभियोग चलाया गया। इन व्यक्तियों में अरविन्द घोष, बारीन्द्र घोष, हेमचन्द्र दास और नरेन्द्र गोसाईं भी थे। नरेन्द्र गोसाईं मुख़बिर बन गया। इस विश्वासघात पर उसको जेल में कनाई लाल दत्त और सत्येन्द्रनाथ बोस ने चोरी से प्राप्त किए शस्त्रों द्वारा गोली से मार दिया। इन दोनों व्यक्तियों पर पृथक अभियोग चलाया गया और उन्हें दण्ड दिया गया।[2] अन्य ३६ व्यक्तियों पर सम्राट के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करने के लिये षड्यन्त्र का आक्षेप लगाया गया। १३ अप्रैल १९०९ को यह मुकदमा समाप्त हुआ और उसमें अरविन्द घोष और कुछ अन्य व्यक्तियों को छोड़ दिया गया। अन्य अपराधियों को कठोर दण्ड दिया गया। इन लोगों ने उच्च न्यायालय में अपील की और उस न्यायालय ने इस अलीपुर षड्यन्त्र केस नामक अभियोग का १२ फरवरी १९१० को अन्तिम निर्णय दिया। चार अभियुक्तों को आजीवन देश-निर्वासन का दंड मिला। अन्य अभियुक्तों को कठोर कारावास दण्ड दिया गया—तीन को १० वर्ष के लिये, सात को ७ वर्ष के लिये और तीन को ५ वर्ष के लिये।

मुज़फ़्फ़रपुर और अलीपुर की घटनाओं से सम्बन्धित अन्य हत्यायें हुईं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, विश्वासघाती नरेन्द्र गोसाईं को सितम्बर १९०८ में गोली से मार दिया गया। दो महीने बाद नन्दलाल नामक पुलिस के दारोग़ा की हत्या कर दी गई। इस दारोग़ा ने खुदीराम बोस को गिरफ़्तार किया था। १० फ़र्वरी १९०९ को अलीपुर षड्यन्त्र अभियोग और गोसाईं हत्या अभियोग के सरकारी वकील आशुतोष विश्वास को कलकत्ते में एक कचहरी से बाहर आने के समय गोली से मार दिया गया। तदुपरान्त २४ जनवरी १९१० को पुलिस के

१. Chirol : Indian Unrest, page 97.

२. खुदीराम बोस की तरह कनाई लाल भी अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। जिस समय कनाई लाल और उसके साथी की अर्थियां जेल से श्मशान को जा रही थीं, उस समय कालीघाट की सड़कों पर उनकी चरण रज लेने के लिये ५०००० व्यक्ति एकत्रित थे। P. C. Roy : Life and Times of C. R. Das. पृष्ठ ७२ से अनुवादित

डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट मि. शमसुल आलम को गोली से मार दिया गया। यह पुलिस अधिकारी अलीपुर अभियोग के सम्बन्ध में हाईकोर्ट में उपस्थित हुआ था।

क्रान्तिकारी दल में अनुशासन बनाये रखने के लिये बड़ी कठोरता से काम लिया जाता था। किसी पर विश्वासघात का सन्देह होने पर उसे बड़ी निष्ठुरता से दण्ड दिया जाता था। नवम्बर १९०८ में तीन विश्वासघातियों को गोली से मार दिया गया। क्रांतिकारी दल, पुलिस अधिकारियों को, अभियोग निर्णय करने वाले मजिस्ट्रेटों को, सरकारी वकीलों को और सरकारी गवाहों को आतंकित करने के लिये बड़ी दृढ़ता और निर्भयता से काम लेता था। कितनी ही हत्यायें और डकैतियाँ हुईं। दमनकारी कानून, कठोर दण्ड, अथवा १९०९ और बाद में १९१९ के सुधार भी इन लोगों को उनके निश्चित मार्ग से विचलित नहीं कर सके। सन् १९०८ और १९०९ के विचाराधीन युग में हत्याओं और डकैतियों की संख्या बढ़ती ही गई।[1] सन् १९०८ में ७ नवम्बर को बंगाल के उप-गवर्नर सर एण्ड्रिऊ फ्रेज़र की हत्या करने का प्रयत्न किया गया किन्तु सफलता नहीं मिली। गोली मारने वाला पकड़ा गया, उस पर अभियोग चला और उसे १० वर्ष के लिये कठोर कारावास दंड दिया गया।

५

सन् १९०६ से १९१० तक के वर्षों में क्रांतिकारी केवल बंगाल में ही सक्रिय नहीं थे वरन् वे भारत के अन्य प्रान्तों में और विदेशों में भी काम कर रहे थे। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था और उसके फलस्वरूप मि० रैण्ड और लेफ़्टिनेण्ट ऐयर्स्ट की हत्यायें हुई थीं। इनके अतिरिक्त दामोदर चपेकर की गिरफ़्तारी और दोष-सिद्धि के लिये सूचना देने वाले दो भाइयों की भी हत्या की गई थी। सन् १८९९ के बाद दक्षिण में प्रकटतः पूर्ण शान्ति थी किन्तु क्रान्तिकारी काम को फिर आरम्भ करने के लिये महाराष्ट्र और लन्दन में गुप्त रूप से तयारियां हो रही थीं। इस आन्दोलन के नेता थे श्यामजी कृष्ण वर्मा और सावरकर बन्धु—गणेश और विनायक सावरकर।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा रैण्ड हत्या से किसी प्रकार संबंधित थे और वे चुपचाप इंगलैंड खिसक आये। सन् १९०५ तक तो वे छिपे हुए से रहे किन्तु उस वर्ष की जनवरी में उन्होंने लन्दन में इंडियन होम रूल सोसाइटी चलाई और एक पेंस का इंडियन सोशियोलोजिस्ट नामक मासिक पत्र निकाला। मिस्टर एस. आर. राना नामक एक सज्जन पेरिस में बस गये थे। उनके सहयोग से श्यामजी

१. विस्तृत वर्णन के लिये पढ़िये, Sedition Committee Report, 1918.

वर्मा ने ६ अध्यापक वृत्तियों और ३ छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की। प्रत्येक अध्यापक वृत्ति के लिये १००० रुपये और प्रत्येक छात्रवृत्ति के लिये २००० रुपये दिये जाने थे। इनका उद्देश्य यह था कि भारतीय नवयुवक विदेशों में शिक्षित होकर अपने आप को राष्ट्रीय कार्य के लिये तैयार करें। इस छात्रवृत्ति के द्वारा फ़र्गुसन कॉलेज पूना का विनायक दामोदर सावरकर नामक एक विद्यार्थी लन्दन पहुचा। यह विद्यार्थी बम्बई विश्वविद्यालय का स्नातक था। विनायक का गणेश नामक एक बड़ा भाई था। ये दोनों 'मित्र मेला' नामक एक समिति के नेता थे। इस समिति को १८९९ में गणपति उत्सव के सम्बन्ध में स्थापित किया गया था। जून १९०६ में विनायक सावरकर के लन्दन जाने के कुछ ही समय पहले यह समिति 'अभिनव भारत समिति' नामक एक क्रान्तिकारी संस्था में परिणत हो गई।

जिस समय विनायक सावरकर लन्दन पहुँचा, उस समय श्याम जी कृष्ण वर्मा इंडिया हाउस में प्रबल क्रान्तिकारी प्रचार कर रहे थे। इंडिया हाउस, इण्डियन होम रूल सोसाइटी का कार्यालय था। किन्तु इण्डिया हाउस के उनके कामों के सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट में प्रश्न किये जाने पर वे १९०७ में पैरिस चले गये। वहाँ जाने के बाद भी उन्होंने समिति के कार्य से अपना सम्पर्क सजीव रखा और मि० राना और इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट द्वारा उसका निर्देशन करते रहे। दिसम्बर १९०७ में उन्होंने अपने पत्र में लिखा :—"ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में किसी आन्दोलन को गुप्त रूप से ही चलाया जा सकता है। अगरेज़ सरकार को होश में लाने के लिये रूसी उपाय ही एकमात्र उपाय है। जब तक अंग्रेज़ों का अत्याचार समाप्त न हो जावे और वे देश से भाग न जावें तब तक उन उपायों को निरन्तर दृढ़तापूर्वक काम में लाना चाहिये।"[1]

लन्दन आने के बाद ही विनायक सावरकर ने इंडिया हाउस के कामों में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया। उसने सबसे पहले मेज़िनी के स्वलिखित जीवन चरित्र का मराठी में अनुवाद किया और उसे अपने भाई गणेश के पास भेज दिया। यह अनुवाद पूना में छपा और जनता को प्रस्तुत किया गया। इस अनुवाद के पश्चात् विनायक सावरकर ने "The Indian War of Independence, 1857 (सन् १८५७ का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम) नामक पुस्तक लिखी। इंडिया हाउस के लिये यह क्रांतिकारी पाठ्य-पुस्तक थी। प्रत्येक रविवार को समिति की सभा में उक्त पुस्तक के उद्धरण पढ़े जाते थे और राजनीतिक हत्याओं की नीति का क्रम-बद्ध प्रतिपादन किया जाता था। मई १९०८ में इंडिया हाउस में विद्रोह दिवस मनाया गया।

१. Sedition Committee Report, page 6.

इस अवसर पर श्यामजी कृष्ण वर्मा ने दो सन्देश पत्र भेजे । एक सन्देश के शीर्षक में शहीदों को संबोधित किया गया था और दूसरे सन्देश में गम्भीर चेतावनी दी गई थी । इन संदेशों को विद्रोह दिवस की सभा में पढ़ा गया और आगन्तुकों में उनका वितरण किया गया और उनसे इन संदेश पत्रों को पृथक रूप से भारत भेजने की प्रार्थना की गई । जून १९०८ में इंडिया हाउस में एक व्याख्यान दिया गया । इस व्याख्यान में बम के प्रयोग को न्याय्य ठहराया गया और उन्हें बनाने की प्रक्रिया बताई गई । लगभग इसी समय इंडिया हाउस के सदस्य रिवालवर से निशाना लगाने का अभ्यास भी करने लगे ।

धीरे-धीरे इंडिया हाउस के सदस्य विनायक सावरकर के नेतृत्व को मानने लगे । सावरकर ने भारत में क्रांतिकारी काम की तैयारियों को भी आगे बढ़ाया । फ़रवरी १९०९ में उसने २० नवीनतम प्रकार की पिस्तौलों का पार्सल बम्बई भेजा । इस पार्सल के साथ पिस्तौलों के कारतूस भी थे । इन चीज़ों को एक बक्स के झूठे तले के नीचे छिपा दिया गया था और इस बक्स का इंडिया हाउस के एक चतुर्भुज अमीन नामक रसोइये के सामान के साथ पार्सल किया गया था ।"[१] ये पिस्तौलें अभिनव भारत समिति के सदस्यों के काम में आनी थीं । यह समिति विनायक के बड़े भाई गणेश के नेतृत्व में काम कर रही थी । किन्तु पार्सल के भारत पहुंचने से पहले ही गणेश सावरकर को २ मार्च १९०९ को सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया गया । पार्सल एक मित्र के नाम था जिसे पहले ही फोड़ लिया गया था ।

गणेश सावरकर के विरुद्ध यह आक्षेप था कि उन्होंने लघु अभिनव भारत मेला नामक शीर्षक के अन्तर्गत १९०८ के आरम्भ में भड़काने वाली कविताओं का एक संकलन प्रकाशित किया था । अभियोग का अन्तिम निर्णय बम्बई के उच्च न्यायालय ने किया । उसके जज के शब्दों में इस संकलन से इस बात का प्रचार होता था कि, "तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो क्योंकि वह विदेशी और असाचारणी है ।"[२] ९ जून १९०९ को गणेश सावरकर को आजीवन देश-निर्वासन का दंड मिला । विनायक को समुद्री तार द्वारा दंड की सूचना दी गई । रविवार, २० जून को समिति की बैठक में विनायक विशेष रूप से उग्र था और उसने अंग्रेज़ों से बदला लेने की अपनी शपथ को दोहराया ।[3]

बंगाल संबंधी समाचारों ने भी इंडिया हाउस के सदस्यों को उत्तेजित किया ।

---

१. Sedition Committee Report, page 9.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९.

एक सदस्य मदनलाल धींगरा ने भारतीय नवयुवकों को फाँसी देने और निर्वासित करने के विरोध में अंग्रेजों का रक्त बहाने का निर्णय किया।[१] उसने १ जुलाई १९०९ को भारत मंत्री के कार्यालय के ए. डी. सी. सर फ्रेंसिस कर्जन वाइली को लन्दन में इम्पीरियल इस्टीट्यूट[२] के सम्मेलन के अवसर पर गोली से मार दिया। धींगरा पकड़ा गया और उसे प्राण दण्ड दिया गया। इंडिया हाउस का संगठन समाप्त हो गया। विनायक सावरकर को गिरफ़्तार करके बम्बई[३] भेजा गया क्योंकि कुछ भीषण आक्षेपों के संबंध में बम्बई सरकार उस पर अभियोग चलाना चाहती थी। बाद में अभियोग निर्णय के अनुसार उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया।

सर वैलेण्टाइन शिरोल के अनुसार विनायक ने अभिनव भारत समिति के सदस्यों को नासिक के ज़िला मजिस्ट्रेट मि. जैकसन की हत्या करने के लिये भड़काया। जो भी हो उन सदस्यों ने गणेश सावरकर पर अभियोग चलाने वाले जैकसन से बदला लेने का निश्चय किया और २१ दिसम्बर १९०९ को औरंगाबाद के एक ब्राह्मण नवयुवक ने मि. जैकसन को पिस्तौल से मार दिया। यह पिस्तौल लन्दन से विनायक द्वारा भेजी हुई पिस्तौलों में से एक थी। मि. जैकसन की हत्या के सिलसिले में सात व्यक्तियों पर अभियोग चलाया गया। ये सब चितपावन ब्राह्मण थे। इनमें से तीन को प्राणदंड दिया गया।[४]

जैकसन हत्या सम्बन्धी जांच में, नासिक षडयंत्र अभियोग नामक मामले का पता लगा। इसमें ३८ अभियुक्त थे; उनमें से २७ को विभिन्न अवधिओं के लिये कारावास दंड दिया गया। इस षड्यंत्र का दायित्व नासिक की अभिनव भारत समिति पर था। इस समिति का संगठन रूसी क्रांतिकारी समितियों के नमूने पर किया गया था। सदस्यों को पश्चिमी भारत के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे समुदायों में बांट दिया गया था। प्रत्येक समुदाय के सदस्य साथ मिलकर काम करते थे और वे परस्पर गुप्त शपथ से बन्धे हुए थे। यद्यपि सभी समुदायों का उद्देश्य एक ही था और उन्हें

---

१. Sedition Committee Report, page 9, गिरफ़्तारी के समय धींगरा की जेब से इस आशय का एक वक्तव्य पाया गया।

२. इस अवसर पर डा. लल्काका की भी मृत्यु हुई।

३. मार्ग में वह जहाज़ में से छिप कर निकल गया और फ्रांस में मार्सेलीज़ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उसने सुरक्षा की मांग की किन्तु वह फिर कैद कर लिया गया।

४. Sedition Committee Report, page 10.

शस्त्र भी एक ही स्थान से प्राप्त होते थे तथापि एक समुदाय के सदस्य दूसरे समुदाय के सदस्यों से बिल्कुल अपरिचित थे। गणेश सावरकर के हाथों में उनका नेतृत्व था और विनायक सावरकर उनका मित्र, प्रेरक और निर्देशक था। वह लन्दन से, टाइप की हुई प्रतियां बम बनाने के लिये हिदायतें देता था और उनके लिये क्रांतिकारी साहित्य भेजता था। वह विदेशों से शस्त्र भेजता था और उन्हें आतंकपूर्ण कामों के लिये प्रेरित करता था।

निकट के देशी राज्यों में भी अभिनव भारत समिति की उप शाखाएं थीं। ग्वालियर में एक नव भारत समिति थी। इसके २२ सदस्यों पर सम्राट् के विरुद्ध युद्ध संगठित करने के अपराध में अभियोग चलाया गया। ग्वालियर षड्यंत्र केस के इन अभियुक्तों को विभिन्न अवधियों के लिये कारावास दंड दिया गया।

अभिनव समिति की एक शाखा १९०७ से सतारा में काम कर रही थी। सन् १९१० में उसके तीन सदस्यों पर सम्राट् के विरुद्ध षडयंत्र का परिचित आक्षेप लगाया गया। सतारा षडयंत्र केस के सभी अभियुक्तों का अपराध सिद्ध हुआ और उन्हें कारावास दंड दिया गया।

क्रांतिकारी आन्दोलन, पश्चिमी भारत के विभिन्न भागों में फैल गया था। क्रांतिकारियों के प्रभाव से गुजरात भी नहीं बचा था। नवम्बर १९०९ में अहमदाबाद में लॉर्ड और लेडी मिंटो जिस गाड़ी में शहर में घूम रहे थे, उसे उड़ाने का प्रयत्न किया गया। दो नारियल बम फेंके गये पर वे फटे नहीं। बाद में उनमें से एक बम को कौतूहलवश एक पथिक ने उठाया और विस्फोट के कारण उसका एक हाथ उड़ गया।

६

सन् १९०६ से १९१० तक के वर्षों में दक्षिण के क्रांतिकारियों का काम उपर्युक्त ढंग से चल रहा था। मद्रास प्रान्त भी सक्रिय था। अप्रैल १९०७ में बिपिन चन्द्र पाल ने व्याख्यान देने के उद्देश्य से मद्रास का परिभ्रमण किया था और स्वराज्य के आदर्श को प्रस्तुत करके नवयुवकों के मस्तिष्क को उद्वेलित कर दिया था। अरविन्द घोष के विरुद्ध राजद्रोह अभियोग में गवाही न देने के अपराध में बिपिन चन्द्र को अक्तूबर १९०७ में छः महीने का कारावास दंड दिया गया। मि. पाल के दो मद्रासी प्रशंसकों ने १९०८ की ९ मार्च को उनके छूटने की प्रसन्नता में एक सभा की। उस सार्वजनिक सभा में स्वराज्य का झंडा फहराया गया और प्रत्येक विदेशी वस्तु के बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा की गयी। इन दोनों प्रशंसकों—सुब्रह्मण्यम् शिव और चिदम्बरम पिलाई—को १२ मार्च को गिरफ़्तार कर लिया गया। दूसरे दिन टिनेवली में भीषण उपद्रव हुआ। सरकारी सत्ता की अवहेलना की गई और सरकारी सम्पत्ति को जानबूझ कर नष्ट किया गया। उस नगर में सब-रजिस्ट्रार

के कार्यालय के अतिरिक्त सब पुलिस चौकियों और थानों पर आक्रमण किया गया। इन इमारतों के सारे सामान को—मेजों, कुर्सियों और अभिलेखों को—जला दिया गया। नगरपालिका कार्यालय को नष्ट कर दिया गया। इस उपद्रव में भाग लेनेके सम्बन्ध में २७ व्यक्तियों के अपराध सिद्ध हुए और उन्हें दंड दिया गया।"[1]

पत्र सम्पादकों और लोकप्रिय वक्ताओं पर अभियोग चलाये गये। सत्ता का केन्द्र पांडेचरी में बनाया गया और एक नवयुवक समुदाय ने क्रांतिकारी काम के लिये संगठन करना आरम्भ किया। इस काम के लिये प्रोत्साहन और निदर्शन एम. पी. तिरूमल आचार्य और वी. वी. एस. ऐयर से मिला। तिरूमल आचार्य भारतीय क्रांतिकारियों के पेरिस समुदाय और लन्दन के इंडिया हाउस, दोनों से सम्बन्धित था और ऐयर लन्दन में विनायक सावरकर के साथ और बाद में पेरिस समुदाय के साथ रह चुका था। मि. ऐयर ने पांडेचरी पहुँच कर एकत्रित नवयुवकों को क्रांतिकारी काम के लिये तैयार करना आरम्भ किया और उन्हें पिस्तौल से निशाना लगाने की शिक्षा दी। इन अभ्यास करने वालों में वांची ऐयर नामक एक नवयुवक था जिसने बाद में १७ जून १९११ को टिनेवली के ज़िला मजिस्ट्रेट मि.ऐश. को गोली से मारा। उस पर अभियोग चला और उसे प्राण दंड दिया गया। उसके साथियों को भी पकड़ा गया और एक षड्यंत्र का रहस्योद्घाटन हुआ। टिनेवली षड्यंत्र अभियोग में ९ व्यक्तियों का अपराध सिद्ध हुआ और उन्हें विभिन्न अवधिओं के लिये कारावास दंड दिया गया।

इसी अध्याय में लन्दन और पेरिस में भारतीय क्रांतिकारियों के काम की चर्चा की जा चुकी है। इस विचाराधीन युग में यूरोप महाद्वीप में भारतीय क्रांतिकारियों का एक पूरा समुदाय काम कर रहा था। इसके नेता थे श्याम जी कृष्ण वर्मा, एस. आर. राना और कामा दम्पति। ये लोग भारत के विद्यार्थियों और अन्य शिक्षित वर्गों में प्रचार के लिये भारत के विभिन्न भागों में गुप्त रूप से क्रांतिकारी साहित्य भेजते थे। श्याम जी वर्मा के इंडियन सोशियोलॉजिस्ट की चर्चा की जा चुकी है। उसके अतिरिक्त श्रीमती कामा बन्दे मातरम् नामक एक पत्र का सम्पादन करती थीं। यह पत्र जिनेवा से प्रकाशित होता था और इसका काफ़ी चलन था। क्रांतिकारी प्रचार का विदेशों में एक केन्द्र अमेरिका में प्रशान्त महासागर के तट पर था। दो पृथक् संस्थाएं थीं—एक का नाम इंडो-अमेरिकन एसोसियेशन था और दूसरी का नाम यंग इंडिया एसोसियेशन था। इनका मुख्य केन्द्र कैलिफ़ोर्निया में था और इनकी शाखाएँ शिकागो, न्यूयार्क और अमेरिका के अन्य महत्वपूर्ण नगरों में थीं। "इन

१. Sedition Committee Report, page 163.

संस्थाओं में विद्यार्थी, विशेषकर बंगाली विद्यार्थी मुख्य कार्यकर्त्ता थे। इनको आयरिश अमेरिकन फेनियन्स का सहयोग प्राप्त था। इन की विचारधारा से अमेरिका में आकर बसने वाले अधिकांश भारतवासी प्रभावित हुए। ये वह लोग थे जिन्होंने प्रशान्त तट पर एशिया विरोधी आन्दोलन में कष्ट सहे थे। इन में से कुछ लोग सिख और पुराने सिपाही थे। यह बात कम महत्व की नहीं थी क्योंकि इन सैनिकों द्वारा उन सैन्य दलों से जिन में पहले ये सैनिक काम करते थे, अब सीधा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता था और कम से कम जिन वर्गों से भारतीय सेना की भर्ती होती थी, उनको तो प्रभावित किया ही जा सकता था। तीन वर्ष पूर्व सिपाहियों में जो पर्चे बांटे गये थे वे अमरीका में ही छपे थे।"[१]

इंडो अमेरिकन एसोसियेशन मुख्यतः एक प्रचार समिति थी। इसके मुखपत्र का नाम 'फ्री हिंदुस्तान' था और यह नियत समय पर प्रकाशित होता था। किंतु यंग इंडिया एसोसियेशन का आयर्लैंड की क्रांतिकारी संस्थाओं के ढंग पर संगठन किया गया था और उसका मुख्य काम विस्फोटकों का अध्ययन करना और भारत को गुप्त रूप से शस्त्र भेजना था। सर वैलेण्टाइन शिरोल के अनुसार इन दोनों संस्थाओं का भारत के विभिन्न स्थानों—दक्षिण,बंगाल और पंजाब—की संस्थाओं से सम्बन्ध था और उनका राजद्रोहपूर्ण समाचार-पत्र और साहित्य, मुद्रित और प्रकाशित करने वालों से पत्र-व्यवहार होता रहता था।

७

सन् १९०७-८ में पंजाब का आन्दोलन वस्तुतः क्रांतिकारी नहीं था। जैसा कि पंजाब के उप गवर्नर सर डेनिज़ल ने उस समय कहा, यह सब सच है कि १९०७ की गर्मियों में वहां की स्थिति गम्भीर थी। सारे प्रान्त में प्रबल असंतोष था और उसके कारण लाहौर और रावलपिंडी में उपद्रव भी हुए। किंतु बंगाल, महाराष्ट्र और मद्रास की तरह पंजाब में आतंकवादी गुप्त समितियां नहीं थीं।

राष्ट्रीय आन्दोलन ने पंजाब के शिक्षित वर्ग को झकझोर दिया था। स्वामी दयानन्द की शिक्षा के फलस्वरूप हिंदू नवयुवकों में स्वतन्त्रता और स्वदेशी की भावना को पनपने में सहायता मिली। भारतीय पत्र प्रबल प्रचार कर रहे थे और कुछ पत्र तो वैधानिक सीमाओं को भी पार कर गये थे। उनके सम्पादकों और मुद्रकों पर अभियोग चलाया गया और उनको दंड दिया गया। आंग्ल-भारतीय पत्र जातीय घृणा और द्वेष का प्रचार कर रहे थे किंतु उनके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नहीं की गयी। लाहौर का सिविल और मिलिटरी गज़ट इन पत्रों का अग्रणी था।

---

१. Chirol: Indian Unrest, page 147.
२. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ १४७.

वह शिक्षित वर्ग के विरुद्ध भ्रमपूर्ण लेख लिखता था और उन्हें तरह-तरह की गालियां देता था। उसने विद्रोह के संकट का हल्ला मचाया। उसमें यहां तक कहा गया कि विद्रोह की पचासवीं वर्ष गांठ पर (१० मई १९०७ को) अंग्रेज़ों के विरुद्ध नया व्युत्थान होगा। इस झूठे प्रचार पर विश्वास किया गया और पंजाब के कई शहरों में अंग्रेज़ों की रक्षा के लिये प्रबन्ध किया गया और अंग्रेज़ निवासियों को किलों में रहने के लिये जगह दी गई। नेविन्सन ने लिखा है:—"किंतु इस भविष्यवाणी के होते हुए भी कोई व्युत्थान नहीं हुआ।"[१]

किंतु सन् १९०७-८ में पंजाब की स्थिति बड़ी गम्भीर हुई और इसके कई कारण थे। एक ओर तो आंग्ल-भारतीय पत्र भारत-विरोधी प्रचार बड़े ज़ोरों से कर रहे थे दूसरी ओर बंगाल का राष्ट्रीय आन्दोलन उमड़ रहा था। इसी समय प्लेग और अकाल का दैवी कोप हुआ और सरकार ने विवेक-शून्य भूमि विषयक नीति अपना कर स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। अप्रैल १९०७ में 'इंडिया' और 'पंजाबी' नामक दो भारतीय पत्रों पर अभियोग चलाया गया। 'इंडिया' के मालिक और सम्पादक को पांच वर्ष का कारावास दंड दिया गया और मुद्रक को एक राजद्रोह-पूर्ण पत्र छापने के अपराध में दो वर्ष का कारावास दिया गया। यह पत्र अमरीका से आया था और इसमें भारतीय सेना को भड़काया गया था।[२] 'पंजाबी' ने एक बेगार के मामले में सम्पादकीय आलोचना की थी। एक सरकारी अधिकारी ने दो गांव वालों से बलात् काम कराया था और बेगार के कारण उन दोनों की मृत्यु हो गई थी। अपील पर निर्णय के अनुसार 'पंजाबी' के मालिक को ६ महीने का कारावास दंड दिया गया और उसपर १००० रुपया जुर्माना किया गया और सम्पादक को छः महीने का कारावास दड दिया गया और उसपर २०० रुपया जुर्माना किया गया। इस अभियोग का अन्तिम निर्णय लाहौर हाई कोट ने १६ अप्रैल १९०७ को सुनाया। पता लगने पर बड़ी भीड़ एकत्रित हुई और वह जेल जाते हुए बन्दियों से मिली। उत्साह और उद्वेग के कारण अन्त में एक उपद्रव हो गया।

आरम्भ में पंजाब के झगड़े भूमि विषयक थे।[3] लॉर्ड मिण्टो के जीवन लेखक ने इस बात को स्वीकार किया है कि "नहर उपनिवेशोंमें स्थानीय सरकार ने विवेक शून्य नीति अपनाई और इसी के कारण झगड़े हुए।"[४] मालगुज़ारी को

---

१. Nevinson : The New Spirit in India, page 20.

२ Nevinson : The New Spirit in India, page 18.

३. उपद्रव के कारणों के लिये देखिये—Lajpat Rai : Story of my Deportation. Appendix B.

४. Buchan : Lord Minto : page 256.

काफ़ी बढ़ा दिया गया; सभी उपनिवेशों में, विशेषकर बारी दोआब क्षेत्र में सिंचाई की दर को बढ़ा दिया गया, और सब से बड़ी बात यह थी कि चेनाब उपनिवेश में फिर से प्राप्त की हुई भूमि के अधिकार के सम्बन्ध में सरकार ने अपने वचनों का पालन नहीं किया। पजाब विधान परिषद् में एक उपनिवेश विधेयक शीघ्रता से स्वीकार किया गया और उसके द्वारा १८९३ के एक्ट की शर्तों को बदल दिया गया। इन कार्यवाहियों का प्रबल विरोध हुआ। इस आन्दोलन के नेता मि. अजीतसिंह और सैयद हैदर रिज़ा थे। उन्होंने आन्दोलन चलाने के लिये एक संस्था बनाई जिसका नाम इंडियन पेट्रियट्स एसोसियेशन था। सारे प्रान्त में, विशेष कर प्रभावित क्षेत्र में सभाए की गयीं। २२ मार्च १९०७ को लायलपुर में एक सभा हुई। इसमें लाला लाजपतराय को बोलने के लिये आमन्त्रित किया गया था। उन्होंने सरकारी कार्यवाहियों की आलोचना की और उन्हें बढ़ते हुए असंतोष के लिये उत्तरदायी ठहराया। इस सभा में मि. अजीत सिंह ने भी व्याख्यान दिया। एक ही सभा में दोनों नेताओं ने भाषण दिया। संभवतः इसी संयोग के कारण लाला लाजपतराय और मि. अजीत सिंह— दोनों ही सज्जनों को सन् १८१८ के पुराने और कुटिल विनियम के अन्तर्गत भारत से एक साथ निर्वासित कर दिया गया।

रावलपिंडी ज़िले में मालगुज़ारी में विशेष रूप से वृद्धि की गई। अप्रैल १९०७ में इस अत्यधिक मालगुज़ारी के विरोध में दो सभाएं की गयीं। दूसरी सभा २१ अप्रैल को हुई और इसमें मि. अजीतसिंह प्रमुख वक्ता थे। जब मि. अजीतसिंह की भाषा वस्तुतः उग्र हो गयी तो सभाध्यक्ष लाला हंसराज ने उन्हें रोक दिया; परन्तु कुछ ही दिनों बाद सभाध्यक्ष को और साथ ही २१ अप्रैल की सभा से सम्बन्धित लाला अमोलक राम और लाला गुरदास राम नामक दो प्रतिष्ठित वकीलों को यह सरकारी सूचना दी गई कि भारतीय दंड संहिता की नं. १२४ ए. और नं. ५०५ धाराओं के अन्तर्गत उन पर अभियोग चलाया जावेगा और इन लोगों को २ मई को ११ बजे न्यायालय में उपस्थित होने के लिये कहा गया। लाला लाजपतराय अपने वकील मित्रों की यथासंभव सहायता करने के लिये रावलपिंडी पहुँचे। इन सब के मतानुसार सूचनापत्र अवैध था और उन्होंने न्यायालय में उपस्थित न होने का निश्चय किया। परन्तु उन्होंने मि. अज़ीज़ अहमद और मि. बोधराज नामक दो नये बैरिस्टरों को अपनी ओर से कार्यवाहियों में भाग लेने के लिये अधिकार दिया। २ मई को ज़िलाध्यक्ष के न्यायालय के सामने बड़ी भीड़ एकत्रित हो गई और हड़ताल करने वाले मज़दूरों के कारण यह भीड़ और भी बढ़ गई। उस दिन सरकारी तोपखाने में, रेलवे वर्कशाप में और रायबहादुर सरदार बूटासिंह के निजी कारखाने में मज़दूर लोग काम पर नहीं गये। जब ग्यारह बजने पर भी ज़िलाध्यक्ष नहीं आया तो

भीड़ में बड़ी अशान्ति हुई। आखिर साढ़े बारह बजे ज़िलाध्यक्ष आया और उसने सार्वजनिक जांच को भविष्य के लिये —संभवतः पंजाब सरकार के आदेशानुसार स्थगित कर दिया। जब भीड़ को जांच स्थगित होने का पता लगा तो उसका रोष सीमा से बाहर हो गया और वह तितर बितर नहीं हुई वरन् उसने एक प्रमुख मार्ग पर अपना जलूस निकाला; एक चर्च और मिशन भवन को नष्ट किया और उसके सामान में आग लगा दी; यूरोपियनों के कुछ मकानों और बाग़ों को नष्ट किया और एक हिंदू कारखाने को, जिस के मज़दूर हड़ताल पर थे, क्षति पहुँचाई। पुलिस दिखाई नहीं दी परन्तु बाद में सैनिकों का पहरा बैठा दिया गया।[1]

इस उपद्रव के बदले में उक्त तीन वकीलों के साथ तीन अन्य प्रमुख वकीलों को और ६० अन्य व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। अभियोग का निर्णय होने तक इन वकीलों को गर्मी के महीनों में बड़ी कष्टपूर्ण दशा में जेल में रखा गया। १ अक्तूबर को निर्णय सुनाया गया और सब वकीलों को छोड़ दिया गया। मजिस्ट्रेट के अनुसार गवाही झूठी और बनाई हुई थी। अन्य अभियुक्तों में से पांच को दंड दिया गया। इनमें से तीन को उपद्रव करने और आग लगाने के अपराध में ७ वर्ष का कारावास दंड दिया गया।

बाद में पंजाब की स्थिति में सुधार हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि लॉर्ड मिण्टो ने उपनिवेश विधेयक को निषिद्ध कर दिया। वाइसरॉय के मतानुसार उक्त विधेयक न्याय्य नहीं था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लॉर्ड मॉर्ले को लिखा:—"जो बात ग़लत है उसको अस्वीकार करने का अर्थ आन्दोलन के सामने सिर झुकाना नहीं है और न उस से कोई दुर्बलता ही प्रदर्शित होती है। इस डर से कि कहीं दूसरे लोग दुर्बलता न समझें, किसी ग़लत नीति से चिपके रहना, स्वयं दुर्बलता है।"[2] "अतः लॉर्ड मिंटो ने विधेयक को निषिद्ध कर दिया और इसके परिणाम अत्यन्त हितकर हुए।[3]

१. Nevinson : The New Spirit in India, page 19.
२. Nevinson : The New Spirit in India, page 19.
३. Buchan : Lord Minto, page 157.

चौदहवाँ अध्याय

दमन और सुधार

१

भारत की १९०५-६ की घटनाओं के कारण भारतीय शासन के दोनों नये अध्यक्ष चिन्तित हुए। नवम्बर १९०५ में लॉर्ड कर्जन के स्थान पर लॉर्ड मिण्टो वाइसरॉय हो गये थे और दिसम्बर १९०५ में प्रगतिवादी जॉन मॉर्ले भारत मन्त्री हो गये थे। ६ जून १९०६ को मि. जॉन मॉर्ले (बाद में लॉर्ड मॉर्ले) ने लार्ड मिंटो को एक पत्र लिखा और उसमें उन्होंने लॉरेंस, शिरोल, सिडनी लो जैसे प्रमुख लेखकों के दृष्टिकोणों की ओर ध्यान आकर्षित किया। ये लोग हाल ही में भारत में प्रवास करके आये थे और इन्होंने "वहां एक नई भावना को बढ़ते हुए और फैलते हुए देखा था।" इन लोगों का यह मत था कि भविष्य में यथा पूर्व ढंग से भारत का शासन करना असंभव है और सरकार को कांग्रेस संस्था और कांग्रेस सिद्धांतों के साथ व्यवहार रखना होगा।"[१] इन्हीं विचारों को भारतीय नरम दल के दूरदर्शी नेता, सन् १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन के सभापति और 'भारत सेवक समिति' के संस्थापक श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने बड़ी कुशलता के साथ अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया था। मार्च १९०६ में सम्राज्ञीय विधान परिषद में बजट सम्बन्धी अपने व्याख्यान में श्री गोखले ने लॉर्ड मिन्टो से एक सार्वजनिक अपील की। "शिक्षित वर्गों को शान्त करने की समस्या को सुलझाने में..................ब्रिटिश राजनीतिज्ञता की परीक्षा होगी। उन्हें शान्त करने का केवल यही उपाय है कि उनको अपने देश के शासन में अधिकाधिक साथ लिया जावे।[२] परिषद के अधिवेशन के बाद श्री गोखले इंगलैंड गये और भारत मन्त्री से कई बार मिले। ऐसा प्रतीत होता है कि मि. मॉर्ले को श्री गोखले की सद्भावनाएं प्राप्त हुई और कुछ सामान्य सुधारों के लिये उन्हें गोखले का समर्थन भी मिला।[3] भारत मंत्री और वाइसरॉय में परामर्श होने के बाद यह

---

१. Morley : Recollections. Vol. II, pages 172-174.

२. Buchan : Lord Minto, page 231.

३. मि. मॉर्ले ने १ अगस्त १९०६ की भेंट में गोखले से कहा : "अब आपकी दिशा में युक्त सुधारों के लिये अभूतपूर्व अवसर है...............इसके लिये केवल एक बात का ही डर है और वह है आपके मित्रोंका विरोध...........मैं आपको किसी दायित्व में नहीं बांधता.............पर आप प्रयत्न करें। यदि मंच और पत्रों द्वारा आपके साथियों ने उपेक्षा की तो सब मिट्टी में मिल जायगा।" मि. गोखले ने हार्दिक सहयोग दिया और उन्होंने भारत में अपने मित्रों

निश्चय हुआ कि भारत सरकार उक्त सुधारों का उपक्रमण करे। इस सम्बन्ध में मि. मॉर्ले के १५ जून १९०६ के पत्रोत्तर में लॉर्ड मिंटो ने लिखा, "भारत सरकार द्वारा उपक्रमण करने की बात को मैं विशेष महत्व देता हूं।"[१]

इसके लिये लॉर्ड मिंटो ने सब से पहली बात तो यह की कि उन्होंने अपनी कार्यकारिणी परिषद की अगस्त १९०६ में एक कमेटी नियुक्त की और एक लेख द्वारा कमेटी को उस का उद्देश्य और उसका कार्य क्षेत्र बताया। "कमेटी को इन विषयों पर विचार करना था : (१) देशी नरेशों की परिषद और यदि यह संभव न हो तो क्या वाइसरॉय की विधान परिषद में उनका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है; (२) वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद में एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति; (३) केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व में वृद्धि; (४) बजट पर विचार प्रकट करने के लिये समय में वृद्धि और साथ ही संशोधन प्रस्तुत करने के अधिकार में वृद्धि।[२] इस कमेटी के अध्यक्ष सर ए. टी. ऐरन्डाल थे।

कमेटी ने अक्तूबर १९०६ में अपनी रिपोर्ट दी परन्तु वाइसरॉय की कार्यकारिणी में उस पर विचार करने में बहुत समय लगा जिस के फलस्वरूप सुधार सम्बन्धी भारत सरकार का राजपत्र, भारत मन्त्री के पास सन् १९०७ की मार्च के अन्त में भेजा गया। मि. मॉर्ले ने अपनी परिषद से तुरन्त ही परामर्श किया और भारत सरकार को स्थानीय सरकारों की सम्मति जानने के लिये कहा। स्थानीय सरकारों और जनता का मत जानने में एक वर्ष से अधिक समय लगा और इस प्रकार सुधारों के सम्बन्ध में १ अक्तूबर १९०८ से पहले कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकी।

२

इन्हीं दिनों में देश के विभिन्न भागों में स्थिति बड़ी गम्भीर होती जा रही थी। पूर्वी बंगाल और आसाम प्रान्त के उप-गवर्नर ने बड़े अविवेक और अकौशल से काम लिया। लोगों को आतंकित करने के उद्देश्य से उसने प्रान्त के बहुत से महत्वपूर्ण स्थानों में गुरखा सैनिकों के जत्थों को स्थापित कर दिया। लॉर्ड मिंटो को "इस बात का पूरा विश्वास था कि सर बैम्फ़ील्ड के कौशलशून्य शासन से बड़ा भारी

के लिये अत्यन्त आशापूर्ण पत्र लिखा।" Morley Recollections. Vol. II. pages 181-182.

१. Buchan : Lord Minto, page 234--letter dated 11-7-1906.

२. Buchan Lord Minto, page 240.

३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ, २३७.

खतरा था पर वह इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही करने से इस लिये झिझकते थे कि सरकार के आलोचक उसका गलत अर्थ अवश्य लगावेंगे। जुलाई १९०६ में एक घटना हुई जो वाइसरॉय अथवा भारत मन्त्री को विशेष रूप से अप्रिय नहीं थी। दो स्कूलों के विद्यार्थियों ने सिराजगंज में बड़ा उग्रतापूर्ण और उच्छृंखलतापूर्ण व्यवहार किया था। इस पर उप-गवर्नर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से उक्त दोनों स्कूलों को बहिष्कृत करने के लिये कहा। भारत सरकार के अनुसार तत्कालीन परिस्थितियां में यह काम अविवेकपूर्ण था और उसने सर बैम्फ़ील्ड से अपना निवेदन वापिस लेने के लिये कहा। इस पर सर बैम्फ़ील्ड ने वाइसरॉय को यह लिखा कि या तो स्कूलों को बहिष्कृत किया जावे अथवा उसका त्याग-पत्र स्वीकार किया जावे। लार्ड मॉर्ले ने लिखा है:—"लार्ड मिंटो आन्दोलन के समय में उप-गवर्नर बदलने के विरोधी तर्कों के प्रति सजग थे किंतु यह बात प्रतिदिन अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही थी कि नये प्रान्त का शासन अविश्वसनीय है और उससे अन्य नई समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं:—अतः त्याग-पत्र स्वीकार किया गया, मने भी अपनी स्वीकृति तार द्वारा तुरन्त भेज दी।"[1]

पंजाब की सरकार ने अपने यहां की स्थिति को बिगाड़ लिया था। जैसा कि पहले[2] कहा जा चुका है पंजाब झगड़े आरम्भ में भूमि विषयक थे। पंजाब सरकार ने कष्टों को कम करने और झगड़े के कारणों को दूर करने के स्थान पर कठोर व्यवहार से काम लेने का निश्चय किया और १८१८ के पुराने विनियम नं. ३ के अन्तर्गत लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश से निर्वासित करने के लिये भारत सरकार पर जोर डाला। लाला लाजपतराय का कई क्षेत्रों में प्रमुख स्थान था। वे एक धार्मिक सुधारक थे, आर्य समाज के नेता था और शिक्षा प्रसारक थे। वे परोपकारी थे और साथ ही सामाजिक कार्यकर्ता थे। सर्व साधारण और दुखी लोगों से उन्हें सच्चा प्रेम था। वे एक प्रमुख कांग्रेसी भी थे और नये उग्र दल के तीन महत्वपूर्ण नेताओं में से एक थे। वे अंग्रेजी में और विशेष कर उर्दू में ओजस्वी और प्रभावशाली वक्ता थे। सरकार उनकी स्वतन्त्रता और उनके बढ़ते हुए प्रभाव से शंकित हो गई थी। दूसरी ओर सभी—सहमत और भिन्नमत—देशवासी उन्हें सत्यशील और निस्वार्थ-प्रेरित देशभक्त मानते थे। उनके अनुसार वे सरकार के विरुद्ध षडयंत्र रचने में अथवा सैनिकों में राजद्रोह का प्रचार करने में अथवा अन्य कोई

१. Morley: Recollections, page 84.
२. इस पुस्तक का १३ वां अध्याय देखिये।

गुप्त काम करने में असमर्थ थे।[1] सरकारी नीति के सम्बन्ध में उनकी आलोचना स्पष्ट और निष्कपट थी। भूमि विषयक आन्दोलन से उनका सम्बन्ध न के बराबर था। इस सम्बन्ध में केवल एक बार उन्होंने सरदार अजीतसिंह के साथ एक सभा में भाषण दिया था। सरदार अजीतसिंह लायलपुर ज़िले के एक खेतिहर थे और पहले उन्हें बहुत कम लोग जानते थे। सन् १९०६-७ के भूमि विषयक आन्दोलन के एक प्रमुख संगठनकर्त्ता के नाते वे प्रसिद्ध हो गये। वे एक प्रभाव शाली और साथ ही उग्र वक्ता थे और अत्यन्त लोकप्रिय थे। खेतिहर आन्दोलन के शीघ्रता से बढ़ने के कारण सरकार को घबराहट हुई और उसे रोकने के लिये सरकार ने सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपतराय को निर्वासित करना ही उचित समझा। स-परिषद् गवर्नर-जनरल ने इन दोनों सज्जनों को गिरफ़्तार करके निर्वासित करने के लिये अनुज्ञा-पत्र दिया और ९ मई १९०७ को इन दोनों व्यक्तियों को निर्वासित करके मांडले (बर्मा) भेज दिया गया। ११ मई १९०७ को वाइसरॉय ने एक अध्यादेश (Ordinance) प्रकाशित किया। इसके अनुसार सार्वजनिक सभा आयोजित करने के अधिकार को कठोरता से सीमित कर दिया गया। सभा का आयोजन करने वालों को सभा की तिथि से सात दिन पहले सरकार को लिख कर सूचित करने के लिये कहा गया। मजिस्ट्रेटों को सभाओं को रोकने का अधिकार दिया गया। सरकार द्वारा स्वीकृत सभाओं में पुलिस के लिये उपस्थित रहने का नियम था। यह अध्यादेश स-परिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्रों में लागू किया जाना था। इस अध्यादेश को पंजाब और पूर्वी बंगाल में तुरन्त ही लागू कर दिया गया।

लाला लाजपतराय के निर्वासन से देश के विभिन्न भागों में बड़ा उद्वेग हुआ और उसके फलस्वरूप तरुण वर्ग, विशेष कर बंगाल के तरुण वर्ग उत्तेजित हुए और उन्होंने उग्रवाद, हिंसा और आतंकवाद को अपनाया।

---

१. लाला लाजपतराय के निर्वासन के सम्बन्ध में श्री गोखले ने सम्राज्ञीय विधान परिषद में कहा:—"केवल पंजाब में ही नहीं वरन् अन्य प्रान्तों में भी सहस्रों व्यक्ति लाला लाजपतराय का आदर करते हैं। उनका चरित्र उच्च कोटि का है और उनके विचार पवित्र हैं। ऐसे एक प्रमुख धार्मिक एवं सामाजिक सुधारक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता को जिसके सभी काम स्पष्ट और प्रकट रूप से हुए, बिना किसी अभियोग के देश से निर्वासित कर देने के कारण सारे देश के लोग आश्चर्य और दुःख से जड़वत हो गये।" Page 43 Proceedings of the Indian Legislative Council, Vol. XLVI 1907-8.

दोनों बंगालों की दशा पहले ही बिगड़ी हुई थी। सरकार विभाजन विरोधी आन्दोलन का निष्ठुरता से दमन कर रही थी और मुसलमानों का पक्ष ले रही थी। सरकार की इस नीति के कारण लोग वचन और कर्म दोनों में उग्र होते जा रहे थे। "कुछ बंगाली पत्रों ने सब प्रतिबन्धों को दूर हटा दिया और वे झिझक छोड़ कर तीव्र आलोचना करने लगे।"[1] बंगाल सरकार ने इन पत्रों पर अभियोग चलाने का निश्चय किया। क्रमपूर्वक आक्रमण किया गया और सब से पहली चोट 'बन्दे मातरम्' पर हुई। यह अंग्रेज़ी का राष्ट्रवादी दैनिक पत्र था और इसके सम्पादक मंडल में बाबू अरविन्द घोष भी थे। सरकार ने अगस्त १९०७ में अरविन्द घोष और मुद्रक पर राजद्रोह का आक्षेप लगाया। सब लोग यह बात भली भांति जानते थे कि अरन्विद घोष उक्त पत्र से तन, मन, धन, सभी से सम्बन्धित थे किंतु सम्पादक के नाम को प्रमाणित करने के लिये कोई साक्षी नही मिला।[2] जब मि. बिपिन चन्द्र पाल को प्रमाण देने के लिये बुलाया गया तो उन्होंने कार्यवाहियों में भाग लेना अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनके मतानुसार अभियोग देश के हितों के विरुद्ध था। इस अपराध के लिये स्वयं मि. पाल पर अभियोग चलाया गया और उन्हें छः महीने का कारावास दंड दिया गया। अरविन्द घोष के विरुद्ध अभियोग नहीं चल सका और उन्हें छोड़ दिया गया। मुद्रक का दोष सिद्ध हुआ और उसे तीन महीने का कारावास दंड दिया गया।

लगभग इसी समय 'संध्या' और 'युगान्तर' नामक बंगला के प्रभावशाली पत्रों के सम्पादकों—श्री ब्रह्म बान्धव उपाध्याय और भूपेंद्रनाथ दत्त—पर अभियोग चलाया गया। मि. उपाध्याय ने एक लिखित वक्तव्य दिया और उसमें उन्होंने यह कहा:—"मैं इस अभियोग निर्णय में भाग नहीं लेना चाहता। स्वराज्य का उद्देश्य ईश्वर-प्रेरित है और इस सम्बन्ध में अपने काम के लिये मैं देश के विदेशी शासकों के प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ। इन विदेशियों के स्वार्थ हमारे राष्ट्रीय विकास के मार्ग में विघ्नरूप हैं और ऐसा होना अनिवार्य ही है।"[3] ब्रिटिश न्यायालयों से असहयोग का यह सबसे पहला उदाहरण है। आगे चल कर युद्धोत्तर असहयोग आन्दोलन में इस प्रकार का असहयोग एक सामान्य बात थी। उक्त अभियोग अभी समाप्त भी नहीं हुआ कि कलकत्ते के कैम्बैल अस्पताल में अभियुक्त की मृत्यु हो गयी। दूसरे अभियोग में मि. दत्त अपने को दोष-मुक्त सिद्ध नहीं कर सके और

---

१. Ray: The Life and Times of C. R. Das, page 55

२. उस समय कोई ऐसा कानून नहीं था जिस के अनुसार आजकल की तरह पत्रों को अपने सम्पादक का नाम प्रकट करना अनिवार्य हो।

३. Ray उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५७.

उन्हें एक वर्ष का कठोर कारावास दंड दिया गया। अगले कुछ ही महीनों में 'युगान्तर' पर चार मुकदमे चलाये गये और हर बार सम्पादक और मुद्रक को कारावास दण्ड दिया गया किंतु पत्र बराबर प्रकाशित हुआ और बराबर प्रचार करता रहा।

एक ओर तो बंगाल और पंजाब में ये अभियोग चल रहे थे और दूसरी ओर भारत सरकार एक विशेष प्रेस (समाचार-पत्र सम्बन्धी) कानून बनाने के लिये भारत मन्त्री पर जोर दे रही थी। जुलाई १९०७ में इस विषय पर भारत से एक राजपत्र भेजा गया। लॉर्ड मार्ले ने स्वीकार किया है कि इस राजपत्र ने उन्हें "कँपा दिया"।[१] पर भारत सरकार कठोर और दमनकारी नीति को व्यवहार में लाने के लिये तुली हुई थी। भारत मंत्री ने आरम्भ में विरोध किया। कई बार उन्होंने सरकारी सदस्यों[२] के व्यवहार की तीव्र आलोचना की और उनके लिये गर्हित रूसी नाम चीनॉव्निक्स (Tchinovnicks) का उपयोग किया। इसके बाद जब भारत सरकार ने राजद्रोहपूर्ण सभाओं को रोकने के उद्देश्य से एक विधेयक बनाने के लिये लॉर्ड मार्ले की अनुमति मांगी तो वे क्रोध से उबल पड़े।[3] उन्होंने वाइसरॉय को लिखा कि "जिन लोगों ने आपका ऐरन्डाल के सुधारों में विरोध किया था" और "जिन लोगों ने लाहौर और रावलपिंडी के झगड़ों का बहाना लेकर उन सुधारों को रद्द करने के लिये कहा था, आप उन लोगों की बातों पर रत्ती भर भी ध्यान न दीजिये।"[४] उन्होंने प्रेषित प्रस्तावों को असाधारण, प्रतिक्रियावादी और अनावश्यक बताया और उन्हें निषिद्ध कर दिया। लेकिन अन्त में भारत सरकार की प्रबल एवं आग्रहपूर्ण मांगों के आगे भारत मंत्री को झुकना पड़ा।[५] भारत सरकार ने कई दमनकारी एक्ट बनाये और उन्हें देश में बड़ी कठोरता के साथ लागू किया।

३

राजद्रोह पूर्ण सभाओं को रोकने वाला एक्ट १ नवम्बर १९०७ को बना। स्वयं गृह सदस्य के अनुसार इस एक्ट में दमन के लिये प्रचुर सामर्थ्य निहित थी।[६]

---

१. Morley : Recollections, Vol II, Page 226.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१४.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३१-२३३—लॉर्ड मॉर्ले का उत्तर पढ़ने योग्य है।

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३१.

५. भारत मन्त्री ने बड़े संकोच के साथ अपनी इच्छा और आत्मा के विरुद्ध स्वीकृति दी।

६. Proceedings of the Legislative Council, Vol. XLVI Page 25.

सभाओं का विनियमन करने के लिये ११ मई को जो अध्यादेश लागू किया गया था उसकी अवधि १० नवम्बर को समाप्त होने वाली थी क्योंकि विधि के अनुसार अध्यादेश केवल ६ महीने के लिये ही सीमित होता है। यद्यपि उस अध्यादेश के प्रतिबन्धों को जारी रखने के लिये कोई कारण नहीं था,[१] तथापि भारत सरकार ने १९०७ के एक्ट द्वारा उन्हें नया जीवन प्रदान करने का निश्चय किया। परिषद ने कुछ सुधार किये लेकिन इतने पर भी एक्ट उग्र रूप से दमनकारी था। एक्ट ने भारत सरकार को उसे किसी भी प्रान्त में लागू करने का अधिकार दिया। किसी भी उद्देश्य के लिये २० से अधिक व्यक्तियों की सभा करने के लिये स्थानीय अधिकारियों को सभा की तिथि से तीन दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक था। सार्वजनिक सभा की परिभाषा इतनी विस्तृत की गयी कि उसके अनुसार व्यक्तिगत घरों में सामाजिक मिलन को भी सार्वजनिक सभा माना जा सकता था। इस बात से ही लॉर्ड मॉर्ले कांप गये थे। उन्होंने लिखा कि सैन्य अधिकारियों के उपक्रमण पर प्रेस कानून बनाना स्वयं एक नई और बुरी बात थी; पर व्यक्तिगत मिलन को सार्वजनिक सभा बना देने की बात तो उससे भी बढ़ कर है।

"उप-गवर्नर अथवा अन्य अधिकारी; किसी भी निर्दिष्ट क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को जिसके विचारों से वह असहमत है, व्याख्यान देने से रोक सकता है।... इसके स्थान पर ईमानदारी से गला घोंट देना अच्छा होगा।"[२] अधिकारियों को किसी भी सभा को रोकने और सभा में किसी भी बोलने वाले का मुंह बन्द करने का अधिकार दिया गया था। ये अधिकारी सार्वजनिक शान्ति के नाम पर कोई भी प्रतिबन्ध लगा सकते थे। स्वीकृत सभाओं में पुलिस के आदमी भेजे जाते थे। जैसा कि सर राश बिहारी घोष ने कहा, इन उपायों द्वारा देश के राजनीतिक जीवन को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था।[3] प्रवर-समिति में दो महत्वपूर्ण सुधार हुए—एक तो यह कि एक्ट केवल तीन साल के ही लिए लागू रहना चाहिए और दूसरा यह कि एक्ट की धाराओं के अनुसार किसी स्थानीय सरकार द्वारा

---

१. इस विधेयक पर अपने विचार प्रकट करते हुए श्री गोखले ने निम्नलिखित तथ्य बताये: "पिछले ६ महीनों में पंजाब और दिल्ली में केवल एक सभा हुई थी और उस के फलस्वरूप शान्ति और व्यवस्था में कोई विघ्न नहीं पड़ा। पूर्वी बंगाल में केवल एक सभा हुई थी और फरीदपुर में विचाराधीन विषयों पर कठोर नियंत्रण के कारण प्रस्तावित सभा का विचार छोड़ दिया गया था।

२. Morley : Recollections, Vol. II, pages 232–33.

३. Proceedings of the Legislative Council, Vol. XLVI page 54.

निर्दिष्ट क्षेत्र में, यह एक्ट केवल छः महीने के लिए लागू होना चाहिए। किन्तु इन सुधारों से इस अत्यन्त दमनकारी एक्ट की कठोरता में न तो कोई कमी हुई और न हो ही सकती थी। डा० राश बिहारी घोष के अनुसार इस एक्ट का किसी सभ्य सरकार की विधि की अपेक्षा रूपी यूकेस (Ukase) से अधिक सारूप्य था।[१]

४

नरमदली नेताओं के पूर्व कथन के अनुसार[२] सरकार की दमनकारी नीति ने असन्तोष को गुप्त धाराओं में ढकेल दिया। बहुत सी गुप्त समितियां बनीं और बंगाली नवयुवकों में क्रान्तिकारियों की संख्या बहुत बढ़ गई। आतंकवादी अपराध प्रकट हुए। "सरकारी तंत्र घबराया और अपनी भूलों के परिणामों से उद्विग्न हुआ। उसने व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के लिए एक के बाद एक करके विभिन्न दमनकारी उपायों से काम लिया; सार्वजनिक जीवन ठंडा पड़ गया और उसका विकास रुक गया।[३] सन् १९०८ की ८ जून को एक ही दिन में भारत सरकार ने दो अत्यन्त दमनकारी एक्ट बनाये—एक तो विस्फोटक पदार्थ एक्ट था और दूसरा समाचार-पत्र (अपराध-उत्तेजक) एक्ट था। इनको बनाने के लिए परिषद की कार्य पद्धति के सामान्य नियमों को ठुकरा दिया गया। इसके अतिरिक्त उस दिन परिषद में कोई स्वतन्त्र भारतीय सदस्य भी उपस्थित नहीं था।

सन् १८८४ का विस्फोटक एक्ट अभी लागू था। उसकी सहायता के लिए १८७८ का भारतीय शस्त्र एक्ट था। इन दोनों के अतिरिक्त भारतीय दंड संहिता की कुछ धाराओं के अन्तर्गत विस्फोटक पदार्थों से क्षति पहुँचाने वालों को आजीवन निर्वासन तक का दण्ड दिया जा सकता था। परन्तु भारत सरकार की दृष्टि में ये कानून अपर्याप्त थे और उसने इस कमी को पूरा करने के लिए और बम के उपयोग के कारण उत्पन्न हुई नई स्थिति का सामना करने के लिए सन् १९०८ का एक्ट बनाया।

नये एक्ट के क्षेत्र के अन्तर्गत विस्फोटकों के अतिरिक्त विस्फोटक बनाने वाले पदार्थों और उपकरणों की भी गणना थी। सन्देहात्मक परिस्थितियों में किसी व्यक्ति के पास उक्त कोई वस्तु प्राप्त होने पर १४ वर्ष के निर्वासन अथवा पांच वर्ष के

१. Proceedings of the Legislative Council, Vol. XLVI, page 49.

२. उपर्युक्त पुस्तक, Speech of Dr. Ghosh, page 53—"यह नीति एकउद्देश्य के लिए अवश्य समर्थ हैं : उससे गुप्त राजद्रोह के कीटाणुओं का प्रचार होगा।"

३. Bannerjee : A Nation in the Making, page 249.

कारावास का दण्ड था।[1] जिन विस्फोटों के कारण मृत्यु हो जाती थी उनसे एक्ट का कोई सम्बन्ध नहीं था—ऐसे मामलों में हत्या के अन्तर्गत दण्ड दिया जा सकता था; अन्य विस्फोटों के लिए कठोर दण्ड था।[2] यदि वस्तुत. कोई विस्फोट न हुआ हो किन्तु उसके लिए उद्देश्य या प्रयत्न का प्रमाण हो तो २० वर्ष के लिए निर्वासन और सात वर्ष के लिए कारावास का दण्ड था।[3] अन्त में विस्फोटकों की तैयारी के लिए स्थान, धन, सामग्री अथवा अन्य किसी प्रकार से सहायता देने वाले व्यक्ति, अपराधी की ही भांति दण्डनीय थे।[4]

८ जून १९०८ का दूसरा एक्ट, समाचार-पत्र (अपराध उत्तेजक) एक्ट था। गृह सदस्य के अनुसार यह एक्ट तनिक भी दमनकारी नहीं था; भारतीय मत इसके बिल्कुल विपरीत था। गृह सदस्य के शब्दों में इस एक्ट का उद्देश्य, "हत्या, अथवा सन् १९०८ के विस्फोटक पदार्थ एक्ट के अन्तर्गत किसी हिंसापूर्ण अपराध[5] के लिए उत्तेजना देने वाले पत्रों का अस्तित्व मिटा देना था।"..... अपराधी छापेखानों को ज़ब्त करने का, और पत्र के उच्छेद करने का नियम था।[6] यदि ज़िला मजिस्ट्रेट की सम्मति में किसी पत्र से हिंसात्मक कामों को उत्तेजना मिलती है तो उसके प्रेस को एक्ट के अधिकार के बल पर वह ज़ब्त कर सकता है। यदि किसी प्रेस से उक्त आशय का कोई पत्र निकलने वाला हो तो ज़िलाधीश को यह प्रतिबन्ध आज्ञा देने का अधिकार था कि सम्बन्धित व्यक्ति उसके समक्ष उपस्थित होकर, कारण व्यक्त करें कि वह आज्ञा स्थायी क्यों न कर दी जावे।[7] यदि प्रस्तुत प्रमाण से ज़िला मजिस्ट्रेट सन्तुष्ट हो कि समाचार-पत्र ने अपराध किया है तो उक्त सप्रतिबन्ध आज्ञा स्थायी की जा सकती थी[8] और वह (ज़िला मजिस्ट्रेट) किसी भी पुलिस अधिकारी को प्रेस तथा उससे सम्बन्धित अन्य संपत्ति को कुर्क करने का अधिकार दे सकता

१. Clause V of the Act. Agarwala : The Lawyers Vade Mecum for Criminal Courts. Vol. I, page 53.
२. Clause III उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५१-५२.
३. Clause IV उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५२-५३.
४. Clause VI उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५३.
५. Clause LIL Ghosh : Press and Press Laws in India, page 63.
६. Proceedings of the Legislative Council, Vol. XLVII, page 12.
७. Clause III. Ghose : उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६३-६४.
८. Clause III उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६४.

था।[१] विशेष परिस्थितियों में मजिस्ट्रेट अपनी आज्ञा को स्थायी करने से पहले भी कुर्की का वारंट दे सकता था।[२] भारत मंत्री के हस्तक्षेप करने पर इस ज़ब्ती के विषय में[३] न्याययुक्त कार्यवाही का दिखावा सा हो सकता था। आज्ञा के स्थायी बनाने के पन्द्रह दिन के अन्दर हाईकोर्ट में अपील की जा सकती थी।[४] अन्त में एक्ट ने प्रान्तीय सरकार को, समाचार-पत्र के मुद्रक अथवा प्रकाशक की १८६९ के प्रेस तथा पुस्तक निबन्धन एक्ट के अनुसार[५] की हुई घोषणा को रद्द करने का अधिकार दिया था, जिसके फलस्वरूप समाचार-पत्र का वैध अस्तित्व समाप्त हो जाता था।[६]

५

इस समय एक ओर तो परिषद में शीघ्रता से ये एक्ट बनाये जा रहे थे और दूसरी ओर सरकार, विभाग नं० १२४ ए और १५३ ए के अन्तर्गत, भारत के लगभग सभी भागों में राजद्रोह के अभियोग चला रही थी। निर्णय करने वाले मजिस्ट्रेटों ने इतने कठोर दण्ड दिये कि स्वयं भारत मन्त्री ने उन्हें "वीभत्स, अत्यन्त उग्र और अनुचित" बताया।[७] ऐसा प्रतीत होता है कि आतंकवादी अपराधों से कर्मचारी तन्त्र और आंग्ल-भारतीय वर्ग घबरा गये थे और इसी कारण उन्होंने प्रतिकार और अपरिमित दमन की नीति का प्रतिपादन किया। लॉर्ड मॉर्ले ने इस नीति से भयभीत होकर विरोध किया, चेतावनी भेजी—लेकिन सब व्यर्थ।[७] १९०८ में १४ जुलाई को उन्होंने लार्ड मिंटो को लिखा, "राजद्रोह और अन्य अपराधों के सम्बन्ध में जो दिल दहला देने वाले दण्ड दिये जा रहे हैं उनके कारण मैं अत्यन्त चिन्तित और चकित हूं। आज ही मैंने यह पढ़ा है कि बम्बई में पत्थर फेंकने वालों को बारह महीने का कारावास दण्ड दिया गया है। वस्तुतः यह अतिक्रमण है। तिनेवेली-तूतीकोरन वाले मामले में दो आदमियों को जो दण्ड दिया गया है वह अरक्षणीय है—एक को आजीवन निर्वासन दिया है और दूसरे को दस वर्ष का कारावास। ये बातें चल नहीं सकतीं। ऐसी वीभत्स बातों का रक्षण करने के लिए मैं किसी भी शर्त पर

१. Clause IV उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६४-६५.
२. Clause II उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६४.
३. Morley : Recollections, page 260.
४. Clause V, Ghose : उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६५.
५. Clause VII उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६५.
६. Proceedings of the Legislative Council. Vol. XLVII, page 13
७. Morley : Recollections Vol. II pages 269–70.

सहमत नहीं हूं। इसी कारण मैं इन ग़लतियों और भूलों की ओर आपका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहता हूं। हम व्यवस्था चाहते हैं। लेकिन व्यवस्था लाने के लिए आत्यन्तिक कठोरता के उपयोग से सफलता नहीं मिलेगी; उसका परिणाम उलटा होगा और लोग बम का सहारा लेंगे।"[१]

इस प्रकार केवल भारतीय नेताओं के ही अनुसार नहीं वरन् सर्वोच्च अधिकारियों के अनुसार भी बम का मार्ग, दमन की नीति का परिणाम था। लॉर्ड मॉर्ले तो वस्तुतः और भी आगे बढ़े। उन्होंने अशान्ति का सारा दायित्व कर्मचारी तन्त्र के कट्टर रूढ़िवादियों पर डाला। उन्होंने लॉर्ड मिंटो को लिखा: "इस अशान्ति का दायित्व आप पर या मुझपर नहीं है; यह तो उन अतिविश्वासी और अत्यन्त-व्यस्त चीनोविनक्स (Tchinovniks) पर है जो पिछले पचास वर्षों से भारत का संचालन करते रहे हैं।"[२]

और अब भी इन्हीं लोगों की जीत हुई। सन् १९०८ के राजद्रोह सम्बन्धी अभियोगों का वर्णन करना न तो यहाँ संभव है और न आवश्यक ही है। केवल कुछ अभियोगों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। मद्रास में तीन महत्वपूर्ण अभियोग हुए। तिनेवेली अभियोग, चिदम्बरम पिलाई और सुब्रहमण्य शिव के विरुद्ध था। इसम मद्रास के उच्च न्यायालय ने दण्ड घटाकर, दोनों को छः वर्ष के लिए निर्वासित किया। 'इंडिया' के सम्पादक श्री निवास आयंगर को पांच वर्ष के लिए निर्वासित किया गया। 'स्वराज्य' के सम्पादक और मालिक ने सरकार से लिखित क्षमा माँगी लेकिन फिर भी उनपर अभियोग चलाया गया।[3] बंगाल में समाचार-पत्र (अपराध-उत्तेजक) एक्ट के अन्तर्गत 'बन्दे मातरम्' 'युगान्तर' आदि के विरुद्ध कार्यवाही की जा रही थी; राजद्रोह के अभियोग जिन पत्रों का गला न घोट सके, उनके अस्तित्व को नये एक्ट के प्रहार ने समाप्त कर दिया। मध्य प्रान्त में एक पृष्ठ के एक देसी पत्र के सम्पादक हरी किशोर को पाँच वर्ष का कठोर कारावास दण्ड दिया गया। और जहां वह पृष्ठ मुद्रित होता था, उस छापेखाने को ज़ब्त कर लिया गया। संयुक्त प्रान्त में 'उर्दू-ऐ-मोअल्ला' के सम्पादक को दो वर्ष का कठोर कारावास दण्ड दिया गया और उस पर ५०० रुपये जुर्माना किया गया—उस सम्पादक का अपराध यह था कि उसने मिस्र में ब्रिटिश सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति की आलोचना की थी।

---

१. Morley : Recollections, पृष्ठ २६९-७०.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २६३.

३. क्षमा याचना के कारण इन लोगों को केवल ९ और छः महीने का कारावास दण्ड दिया गया। 'हिन्दू' (मद्रास) के सम्पादक ने लिखित क्षमा मांगी और भविष्य के लिए आश्वासन दिया। अतः उन पर अभियोग नहीं चलाया गया।

अलीगढ़ के होतीलाल वर्मा नामक एक सज्जन को सात वर्ष के लिए निर्वासित किया गया—अपराध यह था कि उन्होंने बन्दे मातरम् को एक ऐसा तार भेजा था जिसकी भाषा राजद्रोहात्मक थी; इसके अतिरिक्त उन्होंने एक राजद्रोह फैलाने वाले पर्चे को प्रचार के लिए लोगों में घुमाया था। बम्बई में 'हिन्द स्वराज्य' 'बिहारी' और 'अरुणोदय' के सम्पादकों को जेल भेज दिया गया। इनके अतिरिक्त एक अभियोग 'केसरी' के सम्पादक और राष्ट्रीय दल के लोकप्रिय नेता श्री तिलक पर चलाया गया। इस अभियोग की ओर केवल बम्बई का ही नहीं वरन् सारे भारत का ध्यान आकर्षित हुआ और साथ ही देशभर में क्रोध का तूफ़ान उमड़ पड़ा। २९ जून १९०८ को यह अभियोग बम्बई के उच्च (दण्ड) न्यायालय के सुपुर्द किया गया। मि० जस्टिस दवर ने एक विशेष जूरी की सहायता से अभियोग का निर्णय किया। तिलक ने स्वयं अपनी प्रतिरक्षा की और वे कुल २१ घंटे और १० मिनट तक बोले। उन्होंने अपने (मराठी) लेखों के सरकारी (अंग्रेजी) अनुवाद पर आपत्ति प्रकट की। इसके अतिरिक्त उनका तर्क यह था कि आंग्ल-भारतीय पत्रों की आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए उन्होंने केवल अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य का पालन किया था और दमन की नीति के संकटों की ओर ध्यान आकर्षित किया था। वे सरकार को सचेत करना चाहते थे और उसका ध्यान सुधार तथा सहयोग की सही नीति की ओर आकर्षित करना चाहते थे। श्री तिलक के स्पष्टीकरण को स्वीकार नहीं किया गया और जूरी के ९ में से सात सदस्यों ने उन्हें दोषी ठहराया। जज ने इस निर्णय का अनुमोदन किया और उन्हें ६ वर्ष का निर्वासन दण्ड दिया और उन पर १००० रु० जुर्माना किया। निर्णय सुनाने से पहले तिलकको एक बार बोलने का अवसर दिया गया और उन्होंने यह महत्वपूर्ण शब्द कहे:—"मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि जूरी का निर्णय चाहे जो हो, मैं अपने आपको निश्चित रूप से निर्दोष मानता हूं। विभिन्न वस्तुओं के भाग्य का संचालन करने के लिए उच्चतर शक्तियाँ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस आदर्श का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ वह ईश्वरेच्छा के अनुसार मेरे स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा मेरे कष्टों से अधिक फलीभूत होगा।"[1]

निर्णय का पता लगते ही बम्बई के बाजार बन्द होने लगे और विद्यार्थीगण स्कूलों और कॉलेजों से चले आये; मजदूरों ने काम छोड़ दिया और पूरे छः दिन तक हड़ताल रही। सारे देश में शोक सभायें हुईं और सहानुभूति के प्रस्ताव स्वीकार किये गये।

---

१. Athalye : Life of Lokmanya Tilak, p. 208 से एक उद्धरण का अनुवाद.

६

इतने पर भी दमन का प्याला पूरा नहीं भरा था। दिसम्बर १९०८ में भारत सरकार ने परिषद की एक ही बैठक में एक अत्यन्त दमनकारी एक्ट तैयार किया। इसका उद्देश्य आतंकवादी अपराधों और अराजकतावादी षड्यन्त्रों से सम्बन्धित व्यक्तियों के अभियोगों का शीघ्र निर्णय करना था और साथ ही कुछ स्वयंसेवक संस्थाओं को अवैध घोषित करना था। १९०८ के दण्ड विधि (संशोधन) एक्ट के दो भाग थे—पहले भाग में अराजकता सम्बन्धी अपराधों के लिए एक विशेष ढंग से अभियोग-निर्णय की व्यवस्था की गई थी; दूसरा भाग संस्थाओं से सम्बन्धित था। पहले भाग के अनुसार मजिस्ट्रेट अभियोग-निर्णय के लिए अभियुक्त को अप्रतिवादित रूप से विशेष न्यायालय के सुपुर्द कर सकता था। यह विशेष न्यायालय हाईकोर्ट के तीन जजों से निर्मित होता था किन्तु वह जूरी से भिन्न था। परीक्षण से पहले साक्षियों की मृत्यु हो जाने की दशा में भी, उनका वक्तव्य मान्य था और तीनों जजों का निर्णय अन्तिम था। इस भाग की धाराओं के विषय में सर हार्वे एडमसन ने परिषद में कहा:—"वस्तुतः तीन के स्थान पर एक अभियोग निर्णय होगा और वह एक ऐसे न्यायालय में होगा, जिसे, अपने अवमान को दण्ड देने का पूरा अधिकार होगा और जो विचाराधीन अभियोगों पर अनुचित आलोचना सहन नहीं करेगा।"[1] दूसरे भाग के अनुसार, किसी भी संस्था को जो उसके मत से न्याय, व्यवस्था और शान्ति में हस्तक्षेप करती हो, सरकार अवैध घोषित कर सकती थी। अवैध संस्थाओं की बैठक में भाग लेने वालों को, अथवा उसके लिए चन्दा देने या लेने वालों को अथवा अन्य किसी प्रकार से उसे सहायता देने वालों को एक्ट के अनुसार छः महीने तक का कारावास दण्ड दिया जा सकता था। अवैध संस्थाओं की सभा आयोजित करने वालों को, अथवा आयोजन में सहायता देने वालों को अथवा आयोजन के लिए प्रोत्साहन देने वालों को एक्ट के अनुसार तीन वर्ष तक का कारावास दण्ड दिया जा सकता था।

इस एक्ट के अन्तर्गत, उन सब स्वयंसेवक संस्थाओं को जो बंगाल में सन् १९०२ से जनता की विभिन्न प्रकार की सामाजिक सेवायें कर रही थीं, अवैध घोषित कर दिया गया क्योंकि सरकार को इस बात का सन्देह था कि वे संस्थायें गुप्त रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग ले रही हैं। फलतः कुछ ही समय में इन संस्थाओं का अस्तित्व मिट गया।

इस वर्ष का अन्तिम दमनकारी कृत्य अत्यन्त कठोर भी था। बंगाल के ९ प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को १८१८ के विनियम नं० ३ के अन्तर्गत एक साथ देश

---

१. Proceedings of the Council. Vol. XLVII, page 57.

से निर्वासित कर दिया। ये लोग नरम दली नीति के लिए सुपरिचित थे। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं:—

"दिसम्बर १९०८ में एक दिन प्रातःकाल लोगों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि अश्विनी कुमार दत्त, कृष्ण कुमार मित्र, सतीशचन्द्र चटर्जी, शचीन्द्र प्रसाद बोस और सुबोध मलिक को १८१८ के विनियम नं० ३ के अन्तर्गत देश से ब्रजमोहन कालेज से निर्वासित कर दिया गया है।"[१] अश्विनी कुमार बारीसाल के नेता और संस्थापक थे; कृष्णकुमार मित्र, ब्रह्मसमाज के एक प्रमुख नेता थे और भी परिचित व्यक्ति उनका आदर करते थे; सतीश चटर्जी और शचीन्द्र बोस प्रसिद्ध स्वदेशी कार्यकर्त्ता थे और सुबोध मलिक एक सम्पन्न और धनी घराने के सदस्य और सत्यशील देशभक्त थे। इस निर्वासन से देश में बड़ा उद्वेग हुआ; और नरमदल तथा उग्र दल दोनों के ही लोगों ने, समान रूप से इस कृत्य की निन्दा की।

७

भारत सरकार एक ओर तो निष्ठुर दमन की नीति का अनुसरण कर रही थी और साथ ही वैधानिक एवं क्रान्तिकारी, दोनों ही विचारधाराओं के उग्रवादियों को दबाने का पूर्ण प्रयत्न कर रही थी और दूसरी ओर वह नरम दल वालों, मुसलमानों, ज़मींदारों और देशी नरेशों को अपने पक्ष में लेने के लिए प्रस्ताव तैयार कर रही थी। १ अक्टूबर १९०८ के राजपत्र में इन प्रस्तावों को रूप दिया गया और उन्हें अगली डाक से भारत मन्त्री के पास भेज दिया गया। भारत परिषद की एक छोटी सी समिति ने भारत सरकार के इस राजपत्र का सावधानी से परीक्षण किया। उसके बाद पूरी परिषद ने उस पर विचार किया। अन्त में लॉर्ड मॉर्ले ने इस सम्बन्ध में अपने प्रस्तावों को रूप देना आरम्भ किया। ५ नवम्बर १९०८ को उन्होंने लॉर्ड मिंटो को लिखा:— "यह विषय गम्भीर है; आपका सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमको ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत करने हैं कि उनसे न तो कर्मचारी तन्त्र कुपित हो, न आंग्ल-भारतीय कुपित हों और साथ ही मुसलमान और दक्षिणपक्षी कांग्रेसी भी कुपित न हों। यह काम साधारण नहीं है।"[२] लेकिन लार्ड मॉर्ले ने अपना काम पूरा किया और अपने राजपत्र को परिषद के समक्ष रखा और उसका अनुमोदन प्राप्त किया।" (मंत्रिमंडल) के दो सदस्यों ने मतभेद प्रकट किया और यह मतभेद केवल सरकारी बहुमत के प्रश्न पर था।"[३] "आश्वासन मिलने पर मंत्रिमंडल ने भी अपनी स्वीकृति दी.....उस

---

१. Bannerjee : A Nation in the Making, page 249.
२. Morley : Recollections, Vol. II, page 281.
३. उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ २८२.

समय वह घरेलू महत्व के अविलम्ब्य कामों[1] में फंसा हुआ था।" २७ नवम्बर १९०८ को यह राजपत्र भारत भेज दिया गया।

इसी बीच दो नवम्बर को, महारानी विक्टोरिया की प्रसिद्ध उद्घोषणा की पचासवीं वर्षगांठ पर, सम्राट एडवर्ड ने भारतीय जनता और देशी राज्यों के शासकों के लिए एक राजकीय सन्देश भेजा और उसमें आगत राजनीतिक सुधारों का पूर्वाभास दिया। वाइसराय ने जोधपुर में एक विराट दरबार में उक्त सन्देश को पढ़कर सुनाया। वर्तमान उद्घोषणा ने सन् १८५८ के सिद्धान्तों की पुष्टि की और उन्हें कार्यान्वित करने के प्रयत्नों का वर्णन किया और कहा :—"आरम्भ से ही प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त को व्यवहार में लाया गया था और अब वह समय आ गया है कि....उस सिद्धान्त को सविवेक विस्तृत किया जा सकता है... इन उद्देश्यों के लिए बड़े परिश्रम के साथ जो साधन बनाये जा रहे हैं मैं उनकी चर्चा नहीं करूँगा। निकट भविष्य में आप लोग उनसे परिचित हो जावेंगे।"[2] १७ दिसम्बर १९०८ को लॉर्ड मॉर्ले ने हाउस ऑव लार्ड्स में एक विस्तृत व्याख्यान में सरकारी सुधार प्रस्तावों पर प्रकाश डाला और दोनों—१ अक्टूबर १९०८ के और २७ नवम्बर १९०८ के—राजपत्रों को पार्लियामेण्ट के समक्ष प्रस्तुत किया। दिसम्बर के अन्त में—वाम-पक्ष से विहीन—कांग्रेस ने मद्रास में अपना अधिवेशन किया और मॉर्ले-मिंटो योजनाओं का हार्दिक स्वागत किया। एक संक्षिप्त विधेयक में इन प्रस्तावों को रूप दिया गया और भारत मंत्री ने २३ फ़रवरी १९०९ को उसे लॉर्ड भवन में प्रस्तुत किया। यही विधेयक २५ मई १९०९ को भारतीय परिषद एक्ट बन गया।

पन्द्रहवां अध्याय

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का आरम्भ

१

एक ओर तो मि. मॉर्ले और लॉर्ड मिंटो में राजनीतिक सुधारों के विषय में कांग्रेस को अपने साथ लेने की आवश्यकता पर पत्र-व्यवहार हो रहा था और भारत

---

१. Morley : Recollections, Vol. II, page 283.

२. सन् १९०८ की राजकीय उद्घोषणा Morley : Recollections. Vol. II. के अन्त में एक परिशिष्ट के रूप में विस्तृत रूप से उद्धृत की गई है।

मंत्री, श्री गोखले से, उनका और उनके साथियों का समर्थन प्राप्त करने के लिये बातचीत कर रहे थे; दूसरी ओर भारत में ब्रिटिश कर्मचारी तंत्र भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता घुसाकर, और प्रस्तावित राजनीतिक सुधारों में पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन को प्रविष्ट करा कर, राजनीतिक प्रगति का हनन करने के लिये प्रयत्नशील था। यह एक आश्चर्यपूर्ण, लेकिन साथ ही महत्वपूर्ण तथ्य है कि लॉर्ड मॉर्ले से न केवल परामर्श ही नहीं किया गया वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें इस कुटिल उद्देश्य से अपरिचित भी रखा गया। उन्हें जिस समय इस बात का पता लगा, उससे पहले ही लॉर्ड मिंटो, मुसलमानों को गुरुत्व और पृथक राजनीतिक प्रतिनिधित्व देने के सम्बन्ध में सरकार को वचनवद्ध कर चुके थे। वस्तुतः लॉर्ड मिंटो ने, फूट डाल कर राज्य करने की उसी नीति का अनुसरण किया था, जिसे १८५७ के व्युत्थान के बाद आरम्भ किया गया था और जिसे वंग भंग द्वारा लॉर्ड कर्जन ने एक मंज़िल और आगे बढ़ा दिया था। अस्तु, सन् १९०६ की इस कुटिल चाल का पूर्ण महत्व समझने के लिये भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत मुसलमानों के इतिहास का संक्षिप्त सिंहावलोकन करना आवश्यक होगा।

२

भारतीय मुसलमान जाति भाषा की दृष्टि से अन्य लोगों से भिन्न नहीं हैं। जिनके पूर्वज बाहर से आये थे, ऐसे मुसलमानों की संख्या बहुत थोड़ी है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी मुसलमान, इस्लाम स्वीकार करने वाले भारतीयों की सन्तान हैं। जिस प्रदेश में यह लोग रहते हैं, वहीं की भाषा बोलते हैं; कुछ लोग धार्मिक एवं साम्प्रदायिक उद्देश्य से अरबी और उर्दू भी सीख लेते हैं। ये लोग, देश में हिन्दुओं, सिक्खों, ईसाइयों, पारसियों और अन्य लोगों के साथ-साथ—साधारणतया प्रेमपूर्वक—रहते हैं। यह सच है कि धार्मिक और सामाजिक विषयों में उनका अलग समुदाय है और कितनी ही बार अन्य धर्मावलम्बियों से उनके सम्बन्ध तीखे हो गये हैं और इसके फलस्वरूप कभी-कभी रक्तमय उपद्रव भी हो गये हैं।

ब्रिटिश प्रभुता स्थापित होने से पहले देश के शासन और सार्वजनिक जीवन में मुसलमानों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। यद्यपि मराठों और सिक्खों की उदयमान शक्ति के समक्ष उनकी सत्ता का ह्रास हो रहा था, तथापि देश के अधिकांश भागों में उनका शासन बना हुआ था। पश्चिम में सतलज से लेकर पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तक सारे उत्तर भारत में, सैनिक एवं असैनिक विभागों में सारे महत्वपूर्ण और साथ ही अधिकांश पद मुसलमानों के हाथों में थे।

भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित होने पर सारा दृश्य बदल गया। लगभग एक शताब्दी तक (अर्थात् १९वीं शताब्दी की आठवीं दशाब्दी तक) अंगरेजों की दृष्टि में मुसलमान उनके शत्रु थे—उनके राज्य के विरोधी थे—और वे मुसलमानों

को कुचलने के लिये प्रयत्नशील थे। श्री मुहम्मद नुमान लिखते हैं:—"अंगरेज़ों को यह निश्चय हो गया था कि नई सत्ता के विस्तार तथा अस्तित्व के लिये मुसलमानों को कुचलना अनिवार्य है; अतः उन्होंने जान बूझ कर ऐसी नीति अपनाई जिससे मुसलमानों की आर्थिक बरबादी हो, प्रतिभा कुंठित हो और उनका सामान्य पतन हो।"[१]

यद्यपि ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी का अधिकार मुगल सम्राट से मिला था, तथापि उसकी नीति आरम्भ से ही मुस्लिम-विरोधी थी। स्थायी बन्दोबस्त के विषय के एक अधिकारी विद्वान मि. जेम्स ओ किनेले लिखते हैं, कि इस बन्दोबस्त ने "हिन्दु उगाही करने वालों को (जो अब तक केवल महत्वपूर्ण पदों पर आसीन थे) ऊपर उठा कर ज़मींदार बना दिया। मुसलमानों के राज्य में जो सम्पत्ति मुसलमानों को मिलती, अब हिन्दुओं को उसी सम्पत्ति को एकत्रित करने का अधिकार दिया गया।" साथ ही बंगाल में (और बाद में सारे देश में) सेना में मुसलमानों की भर्ती के लिये द्वार बन्द कर दिया गया,—सैनिक कार्य मुसलमानों का मनोवान्छित व्यवसाय[२] था।" कलकत्ते के तत्कालीन फ़ारसी पत्र 'दूरबीन' के एक लेख के अनुसार, "बड़ी और छोटी सभी प्रकार की नौकरियां धीरे-धीरे मुसलमानों से छीन कर, अन्य जाति के लोगों को, विशेषकर हिन्दुओं को, दी जा रही हैं........। हाल ही में सुन्दरबन के कमिश्नर के कार्यालय में कई स्थान रिक्त हुए। उनके लिये विज्ञापन में कमिश्नर ने कहा कि नियुक्तियां केवल हिन्दुओं में से ही की जावगी।"[3] अन्य व्यवसायों में भी मुसलमानों की स्थिति बहुत गिर गई। "सन् १८५२ से १८६८ तक २४० भारतीयों को उच्च न्यायालय में वकालत करने की अनुमति दी गई; इन में मुसलमान केवल एक ही था।"[४] भारतीय उद्योग और हस्तशिल्प कुचलने के लिये जो नीति जान बूझ कर अपनाई गई थी, उससे भी मुस्लिम समूह पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि अधिकांश शिल्पी तथा बुनकर लोग मुसलमान थे। अशोक महता और अच्युत पटवर्धन लिखते हैं:— "लेकिन मुसलमानों पर सब से बड़ा अन्याय शिक्षा के क्षेत्र में किया गया। स्कूलों में फ़ारसी और अरबी

---

१. Noman : Muslim India, page 23.

२. H. C. Bowen : Mohammedanism in India, page 45.

३. सन् १८७१ में बंगाल में गज़ट की हुई नौकरियों की कुल संख्या २१४१ थी : इनमें मुसलमान ९२ थे, हिन्दू ७११ थे और १३६८ यूरोपियन थे। Noman : Muslim India, page 22.

४. H.C. Bowen : Mohammedanism in India, page 45.

के लिये कोई स्थान नहीं था।"[१] विगतकाल में धनी मुसलमानों द्वारा दान की हुई शिक्षण निधियों को, अब उच्चतर शिक्षा के लिये निर्दिष्ट कर दिया गया। यह शिक्षा मुसलमानों की आवश्यकताओं के लिये अनुपयुक्त थी और इस से अन्य लोगों को ही लाभ हुआ। विगत शताब्दी की सातवीं दशाब्दी में हुगली कॉलेज में लगभग ३०० विद्यार्थी थे; इन में से केवल तीन मुसलमान थे।"[२] मि. नुमान लिखते हैं:—"सारांश यह है, कि शिक्षण नीति के कारण मुसलमानों में बेकारी बढ़ी और मुसलमानों के लिये अन्य मार्ग बन्द हो गये। आर्थिक नीति ने भारतीय मुसलमानों को निर्धन बना दिया। सेना में उनकी संख्या बहुत थोड़ी कर दी गई; और हस्तशिल्प को कुचलकर उन्हें असहाय बना दिया गया। १८५७ का विद्रोह इन्हीं नीतियों का परिणाम था और उसे कोई माननीय शक्ति टाल नहीं सकती थी।"[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के पिछले चतुर्थांश और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (वस्तुत: आठवीं दशाब्दी के आरम्भ तक) सरकारी नीति निश्चित रूप से मुसलमानों के विरोध और हिन्दुओं के पक्ष में थी और उस नीति ने मुसलमानों को राजनीतिक एवं आर्धिक क्षेत्र में नीचे गिरा कर उन्हें नैराश्य की ओर ढकेल दिया।

वहाबी नेताओं ने इस असन्तोष के वातावरण में मुसलमानों का संगठन किया और उनके रोष को सरकार तथा उच्च वर्गों के विरुद्ध विद्रोह में परिणत कर दिया। वहाबी आन्दोलन आरम्भ में विशुद्ध रूप से धार्मिक था और इसकी प्रेरणा अरब देश से मिली थी। सैयद अहमद ब्रेल्वी हज करने के लिये मक्का गये थे और वे अरब में फैले हुए वहाबी आन्दोलन से प्रभावित हुए थे। सन् १८२० में भारत लौटने पर इस्लाम में सुधार और शुद्धि के उद्देश्य से उन्होंने वहाबी आन्दोलन आरम्भ किया। "उन्होंने अपने शिष्यों की सहायता से मुस्लिम जनता को झकझोर दिया और सारे देश में जोश की लहरें दौड़ा दीं। इस आन्दोलन में इतना वेग था कि डा. हण्टर ने 'उसे भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक पुनरुत्थान' बताया है।"[४]

यह वहाबी आन्दोलन मूलत: धार्मिक होते हुए भी क्रान्तिकारी था और साथ ही सर्वसाधारण से संबंधित था। सर विलियम हण्टर के अनुसार बहाबी लोग

---

१. Mehta and Patwardhan : The Communal Triangle in India, page 87.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ८८.

३. Noman : Muslim India, pages 26-27.

४. Mehta and Patwardhan: The Communal Triangle in India, page 95.

"प्रगतिवादी थे और श्रद्धा की बातों पर हाथ रखते थे; राजनीति में यह लोग साम्यवादी और लाल प्रजातंत्रवादी थे।"[१] इन लोगों ने बंगाल के निर्धन किसानों का संगठन किया; फरीदपुर, नादिया और चौबीस परगना में खेतिहर विद्रोह का नेतृत्व किया। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इन लोगों की संख्या अस्सी हज़ार थी। ये लोग निम्नतम वर्गों के सदस्य थे और इन में परस्पर पूर्ण समता का व्यवहार था।

सरकार ने वहाबी आन्दोलन का निष्ठुरता से दमन किया। लेकिन अन्तिम रूप से समाप्त होने से पहले इस आन्दोलन ने १८५७ के व्युत्थान को जन्म देने में सहायता दी। सर जॉन केपी के अनुसार, "विद्रोह के मुख्य चालक....मुसलमान थे।" इसी संबंध में मि. एच. सी. ब्राउन कहते हैं: "ये मुसलमान निश्चित रूप से वहाबी थे।"[२] सन् १८५७ के विद्रोह के बाद भी वहाबी लोग सीमा प्रदेश में युद्ध करते रहे और उन्हें सारे देश से जन और धन की सहायता मिलती रही..........।[3]

सत्य तो यह है कि १८५७ के व्युत्थान का आधार अत्यन्त विस्तृत था किन्तु अंगरेज़ों की दृष्टि में न तो वह हिन्दु विद्रोह था और न वह राष्ट्रीय विद्रोह था वरन् वह मुस्लिम विद्रोह था और इसी कारण दमन करने में विशेष कोप मुसलमानों पर हुआ .... और कम से कम एक दशाब्दी तक सरकारी नीति मुसलमानों के विरोध और हिन्दुओं के पक्ष में रही।

धीरे-धीरे ब्रिटिश कर्मचारियों को भारतीय परिस्थिति के पूर्ण रूप से बदल जाने का भान हुआ और उन्होंने सरकारी नीति को उलटने की आवश्यकता अनुभव की। भविष्य में मुसलमानों की ओर से किसी संकट का भय नहीं था क्योंकि "विद्रोह (उनकी ओर से) प्रभुता पाने का अन्तिम प्रयत्न था और उसे पूरी तरह कुचल दिया गया था। भविष्य में केवल अपनी शक्ति के बल पर विद्रोह करने के लिये वे असमर्थ थे किन्तु प्रभावशाली वे अब भी थे। ऐसी दशा में उनके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार छोड़ कर अब उन्हें अपने पक्ष में लेना अधिक उपयोगी था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी शिक्षा प्राप्त, पूंजीवादी मध्यम वर्गों[४]—मुख्यतः हिन्दुओं की ओर से अब राष्ट्रीयता का संकट दिखाई दे रहा था। बहुत से महत्व-पूर्ण ब्रिटिश अधिकारियों ने, अंगरेज़ों और भारतीय मुसलमानों में मेल और मित्रता की आवश्यकता की ओर, सरकार और उच्चतर मुस्लिम वर्गों का ध्यान

१. Hunter : The Indian Mussalmans, page 206-7.
२. Mehta & Patwardhan : उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९६.
३. Mehta and Patwardhan : The Communal Triangle in India, page 96.
४. W. C. Smith : Modern Islam in India, page 196.

आकर्षित किया।[1] संभवतः इन अधिकारियों में सबसे अधिक प्रभावशाली थे सर विलियम हण्टर जिनकी पुस्तक 'दि इंडियन मुसलमान्स' सन् १८७१ में प्रकाशित हुई थी। अस्तु, कारण चाहे जो कुछ हो परन्तु १८७० के बाद ब्रिटिश नीति में परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे मुसलमानों के साथ मित्रता की नींव रखी गई। भारत में आंग्ल-मुस्लिम मित्रता के लिये प्रयत्न करने वालों में सर सैयद अहमद और अलीगढ़ के एम. ए. ओ. कॉलेज के प्रिन्सीपल बेक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सर सैयद अहमद के पूर्वज ईरानी सामन्त थे जिनका मुगल दरबार में काफ़ी मान और प्रभाव था। सैयद अहमद को अपने जीवन के आरम्भ में ही यह निश्चय हो गया था कि भारत का भविष्य जीर्ण मुगल साम्राज्य के हाथों में नहीं वरन् अंगरेज़ों के हाथ में है।[2] मुगल सम्राट के यहां नौकरी करने के स्थान पर उन्होंने सन् १८३७ में कम्पनी की नौकरी शुरू की। विद्रोह के समय वे बिजनौर में सदर अमीन थे। इस समय तक वे एक योग्य जज और प्राच्य सम्बन्धी एक महाविद्वान के नाते काफ़ी प्रसिद्ध हो चुके थे। दिल्ली के मकबरों, खंडहरों और उन की कारीगरी के सम्बन्ध में सैयद अहमद ने 'आसारे सनदियाल' नामक एक पुस्तक लिखी थी जिसका एक फ़्रांसीसी विद्वान ने अनुवाद किया था और इसकी ओर काफ़ी ध्यान आकर्षित हुआ था। विद्रोह के समय उन्होंने अंगरेज़ों का पूर्ण साथ दिया और कितने ही अंगरेज़ों के प्राण बचाये।

विद्रोह के बाद सर सैयद ने अवनत मुस्लिम समाज के पुनरुत्थान और आंग्ल मुस्लिम मित्रता के लिये काम करने का निश्चय किया और उन्होंने अपने शेष जीवन में इन दोहरे उद्देश्यों के लिये असाधारण दृढ़ता और निष्ठा से काम किया। अपनी जाति के उत्थान के लिये उन्होंने सामाजिक सुधार और पश्चिमी शिक्षा का प्रतिपादन किया—और इन दिशाओं में उनका काम इतना प्रख्यात है कि यहां उसका विस्तृत वर्णन करना आवश्यक नहीं है। केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि अपने मुस्लिम समाज की शिक्षा के लिये उन्होंने जो काम किया, अलीगढ़ का मुस्लिम विश्वविद्यालय उसका स्थाई स्मारक है।

---

१. "वे मुसलमान जिनके राजनीतिक उद्देश्य हमारे उद्देश्यों से तद्रूप थे"—Sir John Strachey : India, its Administration and Progress, page 308.

२. An Indian Mussalman : Indian Muslims and Muslim Politics–An Article in the Hindustan Review, January 1909, page 51.

विद्रोह के कुछ समय बाद सर सैयद ने अपने सह-धर्मावलम्बियों के माथे से राजद्रोह का कलंक मिटाने के उद्देश्य से लॉयल मुहम्मडन्स ऑव इंडिया (भारत के राजभक्त मुस्लमान) नामक पत्र निकाला। बाद में यह बन्द हो गया किन्तु सर सैयद अपने उद्देश्य के लिये काम करते रहे। उन्हें यह बात भली भांति ज्ञात थी कि जब तक मुसलमानों और ईसाइयों में धार्मिक वैर है तब तक भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश राज्य के प्रति भक्ति नहीं होगी और उस समय तक ईसाई शासक भी उन्हें राजभक्त नहीं समझेंगे।[1] अतः उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों में धार्मिक मेल करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य के लिये उन्होंने एक पुस्तिका लिखी और उसमें यह बताया कि इस्लाम के एक अध्यादेश के अनुसार इस्लाम मतावलम्बी यहूदियों और ईसाइयों के साथ भोजन कर सकते हैं। ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ बाइबल पर उन्होंने एक टीका लिखी जिसका उद्देश्य मुसलमानों और ईसाइयों के पारस्परिक भ्रमों को दूर करना था। और जब सर विलियम हण्टर की पुस्तक प्रकाशित हुई तो सर सैयद ने 'पायोनियर' में प्रबल एवं प्रत्युक्ति पूर्ण लेख लिखे। जस्टिस शाह दीन का कहना है कि इन लेखों से "बहुत से अविश्वासी अधिकारियों को भी विश्वास हुआ और मुसलमानों की राजभक्ति पर जो सन्देह के बादल थे, वे कुछ ही समय में दूर हो गये।"[2] उसके बाद जब अलीगढ़ का एम. ए. ओ. कॉलेज स्थापित किया गया तो सर सैयद ने उस समय (सन् १८८७ में) लॉर्ड लिटन के समक्ष एक सम्बोधन पत्र प्रस्तुत किया और अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया—प्राच्य शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य तथा विज्ञान में मेल हो; भारतीय मुसलमान, ब्रिटिश सम्राट के अनुरूप तथा उपयोगी प्रजाजन हों; और उन्हें—विदेशी राज्य की दीनपूर्ण दासता के कारण नहीं बरन् सुशासन से प्राप्त होने वाले आशीर्वादों के बोध से—राजभक्ति की प्रेरणा मिले।[3] इस प्रकार सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों में राजभक्ति की भावना भरने के लिये और साथ ही उनके लिये अंगरेज़ शासकों की कृपा प्राप्त करने के लिये, यथासंभव प्रयत्न किया।

३

१८८५ में इंडियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना हुई और उस समय सभी विचारशील व्यक्तियों के समक्ष यह प्रश्न था:—सर सैयद अहमद क्या करेंगे ? क्या वह कांग्रेस में सम्मिलित होंगे अथवा वह अपने अनुयायियों के साथ अलग रह कर राष्ट्रीय मोर्चे में फूट डालेंगे ? कुछ कांग्रेसी जन आशायुक्त थे। सन् १८६० में

१. Shah Din: Sir Syed Ahmed as a Political Leader, page 423. Hindustan Review, December 1905.
२. उपर्युक्त प्रति—पृष्ठ ४१४.
३. Hindustan Review, Jan. 1909, page 53.

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कॉज़ेज़ ऑव दी इंडियन रिवोल्ट' में सर सैयद ने विधान परिषदों में भारतीयों को साथ लेने की नीति का प्रतिपादन किया था। तदुपरान्त सन् १८६६ में उन्होंने ब्रिटिश इंडियन ऐसोसियेशन स्थापित करने का प्रतिपादन किया था। इस संस्था को कांग्रेस का पूर्वाभास बताया गया है और इस अवसर पर उनका व्याख्यान वस्तुतः अपूर्व था। उन्होंने लोगों से कहा कि आप भय छोड़िये, पौरुषयुक्त बनिये और अंगरेज़ों को झिझक छोड़ कर सचाई के साथ बताइये कि आपके कष्ट क्या हैं। घर में बैठ कर सरकारी नीति पर क्षुब्ध होने तथा उसकी बुराई करने और अंगरेज़ों के सामने उसे न्यायपूर्ण ठहराने की आदत की उन्होंने निन्दा की। उन्होंने कहा, "आप मेरी इस बात का विश्वास कीजिये कि यह नैतिक कायरता अयुक्त है......... भारत के हित में यह बात कहीं अच्छी होगी कि लोग सरकार के कामों पर स्पष्टता और सत्यता के साथ अपनी सम्मिति प्रकट करें।"[१] सन् १८७७ में जब सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इन्डियन सिविल सर्विस आन्दोलन के सम्बन्ध में देश का परिभ्रमण किया तो समकालिक परीक्षाओं की व्यवस्था करने के पक्ष में अलीगढ़ की सभा में सर सैयद ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया।[२] उन्होंने हल्बर्ट बिल और भारतवासियों तथा अंगरेज़ों के साथ समान न्याय के सिद्धान्त का हृदय से समर्थन किया। और सब से बड़ी बात यह थी कि १८८४ में पंजाब के अपने परिभ्रमण में सर सैयद ने सभी भारतवासियों के समान हितों पर ज़ोर दिया, देश के प्रति अपना प्रबल प्रेम प्रकट किया और सहयोग तथा संयुक्त कार्य के लिये हृदयस्पर्शी अपील की। अपने एक व्याख्यान में उन्होंने कहा: "हम (हिन्दुओं और मुसलमानों) को अपने हृदय और अपनी आत्मा मिला कर एक साथ काम करना चाहिये। संयुक्त होने पर हम एक-दूसरे को सहारा दे सकते हैं। अन्यथा पारस्परिक विरोध से दोनों ही का नाश और पतन होगा....।"[३] इंडियन एसोसियेशन के मान-पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने बंगालियों की प्रशंसा की और कहा: "मेरी दृष्टि में इस बात का विशेष महत्व नहीं है कि कौन किस धर्म का अनुयायी

१. Hindustan Review, December 1902, page 505.

२. दस वर्ष बाद सार्वजनिक सेवा आयोग के सदस्य के नाते सर सैयद ने समकालिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में सर रमेश मित्र और राव बहादुर नूलकर के मत का समर्थन नहीं किया वरन् समकालिक परीक्षाओं के विरोध में बहुमत की रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किये।

३. २७ जनवरी १८८४ को गुरदासपुर के व्याख्यान से उद्धृत—Eminent Mussalmans, published by G. Nateson and Co. Madras., page 32.

है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई बात स्पष्ट नहीं होती। किन्तु यह बात निश्चित रूप से स्पष्ट है कि हम लोग एक ही देश के निवासी हैं, हम सब के शासक एक ही हैं और दुर्भिक्ष के कारण हम लोग समान रूप से कष्ट उठाते हैं।"[1]

उक्त बातों के कारण यह आशा की जाती थी कि उन भारतीय नेताओं को जो भारतीय राष्ट्र बनाने के लिये और साथ ही जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं और शिकायतों को व्यक्त करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय मंच बनाने के लिये प्रयत्नशील थे, सर सैयद अपना सहयोग प्रदान करेंगे। किन्तु अपनी अंगीकृत मातृभूमि की अपेक्षा अपनी जाति के लिये उनका प्रेम प्रबल सिद्ध हुआ और वे केवल एक साल पहले की अपनी इस दृढ़ धारणा को भूल गये कि "पारस्परिक विरोध से दोनों ही का नाश और पतन होगा।" उन्होंने कांग्रेस से केवल असहयोग ही नहीं किया वरन् बनारस के राजा शिवप्रसाद के साथ मिल कर एक सक्रिय रूप से विरोधी संस्था की स्थापना भी की।

इस विच्छेद पूर्ण कृत्य के कारणों पर विस्तृत रूप से विवाद किया गया है। सर सैयद के समर्थकों ने इसका दायित्व कांग्रेस के प्रचार की उग्रता पर डाला है। मुसलमान पिछड़े हुए थे और स्वभाव से जल्दी ही उत्तेजित हो जाते थे और ऐसी दशा में कांग्रेस के विनाश का और एक दूसरे खुले विद्रोह का डर था। उससे मुस्लिम समाज को और सारे राष्ट्र को क्षति पहुंचती। इन बातों के अतिरिक्त उक्त समर्थकों के अनुसार कांग्रेस कार्यक्रम में धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों और हितों के संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं थी।[2] दूसरी ओर सर सैयद के विरोधियों ने उनके पृथक रहने का दायित्व अधिक स्वार्थपूर्ण कारणों पर डाला है। इन लोगों के अनुसार सर सैयद अपनी जाति के लोगों को सरकार का कृपापात्र बनाना चाहते थे; अपनी जाति को अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक राजभक्त जताना चाहते थे; और राष्ट्र के स्थाई हितों को क्षति पहुंचाने की जोखिम उठा कर भी अपनी जाति के तत्कालीन स्वार्थों को प्रोत्साहित करना चाहते थे।

सर सैयद के साथ अलीगढ़ के कालेज में मौलाना शिबली ने पन्द्रह वर्ष तक काम

---

१. Eminent Mussalmans (Nateson), पृष्ठ ३३.

२. यह सच है कि सर सैयद के अनुसार विशुद्ध एवं साधारण निर्वाचन व्यवस्था भारतीय परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त थी। जनवरी १८८३ में सी. पी. स्थानीय स्वशासन विधेयक पर विधान परिषद में उन्होंने अपने विचार विस्तारपूर्वक प्रकट किये और यह बताया कि इस प्रकार के निर्वाचन में बहुत से महत्वपूर्ण दोष होंगे। उनका अभिप्राय यह था कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों का नाम निर्देशन किया जावे। यह कहना ग़लत है कि उस समय उन की दृष्टि साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों पर थी।

किया और उन्हीं के सामने सर सैयद प्रगतिशील राष्ट्रवादी से बदल कर प्रतिक्रियाशील सम्प्रदायवादी बने। मौलाना शिबली स्वयं राष्ट्रवादी थे और यह एक दुःख की बात है कि उन्होंने इस दुर्भाग्यपूर्ण परिवर्तन के कारणों को प्रकट करना "हमारे उद्देश्य के लिये क्षतिपूर्ण"[1] समझा। अस्तु, "मौलाना साहिब के उस समय चुप रहने का चाहे जो कारण हो, अब समय ने हमें उसका उत्तर दे दिया है। सर सैयद की राजनीति में परिवर्तन का दायित्व अलीगढ़ कॉलेज के तत्कालीन यूरोपियन प्रिंसीपल की कूटनीति पर था।"[2] इसी बात को सितम्बर १८९९ में प्रिन्सीपल बेक के मरने पर सर जॉन स्ट्रेची ने लन्दन टाइम्स के अपने लेख में मूक भाव से स्वीकार किया :—"यह एक ऐसे अंगरेज़ का देहावासन है जो एक दूर देश में साम्राज्य निर्माण के कार्यों में संलग्न था। उसकी मृत्यु अपने कर्त्तव्य पद पर खड़े हुए एक सैनिक की भांति हुई है। मुसलमानों को आरम्भ में मि. बेक पर सन्देह था और उन लोगों ने मि. बेक को ब्रिटिश भेदिया समझ कर उसका विरोध किया किन्तु थोड़े ही समय में उसने अपनी सचाई और निःस्वार्थता से उनके विश्वास को प्राप्त कर लिया।[3]

प्रिन्सीपल बेक को अपने साम्राज्यवादी काम में सफलता मिली। उन्होंने सर सैयद को बहका कर उनके हृदय में यह विश्वास जमा दिया कि आंग्ल-मुस्लिम गठबंधन से मुसलमानों की स्थिति सुधरेगी और राष्ट्र वादियों के साथ मिलने से उनके दुःख और कष्ट फिर बढ़ जायेंगे। इसके अतिरिक्त सर सैयद को इस बात का भी दृढ़ विश्वास दिलाया गया कि सरकार का समर्थन करने से उनकी जाति को अपनी उन्नति के लिये विशेष सुविधा मिलेगी। इस प्रकार उनके असाधारण प्रभाव द्वारा मुसलमानों को—विशेष कर उत्तर भारत के मुसलमानों को—कांग्रेस से दूर रखा गया।[4] एक भारतीय मुसलमान ने लिखा है :—"आरंभ में सहारे की आवश्यकता

---

१. मौलाना शिबली ने सर सैयद के बारे में लिखा है कि प्रकृति ने उन्हें सारे भारत का नेता बनने की प्रतिभा दी थी। किन्तु उनके चारों ओर के वातावरण ने उन्हें प्रभावित किया और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन से मुसलमानों को दूर खींच लिया। "ऐसा क्यों हुआ ? ....इसका उत्तर अनावश्यक है। .....केवल यही नहीं वरन इसका उत्तर हमारे उद्देश्य के लिये क्षतिपूर्ण हो सकता है।" Ashok Mehta and Achut Patwardhan: The Communal Triangle in India, pages 23 and 24 से अनुवादित।

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २४.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६१.

४. Mehta & Patwardhan: The Communal Triangle in India, page 24.

हो सकती थी किन्तु अपने पैरों पर खड़े होने की सामर्थ्य आ जाने पर भी मुसलमान इस बात का साहस न कर सके कि वे राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से चलें। सरकार की मनोवृत्ति से पूरी तरह परिचित होने पर वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि कांग्रेस में सम्मिलित होने से उनकी मुक्ति संभव नहीं थी।..................वर्ग स्वार्थ, अविश्वास, जातीय घृणा, सरकार के कृपापात्र बनने की अभिलाषा और अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखने की भावना के कारण मुसलमानों और कांग्रेस वालों के बीच एक चौड़ी खाई बनी रही ....।[1]

सबसे पहले कांग्रेस अधिवेशन के दूसरे वर्ष सर सैयद ने मुस्लिम शिक्षण कांग्रेस (बाद में सम्मेलन) की स्थापना की। शिक्षित मुसलमानों का ध्यान और अनुराग केन्द्रित करने के लिये और साथ ही उन्हें कांग्रेस और राजनीतिक आलोचना से दूर रखने के लिये इस संस्था के अधिवेशन, कांग्रेस अधिवेशन के ही दिनों में किये जाते थे। सर सैयद और उनकी जाति की राजनीति थी ब्रिटिश सरकार का समर्थन, उसके साथ सक्रिय सहयोग, ब्रिटिश सत्ता के प्रति राजभक्ति का प्रदर्शन और सरकारी कामों पर आलोचना की निन्दा।

४

सन् १८५९ की पंजाब सैन्य पुनर्संगठन कमेटी की भाषा के अनुसार देशी आदमियों का परस्पर संतुलन करने की नीति को ब्रिटिश सरकार ने १८६१ में भारतीय सेना में सबसे पहली बार लागू किया। केवल सर सैयद का ही नहीं वरन् सैन्य अधिकारियों का भी यह विश्वास था कि १८५७ के विद्रोह का बल विभिन्न प्रान्तों, सम्प्रदायों, समुदायों और जातियों के लोगों की एक्य भावना में निहित था—सब लोग सेना में घुल मिल कर रहते थे। भविष्य में ऐसे विद्रोहों की संभावना मिटा देने के उद्देश्य से भारतीय सेना को वर्ग आधार पर फिर से संगठित किया गया। किन्तु अपनी साख जमाने के उद्देश्य से सिविल शासन में उचित नीति को व्यवहार में लाना आवश्यक समझा गया। सरकारी पदों के लिये नियुक्ति करने में और राजभक्ति के आधार पर पुरस्कार और उपाधि वितरण करने में, विद्रोह के बाद दशाब्दियों तक, साधारणतया कोई जातीय भेद-भाव नहीं किया गया। सर एल्फ्रेड लायल ने लिखा है:—"हमको अनिवार्य न्याय और उपयोगिता के आधार पर उचित नीति को व्यवहार में लाना चाहिये। भारत में सामयिक एवं अल्पकालीन पक्षपात के कारण हम उक्त आधार को बराबर तोड़-मरोड़ नहीं सकते।

१. An Indian Mussalman : Indian Mussalmans and Indian Politics, Hindustan Review, January 1909, page 55.

हम मुसलमानों की किसी ऐसी बात का जो अन्य भारतीय प्रजा के प्रति अन्याय-पूर्ण हो, संरक्षण नहीं दे सकते। हमको सरकारी नौकरियों के लिये सर्वोत्तम आदमियों को छांटना चाहिये फिर चाहे वे किसी भी समुदाय के लोग क्यों न हों।"[१] किन्तु कुछ समय बीतने पर मुसलमानों ने सरकार पर विशेष व्यवहार के लिये ज़ोर दिया। मुस्लिम संस्थायें वाइसरॉयों और गवर्नरों को मानपत्र भेंट करने में इस बात की ओर सदैव ध्यान दिलाती थीं कि मुसलमान लोग पिछड़े हुए हैं और वे संस्थायें सरकार से इस बात की प्रार्थना करती थीं कि संतुलन लाने के लिये मुसलमानों की अधिक पदों पर नियुक्ति की जावे।[२] और जैसा कि सर जॉन वुडबर्न ने कहा है, ब्रिटिश शासकों का उत्तर सदैव यह होता था कि "इसका उपाय आपके और आप के नेताओं के हाथों में है। शिक्षा के सब विभागों में योग्यता प्राप्त करने के अवसर आपको सुलभ हैं—विशेषकर कुछ ऐसे सक्रिय व्यवसायों के लिये जिनमें मुसलमान अन्य लोगों से श्रेष्ठतर हैं।"[३] लॉर्ड कर्ज़न ने और भी ज़ोरदार शब्दों में कहा: "कुछ ऐसी बातें हैं जो मैं नहीं कर सकता; मैं आपके पक्ष में विशेष सुविधा या छूट का प्रबंध नहीं कर सकता।" "उन लोगों को ऊपर उठाने के लिये" लॉर्ड कर्ज़न को कृत्रिम उपकरणों में विश्वास नहीं था।[४]

किन्तु कुछ ही समय में सरकारी नीति बदल गई। यह परिवर्तन भारत में ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा और उसके स्थायित्व के लिये किया गया। धीरे-धीरे सुधारों के लिये आन्दोलन करने वाला और शासन में भारतीयकरण की मांग पर ज़ोर देने वाला वर्ग बढ़ रहा था। तरुण राष्ट्रवादी स्वतन्त्र एवं आत्म-निर्भर कार्य की बातें करने लगे थे। हिन्दू नवयुवकों में एक नई भावना उत्पन्न हो रही थी। ब्रिटिश कर्मचारी तन्त्र यह अनुभव करने लगा था कि असंधेय व्यक्तियों को अलग कर अन्य लोगों को अपने पक्ष में सम्मिलित करने का समय आ गया है। राजभक्तों—मुसलमानों, नरम दल वालों, देशी नरेशों और ज़मींदारों, ताल्लुकेदारों— को अपने पक्ष में संगठित करने की नीति को भारत मंत्री के लिये प्रेषित भारत सरकार के सुधार संबंधी पहले राजपत्र में रूप दिया गया। लॉर्ड कर्ज़न के राज्य काल में बंगाल का जो विभाजन हुआ—उसकी चर्चा एक पिछले अध्याय में की जा चुकी है। उसी स्थल पर मुसलमानों का पक्ष लेने की नीति का भी वर्णन

१. Quoted in Kayastha Samachar, August 1902, page 122.

२. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ १२१

३. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ १२३

४. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ १२२

किया जा चुका है। यहां उस संबंध में कुछ और लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। अब केवल इस बात का विवरण करना शेष है कि १९०९ के सुधारों में मुसलमानों को अपने पक्ष में लेने की नीति किस प्रकार विकसित हुई।

५

जैसा कि पहले कहा जा चुका है १८८५–८६ में सर सैयद ने अधिकांश मुसलमानों को राजनीति से दूर रहने और शिक्षा की ओर ध्यान देने के लिये प्रोत्साहित किया था। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में "सर सैयद ने कांग्रेस की माँगों के औचित्य को अनुभव किया। उन्होंने सरकारी परिषदों में अपने देश-वासियों की निम्न स्थिति को तीखेपन के साथ अनुभव किया यहां तक कि सुदूर भविष्य में भी शासकों और शासितों के बीच समान व्यवहार की बात उन्हें दुराशामात्र प्रतीत हुई।"[1] इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि उनके पुत्र सैयद महमूद से जो इलाहाबाद हाई कोर्ट के न्यायाधीश थे १८९२ में विवश करके त्याग पत्र दिलाया गया था। अस्तु, कारण चाहे जो कुछ हो, सन् १८९३ में सर सैयद ने मुस्लिम हितों के संरक्षण के लिये एक राजनीतिक संस्था स्थापित करना स्वीकार किया। इस संस्था का नाम था मुहम्मडन डिफेंस एसोसियेशन ऑव अपर इंडिया। इसमें विभिन्न प्रान्तों के छटे हुए प्रतिनिधि लिये गये और सैयद महमूद तथा प्रिन्सीपल बेक इसके मन्त्री बनाये गये। इस संस्था का उद्देश्य सरकार के समक्ष प्रतिनिधित्व द्वारा मुस्लिम हितों की रक्षा करना और उनको प्रोत्साहित करना था। उसकी नीति भारत में ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने वाले उपायों का समर्थन करने की और मुसलमानों में राजभक्ति की भावना फैलाने की थी—यह नीति आन्दोलन और राजनीतिक प्रचार के विरुद्ध थी। इस संस्था का मुख्य काम था मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखना, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच खाई बनाये रखना और आंगल-मुस्लिम सहयोग को प्रोत्साहित करना। मि. बेक के शब्दों में, "कांग्रेस का उद्देश्य देश की राजनीतिसत्ता को अंग्रेजों से हिन्दुओं को हस्तान्तरित करना है। उसकी मांगें हैं—शस्त्र एक्ट को रद्द करना, सैन्य व्यय को घटाना और इस प्रकार सीमा प्रदेशीय मोर्चों को दुर्बल बनाना। इन माँगों के साथ मुसलमानों की कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। ....इन आन्दोलन करने वालों से लड़ने के लिये और लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना रोकने के लिये अंग्रेजों और मुसलमानों का एक होना आवश्यक है। लोकतन्त्रीय शासन देश की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों के लिये अनुपयुक्त है। अतः हम सरकार के प्रति राजभक्ति और आंग्ल-मुस्लिम सहयोग का प्रतिपादन करते हैं।"[2]

१. Eminent Mussalmans, page 35.
२. Mehta and Patwardhan: The Communal Triangle in

देश के विभिन्न स्थानों में अन्य मुस्लिम संस्थायें—जैसे अंजुमने इस्लामिया और यंग मेन्स मुहम्मडन एसोसियेशन— अस्तित्व में आ गई थीं। यद्यपि ये संस्थायें राजनीतिक मामलों में थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेती थीं किन्तु वे मुख्यतः अ-राजनीतिक थीं। अलीगढ़ और अन्य भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाये हुए मुस्लिम कांग्रेसके ही ढंगकी एक नियमित राजनीतिक संस्थाकी आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। सितम्बर १९०१ में सर मुहम्मद शफ़ी ने लाहौर के 'ऑबज़र्वर' में कई लेख लिखे और एक भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना करने के विचार का प्रतिपादन किया। उसी वर्ष (१९०१ में) मुसलमानों के अधिकारों के रक्षण के लिये प्रान्तीय और अखिल भारतीय कार्पोरेशन बनाने के लिये यू. पी. में सिफ़ारिश की गई। किन्तु ये विचार कार्यान्वित नहीं हुए। अन्त में १ अक्टूबर १९०६ में प्रसिद्ध मुस्लिम शिष्ट मण्डल के सदस्यों ने शिमला में विचार विनिमय किया और इसके फलस्वरूप दिसम्बर १९०६ में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग बनाई गई।

मौलाना मुहम्मद अली ने सन् १९२३ में बताया—और यह भेद पहले भी प्रकट था—कि उक्त शिष्ट मण्डल का अभिनय अंग्रेज़ सूत्रधारों के निर्देशानुसार किया गया था।[१] अलीगढ़ कॉलेज के प्रिन्सीपल ऑर्कबोल्ड[२] के द्वारा व्यवस्था की गई थी और उन्होंने शिमला में वाइसराय के निजी सहायक कर्नल डनलप स्मिथ के साथ शिष्ट मंडल के संगठन और वाइसरॉय के समक्ष प्रस्तुत किये जाने वाले निवेदन पत्र के संबंध में सारी बातें निश्चित कर ली थीं। अलीगढ़ में सर सैयद के उत्तराधिकारी नवाब मोहसिन-उस-मुलक और राजभक्त मुसलमानों के नेताओं को १० अगस्त १९०६ के पत्र में उक्त बातों की सूचना दी गई। पत्र इस प्रकार था :—

"महामहिम वाइसरॉय के निजी सहायक कर्नल डनलप स्मिथ ने मुझे बताया है कि महामहिम मुस्लिम शिष्ट मंडल से भेंट करने के लिये सहमत हैं। उन्होंने यह सलाह दी है कि महामहिम से भेंट करने की अनुमति मांगने के लिये व्यवहारा-

---

India, pages 59-60.

१. Congress Presidential Address. Indian Annual Register 1924. Vol. II. Supplement, page 27.

२. अपने मरने से पहले प्रिन्सीपल बेक ने अपने उत्तराधिकारी के लिये प्रबंध कर दिया था और इस प्रकार बेक का पद सर थियोडोर मॉरिसन को मिला जो बाद में भारत परिषद के सदस्य हुए। उस समय मॉरिसन का स्थान आर्कबोल्ड ने लिया। यह अंग्रेज भी मि. बेक की भांति मुस्लिम हितों का उत्साही समर्थक था।

नुसार एक पत्र उनके पास भेज दिया जावे । इस संबंध में मुझे कुछ बातें उपयुक्त मालूम होती हैं । उस नियमानुसार पत्र में कुछ प्रतिनिधि मुसलमानों के हस्ताक्षर होने चाहियें । स्वयं शिष्ट मंडल में सब प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहियें । तीसरी बात निवेदन पत्र से संबंधित है । मेरा सुझाव यह है कि हम उस पत्र का आरंभ राजभक्ति की गंभीर अभिव्यक्ति द्वारा करें । बाद में हम स्वशासन की दिशा में सरकारी प्रयत्न की सराहना करें किन्तु उसी संबंध में हम अपना यह भय भी प्रकट कर दें कि निर्वाचन सिद्धान्त मुस्लिम अल्प-संख्यकों के हितों के प्रतिकूल होगा । तदुपरान्त विनयपूर्वक यह संकेत किया जाना चाहियें कि मुसलमानों की मांग को पूरा करने के लिये धर्मानुसार प्रतिनिधित्व देने अथवा नाम निर्देशन करने की व्यवस्था की जावे । इसके अतिरिक्त हमें यह भी कहना चाहिये कि भारत जैसे देश में ज़मींदारों को उपयुक्त महत्व देना आवश्यक है ।

व्यक्तिगत रूप से मेरा यह विचार है कि नामनिर्देशन की व्यवस्था का समर्थन करना मुसलमानों के लिये हितकर होगा—निर्वाचन पद्धति के प्रयोग करने का समय अभी नहीं आया है । निर्वाचन द्वारा मुसलमानों के लिये उचित अनुपात में स्थान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होगा । दृष्टिकोण के संबंध में मुझे पृष्ठ भूमि में रखा जावे । यह दृष्टिकोण आपकी ओर से व्यक्त होना चासिये । आप लोगों के लिए प्रस्तावित निवेदन पत्र तैयार कर सकता हूं, अथवा दोहरा सकता हूं । यदि इस पत्र को बम्बई में भाषाबद्ध किया जावे तब भी मैं उसे देख सकता हूं क्योंकि जैसा कि आप परिचित हैं, ऐसी बातों को मैं उपयुक्त भाषा में लिखना अच्छी तरह जानता हूं । कृपया इस बात का ध्यान अवश्य रखिये कि समय अधिक नहीं है और प्रबल संगठन करने के लिये हमें शीघ्रता करनी चाहिये ।"[१]

इस पत्र के आदेशों का अक्षरशः पालन किया गया और हिज़ हाईनेस आगा खां के नेतृत्व में विभिन्न प्रान्तों के ३५ प्रभावशाली मुसलमानों के एक शिष्ट मंडल का संगठन किया गया और इस शिष्ट मंडल ने १ अक्टूबर १९०६ को शिमला में वाइसरॉय से भेंट की । निवेदन पत्र मि. आर्क बोल्ड के अनुसार ही तैयार किया गया था और उसे मुख्यतः मि. सैयद हसन बिलग्रामी और सर अली इमाम ने लिखा था और संभवतः वह प्रिन्सीपल आर्कबोल्ड द्वारा दोहराया गया था ।

१ अक्टूबर १९०६ को शिमला में लॉर्ड मिण्टो के समक्ष जो पत्र प्रस्तुत किया गया था, वह एक लम्बा और महत्वपूर्ण लेख्य था । उस में मुस्लिम वर्ग की

१. Mehta & Patwardhan : The Communal Triangle in India, page 62.

ओर से दो महत्वपूर्ण मांगें की गई थीं। एक तो यह "कि किसी भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष निर्वाचन व्यवस्था में अथवा अन्य किसी व्यवस्था में जिस से उनके पद और बल पर प्रभाव पड़ता हो, मुसलमानों की स्थिति केवल इनकी संख्या के ही अनुरूप नहीं वरन् उनके व्यावहारिक महत्त्व और उनकी साम्राज्य सेवा के अनुरूप भी होनी चाहिए और साथ ही इस सम्बन्ध में इस बात पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए कि लगभग एक शताब्दी पहले भारत में उन की क्या स्थिति थी।"[१] दूसरी बात यह कि प्रचलित निर्वाचन और नाम निर्देशन व्यवस्थाओं से मुसलमानों को पर्याप्त संख्या में अथवा उचित प्रकार का प्रतिनिधित्व नहीं मिला था। अतः प्रस्तावित सुधारों में उन्हें पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जावे। निवेदन पत्र में मुस्लिम प्रतिनिधित्व के लिए एक विस्तृत योजना की रूप-रेखा दी गई। इस योजना में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं से लेकर विधान परिषद् और विश्वविद्यालयों तक सभी संस्थाओं में प्रतिनिधित्व के प्रश्न को लिया गया था।[२] सम्राज्ञीय विधान परिषद् के सम्बन्ध में शिष्ट मंडल ने कहा "(अ) परिषद् में मुसलमान प्रतिनिधियों का अनुपात उनकी जातीय संख्या शक्ति के आधार पर निश्चित नहीं किया जावे और किसी भी दशा में मुस्लिम प्रतिनिधिगण निष्क्रिय अल्प संख्यक नहीं हों; (ब) निर्वाचन की नियुक्तियों को नाम निर्देशन की अपेक्षा यथासंभव अधिक मान्यता दी जावे; (स) मुसलमान सदस्यों को छांटने के लिये, सरकार द्वारा निर्दिष्ट हैसियत के मुसलमान ज़मींदारों, वकीलों, व्यापारियों, प्रान्तीय परिषदों के सदस्यों और विश्वविद्यालय के सभ्यों का निर्वाचन क्षेत्र बनाया जावे और चुनने की पद्धति सरकार द्वारा निश्चित की जावे।"[२]

इन दो महत्वपूर्ण मांगों के अतिरिक्त शिष्ट मंडल ने नौकरियों में अधिक प्रतिनिधित्व के लिये, कार्यकारिणी में भारतीय सदस्य नियुक्त होने की दशा में उनके हितों के संरक्षण के लिए और एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना में सहायता के लिए भी मांग की। उस निवेदन पत्र के अन्त में यह कहा गया कि सरकार मुस्लिम हितों को प्रोत्साहित करके उन की राजभक्ति की भावना को सुदृढ़ करेगी और इस प्रकार राजनीतिक प्रगति और राष्ट्रीय समृद्धि की नींव रखेगी।[३]

लॉर्ड मिंटो ने अपने उत्तर में शिष्ट मंडल के दृष्टिकोण को मान्यता दी और इस बात का आश्वासन दिया कि "ऐसी किसी भी शासन व्यवस्था में जिसका मुख्य

१. Hindustan Review, February 1909, page 145.
२. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ १४९-१५०.
३. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ १५०.

से सम्बन्ध होगा, मुस्लिम हितों और राजनीतिक अधिकारों को संरक्षण प्राप्त होगा।"[१] वह वाक्यावली इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसे विस्तार पूर्वक उद्धृत करना उपयुक्त होगा। वाइसरॉय ने कहा:—

"मैं आपके सम्बोधन का सार यह समझ पाया हूँ कि किसी भी प्रतिनिधित्व व्यवस्था में जिस में निर्वाचन प्रणाली को अपनाया अथवा बढ़ाया जावे, मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक समाज के रूप में होना चाहिए। आपने इस बात का संकेत किया है कि बहुत से वर्तमान निर्वाचन क्षेत्रों से मुसलमानों के चुने जाने की आशा नहीं की जा सकती। यदि संयोगवश वह चुन भी लिया जाता है तो वह एक विरोधी बहुसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। आप लोगों की यह मांग उचित है कि मुसलमानों की स्थिति उन की संख्या शक्ति से न आंकी जावे वरन् उसका माप उन की राजनीतिक महत्ता और साम्राज्य सेवा के आधार पर की जावे। मैं आप से पूर्णतः सहमत हूँ। कृपया मुझे ग़लत न समझियेगा; मैं किसी साधन या व्यवस्था का निर्देश नहीं कर रहा। किंतु आप की भांति मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि इस महादेश की विभिन्न जातियों की धारणाओं और परम्पराओं से असंबद्ध निर्वाचन व्यवस्था का भविष्य कुटिलता और असफलता से भरा हुआ है।"[२]

इस प्रकार भारत में सम्राट् के प्रतिनिधि ने साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धांत को स्वीकार किया। लॉर्ड मिंटो की जीवनी में मौलिक उद्देश्य को एक महत्त्वपूर्ण वाक्य में इस प्रकार प्रकट किया गया है:—"इस व्याख्यान ने निःसंदेह रूप से मुसलमानों को राजद्रोही दल में भर्ती होने से रोक दिया; उपद्रव के बादल मंडरा रहे थे और उन दिनों इस रोक का असाधारण मूल्य था।"[३]

भारत सरकार को अपनी प्रतिनिधित्व योजना बनाने में पूरे दो वर्ष लगे और इस योजना में मुसलमानों के लिये साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को

१. An Indian Mohammedan : British India, page 486.

२. Buchan : Lord Minto, page 244.

३. Buchan : Lord Minto, page 244. यहां लॉर्ड मिंटो के व्याख्यान के सम्बन्ध में लॉर्ड मार्ले के मत का अभिलेख करना उचित होगा। उन्होंने कहा, "मुस्लिम विवाद में अब मैं आपका अनुसरण नहीं करूँगा। मैं आप को यह याद दिलाना चाहता हूं कि उनके असाधारण अधिकारों के बारे में आपके व्याख्यान ने ही यह मुस्लिम हौआ खड़ा कर दिया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा निर्णय सर्वोत्तम था।" (Recollections, Vol. II, page 325) इसी अध्याय में आगे चल कर लॉर्ड मार्ले के प्रस्ताव की चर्चा की गई है।

रूप दिया गया। भारतीय विधान परिषद् में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में भारत सरकार ने १ अक्तूबर १९०८ को भारत मन्त्री के पास अपना राजपत्र भेजा और उसमें लिखा:—"हमने मुसलमानों की मांगों और हिंदुओं के दृष्टिकोण पर भली भांति-ध्यान दिया है। हमारे विचार से मुसलमानों की मांगों को पूरा करने के लिए उन्हें चार निर्वाचन स्थान प्रदान किये जावें और जब तक निर्वाचन के लिए उपयुक्त प्रबन्ध न हो, तब तक पांचवें स्थान के लिये नाम निर्देशन किया जावे। अधिकतम मुस्लिम जनसंख्या वाले चार प्रान्तों को—अर्थात् बंगाल, पूर्वी बंगाल तथा आसाम, पंजाब और यू. पी. को—उक्त चार निर्वाचन-स्थान स्थायी रूप से प्रदान कर दिये जावें और पांचवें स्थान की पूर्ति यथाक्रम बम्बई और मद्रास से की जावे क्योंकि इन प्रान्तों में मुस्लिम जनसंख्या कम है।"[1] भारत सरकार के मतानुसार निर्वाचन क्षेत्र बनाने के सम्बन्ध में सभी प्रान्तों के लिए एक ही व्यवस्था अपनाना संभव नहीं था। राजपत्र में कहा गया, "हमारा यह मत है कि जिन प्रान्तों में नियमित मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र द्वारा चुनाव संभव है, वहां उस व्यवस्था को अपना लिया जावे; जहां निर्वाचन क्षेत्र नहीं बन सकते वहां मुस्लिम संस्थाओं से लाभ उठाया जावे; और जहां उपर्युक्त दोनों बातें संभव न हों वहां सरकार नाम निर्देशन करे।"[2] प्रान्तीय परिषदों के लिए मुसलमानों को कुछ स्थान प्रदान किए गए थे। इन के लिए भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा चुनाव की व्यवस्था की गयी और निश्चित मालगुज़ारी अथवा आय-कर देने वालों को अथवा भारतीय विश्वविद्यालयों के पांच वर्ष से अधिक अवधि के निबन्धित स्नातकों को मताधिकार दिया गया।

मुसलमानों और ज़मींदारों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के सम्बन्ध में लॉर्ड मॉर्ले ने भारत सरकार की योजना का अनुमोदन नहीं किया। भारतीय विधान मंडल के सम्बन्ध में अन्य जातियों के लिए प्रान्तीय परिषदों के ग़ैर-सरकारी सदस्यों द्वारा परोक्ष निर्वाचन की व्यवस्था थी। इसी प्रकार प्रान्तीय परिषदों के लिए चुंगी और जिला मंडलों के सदस्यों द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था थी। लॉर्ड मॉर्ले ने २७ नवम्बर १९०८ के अपने राजपत्र में इन प्रस्तावों का कई कारणों से विरोध किया। एक कारण तो यह था—और यह आपत्ति भारतीय राष्ट्रवादियों को भी थी—कि पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों से हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की खाई अधिकाधिक चौड़ी होती जायगी। इसके अतिरिक्त भारत मन्त्री को दो मुख्य आपत्तियां और थीं। एक तो यह कि भारत सरकार के प्रस्तावों

१. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 293.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९४.

ने हिन्दुओं और मुसलमानों में द्वेषपूर्ण भेदभाव किया था, और दूसरा यह कि बहुत सी स्थितियों में मुसलमानों को दुहरा मताधिकार दिया गया था। इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से लॉर्ड मॉर्ले ने विभिन्न जातियों और वर्गों के अभ्यर्थियों के चुनाव के लिए एक संयुक्त निर्वाचन मंडल की योजना का प्रस्ताव रखा। इस योजना में विभिन्न जातियों और वर्गों के अनुपातानुसार उन्हीं विभिन्न जातियों और वर्गों के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचन मंडल बनाने का प्रस्ताव किया गया। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि किसी निर्दिष्ट स्थान से तीन हिंदू और एक मुस्लिम प्रतिनिधि चुन कर भेजे जाने थे। ऐसी दशा में उपर्युक्त योजना के अनुसार तीन और एक के अनुपात में ७५ हिंदुओं और २५ मुसलमानों का निर्वाचन मंडल बनाया जा सकता था। इस मंडल को बनाने के लिए विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों जैसे (१) निश्चित रकम से अधिक मालगुज़ारी देने वाले ज़मींदारों; (२) ग्राम्य अथवा तहसील मंडलों के सदस्यों; (३) जिला मंडलों के सदस्यों; (४) और नगरपालिका संस्थाओं के सदस्यों द्वारा, इन क्षेत्रों के लिए निर्दिष्ट संख्या के अनुसार प्रतिनिधि चुनवाने की व्यवस्था थी। इन निर्वाचन क्षेत्रों से बहुमत पाने वाले ७५ हिंदू और २५ मुसलमान चुने जाने थे। निर्वाचित मुसलमानों की संख्या २५ से कम होने की दशा में नाम निर्देशन द्वारा कमी को पूरा करने की व्यवस्था थी।"[1] निर्वाचन मंडल के प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार था। इस प्रकार उपर्युक्त योजना के फलस्वरूप एक मुस्लिम और तीन हिंदू सदस्य चुने जा सकते थे।

लॉर्ड मॉर्ले ने अपनी इस योजना को भारत सरकार के समक्ष रखा और इस सम्बन्ध में उन्होंने ये ध्यान देने के योग्य शब्द लिखे:— "यह सच है कि इस योजना में प्रारम्भिक निर्वाचक और अन्तिम रूप से निर्वाचित व्यक्ति के बीच बहुत बड़ी दूरी है; साथ ही यह पद्धति सरल प्रतीत नहीं होती। परन्तु मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए इससे सरलतर कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। एक वोट की प्रणाली इस योजना का अनिवार्य अंग है; उसे संतोषप्रद रूप से कार्यान्वित किया जा सकता है और निर्वाचक उसे समझ सकते हैं। साथ ही इस योजना में कई महत्त्वपूर्ण लाभ हैं। इस योजना में सभी सम्बन्धित वर्ग सार्वजनिक निर्वाचन क्षेत्र के अन्तर्गत रहेंगे और हिंदुओं की आलोचना का आधार मिट जावेगा—; दूसरी बात यह है कि इस योजना में एक ऐसे सिद्धांत को मान्यता दी गई है कि उसके द्वारा विशेष वर्गों और संस्थाओं की प्रतिनिधित्व सम्बन्धी मांग का सामना किया जा सकता है;

१. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 312.

तीसरी बात यह है कि इस योजना के अनुसार निर्वाचित व्यक्ति उसी स्थान का रहने वाला होगा जिसका कि निर्वाचिन मंडल प्रतिनिधित्व करता है; चौथी बात यह है कि इस योजना के कारण स्थानीय स्वशासन को हितकर प्रोत्साहन मिलेगा और जनता का ध्यान स्थानीय संस्थाओं की ओर आर्कषित होगा...........और प्रान्तीय विधान परिषद् के साथ इन स्थानीय संस्थाओं का सम्बन्ध घनिष्टतर हो जावेगा।"[1]

भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के लिए लॉर्ड मार्ले की प्रस्तावित योजना सर्वोत्तम थी। इस योजना में देश के राष्ट्रीय हितों को क्षति पहुंचाए बिना ही सब जातियों और वर्गों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई थी और उसमें एक जाति और दूसरी जाति के बीच कोई द्वेषपूर्ण भेद-भाव नहीं किया गया था। किंतु होना कुछ और था; मुसलमानों ने और उनके मित्र ब्रिटिश कर्मचारियों[2] ने इस बात पर जोर दिया कि पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा ही मुस्लिम हितों की उचित रूप से रक्षा की जा सकेगी और संयुक्त निर्वाचन मंडल की व्यवस्था से उन्हें ठीक ढंग का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होगा और अन्त में भारत मन्त्री को इन लोगों के आगे झुकना पड़ा।

६

यह बात बड़ी आश्चर्यपूर्ण प्रतीत होती है कि केवल दो वर्ष की एक शैशवपूर्ण संस्था, लॉर्ड मॉर्ले जैसे आधुनिक, अत्यन्त दृढ़ और अनुभवी भारत मन्त्री को अपने रोब में ले आई; किंतु हुआ यही। दिसम्बर १९०६ में विभिन्न प्रान्तों के मुसलमान ढाका में मुस्लिम शिक्षण सम्मेलन के लिए एकत्रित हुए थे और उन्हीं लोगों ने वहीं पर अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की थी। दिसम्बर १९०७ में करांची में उसका संविधान बनाया गया था किंतु उसका अनुसमर्थन मार्च १९०८ में लखनऊ में हुआ। इस प्रकार मुस्लिम लीग का पहला नियमानुसार अधिवेशन दिसम्बर १९०८ में अमृतसर में हुआ। सर सैयद अली इमाम इस अधिवेशन के सभापति थे। संविधान के अनुसार लीग में एक स्थायी अध्यक्ष का पद था। सन् १९१३ तक हिज़ हाइनेस आग़ा खां अध्यक्ष पद पर रहे किंतु

१. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 316.

२. मि. रैमजे मैकडोनैल्ड के अनुसार भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता की मांग और उसके प्रवेश का दायित्व अंग्रेज अधिकारियों पर था। इस सम्बन्ध में देखिये— Ramsay Macdonald : The Awakening of India, page 176.

उस वर्ष लीग की नीति में मौलिक परिवर्तन हो जाने के कारण त्यागपत्र देकर अलग हो गये ।

कांग्रेस की भांति अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की भी विभिन्न प्रान्तों में और साथ ही लन्दन में शाखाएं बनाई गईं । लन्दन शाखा के अध्यक्ष थे सर सैयद अमीर अली । संविधान में लीग के उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया:— "(१) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावनाओं को बढ़ाना और सरकार के उद्देश्य तथा उस की नीति के सम्बन्ध में यदि कोई भ्रमपूर्ण धारणा हो तो उसे दूर करना; (२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं को सरकार के समक्ष मृदु भाषा में प्रस्तुत करना; (३) पहले दोनों उद्देश्यों को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुंचाये मुसलमानों और भारत की अन्य जातियों में मित्रता की भावनाओं का प्रसार करना ।"[१]

इस प्रकार लीग एक राजभक्त संस्था थी जिसका संगठन सरकार के समक्ष मुसलमानों की विशेष मांगें प्रस्तुत करने के लिए किया गया था । पहले दो वर्षों (१९०६ और १९०७) में लीग की केन्द्रीय समिति और प्रान्तीय शाखाओं ने अपने प्रस्तावों में केवल एक राग अलापा था और वह यह था कि मुसलमानों के हित में सरकारी उपहारों—नौकरियों और पदों—के प्रचुर वितरण का अनुग्रह किया जावे ।[२] परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, लीग का दृष्टिकोण अधिकाधिक स्वतन्त्र होता गया और वह मांगें पूरी न की जाने की दशा में अभक्ति के लिए धमकी भी देने लगी । सन् १९०८ में सर सैयद अली इमाम ने सभापति के पद से अपने भाषण में शिक्षित मुसलमानों की ओर से कहा, "मातृभूमि के लिये हमारा प्रेम और आदर किसी से कम नहीं है ।" उन्होंने यह भी कहा कि व्यावहारिक राजनीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कांग्रेस और लीग में कोई भेद नहीं है ।[३] अन्तर मुख्यतः उद्देश्य

१. Hindustan Review, April 1909, pages 346-347.

२. Hindustan Review, April 1909, page 350.

३. उन्होंने १४ बातों की सूची दी:—(१) न्यायपालिका और कार्यकारिणी का पृथक्करण; (२) अपमानजनक औपनिवेशिक अध्यादेशों का खंडन; (३) प्रारम्भिक शिक्षा का विस्तार; (४) सार्वजनिक नौकरियों के उच्च पदों पर अधिकाधिक भारतीयों की नियुक्ति; (५) संमार्जन की व्यवस्था ··· ; (६) स्थानीय स्वशासन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति का परित्याग; (७) सैन्य व्यय में उचित कमी; (८) भारत की सामरिक जातियों के लिए स्वयं सेवकों की भांति लड़ने के अधिकार की मान्यता; (९) भारतीयों की सैनिक अफसरों के पदों पर नियुक्ति; (१०) होम चार्जेज़ का समुचित

और पद्धति में था। कांग्रेस औपनिवेशिक ढंग पर स्वशासन प्राप्त करना चाहती थी लीग प्रशासनीय सुधारों की मांग से संतुष्ट थी और वह चाहती थी कि एक उदार व्यवस्था में शिक्षित भारतीयों की स्वाभाविक आकांक्षाएं में पूर्ण हों।[1] इस सम्बन्ध में सर अली इमाम ने कहा:—"क्या इस स्वशासन के आदर्श ने लोगों को उत्तेजित नहीं कर दिया है ? उसके कारण लोगों में अधैर्य आ गया है। संतुलन के अभाव में उग्रता आ गई है और इस उग्रता ने अराजकता, बम, गुप्त समितियों और हत्याओं को जन्म दिया है।"[2] अत: लीग ने अपने लिए एक नम्र आदर्श निश्चित किया और शान्तिपूर्ण उपायों को अपनाया।"

किंतु साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में उसने बड़ी कठोर नीति अपनाई और मांगें पूरी न की जाने की दशा में राजभक्ति और समर्थन की नीति छोड़ देने की धमकी दी। लीग ने संयुक्त निर्वाचन मंडल की योजना का विरोध किया और "विशुद्ध रूप से साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व के लिए" ज़ोर दिया। "साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड और भारत में मंच और पत्रों को सहायता से एक बड़े आन्दोलन का ...... संगठन किया गया।" इंग्लैंड में मि. अमीर अली और मेजर सैयद हसन बिलग्रामी ने लॉर्ड मॉर्ले को अपने पक्ष में लाने के उद्देश्य से लन्दन टाम्इस में पत्र लिखे। लेकिन जब इन पत्रों का कोई प्रभाव नहीं हुआ तो एक शिष्टमंडल का संगठन किया गया और उसने भारत मन्त्री से भेंट की। लॉर्ड मॉर्ले का उत्तर कूट नीति पूर्ण था और उस से कोई बात निश्चित नहीं होती थी। लॉर्ड मॉर्ले के अस्पष्ट आश्वासन से संतुष्ट न होने के कारण अखिल भारतीय मुस्लिम लीग फिर लॉर्ड मिंटो के पास पहुंची।"[3] और उसके समक्ष वही निवेदन किया जो लन्दन में लॉर्ड मॉर्ले के सामने किया जा चुका था। इस भेंट में लीग को सफलता प्राप्त हुई। भारत सरकार ने मुस्लिम मांगों का समर्थन किया; भारत मन्त्री झुक गए और उन्होंने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की योजना को स्वीकार कर लिया।

विभाजन; (११) मालगुज़ारी की सीमा ; (१२) ग्राम समितियों की स्थापना; (१३) भारतीय शिल्प और धंधों का संरक्षण और उनका प्रोत्साहन; (१४) शासकों और शासितों के बीच समान व्यवहार। Hindustan Review April 1909, pages 350-351 से अनुवादित।

१. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ ३५१.

२. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ ३५४.

३. उपर्युक्त पत्र, पृष्ठ ३५६.

७

एक ओर तो मुसलमानों की नई साम्प्रदायिक संस्था पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग पर ज़ोर दे रही थी और दूसरी ओर देश के राष्ट्रवादी—हिन्दू और मुसलमान—नेता तथा समाचार-पत्र उसका प्रबल विरोध कर रहे थे। लाला लाजपतराय और श्री सी. वाई. चिन्तामणि[१] दोनों ने बड़ी योग्यता के साथ राष्ट्र-वादी पक्ष को प्रस्तुत किया और मुस्लिम मांगों के अनौचित्य और उनकी कुटिलता पर प्रकाश डाला। उन्होंने पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र के सिद्धान्त को स्वीकार करने और साथ ही अल्पसंख्यकों को उनकी संख्या-शक्ति से अधिक प्रति-निधित्व देने के दुष्परिणामों को बताया। कुछ देशभक्त मुसलमानों ने भी इन लोगों का समर्थन किया। सन् १९०८ में नवाब सादिक अली खां, बैरिस्टर ने लखनऊ में कहा: "इस योजना में वर्ग और धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त अत्यन्त कुटिलतापूर्ण है। मुसलमानों को यह सिखाना ठीक नहीं है कि उनके और हिन्दुओं के राजनीतिक हित भिन्न हैं।.........मेरी अपनी सम्मति यह है कि स्वयं मुसलमानों के दृष्टिकोण से भी यह सिद्धान्त कुटिलतापूर्ण है।"[२] उसी अवसर पर एक दूसरे मुसलमान ने स्पष्ट शब्दों में कहा: "भारत में एक राष्ट्र बनाने के प्रयत्न को निष्फल करने के उद्देश्य से यह कहा जाता है कि मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिएं। इस व्यवस्था से पारस्परिक विच्छेद को प्रोत्साहन मिलेगा दूसरी ओर संयुक्त क्षेत्र से निर्वाचित होने की दशा में पारस्परिक सम्पर्क घनिष्टतर होगा।"[३] सन् १९११ में मि. रैमज़े मैकडोनलड ने अपनी पुस्तक में लिखा :—"मुस्लिम समाज के कुछ दूरदर्शी सदस्य अब इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि उनसे ग़लती हो गई है। उनमें से कुछ लोगों ने बड़े तीखेपन के साथ मुझे यह बताया कि किस प्रकार उनके कुछ नेताओं ने आंगल-भारतीय अधिकारियों द्वारा रचे हुए अभिनय में सहयोग प्रदान करने की स्वीकृति दे दी थी; अन्य कुछ लोग इस मत के हैं कि जो कुछ हुआ वह ठीक है लेकिन धीरे-धीरे उन्हें भी यह बोध हो रहा है कि आगे खतरा है और वे यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्होंने इतनी लम्बी चौड़ी मांगें न की होतीं तो ज़्यादा अच्छा होता।[४]

मुसलमानों में चाहे जो मतभेद हो कि लीग की नीति बुद्धिमत्तापूर्ण थी अथवा

१. Hindustan Review, April 1909, page 320 to 336.

२. उपर्युक्त मासिक पत्र, पृष्ठ ३२३.

३. उपर्युक्त मासिक पत्र, पृष्ठ ३२४.

४. Macdonald: The Awakening of India, page 129.

नहीं किन्तु इस बात से सभी भारतीय सहमत थे कि लोगों को एक होने से[१] रोकने के लिये ब्रिटिश कर्मचारीतन्त्र ने बड़ी चालाकी की चाल चली थी और इस प्रकार सुधारों को उनकी बहुत बड़ी उपयोगिता से वंचित कर दिया था। अप्रैल १९०९ के 'हिन्दूस्तान रिव्यू' में एक भारतीय मसलमान ने लिखा है :—"मेरे जाति-भाइयों का भारत में एक असंधेय अल्स्टर बनाने का प्रयत्न श्लाघ्य नहीं है।" उसी लेखक ने इस संबंध में यह सच्ची भविष्यवाणी की :—"इस प्रयत्न से यूनान की पौराणिक गाथाओं के पैंडोरा का दूर्भाग्य पिटारा खुल जावेगा और भारत को एक अत्यन्त जटिल और गंभीर परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा।"[२]

---

१. मि. मैकडोनल्ड लिखते हैं :—"यह कहना कठिन है कि अंग्रेज अधिकारियों ने इस नीति को जान बूझ कर, फूट डाल कर राज्य करने के कुटिल उद्देश्य से अपनाया अथवा भारत को ठीक न समझने के कारण और अपने कामों के फल का अनुमान न कर सकने की दशा में यह उनकी एक भयंकर भूल थी। लॉर्ड मिंटो के व्याख्यानों, उत्तर में लॉर्ड मॉर्ले के व्याख्यानों और परस्पर-विरोधी राजपत्रों के तथ्यों पर अभी प्रकाश पड़ना बाकी है।"–The Awakening of India, page 176.

२. Hindustan Review, April 1909, page 357.

सोलहवां अध्याय

मार्ले-मिण्टो सुधार

१

भारत के नरम दली नेताओं ने मॉर्ले मिण्टो सुधारों का सोत्साह स्वागत किया लेकिन १९०९ के भारतीय परिषद् एक्ट के अन्तर्गत, भारत सरकार द्वारा निर्मित विनियमों की दिसम्बर, १९०९ के कांग्रेस अधिवेशन में तीव्र आलोचना की गई। इन विनियमों को १५ नवम्बर १९०९ के सुधार सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव में रूप दिया गया था। उन पर अपना मत प्रकट करते हुए सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, "इन नियमों और विनियमों ने सुधारों की योजना को वस्तुतः निरर्थक कर दिया है।"[1] अस्तु, सुधारों—एक्ट और विनियमों—के गुणों और दोषों का विवेचन करने से पहले, स्वयं सुधारों की रूपरेखा का परीक्षण करना उपयुक्त होगा।

२

लॉर्ड मॉर्ले और मिण्टो के नामों से सम्बन्धित पहला महत्त्वपूर्ण सुधार यह था कि भारत मंत्री और वाइसराय, दोनों की परिषदों में भारतवासियों को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई थी।

वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् में किसी भारतीय को नियुक्त करने के प्रश्न पर मार्च १९०६ में लॉर्ड मिण्टो ने अपनी परिषद् के कुछ सदस्यों के साथ सबसे पहली बार विचार किया था। वाइसरॉय ने सुधारों से सम्बन्धित. . . .कमेटी से भी इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कहा। कमेटी के आधे सदस्य पक्ष में और आधे सदस्य विपक्ष में थे। लेकिन परिषद् में इस प्रस्ताव का प्रबल विरोध हुआ[2]—केवल एक सदस्य ने उसके पक्ष में अपना मत दिया। किन्तु इतने पर भी वाइसरॉय अपने मत पर दृढ़ रहे क्योंकि उनकी सम्मति में विपक्षियों के विरोध का आधार अत्यन्त संकीर्ण था। इन लोगों के अनुसार "असाधारण उत्तरदायित्व के पद पर किसी देशी आदमी का विश्वास करना अत्यन्त जोखिमपूर्ण था।"[3] इसके अतिरिक्त लॉर्ड मिंटो ने सरकारी विरोध को विशेष महत्त्व नहीं दिया लेकिन दूसरी ओर परिषद् में भारतीय सदस्य की नियुक्ति न होने की दशा में उन्हें "देशी

---

१. Mrs. Besant : How India Wrought for Freedom, page 495.

२. लॉर्ड किचनर और सर डेंज़िल इबटसन ने प्रबल विरोध किया था।

३. Buchan : Lord Minto, page 253.

आन्दोलन" का डर था। इस सम्बन्ध में भारत मंत्री और इंग्लैण्ड के अन्य राजमंत्री भारत परिषद् तथा वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों और लॉर्ड रिपन तथा लॉर्ड एल्गिन जैसे व्यक्तियों की सम्मतियों की उपेक्षा करने को तैयार नहीं थे।[1] लॉर्ड मॉर्ले ने लॉर्ड मिन्टो को लिखा : "भारतीय सदस्य के सम्बन्ध में मुख्य विचारणीय बात है आपकी और मेरी परिषद् के सदस्यों का दृष्टि-कोण;[2] और दूसरी बात है आंग्ल भारतीय कोप और भय के उफान की जोखिम।"[3] लेकिन जुलाई १९०७ में लॉर्ड मॉर्ले ने इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाने का निश्चय किया और अपनी परिषद् में एक या दो भारतीयों को नियुक्त करने का अपना उद्देश्य प्रकट किया। इसी विचार से अगस्त १९०७ में एक एक्ट द्वारा भारत परिषद् के संविधान में संशोधन किया गया और उसी मास में भारत परिषद् के लिए दो भारतीय सदस्य नियुक्त कर दिये गए। ये सदस्य थे मि० एम० के० गुप्त और सैयद हुसेन बिलग्रामी। मि० गुप्त सिविल सर्विस के सदस्य थे और मि० बिलग्रामी एक योग्य, चालाक और राजभक्त व्यक्ति थे। १ अक्टूबर १९०६ को वाइसरॉय के समक्ष मुस्लिम शिष्ट मंडल ने जो निवेदनपत्र प्रस्तुत किया था, मि० बिलग्रामी उसके लेखक थे और नियुक्ति के समय वे हैदराबाद के निज़ाम के प्रमुख परामर्शदाता थे।

लॉर्ड मॉर्ले ने अपनी परिषद में दो भारतीयों की नियुक्ति को विशेष महत्त्व दिया। वाइसरॉय की कार्यकारिणी के लिए भारतीय सदस्य नियुक्त करना इसी दिशा में अगला कदम था और अब केवल समय का प्रश्न था।[4] अस्तु, २४ मार्च

---

१. लॉर्ड रिपन और लॉर्ड एल्गिन का विरोध इस आधार पर था कि भारतीय सदस्य से सैनिक और विदेशी भेद गुप्त न रह सकेंगे।

२. भारत परिषद ने एकमत से इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

३. Morley : Recollections, Vol. II, page 212.

४. लॉर्ड मॉर्ले ने अपनी परिषद् में दो भारतीयों को नियुक्त करने के सम्बन्ध में १८ जुलाई १९०७ को लॉर्ड मिंटो को एक पत्र में बताया कि वाइसरॉय की परिषद् में भारतीय सदस्य नियुक्त करने की दिशा में यह पहला कदम था। देखिये Morley : Recollections, Vol. II, page 226.

भारतीय दृष्टिकोण को हिन्दुस्तान रिव्यू (सितम्बर १९०७) में इस प्रकार व्यक्त किया गया:—भारतीय जनमत और भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए एक दिखावा किया गया है। दाहिने हाथ से जो दिया गया है उसे बायें हाथ से ले लिया गया है। वेस्टमिंस्टर के आंग्ल-भारतीय मंदिर में उन लोगों का प्रवेश नहीं है जो भारत सरकार की हां में हां नहीं मिला

१९०९ को बंगाल के तत्कालीन महाधिवक्ता मि० एस० पी० सिन्हा को भारत सरकार का विधि सदस्य नियुक्त किया गया। मि० सिन्हा बाद में सर सत्येन्द्र और अन्त में लॉर्ड सिन्हा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

यह समझना ग़लत होगा कि इस नियुक्ति का विरोध नहीं हुआ। जब १७ दि० १९०८ को लॉर्ड मॉर्ले ने लॉर्ड भवन में, वाइसरॉय की कार्यकारिणी के लिए स्थान रिक्त होने पर, किसी भारतीय को नियुक्ति करने के लिए अपना उद्देश्य पहली बार प्रकट किया तो उसका प्रबल विरोध किया गया। इस पर लॉर्ड मॉर्ले ने वाइसरॉय को लिखा :—"यह सौभाग्य की बात है कि आपकी कार्यकारिणी में भारतीय सदस्य नियुक्त करने के लिए मुझे पार्लियामेण्ट की स्वीकृति प्राप्त करने की वैधानिक आवश्यकता नहीं है; मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूं कि लॉर्ड भवन से स्वीकृति नहीं मिल सकती।"[१]

वाइसरॉय की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति का विरोध केवल आंग्ल-भारतीयों, अधिकारियों और भारत मन्त्री तथा वाइसरॉय की परिषदों के सदस्यों ने ही नहीं किया वरन् भारतीय मुसलमानों ने भी किया। उन्हें इस बात का डर था कि यदि केवल एक भारतीय की नियुक्ति की गई तो वह व्यक्ति अवश्य ही हिंदू होगा। एक मुस्लिम शिष्टमंडल ने भारत मन्त्री से भेंट की और दो भारतीयों की नियुक्ति के लिए माँग की ताकि उनमें से एक मुसलमान अवश्य हो। लॉर्ड मॉर्ले के मतानुसार यह प्रस्ताव अव्यवहार्य था—क्योंकि उस दशा में अंग्रेज़ों का अनुपात आपत्तिजनक रूप से घट जाने का भय था—"और यह एक अत्यन्त गम्भीर परिवर्तन था।"[२]

३

सन् १९०९ के भारतीय परिषद् एक्ट का दूसरा महत्त्वपूर्ण सुधार, भारत की विभिन्न विधान परिषदों से सम्बन्धित था।

इस सम्बन्ध में एक्ट ने पहली बात तो यह की कि उसने प्रत्येक विधान परिषद्

सकते। इस समिति के लिए दत्त और गोखले की तो बात ही क्या, मेहता यहां तक कि अमीर अली भी, उपयुक्त सदस्य नहीं हो सकते। जिन दो व्यक्तियों को नियुक्त किया गया उनसे किसी प्रकार की क्षति की आशंका नहीं है···तथापि एक विशेष विधेयक स्वीकार किया गया है···परिषद् की संख्या बढ़ाई गई है···ताकि किसी अंग्रेज़ को भारतीय के लिए अपना स्थान न छोड़ना पड़े।

१. Morley : Recollections, Vol. II, page 293

२. Indian Speeches of John Morley, page 265.

की संख्या-शक्ति को बढ़ा दिया। एक्ट के विनियमों ने उनकी संख्या इस प्रकार निश्चित की:—सम्राज्ञीय विधान परिषद्, ६९; बंगाल विधान परिषद्, ५२; मद्रास, बम्बई और यू. पी.—प्रत्येक की विधान परिषद्, ४७; पूर्वी बंगाल तथा आसाम की विधान परिषद्, ४१; पंजाब विधान परिषद्, २५; बर्मा विधान परिषद् १६।[1] सन् १९११ में जब बंग भंग रद्द किया गया[2] तो बंगाल के अतिरिक्त दो अन्य प्रान्त बनाए गए। इस परिवर्तन के बाद इन प्रान्तों की विधान परिषदों की संख्या इस प्रकार थी:—बंगाल, ५२; बिहार तथा उड़ीसा, ४४; और आसाम, २५। इसके अतिरिक्त सरकार के अध्यक्ष को प्रान्तीय विधान परिषद् के लिए विशिष्ट विधान कार्य में परामर्श देने के उद्देश्य से एक या दो विशेषज्ञों का नाम निर्देशन करने का अधिकार दिया गया।

प्रत्येक विधान परिषद् में तीन प्रकार के—(१) सरकारी; (२) निर्वाचित; और (३) नाम निर्देशित ग़ैरसरकारी—सदस्य थे। उनकी तुलनात्मक संख्या निम्न तालिका में व्यक्त की गई है। संख्याएँ सन् १९१२ के आधार पर हैं और उनमें सरकार के अध्यक्ष अथवा विशेषज्ञों की गणना नहीं की गई है।

विधान परिषद् का नाम	निर्वाचित सदस्य	नाम निर्देशित ग़ैर सरकारी सदस्य	सरकारी सदस्य	कुल संख्या
भारतीय	२७	५	३६	६८
मद्रास	२१	५	२०	४६
बम्बई	२१	७	१८	४६
बंगाल	२८	४	२०	५२
यू. पी.	२१	६	२०	४७
पूर्वी बंगाल तथा आसाम	१८	५	१७	४०
पंजाब	८	६	१०	२४
बर्मा	१	८	६	१५
बिहार तथा उड़ीसा	२१	४	१८	४३
आसाम	११	४	९	२४

१. सन् १९०५ में जो बंगाल का विभाजन किया गया था उसे सन् १९११ में रद्द कर दिया गया और प्रान्तीय सीमाओं को फिर से निश्चित किया गया और तीन प्रान्त बनाए गए—(१) बंगाल; (२) आसाम; और (३) बिहार तथा उड़ीसा।

२. सन् १९०९ से पहले परिषदों की संख्या इस प्रकार थी:—सम्राज्ञीय

सम्राज्ञीय विधान परिषद् के सम्बन्ध में भारत सरकार का मौलिक प्रस्ताव यह था कि उसमें सरकारी और ग़ैर सरकारी सदस्यों की संख्या बराबर रखी जाय; ऐसी दशा में वाइसरॉय अपनी वोट से पलड़ा झुका सकता था। किंतु भारत मन्त्री ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने केन्द्र में सरकारी बहुमत बनाए रखना आवश्यक समझा। हाँ, प्रान्तीय विधान परिषदों के सम्बन्ध में लॉर्ड मॉर्ले ने भारत सरकार को सरकारी बहुमत का विचार छोड़ देने की सलाह अवश्य दी। लेकिन इसके दो कारण थे। पहली बात तो यह थी कि इन परिषदों के अधिकार बहुत सीमित थे और दूसरी बात यह थी कि प्रान्तों के सरकारी अध्यक्षों को इन परिषदों द्वारा स्वीकार किए हुए विधेयकों को निषिद्ध कर देने का अधिकार मिला हुआ था। तथापि निर्वाचित सदस्यों को केवल बंगाल में ही बहुमत प्राप्त हुआ।

विनियमों में, नामनिर्देशित (ग़ैर सरकारी) सदस्यों के सम्बन्ध में कोई विशेष अर्हता निश्चित नहीं की गई। कुछ ऐसे हित थे जिन्हें निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो सकता था अथवा जिन्हें अपर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था। नाम निर्देशन का उद्देश्य ऐसे हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना था। इसी दृष्टि से सम्राज्ञीय विधान परिषद् के लिए यह निश्चित किया गया कि नाम-निर्देशित सदस्यों में एक व्यक्ति भारतीय व्यावसायिक समुदाय का प्रतिनिधि होना चाहिए, एक पंजाब का मुसलमान होना चाहिए और एक पंजाब का ज़मींदार होना चाहिए। सरकारी व्यक्तियों में कुछ लोग पदेन सदस्य होने थे और अन्य सदस्य सरकार के अध्यक्ष द्वारा नामनिर्देशित किए जाने थे। पदेन सदस्यों में सरकार के अध्यक्ष और कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की गणना थी।

किन्तु निर्वाचित सदस्यों के संबंध में बहुत से नियमों को बड़े परिश्रम के साथ बनाया गया—उन पर पृथक् रूप से विचार करना उपयुक्त होगा।

४

विनियमों ने प्रत्येक विधान परिषद् के सदस्यों की संख्या को निश्चित कर दिया था और यह संख्या बर्मा में १ से लेकर बंगाल में २६ तक थी—जो बाद में बढ़ाकर २८ कर दी गई।[1] इन सदस्यों का प्रादेशिक क्षेत्रों से तो बहुत सीमित रूप में निर्वाचन होता था। भारत सरकार के अनुसार भारत की परिस्थितियाँ पश्चिमी देशों की परिस्थितियों से भिन्न थीं और इस कारण प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से

विधान परिषद्, २५; मद्रास, २४; बम्बई, २४; बंगाल, २१; यू० पी०, १६; पूर्वी बंगाल तथा आसाम, १६; पंजाब, १०; और बर्मा, १०।

१. अन्य आंकड़ों के लिए इसी अध्याय का तीसरा खंड देखिए।

विभिन्न जातियों, समुदायों और वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता था। सरकार ने अपनी धारणाओं को सिद्ध करने के लिए पिछले चुनावों के आंकड़े उद्धृत किए; "सन् १८९३ से सम्राज्ञीय परिषद् के ग़ैरसरकारी निर्वाचित सदस्यों में से ४५ प्रतिशत, वृत्तिमत् मध्यमवर्ग के लोग थे, ज़मींदारों को २७ प्रतिशत स्थान मिले थे, और मुसलमानों को केवल १२ प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए थे—और काफी बड़े भारतीय व्यापारी समुदाय को जिसका महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था, किसी प्रकार का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ था।"[1] इसी प्रकार सन् १८९३ से प्रान्तीय परिषदों में कुल ३३८ ग़ैरसरकारी सदस्य निर्वाचित हुए थे और "इनमें से १२३ (अर्थात् ३६ प्रतिशत) सदस्य वकील थे और केवल ७७ (अर्थात् २२ प्रतिशत) जमींदार थे।[2] संसार के विभिन्न भागों के प्रतिनिधि भवनों की रचना से परिचित लोगों को इन आंकड़ों में कोई असाधारण बात प्रतीत नहीं होगी। कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' ने इन प्रतिनिधि भवनों के संबध में उस समय यह लिखा:—"इंग्लैंड के हाउस ऑव कॉमन्स, फ्रांस के चेम्बर ऑव डेपूटीज और अमेरिका के हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्स में वकीलों का बहुमत है।" और ऐसा होना स्वाभाविक भी है "क्योंकि विधान कार्य में विज्ञ आलोचना की आवश्यकता होती है और इस काम को अपने शिक्षण के कारण वकील लोग साधारण आदमियों की अपेक्षा अधिक कुशलता के साथ कर सकते हैं। महाराजा और बड़े ज़मींदार समझदारी से बात कर सकते हैं लेकिन उनमें यह मेधा शक्ति नहीं होती जिसके द्वारा वकील अपने पक्ष का समर्थन प्राप्त कर लेते हैं। अतः परिषदों में ज़मींदारियों की संख्या बढ़ाने के प्रयत्न से सरकार ऐसे लोगों की प्रतिनिधि शक्ति बढ़ाना चाहती है जो विधान कार्य के लिए अनुपयुक्त हैं। इस प्रकार सरकार उस वर्ग का परित्याग भी कर रही है जिसने सभी जगह अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है। जो लोग विज्ञ आलोचना के लिए निपुण हैं उन का स्थान ऐसे लोगों को दिया जा रहा है जो आलोचना कर ही नहीं सकते।"[3] साथ ही इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि "वकील और अध्यापक वस्तुतः अपनी वृत्ति के हितों के प्रतिनिधि की हैसियत से परिषदों में नहीं बैठते वरन् वे अपनी शिक्षा, तीक्ष्ण बुद्धि और वाक् शक्ति के कारण कृषकवर्ग का प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।[3] इस प्रकार उक्त दृष्टिकोण के अनुसार

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents. Vol. 1. page 285,

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २६१.

३. Hindustan Review, September 1906, page 276—दूसरा उद्धरण लन्दन के 'नेशन' से लिया गया है। और उक्त मासिक पत्र के पृष्ठ १७६ पर उद्धृत किया गया है।

भारत और पश्चिमी देशों में कोई अन्तर नहीं था। इसके अतिरिक्त किसी और दृष्टि से भी भारत और पश्चिमी देशों में और कोई ऐसा मौलिक अन्तर भी नहीं था जिसका तत्कालीन राजनीतिक प्रतिनिधित्व की समस्या पर प्रभाव हो। स्वयं पश्चिमी देशों में भूमि और अन्य कुछ हितों को बहुधा अपर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है; और धार्मिक अल्पसंख्यकों—जैसे यहूदियों और प्रोटेस्टेण्ट देशों में रोमन कैथोलिक मतावलम्बियों—को अपर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। और उन्हें कभी-कभी तो किसी भी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता। और इन में से किसी भी देश ने कभी भी वर्ग और सम्प्रदाय के आधार पर पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की पद्धति को नहीं अपनाया। किंतु भारत सरकार के निर्णयानुसार भारत की विशेष परिस्थितियों के लिए वर्ग और सम्प्रदाय के आधार पर विशेष निर्वाचन क्षेत्रों की आवश्यकता थी।

सन् १९०९ के एक्ट सम्बंधी विनियमों में तीन प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र बनाए थे:—(१) साधारण निर्वाचन क्षेत्र—इन में प्रान्तीय विधान परिषदों के अथवा नगरपालिका और ज़िला मंडलों के गैरसरकारी सदस्यों की गणना थी; (२) वर्ग निर्वाचन क्षेत्र—इन में (अ) ज़मींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों का तथा (ब) मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों की गणना थी, और (३) विशेष निर्वाचन क्षेत्र—इन में नगर-पालिका कार्पोरेशनों, विश्वविद्यालयों, वाणिज्य मंडलों तथा बन्दरगाह मंडलों की और रोपक तथा व्यापारिक हितों की गणना थी।

सम्राज्ञीय विधान परिषद् के २७ निर्वाचित सदस्यों का चुनाव इस प्रकार होना था:—(१) साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से १३ सदस्य (बंगाल, बम्बई मद्रास और यू. पी.—इन में से प्रत्येक प्रान्त से दो सदस्य, और पंजाब, बिहार तथा उड़ीसा, आसाम, बर्मा और मध्य प्रान्त—इन में से प्रत्येक प्रान्त से एक सदस्य, ये प्रतिनिधि प्रांतीय विधान परिषदों के गैरसरकारी सदस्यों द्वारा चुने जाने थे)[1]; (२) ज़मींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों से ६ सदस्य (बंगाल, बम्बई, मद्रास, यू. पी., बिहार तथा उड़ीसा, और मध्य प्रान्त—इन में से प्रत्येक प्रान्त से एक सदस्य)[2]; (३) पृथक् मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों से ६ सदस्य (बंगाल से दो[3] और

१. मध्य प्रान्त की विधान परिषद् १९१४ में बनी; उस से पहले नगरपालिका और ज़िला बोर्डों के ५० प्रतिनिधियों के निर्वाचन मंडल द्वारा सदस्य का चुनाव किया जाता था।

२. पंजाब के जमींदारों में से एक व्यक्ति को नाम निर्देशन द्वारा वाइसराय नियुक्त करता था।

३. इनमें से एक सदस्य को विशेष मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से चुना जाता था;

मद्रास, बम्बई बिहार तथा उड़ीसा, और यू. पी., इन में से प्रत्येक प्रान्त में से एक सदस्य)[1] (४) विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से दो सदस्य (एक बंगाल के वाणिज्य मंडल का प्रतिनिधि और एक बम्बई के वाणिज्य मंडल का प्रतिनिधि)।[2]

इसी प्रकार प्रान्तीय विधान परिषदों के सदस्य तीन प्रकार के (साधारण, वर्ग और विशेष) निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा चुने जाते थे। उदाहरण के लिए बम्बई की विधान परिषद को लीजिये। उस में निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या २१ थी और उनका चुनाव इस प्रकार होता था:--(१) साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से आठ सदस्य--प्रान्त के चार विभागों में से प्रत्येक से एक नगरपालिका मंडलों का प्रतिनिधि और एक ज़िला बोर्डों का प्रतिनिधि[3]; (२) ज़मींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों से तीन सदस्य--दक्षिण के सरदारों का एक प्रतिनिधि, गुजरात के सरदारों का एक प्रतिनिधि और सिंध जागीरदारों का तथा ज़मींदारों का एक प्रतिनिधि; (३) मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों से चार सदस्य--बम्बई नगर से एक, प्रान्त के दक्षिणी विभाग से एक, उत्तरी विभाग से एक और केन्द्रीय विभाग से एक; और (४) विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से छः सदस्य--बम्बई कार्पोरेशन का एक प्रतिनिधि, बम्बई विश्व विद्यालय का एक प्रतिनिधि, बम्बई तथा अहमदाबाद के मिल मालिकों के दो प्रतिनिधि और बम्बई तथा करांची के चैम्बर्स ऑव कॉमर्स (वाणिज्य मंडल, तथा भारतीय व्यापारी वर्ग के दो प्रतिनिधि।

विनियमों में (अ) निर्वाचन के अभ्यर्थियों और (ब) मतदाताओं के लिए अर्हतायें भी निश्चित की गई थीं। "ऐसे किसी व्यक्ति को निर्वाचन के लिए

दूसरे सदस्य को यथाक्रम बंगाल के मुस्लिम ज़मींदारों और बंगाल के मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से चुना जाता था।

१. पंजाब के लिए वाइसरॉय एक मुसलमान को नाम निर्देशित करता था।

२. ये वाणिज्य मंडल यूरोपीय थे, भारतीय वाणिज्य समुदाय के सदस्य का वाइसरॉय द्वारा नाम निर्देशन होता था।

३. प्रत्येक नगरपालिका और ज़िला बोर्ड के ग़ैरसरकारी सदस्य अपने क्षेत्र की जनसंख्या के अनुसार प्रत्येक विभाग अथवा कमिश्नरी के दो निर्वाचन मंडलों के लिए अपने प्रतिनिधि भेजते थे। प्रत्येक निर्वाचन मंडल, प्रान्तीय परिषद् के लिए एक सदस्य चुनता था। अन्य कुछ प्रान्तों में जैसे बंगाल में प्रतिनिधियों का चुनाव नगर पालिका बोर्ड अथवा ज़िला बोर्ड की आमदनी के अनुसार होता था। बम्बई में हर नगरपालिका बोर्ड को प्रति १०,००० आदमियों के लिए एक प्रतिनिधि और हर ज़िला बोर्ड को प्रति १ लाख आदमियों के लिए एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था। विभागीय निर्वाचन मंडल इन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होता था।

अभ्यर्थी होने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा........जो (१) ब्रिटिश प्रजाजन नहीं है, अथवा (२) सरकारी अधिकारी है, अथवा (३) स्त्री है, अथवा (४) विकृत मस्तिष्क है, अथवा (५) २१ वर्ष से कम आयु का है, अथवा (६) दिवालिया है, अथवा (७) सरकारी नौकरी से निकाल दिया गया है, अथवा (८) किसी दंड न्यायालय द्वारा, छै महीने से अधिक कारावास अथवा देशनिर्वासन के उपयुक्त अपराध के फलस्वरूप, दंडित है, अथवा अपने सद्व्यवहार के लिए ज़मानत से बंधा हुआ है, अथवा (९) वकालत करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है, अथवा (१०) कुख्याति और पूर्व चरित के कारण गवर्नर-जनरल द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से निर्वाचन के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया गया है।"[1] इन में से पिछली चार[2] अनर्हताओं की परिषद् गवर्नर-जनरल के आदेश द्वारा दूर किया जा सकता था। भारतवासियों ने इस विनियम की तीव्र आलोचना की क्योंकि उसके अनुसार पिछले (१९०५-१९०९) के आन्दोलन में भाग लेने वाले लोग परिषदों के चुनाव के लिए खड़े होने से वंचित कर दिए गए थे। इन सामान्य अर्हताओं के अतिरिक्त, वर्ग निर्वाचन क्षेत्रों के अभ्यर्थियों के लिए विशेष अर्हताएं निश्चित की गई थीं।

इसी प्रकार मतदाताओं की अर्हतायें निश्चित की गई थीं। उनके अनुसार स्त्रियों, अल्पवयस्कों और विकृत मस्तिष्क के व्यक्तियों को किसी भी निर्वाचन में वोट देने का अधिकार नहीं था। (अ) ज़मींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों और (ब) मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों के लिए पृथक् रूप से अर्हतायें निश्चित की गई थीं।

(अ) ज़मींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों की अर्हतायें सम्राज्ञीय तथा प्रान्तिय परिषदों के लिए, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिए[3] और विभिन्न प्रान्तों के

---

१. विनियम नं. ४—देखिये Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. 1, pages 350–1.

२. सन् १९१४ के बाद अनर्हता नं. (१) को भी स-परिषद गवर्नर-जनरल के आदेश से रद्द किया जा सकता है।

३. उदाहरण के लिए पूर्वी बंगाल की अर्हताओं को उद्धृत किया जाता है। "मताधिकार के लिए हिंदू ज़मींदार को ५०००) रु. मालगुज़ारी देने का नियम है लेकिन मुस्लिम ज़मींदारों को केवल ७५०) रु. मालगुज़ारी देने पर मताधिकार प्राप्त हो जाता है। हिंदू ज़मींदार को १२५० रु. उपकर देने पर मताधिकार मिलता है किंतु मुस्लिम ज़मींदार को केवल १८८ रु.उपकार देने की आवश्यकता है। अवैतनिक मजिस्ट्रेट अथवा आयकर देने वाले अथवा पेंशन पाने वाले मुसलमान को मताधिकार दिया गया है किंतु हिंदुओं के लिए ये अर्हताएं अपर्याप्त हैं। मुसलमानों के साथ यह पक्षपात एक ऐसे प्रान्त में है जहां वे

लिए विभिन्न थीं। सम्राज्ञीय परिषद् के लिए वही बड़े ज़मींदार वोट दे सकते थे जिन की आय[१] एक निश्चित रकम से अधिक थी अथवा जो एक निश्चित रकम से अधिक मालगुज़ारी देते थे[२] अथवा जिन्हें उच्च उपाधियां मिली हुई थीं[३] अथवा जिन्हें अवैतनिक यशस्कर पद[४] प्राप्त थे। इसी प्रकार प्रान्तीय परिषदों के लिए सम्राज्ञीय परिषदों की अपेक्षा कुछ नीची अर्हताएं निश्चित की गई थीं।

(ब) मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों की अर्हतायें भी सम्राज्ञीय तथा प्रान्तीय परिषदों के लिए और विभिन्न प्रान्तों के लिए विभिन्न थीं। उनमें से प्रत्येक का विवरण देना संभव नहीं किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रान्तीय परिषदों की अपेक्षा सम्राज्ञीय परिषद् के लिए मतदाताओं की संख्या कम थी और उन मतदाताओं की सूची में उन लोगों की गणना थी जो निश्चित रकम से अधिक मालगुज़ारी देते थे अथवा प्रान्तीय परिषदों के सदस्य थे अथवा भारतीय विश्वविद्यालयों के सभ्य थे अथवा निश्चित अवधि से पहले के स्नातक थे अथवा सरकारी पेंशन पाते थे।

वर्ग निर्वाचन क्षेत्रों के अभ्यर्थियों के लिए, अन्य अभ्यर्थियों की भांति, उपर्युक्त सामान्य अर्हताओं के अतिरिक्त, उनके वर्ग विशेष की अर्हतायें भी आवश्यक थीं।

इस विवरण को समाप्त करने से पहले कुछ अन्य बातों की ओर ध्यान दिलाना भी उपयुक्त होगा। स्वीकृत व्यवस्था में पहली बात तो यह थी कि परिषदों के सभी सदस्यों को अपना स्थान अंगीकार करने से पहले सम्राट् के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहन करनी पड़ती थी; दूसरी बात यह थी कि सदस्यों का कार्यकाल साधारणतया तीन वर्ष के लिए निश्चित था; तीसरी बात यह थी कि १९०९ के विनियमों में, भारत सरकार ने अपनी २४ अगस्त १९०७ की जाति और धर्म के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों की प्रस्तावित योजना को रूप नहीं दिया था; और अन्तिम बात यह थी कि १९०९ के एक्ट को व्यवहार में लाने के लिए जो विनियम बनाए गए थे वे लॉर्ड मिंटो के शब्दों में, "अत्यन्त जटिल और भ्रमपूर्ण थे।"[५]

बहुसंख्यक हैं।"—Macdonald : The Awakening of India, page 176.

१. मद्रास में यह रकम १५००० रुपए थी।

२. साधारणतया यह रकम १०००० रुपए थी।

३. बंगाल में जिन लोगों को राजा और नवाब की उपाधियाँ प्राप्त थीं उन्हें मताधिधिकार दिया गया था।

४. मध्यप्रान्त में अवैतनिक मजिस्ट्रेट भी वोट दे सकते थे।

५. Quoted in R. S. Iyengar's Indian Constitution, page 155.

कारण यह था कि लॉर्ड मिंटो के शब्दानुसार सरकार "सुधारों से लोक प्रतिनिधित्व को दूर रखने के लिए बहुत चिन्तित थी। मैंने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि सुधारों से उसकी झलक भी न मिले। हम किसी भी प्रकार की संसद के पक्ष में नहीं हैं; हम परिषद् बनाना चाहते हैं लेकिन उनके लिए हम संसद के ढंग पर चुनाव के पक्ष में नहीं हैं...... ।"[1]

इस प्रकार नई परिषदों को जानबूझ कर दोषपूर्ण बनाया गया था ताकि सदस्यता की दृष्टि से भी उनमें और ब्रिटिश संसद (पार्लियामेंट) में कोई सादृश्य न हो। किन्तु इस से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कारण एक और था। उसकी ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है और उसकी झलक २४ अगस्त १९०७ के सरकारी लेख में भी मिलती है।[2] वह कारण यह था कि "देशी आदमियों में परस्पर संतुलन बनाए रखने की नीति के" अनुसार, अंगरेज शासक, एकता की ओर प्रवृत्त भारतीय जनता को परस्पर असम्बद्ध विभागों में बांटना चाहते थे।

५

सन् १९०९ के भारतीय परिषद् एक्ट ने परिषदों के आकार और ग़ैरसरकारी सदस्यों की संख्या में ही विस्तार नहीं किया वरन् उसने भारत की विभिन्न सरकारों को परिषदों के कार्य-विस्तार के लिए नियम बनाने का अधिकार भी दिया। इन नियमों ने परिषदों को राजस्व संबंधी वक्तव्यों पर विचार करने का, उन पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने का और सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने, विचार करने और उन पर वोट लेने का अधिकार प्रदान किया।

सन् १९०९ के सुधारों से सार्वजनिक महत्त्व के, विशेषकर राजस्व संबंधी, विषयों पर विचार करने के अधिकारों की दिशा में विशेष प्रगति हुई। उदाहरण के लिए सम्राज्ञीय विधान परिषद् में अर्थ सदस्य द्वारा वित्तीय विवरण प्रस्तुत कर दिए जाने के बाद कोई भी सदस्य उस वक्तव्य पर अपने प्रस्ताव के लिए सूचना दे सकता था। यह प्रस्ताव उस वक्तव्य के किसी भी निम्नलिखित विषय के संबंध में प्रस्तुत किया जा सकता था—कर व्यवस्था में कोई परिवर्तन, कोई नया ऋण, अथवा स्थानीय सरकार के लिए कोई अतिरिक्त अनुदान। नियत तिथी को प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता था, उस पर विचार होता था और परिषद् उस पर अपना मत प्रकट करती थी। इस प्रकार के सब प्रस्तावों पर विचार करने के बाद प्रत्येक शीर्षक अथवा समूह पर पृथक् रूप से विचार करने की व्यवस्था थी। कोई भी सदस्य

---

१. R. S. Iyengar's Indian Constitution, पृष्ठ १५७.

२. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 262.

इन शीर्षकों पर प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकता था और परिषद् उन पर विचार करती थी और अपना मत प्रकट करती थी। इन शीर्षकों की चर्चा समाप्त करने के बाद, अर्थ मंत्री २४ मार्च अथवा उससे पहले किसी तिथी को बजट प्रस्तुत करता था। वित्तीय विवरण के आंकड़ों में यदि किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता था तो अर्थ सदस्य उस पर प्रकाश डालता था और साथ ही यह भी बताता था कि परिषद द्वारा स्वीकार किए हुए किसी प्रस्ताव को मान्यता क्यों नहीं दी गई।[१] तदुपरान्त कुल बजट पर सामान्य रूप से विचार करने के लिए एक दिन निश्चित किया जाता था लेकिन किसी सदस्य को उस पर किसी प्रकार का प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं था; उस समय बजट के सम्बन्ध में परिषद् का मत भी नहीं लिया जाता था।"[२] वित्तीय विषयों पर विचार करने के संबंध में सदस्यों के अधिकारों पर उपर्युक्त प्रतिबंधों के अतिरिक्त दो प्रतिबंध और थे। पहला प्रतिबंध तो यह था कि सरकारी आय[३] और व्यय[४], दोनों ही के कुछ शीर्षकों के संबंध में परिषद् को किसी प्रकार की चर्चा करने का अधिकार ही नहीं था; और दूसरा प्रतिबंध यह था कि परिषद् का अध्यक्ष किसी प्रस्ताव अथवा उसके किसी अंश को प्रस्तुत किए जाने से रोक सकता था। और उसे इस निषेध के लिये कारण बताने की आवश्यकता नहीं थी।[५]

नियमों के अनुसार सम्राज्ञीय विधान परिषद् को सार्वजनिक हित के सामान्य विषयों से संबंधित प्रस्तावों पर भी विचार करने का अधिकार था। इस अधिकार पर भी कुछ प्रतिबन्ध थे और अध्यक्ष किसी ऐसे प्रस्ताव को जो उसके मत से

---

१. Rule No 21 (1). R. S. Iyengar : Indian Constitution, page CCII.

२. Rule No. 22. (2) उपर्युक्त पुस्तक

३. आय के निम्नलिखित शीर्षकों पर विचार करने का अधिकार नहीं था:— मुद्रांक शुल्क, सीमा शुल्क, देशी राज्यों के उपहार, निर्धारित कर, सैन्य राजस्व, विशुद्ध रूप से प्रान्तीय राजस्व—R. S. Iyengar : Indian Constitution, page CCII.

४. व्यय के निम्नलिखित शीर्षकों पर विचार करने का अधिकार नहीं था:— क्षतिपूर्ति, ऋण पर व्याज, धर्म सम्बन्धी व्यय, राजनीतिक व्यय, प्रादेशिक और राजनीतिक पेंशन, राजकीय रेल मार्ग, सेना, जल सेना, सैन्य निर्माण, सुरक्षा, वैधानिक व्यय, विशुद्ध रूप से प्रान्तीय व्यय,—Iyangar Indian Constitution, page CCII.

५. Rule No. 8 *Ibid,* page CCI.

सार्वजनिक हित के प्रतिकूल हो, निषिद्ध कर सकता था। प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए साधारणतया १५ दिन पहले सूचना देना आवश्यक था। सूचना एक नियत प्रपत्र पर लिख कर देनी होती थी। संशोधनों को विवाद के समय में प्रस्तुत किया जा सकता था। परिषद् को प्रस्ताव और संशोधनों पर मत प्रकट करने का अधिकार था। परिषद् द्वारा स्वीकार किए हुए प्रस्ताव सरकार के लिए सिफा-रिश के ढंग पर होते थे और सरकार उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र थी।

नये विनियमों ने प्रश्न करने के अधिकार को भी विस्तृत किया—प्रश्न करने वाले सदस्य को उत्तर के स्पष्टीकरण के लिए अनुपूरक प्रश्न करने का अधिकार दिया गया। लेकिन अन्य सदस्यों को अनुपूरक प्रश्न करने का अधिकार नहीं दिया गया।

इसी प्रकार प्रस्ताव प्रस्तुत करने, अनुपूरक प्रश्न करने और आर्थिक वक्तव्य पर विचार करने के अधिकार प्रत्येक प्रान्तीय परिषद् के सदस्यों को भी प्रदान किए गये थे और इस संबंध में पृथक् रूप से विशेष नियम बनाए गए थे।

६

सन् १९०९ के भारतीय परिषद् एक्ट ने कार्यकारिणी परिषदों की रचना के संबंध में भी निर्देश किया। भारत सरकार ने १९०८ के अपने राजपत्र के अन्तिम भाग में यह विचार प्रकट किया था:—"अनुभव से हम संभवतः इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि बड़े प्रान्तों में उपगवर्नरों की शासन शक्ति बढ़ाने के लिए कार्यकारिणी परिषदों की स्थापना करना बाँछनीय है···और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों की सहायता के लिए उन प्रेसिडेन्सियों की वर्तमान कार्यकारिणी परिषदों का विस्तार करना आवश्यक है।"[1] लॉर्ड मॉर्ले ने इस प्रश्न को अधिक सुनिश्चित रूप दिया और इस सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट से सुनिश्चित अधिकार प्राप्त करने के लिए उस अवसर को उपयुक्त अनुभव किया। भारत मन्त्री की इच्छा यह थी कि बम्बई और मद्रास की कार्यकारिणी परिषदों में सदस्यों की संख्या को बढ़ा कर चार कर दिया जावे··और उन में कम से कम एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति की जावे।[2] इस संबंध में वे पार्लियामेंट से अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। भारतीय सदस्य की नियुक्ति के लिए व्यवहार द्वारा परंपरा डालने का विचार था; उसके लिए कोई वैधानिक व्यवस्था करने का उद्देश्य नहीं था। एक्ट (सन् १९०९) के विभाग २ (१) ने स-परिषद् भारत मंत्री को प्रेसिडेन्सियों के

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents. Vol. I, page 309.

२. Mukherjee : Indian Constitutional Documents. Vol. I. page 324.

गवर्नरों की परिषदों के लिए चार सदस्य नियुक्त करने का अधिकार प्रदान किया। लॉर्ड मॉर्ले के मतानुसार अन्य बड़े प्रान्तों के लिए भी कार्यकारिणी परिषदों की स्थापना करने की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने पार्लियामेंट से सभी उप-गवर्नरों के प्रान्तों के लिए, कार्यकारिणी परिषदों की स्थापना के निमित्त, एक सामान्य अधिकार की माँग की और इसी आशय की एक धारा को भारतीय परिषद् विधेयक में जोड़ दिया। इस विधेयक को लॉर्ड मॉर्ले ने लॉर्ड भवन में प्रस्तुत किया किन्तु प्रबल विरोध के कारण विधेयक को बीच ही में छोड़ देना पड़ा। कुछ समय बाद उसी विधेयक को संशोधित रूप से हाउस ऑव कॉमन्स में प्रस्तुत किया गया और इस बार उसे दोनों भवनों की स्वीकृति प्राप्त हो गई। इस प्रकार पार्लियामेंट ने स-परिषद गवर्नर-जनरल को भारत मंत्री की सहमति से बंगाल के लिए कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना करने का अधिकार प्रदान किया। इन सदस्यों की संख्या चार से अधिक नहीं हो सकती थी। अन्य प्रान्तों के लिए कार्यकारिणी परिषदों की स्थापना करने के संबंध में स-परिषद गवर्नर-जनरल को और कोई प्रत्यक्ष अधिकार प्रदान नहीं किया गया। केवल इतना ही नहीं वरन् पार्लियामेंट ने अन्य किसी कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना को रोकने के संबंध में अपने अधिकार को सुरक्षित रखा। भारत सरकार को, भारत मंत्री का अनुमोदन मिलने पर भी अन्य किसी प्रान्त के लिए कार्यपालिका परिषद् की स्थापना करने का अधिकार नहीं था। इस संबंध में एक्ट ने निम्नलिखित निर्देश दिया :—"स-परिषद् गवर्नर-जनरल को (बंगाल के विषय की भाँति), भारत मंत्री की सहमति से, उप-गवर्नरों के प्रांतों में उन (उप-गवर्नरों) की सहायता के लिए······उद्घोषणा द्वारा कार्यकारिणी परिषद् स्थापित करने का वैध अधिकार होगा। किन्तु यह आवश्यक है कि उद्घोषणा करने से पहले, उसका मसविदा अधिवेशन के समय पार्लियामेंट के प्रत्येक भवन के समक्ष, कम से कम साठ दिन तक रखा जावेगा। यदि इस अवधि के समाप्त होने से पहले, दोनों में से कोई भवन, उस मसविदे अथवा उसके किसी भाग के विरुद्ध, सम्राट् के समक्ष सम्बोधन प्रस्तुत करता है, तो उस (मसविदे) पर किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की जावेगी किन्तु नया मसविदा बनाने का अधिकार पहले की ही तरह बना रहेगा।"[१] दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह था कि एक्ट ने सरकार को अन्य कार्यकारिणी परिषदों की स्थापना करने का अधिकार तो दिया किन्तु साथ ही पार्लियामेंट के प्रत्येक भवन को उसे निषिद्ध करने का अधिकार भी दिया। उप-गवर्नरों की परिषदों के

१. Section 3 (2) of the Act. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I, पृष्ठ २४७.

सदस्यों की नियुक्ति, सम्राट् की स्वीकृति से गवर्नर-जनरल द्वारा की जानी थी।

७

सन् १९०९ के भारतीय परिषद् एक्ट में किसी मंत्रणा परिषद् की स्थापना के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। भारत सरकार ने अपने मौलिक प्रस्तावों में केन्द्र और प्रान्तों के लिए मंत्रणा परिषदों की स्थापना के विचार को विशेष महत्त्व दिया था। विधान परिषदों के अधिवेशन इतने कम होते थे कि "उन में विश्वस्त और आत्मीय रूप से परामर्श करना संभव नहीं था। साथ ही पद्धति की जटिलता के कारण अधिवेशन के लिए शीघ्रता से आयोजन करना भी संभव नहीं था।"[1] फलतः सम्राज्ञीय तथा प्रान्तीय मंत्रणा परिषदों की स्थापना के लिए प्रस्ताव किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार सम्राज्ञीय परिषद् में साठ सदस्य—विभिन्न प्रान्तों के चालीस बड़े ज़मींदार और बीस देशी नरेश—होने थे; सदस्यों का कार्यकाल पांच वर्ष होना था; और प्रस्तुत विषय पर परामर्श देने के अतिरिक्त परिषद् को कोई अधिकार नहीं दिया जाना था। प्रस्ताव में कहा गया कि "साधारणतया परिषद् की कार्यवाही गुप्त होगी और उस को प्रकाशित नहीं किया जावेगा..... किन्तु सरकार उचित समझने पर उसका उपयोग करने के लिए स्वतंत्र होगी।"[2] इसी प्रकार प्रान्तीय मंत्रणा परिषदें होंगी। हर प्रान्त की परिषद् में, सम्राज्ञीय मंत्रणा परिषद् के लिए उस प्रान्त के सदस्यों के अतिरिक्त "छोटे ज़मींदारों, उद्योग धंधों, वाणिज्य समुदाय, पूंजीपतियों और वृत्तिभूत् वर्गों[3] के प्रतिनिधिगण होंगे।

मंत्रणा परिषदों की स्थापना से संबंधित उपर्युक्त प्रस्ताव का भारतीय जनमत के नेताओं ने प्रबल विरोध किया। इन नेताओं ने प्रस्तावित मंत्रना परिषदों को केवल निरर्थक और छलपूर्ण[4] ही नहीं वरन कुटिलता युक्त भी बताया। उनको इस बात की आशंका थी कि ब्रिटिश जनमत को धोखा देने के लिए इन परिषदों का उपयोग किया जावेगा। "लाला लाजपत राय के देश निर्वासन जैसे सरकारी कृत्यों की समस्त शिक्षित वर्ग निन्दा कर रहे हैं। इन कृत्यों के संबंध में प्रस्तावित मंत्रणा परिषदों के समक्ष सरकारी प्रस्ताव रखे जावेंगे और सदस्यों को फुसला कर उन प्रस्तावों पर परिषद का अनुमोदन प्राप्त कर लिया जावेगा।" "तब सरकार उन

१. Section 3 (2) of the Act, Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 256.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २५८.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २५९.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २७३.

प्रस्तावों को प्रकाशित करेगी और इस प्रकार अनभिज्ञ किन्तु सहज-विश्वासी ब्रिटिश जनता को धोखे में डालने का तथा संसार की आंखों में धूल झोंकने का प्रयत्न करेगी"[१] किन्तु "यदि मंत्रणा परिषद् साहस से काम लेती है और निन्दा का प्रस्ताव पास करती है, तो अंग्रेज शासक बड़ी सरलता से अपने मन को समझा लेंगे और उस प्रस्ताव को प्रकाशित नहीं करेंगे।"[२]

देशी नरेशों तथा कुछ प्रान्तीय सरकारों ने भी मंत्रणा परिषदों की स्थापना के प्रस्ताव का विरोध किया। तत्कालीन मद्रास सरकार भी इस प्रस्ताव के प्रबल विरोध में थी। देशी शासकों के विरोध का मुख्य कारण यह था कि प्रस्तावित परिषदों में उनको और बड़े ज़मींदारों को एक ही श्रेणी में रखा जा रहा था। कुछ प्रान्तीय सरकारें भी देशी नरेशों के दृष्टिकोण से सहमत थीं। इस विरोध के कारण भारत सरकार ने अपनी मौलिक योजना को छोड़ दिया और अक्टूबर १९०८ के राजपत्र में अपने संशोधित प्रस्तावों को प्रस्तुत किया। इनमें तीन बातें उल्लेखनीय थीं:—(१) भारत सरकार ने एक छोटी (केन्द्रीय) परिषद् बनाने का विचार प्रकट किया; केवल देशी शासकगण ही इस परिषद् के सदस्य हो सकते थे; उनकी छांट वाइसरॉय द्वारा होनी थी; उनका कार्यकाल वाइसरॉय की सदिच्छा पर निर्भर था; और वाइसरॉय उनसे अपनी इच्छानुसार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से परामर्श कर सकता था[३]; (२) नई योजना में भारत सरकार ने ब्रिटिश भारत के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक पृथक् परिषद् बनाने के प्रस्ताव को कोई स्थान नहीं दिया और उसके विचार को उस समय के लिए स्थगित कर दिया; और (३) भारत सरकार ने उन प्रान्तों के लिये, जिनके अध्यक्ष इस पक्ष में हों, मंत्रणा परिषदों की स्थापना करने के लिए सिफारिश की। इनका आकार भारत सरकार द्वारा निश्चित होना था किन्तु इनके सदस्यों की छांट "मेधा शक्ति, व्यक्तिगत प्रभाव अथवा प्रतिनिधिपूर्ण स्थिति" के आधार पर संबंधित प्रान्तीय सरकार द्वारा होनी थी।[४]

भारत मंत्री ने इन प्रस्तावों को न तो पसन्द ही किया और न उनका समर्थन ही किया। उनके मत से, देशी शासकों की सम्राज्ञीय मंत्रणा परिषद् बनाने के संबंध में, उन नरेशों के सम्मिलन की दृष्टि से, व्यय, पूर्व-परंपरा, प्रवास व्यवस्था

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, page 273.
२. Hindustan Review, September 1907, page 285.
३. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 276.
४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २८१।

आदि की अनेक व्यवहारिक कठिनाइयां थीं[1] जिनको सरलता से दूर नहीं किया जा सकता था। "यदि परिषद् के सम्मेलन करने का उद्देश्य नहीं है तो वह (परिषद्) बिलकुल निरर्थक होगी।" प्रान्तीय मंत्रणा परिषदों के संबंध में लॉर्ड मॉर्ले का यह विचार था कि नई परिषदें—चाहे वे छोटी हों या बड़ी—निश्चित रूप से पुरानी विधान परिषदों के साथ प्रतिद्वन्द्वता करेंगी। "इसके अतिरिक्त यह संदेह भी किया जावेगा कि नई परिषदें, पुरानी परिषदों पर रोक लगाने के लिए बनाई गई हैं।"[2] लॉर्ड मॉर्ले के मतानुसार, भारत सरकार, महत्वपूर्ण नरेशों तथा विभिन्न स्थानों के, प्रमुख एवं प्रतिष्ठित पुरुषों के साथ, नियमबंधनों से मुक्त रह कर निजी रूप से परामर्श करने की वर्तमान परम्परा को विकसित करके, अपने सभी प्रस्तावित उद्देश्यों को पूर्ण कर सकती थी।

भारत मंत्री के विरोध के कारण भारत सरकार के प्रस्ताव का अन्त हो गया और इसका फल यह हुआ कि १९०९ के सुधारों में केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों के लिए मंत्रणा परिषदों की योजना को कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

१. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 311.

२. उर्युपक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१२.

युग ३

(सन् १९०९ से १९१९ तक)

सत्रहवाँ अध्याय

शासन तथा संविधान से संबंधित परिवर्तन

१

ब्रिटिश राज्याधीन भारत के इतिहास में सन् १९०९ से १९१९ तक का युग सब से छोटा है; किन्तु उसका महत्त्व उसके वर्षों की संख्या के आधार पर नहीं आंका जा सकता। वस्तुतः यह युग अत्यन्त महत्त्व की घटनाओं से परिपूर्ण है। इस युग में ब्रिटिश सम्राट ने—सम्राज्ञी और एक प्रमुख राज्यमन्त्री के साथ——भारत भूमि पर पहली बार पदार्पण किया; सम्राज्ञीय परिषदों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भारत को पहली बार बराबरी का स्थान दिया गया; उप-भारत-मन्त्री के पद पर पहली बार एक भारतवासी की नियुक्ति की गई; तथा पहली बार ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना लक्ष्य उत्तरदायी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करना बताया, और स्वायत्त स्वशासक प्रांतों के संघीय भारत का चित्र क्षितिज पर उठता हुआ दिखाई दिया। इसी समय में, जनता की इच्छाओं के अनुसार बंगाल के विभाजन में संशोधन हुआ; भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली के लिए स्थानान्तरित की गई और वहाँ एक नया सम्राज्ञीय नगर बसाने का निर्णय किया गया; और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में—राष्ट्रवादियों के नरम और उग्र पक्ष और साथ ही मुस्लिम लीग में—ऐक्य हुआ और राष्ट्र के नेताओं ने परस्पर मिलकर राजनीतिक प्रगति के लिए एक सर्वमान्य योजना बनाई। इसी दशाब्दी में, ब्रिटिश राज्य को बल द्वारा उखाड़ फेंकने के लिए सन सत्तावन के बाद सब से बड़ा षड्यन्त्र रचा गया; होम रूल (स्वशासन) प्राप्त करने के लिए और अयुक्त विधियों को कार्यान्वित होने से रोकने के लिए एक बहुत बड़ा संगठित आंदोलन किया गया; सिक्खों के तीर्थस्थान में एक ब्रिटिश जनरल की आज्ञानुसार जलियांवाला बाग़ का भीषण हत्याकांड हुआ; पंजाब में मार्शल-लॉ (फ़ौजी कानून) की घोषणा की गई और शासन का काम फ़ौजी अधिकारियों को सौंप दिया गया और दमन की अत्यन्त कठोर तथा अत्यन्त व्यापक नीति अपनाई गई। सन् १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध का भारत पर भी प्रभाव पड़ा और देश को धन और जन की बहुत बड़ी बलि देनी पड़ी; इसी समय इन्फ्लुऐंज़ा का भीषण प्रकोप हुआ और लोगों के कष्ट कई गुने बढ़ गए। इस महामारी के कारण कुछ ही सप्ताहों में दसियों लाख आदमी मर गये। इन मरने वालों की संख्या विभिन्न आंकड़ों के अनुसार साठ लाख से एक करोड़ तक थी। इन बातों के अतिरिक्त प्रशासनीय एवं संविधानीय महत्त्व के कितने

ही परिवर्तन हुए—निष्केन्द्रीकरण की नीति का विकास हुआ; सन् १९११ में भारतीय उच्च-न्यायालय एक्ट बना; सन् १९१२ में भारतीय शासन एक्ट बना; लोक-सेवा आयोग की नियुक्ति हुई और उसकी रिपोर्ट सामने आई; मि. मांटेग्यु और ब्रिटिश शिष्टमंडल के अन्य सदस्य भारत आये; सन् १९१८ में भारत के वैधानिक सुधारों पर रिपोर्ट प्रकाशित हुई और सन् १९१५, १९१६ तथा १९१९ में भारतीय शासन एक्ट बनाए गए।

२

भारतीय निष्केन्द्रीकरण कमीशन ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट फ़रवरी १९०९ में प्रस्तुत की। इस कमीशन के अध्यक्ष मि. हॉब हाउस थे जो बाद में सर चार्ल्स के नाम से प्रसिद्ध हुये। इस रिपोर्ट ने एक ओर तो भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकारों के पारस्परिक संबंध की ओर दूसरी ओर प्रांतीय सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों के पारस्परिक संबंध की समस्या पर विचार प्रकट किए और शासन में सरलता लाने के उद्देश्य से[१] उच्चतर अधिकारियों के नियन्त्रण को कम करने के लिये कितनी ही सिफ़ारिशें की। कमीशन की मुख्य सिफारिशों को तीन शीर्षकों में बांटा जा सकता है:—(१) वे सिफारिशें जिनका प्रान्तीय सरकारों के संविधानों से सम्बन्ध था और जिनमें कमिश्नरी तथा ज़िलों के अफ़सरों को अधिकार सौंपने के लिए कहा गया था; (२) वे सिफ़ारिशें जिनका वित्तीय विक्षेपण से संबंध था; और (३) वे सिफ़ारिशें जिनमें स्थानीय स्वशासन का क्षेत्र विस्तृत करने के लिए कहा गया था।

प्रांतीय सरकारों के संविधान के संबंध में कमीशन का यह मत था कि सब बड़े प्रांतों में "मद्रास और बम्बई की ही भाँति परिषद् व्यवस्था की जावे और गवर्नरों की नियुक्ति—अनिवार्य रूप से नहीं किन्तु साधारणतया—गृह-सरकार द्वारा की जावे। हमारे विचार से परिषद्-सरकारों में गवर्नर के अतिरिक्त कम से कम चार सदस्य और होने चाहिएं।··· इस विस्तार के कारण विशिष्ट योग्यता के भारतवासियों की नियुक्ति करना भी संभव होगा।"[२] किन्तु लॉर्ड मॉर्ले (और दस वर्ष बाद मि. मांटेग्यु भी) आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे कि गवर्नरों के पदों पर सिविल सर्विस के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए सिफ़ारिश की जावे। ऐसा करने पर सिविल सर्विस के सदस्यों में रोष फैलने का डर था, ये लोग इन उच्च पदों पर पहुँचने के लिए आँखें लगाए रहते थे। कमीशन

१. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 3.

२. Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol I, page 724.

न वित्तीय कमिश्नरों के पदों को और राजस्व मंडलों को तोड़ने की तथा कलक्टरों और कमिश्नरों के अधिकारों को बढ़ाने की सिफ़ारिश की। कमीशन ने प्रशा की ज़िला कमेटियों के ढंग पर ज़िला मंत्रणा परिषदों की स्थापना के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इस प्रस्ताव को श्री रमेशचन्द्र दत्त और श्री गोखले ने प्रस्तुत किया था।

कमीशन ने साधारणतया प्रान्तों की १९०४ की अर्ध-स्थायी वित्तीय बन्दोबस्त की व्यवस्था का अनुमोदन किया। उसके संबंध में कमीशन ने कुछ संशोधनों और परिवर्तनों के लिए अपने सुझाव भी दिए। इनमें से अधिकांश सुझावों को सरकार ने स्वीकार किया और १८ मई १९१२ के प्रान्तीय वित्त संबंधी अपने प्रस्ताव में उनको रूप दिया।

भारत सरकार प्रान्तीय सरकारों के साथ अपने वित्तीय संबंधों में, यथासंभव स्थिरता लाने के लिए उत्सुक थी किन्तु प्रान्तीय बन्दोबस्त को स्थायी घोषित करने से पहले उसने कुछ कथित विषमताओं का और निष्केन्द्रीकरण कमीशन के सुझावों का परीक्षण करना आवश्यक समझा। भारत सरकार, विभिन्न प्रान्तों के साथ विषम व्यवहार संबंधी आक्षेप को मानने के लिए तैयार नहीं थी। उसका कहना यह था कि "प्रथम तो इस आक्षेप के अस्तित्व के विषय में ही सन्देह है——और यदि उसका कोई अस्तित्व है भी, तो वह केवल ऐतिहासिक है।" "पच्चीस वर्षों के सौदे के फलस्वरूप एक ऐसी समता स्थापित हो गई है कि उसे कागजी लिखा पढ़ी से दूर नहीं किया जा सकता।" इस बात का डा० ज्ञानचन्द ने सफलतापूर्वक प्रत्युत्तर दिया है। उनके अनुसार "सन् १९११ के बन्दोबस्त में किसी प्रकार का भी साम्य नहीं था।" अस्तु, भारत सरकार की धारणा के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में साम्य था और उसने कुछ अन्य त्रुटियों को दूर करने के बाद प्रान्तों के बन्दोबस्त को स्थायी कर दिया। पहली बात तो यह थी कि कुछ प्रान्तों में निश्चित अनुदान की रकम बहुत बढ़ गई थी। भारत सरकार ने निष्केन्द्रीकरण कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार प्रान्तों के बन्दोबस्त को दोहराया और राजस्व की कुछ मदों को पूर्णतः अथवा अंशतः प्रान्तीय शीर्षक में सम्मिलित कर दिया——इस प्रकार जंगलों की पूरी आमदनी प्रान्तों को दे दी गई; बम्बई को प्रान्तीय आबकारी की पूरी आमदनी पर अधिकार दिया गया और मध्य प्रान्त तथा यू.पी. को आबकारी की तीन चौथाई आमदनी पर अधिकार दिया गया; पंजाब को आधी मालगुज़ारी पर अधिकार दिया गया और बर्मा को ५/८ भाग पर; और सिंचाई की प्रमुख योजनाओं में पंजाब का साझा बढ़ाकर पचास प्रतिशत कर दिया गया। निश्चित अनुदानों को इसी अनुपात में घटा दिया गया।

दूसरी बात यह थी कि निष्केन्द्रीकरण कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार

सम्राज्ञीय निधि से प्रान्तों को बड़े अनुदान देने की नीति को भी दोहराया गया। पुरानी नीति में केन्द्रीय हस्तक्षेप अधिक था, अनुचित वितरण होता था और कम आवश्यक कामों में धन का उपयोग होता था। इस पृष्ठ भूमि में कमीशन ने अनुदान देने के संबंध में तीन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने की सिफ़ारिश की। (१) प्रान्तीय सरकारों की इच्छाओं का ध्यान रखा जावे; (२) ये अनुदान विविध प्रान्तों में विभिन्न कार्यों के लिए हो सकते हैं; (३) उनके कारण केन्द्रीय हस्तक्षेप अधिक नहीं होना चाहिए। भारत सरकार ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया और अनुदान संबंधी नए नियमों में उनको रूप दिया।

तीसरी बात यह थी कि भारत सरकार ने प्रान्तों के बजट के नियंत्रण के संबंध में निष्केन्द्रीकरण कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार नए नियम बनाए। भविष्य में, विभाजित शीर्षकों पर और राजस्व तथा व्यय की समची रकमों पर ही नियंत्रण किया जा सकता था। प्रान्तीय सरकारों को (केन्द्रीय सरकार के आधीन) अपने आकलन अवशेष में से नियत परिमाण से अधिक धन लेने का अधिकार दिया गया। कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रान्तीय सरकारें घाटे का बजट भी बना सकतीं थीं। किन्तु भारत सरकार की दृष्टि में स्वतन्त्र रूप से कर लगाने का अधिकार अथवा द्रव्य बाजार से प्रान्तीय ऋण उगाहने का अधिकार अव्यवहार्थ था।

वित्तीय बन्दोबस्त स्थायी करने से पहले, भारत सरकार ने १९१२ के प्रस्ताव द्वारा उपर्युक्त परिवर्तन किए। किन्तु इनका कोई बहुत बड़ा महत्त्व नहीं था। अधिकांश दोष अब भी यथावत थे। विभाजित शीर्षकों की और केन्द्रीय वितरण की पुरानी व्यवस्था बनी रही; प्रान्तीय व्यय का असाम्य दूर नहीं हुआ; कर लगाने और ऋण उगाहने के स्वतंत्र अधिकार प्रान्तों को अब भी नहीं मिले। तथापि १९१२ के प्रस्ताव ने प्रान्तों के साथ वित्तीय बन्दोबस्त को स्थायी कर दिया।

३

भारतीय निष्केन्द्रीकरण कमीशन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिफ़ारिशें, भारत में स्थानीय स्वशासन के विस्तार से संबंधित थीं। सन् १८८२ के प्रस्ताव के अनुसार स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था का पुनर्संगठन और विस्तार करने के लिए प्रान्तों में नगरपालिका तथा स्थानीय स्वशासन एक्ट बनाए गए थे। किन्तु उनके फलस्वरूप अगले २५ वर्षों में नगरपालिका तथा ग्राम्य मंडलों में जो प्रगति हुई थी वह निराशाजनक थी। इस अत्यल्प प्रगति के तीन मुख्य कारण थे। पहली बात तो यह थी कि 'स्थानीय आय बहुत थोड़ी थी और उस आय की मदें लचीली नहीं थीं।'[1]

---

१. सन् १९११-१२ में भारतीय नगरपालिकाओं की आय और उनकी मुख्य मदें इस प्रकार थीं:—ज़मीन और मकानों पर टैक्स १०,५६,०३० पौंड; चुंगी ९,१५,१०१ पौंड; पानी ५,२६,१२७ पौंड; अन्य टैक्स ८,५९,१९२

दूसरी बात यह थी कि स्थानीय मामलों में न तो लोगों के अनुराग में ही कोई विशेष वृद्धि हुई थी और न उन स्थानीय विषयों की व्यवस्था करने के लिए लोगों की सामर्थ्य में ही वृद्धि हुई थी।[1] तीसरी बात यह थी कि इन स्थानीय संस्थाओं पर सरकार का अत्यधिक नियंत्रण था।[2]

भारतीय निष्केन्द्रीकरण कमीशन ने इन दोषों को—यदि पूरी तरह नहीं तो कम से कम बहुत हद तक—दूर करने के लिए कितने ही सुझाव दिए। किन्तु दुर्भाग्य से भारत सरकार ने उन पर विचार और निर्णय करने में बहुत समय लगाया। फल यह हुआ कि सन् १९१५ में सरकारी नीति निश्चित होने के समय तक प्रस्ताव पुराने और असंगत हो गए। कुछ ही समय बाद राजनीतिक सुधारों का प्रश्न उठाया गया और यह निश्चय किया गया कि स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में सबसे पहला और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ज्यादा से ज्यादा बड़ा कदम आगे बढ़ाया जावे। अतः भारत सरकार ने सन् १९१५ के अपने

पौंड; सरकारी अनुदान ५,९९,८५२ पौंड उसी वर्ष व्यय की मुख्य मदें इस प्रकार थीं:—सड़कें ४८९१९३ पौंड; अस्पताल आदि २६९३०१ पौंड; शिक्षा २३८४८७ पौंड; सार्वजनिक स्थानों और सड़कों पर रोशनी २३५४७७ पौंड।

ग्राम्य मंडलों की आय की मदें और भी संकुचित थी। उनकी आय की सबसे बड़ी मद भूमि संबंधी उपकर है....यह उपकर ज़मीन के वार्षिक मूल्य के सोलहवें भाग से अधिक नहीं होता। सरकार पूरक अनुदान द्वारा सहायता करती हैं। यह अनुदान उपर्युक्त आय का २५ प्रतिशत होता है। विशेष कामों के लिए सरकार विशेष अनुदान भी देती है। सन् १९११-१२ में २० करोड़ से अधिक लोगों पर ग्राम्य मंडलों का कुल व्यय ३३०२६७० पौंड था।—देखिये—Material and Moral Progress Report 1911-12 pages 117 to 119.

१. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 6.

२. अधिकांश नगरपालिकाओं के अध्यक्ष अब भी सरकारी अधिकारी थे। सन् १९१५ में ६९५ अध्यक्षों में से केवल २२८ निर्वाचित ग़ैर सरकारी व्यक्ति थे, ५१ नाम निर्देशित ग़ैर सरकारी व्यक्ति थे, अन्य ४२२ सरकारी अधिकारी थे। लगभग सभी प्रान्तों में जिला मंडलों के अध्यक्ष जिलों के कलक्टर थे।

प्रस्ताव को दोहराया और संशोधित योजना को १४ मई १९१८ के नए प्रस्ताव में रूप दिया।

सरकार ने अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया "कि स्थानीय संस्थाएं ज्यादा से ज्यादा प्रतिनिधिपूर्ण होनी चाहिए.....उनको वास्तविक अधिकार प्राप्त होने चाहियें—उन पर अनावश्यक नियंत्रण नहीं होना चाहिये और उनको अनुभव द्वारा कार्य-संचालन सीखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये......।[1] इस उद्देश्य के निमित्त १९१८ के प्रस्ताव में निम्नलिखित सुझाव दिए गए:—

पहला सुझाव तो यह था कि नगरपालिका मंडलों में तथा ग्राम्य मंडलों में निर्वाचित सदस्यों का काफ़ी बड़ा बहुमत होना चाहिए। साधारणतया तीन चौथाई सदस्य चुने हुए होने चाहियें; अल्पसंख्यकों को विशेष प्रतिनिधित्व देने के लिए—" साम्प्रदायिक अथवा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था अपनाने के स्थान पर नाम निर्देशन का उपयोग किया जाना चाहिए;[2] और वोट देने की अर्हताओं को काफ़ी घटा देना चाहिए। केवल विशिष्ट मंत्रणा देने के उद्देश्य से कुछ सरकारी अधिकारियों का नाम निर्देशन किया जाना चाहिए किन्तु उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए।

दूसरा सुझाव यह था कि नगरपालिका मंडलों के अध्यक्ष साधारणतया गैर-सरकारी, निर्वाचित व्यक्ति होने चाहिए। यदि कोई मंडल, सरकारी अधिकारी

सरकारी नियंत्रण के लिए यत्नपूर्वक व्यवस्था की गई थी—विशेषकर वित्त और नियुक्तियों के सम्बन्ध में। चुंगी के बजट के लिए और टैक्स व्यवस्था में परिवर्तन के लिए कमिश्नर अथवा प्रान्तीय सरकार की अनुमति की आवश्यकता होती थी। प्रान्तीय सरकारों को अध्यक्ष को पद-च्युत करने अथवा मंडल को निलंबित करने का अधिकार था। कमिश्नर अथवा कलक्टर ऐसे किसी भी प्रस्ताव को जिससे शान्ति भंग होने का डर हो, निषिद्ध कर सकते थे। कलक्टर को निरीक्षण के विस्तृत अधिकार दिए गए थे।

ग्राम्य मंडलों के नियंत्रण के लिए और भी कठोर व्यवस्था थी किन्तु वह थी चुंगियों के ही ढंग पर।

निष्केन्द्रीकरण कमीशन के मतानुसार स्थानीय संस्थाओं पर भीतर और बाहर से सरकारी नियंत्रण अत्यधिक था।

१. Para. 4 of the Resolution, Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 699.

२. Para 5 of the Resolution उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७००

को चुनना चाहता हो तो गैरसरकारी व्यक्तियों का स्पष्ट बहुमत उसके पक्ष में होना चाहिए। बड़े शहरों में, अध्यक्ष के अतिरिक्त, सरकार के अनुमोदन से मंडल द्वारा नियुक्त एक एग्ज़ीक्यूटिव अफ़सर भी होना चाहिए। ज़िला मंडलों के संबंध में प्रस्ताव ने प्रान्तीय सरकारों पर इस बात के लिए ज़ोर दिया कि उनके अध्यक्ष, यथासंभव निर्वाचित व्यक्ति हों। यदि यह संभव न हो तो गैरसरकारी अध्यक्षों की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया जाए और ऐसी दशा में विशेष एग्ज़ीक्यूटिव अफ़सरों की नियुक्ति भी की जाए। यदि कोई ज़िला मंडल इस नियुक्ति के व्यय को बचाना चाहता हो तो उसके लिए यह आवश्यक था कि वह गैरसरकारी बहुमत से सरकारी अफ़सर को अध्यक्ष-पद के लिए निर्वाचित करे।

प्रस्ताव ने तीसरी बात यह की कि उसने मंडलों के कर लगाने के अधिकार को थोड़ा-सा बढ़ा दिया—अब ये मंडल, कानून द्वारा निश्चित सीमाओं के अंदर विभिन्न टैक्सों और उपकरों को घटा-बढ़ा सकते थे। किन्तु ऋणग्रस्त नगरपालिकाओं के लिए, स्थानीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था।

विचाराधीन प्रस्ताव की चौथी बात यह थी कि उसने निष्केन्द्रीकरण कमीशन के इस सुझाव को स्वीकार किया कि यदि किसी नगरपालिका अथवा ग्राम्य मंडल को किसी सेवा के लिए व्यय करना पड़ता हो तो उस सेवा पर उसका नियंत्रण होना चाहिए। यदि किसी सेवा पर सरकारी नियंत्रण रखना आवश्यक हो तो वह सेवा प्रान्तीय सरकार के आधीन होनी चाहिए।[1]

कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार, प्रस्ताव ने पाँचवी बात यह की कि उसने मंडलों को बजट बनाने की स्वतन्त्रता दे दी। "उन पर केवल यही नियंत्रण होना चाहिए.......कि वे प्रान्तीय सरकार द्वारा निश्चित, आकलन अवशेष के न्यूनतम परिमाण को बनाए रखें। इसके अतिरिक्त स्थानीय सरकारों को दोषी नगरपालिकाओं को कर्तव्य-पालन के लिए विवश करने का और ऋण के संबंध में नियंत्रण करने का अधिकार होना चाहिए।"[2] प्रस्ताव के अनुसार कुछ और बातों में भी नियंत्रण की कमी हुई—जैसे विशेष कामों के लिए स्थानीय राजस्व के उपयोग के संबंध में, विशेष अनुदानों के संबंध में, सार्वजनिक निर्माण संबंधी व्यय के विषय में और स्थानीय प्रबन्ध के विषय में। किन्तु उनके निरीक्षण और नियंत्रण के संबंध में कमिश्नरों और

१. Para 12 of the Resolution, Mukherjee: Indian Constitutional Documents, Vol. I, page 707.

२. Para 13, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७०७-८.

कलक्टरों के सामान्य अधिकारों को यथावत् बनाए रखा गया। प्रस्ताव ने प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन विभाग बनाने के लिए भी सिफ़ारिश की।

अन्त में, निष्केन्द्रीकरण कमीशन के सुझावों के अनुसार, प्रस्ताव ने ग्राम्य पंचायतों की स्थापना के विचार का भी समर्थन किया····उसका उद्देश्य गाँवों में सामूहिक जीवन को विकसित करना था। इन पंचायतों का संगठन, ज़िला अधिकारियों की देखरेख में होना था और उनको प्रशासनीय एवं न्यायिक—दोनों ही तरह के—काम सौंपे जाने थे। इन पंचायतों को बनाने के लिए, नियम बंधनों से स्वतंत्र रूप में, चुनाव होना था। प्रस्ताव के अनुसार पंचायत के सदस्य अपना अध्यक्ष चुन सकते थे और यह आवश्यक नहीं था कि वह अध्यक्ष गाँव का मुखिया ही हो। उन पंचायतों को अपना व्यय चलाने के लिए भूमि-उपकार का कुछ भाग मिलना था और इसके अतिरिक्त उन्हें विशेष कामों के लिये विशेष टैक्स लगाने का, अधिकार भी मिल सकता था। इन पंचायतों को गाँवों की सफ़ाई और शिक्षा का प्रबन्ध करना था और (निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत) छोटे-छोटे दीवानी और फ़ौजदारी अभियोगों का निर्णय करना था।

सन् १९१९ के सुधारों के बाद विभिन्न प्रान्तों में उपर्युक्त सुझावों की दिशा में विधान बनाए गए; नई प्रान्तीय विधायिका-सभाओं ने अपने अस्तित्व में आने के तीन वर्ष के भीतर ही स्थानीय स्वशासन ऐक्टों को बनाकर अपनी स्वीकृति दे दी।

४.

सन् १९०९ और १९१९ के बीच, बहुत से प्रशासनीय परिवर्तन भी हुए; इनमें से सबसे ज्यादा महत्त्व के परिवर्तनों को स्वयं सम्राट् ने १२ दिसम्बर १९११ को दिल्ली दरबार में घोषित किया।

सन् १९०१ में लॉर्ड कर्ज़न ने सबसे पहली बार यह विचार प्रकट किया था कि सम्राट् भारत आकर राज्याभिषेक संबंधी दरबार करें। किन्तु १९१० में[1] लॉर्ड भवन में लॉर्ड मॉर्ले के एक व्याख्यान से यह विदित होता है "कि दरबार करने का विचार स्वयं सम्राट् का था। कुछ लोगों ने,जो इस योग्य थे, दरबार न करने के पक्ष में परामर्श दिया; लेकिन सम्राट् ने अपने विचार में परिवर्तन नहीं किया।"[2]

सम्राट् के भारत आने का और१९११में दिल्ली-दरबार करने का मुख्य उद्देश्य

१. मई १९१० में एडवर्ड सप्तम का देहान्त हो गया था। नवम्बर १९१० में लॉर्ड हार्डिंज, लॉर्ड मिण्टो के स्थान पर भारत के वाइसराय हो गए थे।

२. Speech of Lord Morley published as an Appendix to Speeches of Lord Hardinge, Vol. I, page 445. Ganesh and Co., Madras.

साम्राज्यीय संबंध को दृढ़ करना था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात को अनुभव कर रहे थे कि पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं के कारण बहुत-से भारतवासियों की सद्भावनाएँ लुप्त हो गई थीं और राजभक्ति की भावनाएँ अत्यन्त कम हो गई थीं और ब्रिटिश सदुद्देश्यों के प्रति विश्वास जमाने के लिए और राजभक्ति की भावनाओं को फिर से जगाने के लिए ब्रिटिश सद्भावनाओं के महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन की आवश्यकता थी। इस पृष्ठभूमि में, उक्त उद्देश्य के लिए, इससे बढ़ कर कोई बात नहीं हो सकती थी कि ब्रिटेन के नये राजा और रानी का मुग़ल साम्राज्य और हिन्दू नरेशों की राजधानी दिल्ली में, भारत के सम्राट् और सम्राज्ञी के नाते से राज्याभिषेक किया जाय, और सम्राट् (भारत के विगतकालीन सम्राटों की तरह) लोगों की शिकायतों को दूर करें और उन पर अनुग्रह करें; और भारतीय जनता तथा देशी शासकों की भेंट को स्वयं स्वीकार करें। अतः १२ दिसम्बर १९११ को दिल्ली में—सन् १९०३ के दरबार की अपेक्षा कहीं अधिक वैभवपूर्ण—दरबार करने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त उस अवसर पर भारतवासियों की सद्भावना और राजभक्ति को फिर से प्राप्त करने के लिए कुछ घोषणाएँ करने का भी निश्चय किया गया।

दिल्ली-दरबार में सम्राट् की तीसरी तथा अन्तिम घोषणा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इस घोषणा के स्मरणीय शब्द इस प्रकार हैं:—"भारत सरकार की राजधानी कलकत्ता से, भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली को स्थानान्तरित की जायगी और उसके साथ ही उस परिवर्तन के फलस्वरूप यथासंभव शीघ्रता से बंगाल को गवर्नर की प्रेसीडेन्सी बनाया जायगा; बिहार, छोटा नागपुर तथा उड़ीसा को स-परिषद उप-गवर्नर का प्रान्त बनाया जायगा और आसाम को चीफ़ कमिश्नर का प्रान्त बनाया जायगा; और इस संबंध में आवश्यक प्रशासनीय परिवर्तन किए जायँगे। तथा प्रान्तीय सीमाओं को फिर से निश्चित किया जायगा।"[१]

बहुत-से लोग इन परिवर्तनों के विपक्ष में थे और यदि उनका पहले से पता होता तो उन पर तीक्ष्ण और उग्र विवाद हुआ होता। स्वयं सम्राट् द्वारा घोषणा करने के कारण इन परिवर्तनों के साथ कुछ श्रद्धा की भावना जुड़ गई थी, तथापि इंगलैंड और भारत, दोनों ही स्थानों में, उनकी तीव्र आलोचना की गई।

भारत सरकार ने २५ अगस्त १९११ के अपने राजपत्र में इन परिवर्तनों का उपक्रमण किया था। उस राजपत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रस्तावों को प्रान्तीय स्वाधीनता के हित में प्रस्तुत किया गया था। "वर्तमान जटिल स्थिति

१. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Vol. I, page XLIV.

को सुलझाने का संभवतः यही उपाय है कि प्रान्तों को धीरे-धीरे अधिकाधिक स्व-शासन का अधिकार दिया जाय। इस प्रकार अन्त में भारत में बहुत-सी सरकारें बन जायेंगी जो सारे प्रान्तीय विषयों में स्वाधीन होंगी। इन सबके ऊपर भारत-सरकार होगी जिसे कुशासन की दशा में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा, और जिसका कार्यक्षेत्र साधारणतया साम्राज्यीय विषयों तक ही सीमित होगा। इस उद्देश्य के लिए यह आवश्यक है कि सर्वोच्च सरकार किसी प्रांत-विशेष की सरकार से जुड़ी हुई नहीं होनी चाहिए।"[१] किन्तु भारत मंत्री तथा भारत सरकार के वित्त-सदस्य ने राजपत्र के उक्त वाक्यों के संबंध में भारतवासियों की स्पष्ट व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। लॉर्ड क्रिउवे के अनुसार, भारत को औपनिवेशिक ढंग पर स्वशासन कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता था। "इस दिशा में भारत का कोई भविष्य दिखाई नहीं देता।"[२] लॉर्ड हार्डिंज के वित्त मंत्री सर विलियम मेअर से जब श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १९११ के राजपत्र की नीति के अनुसार प्रान्तों को वित्तीय स्वाधीनता प्रदान करने के लिए आग्रह किया तो उन्होंने श्री बनर्जी को "अधीर आदर्शवादी बताया।"

इन बातों से, और साथ ही निष्केन्द्रीकरण कमीशन के साधारण प्रस्तावों को स्वीकार करने में भी भारत सरकार के संकोच से, यह परिणाम निकलता है कि "प्रान्तीय स्वाधीनता" के उद्देश्य का—कम से कम भारत मंत्री और वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की विचारधारा में—कोई विशेष महत्व नहीं था।[३]

इस सम्बन्ध में एक कारण और बताया गया है जो ज्यादा सही मालूम देता है—इंग्लैण्ड की लिबरल पार्टी आरम्भ से ही बंगाल विभाजन के विरोध में थी और लॉर्ड मॉर्ले के वास्तविक विचार वही थे जो उन्होंने पद ग्रहण करने से कुछ समय पहले प्रकट किए थे। उन्होंने भारत मंत्री बनने के बाद, २६ फर्वरी १९०६ के अपने व्याख्यान में, अपने विचारों को फिर प्रकट किया। मि० मॉर्ले ने (जो उस समय तक लॉर्ड नहीं बने थे) कहा कि "अब बंगाल का विभाजन एक निश्चित एवं वास्तविक तथ्य है किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि यह काम अधिकांश

---

१. Para 3 of the Despatch, Mukherjee : Indian Constitutional Documents, vol. I, page 454.

२. Lovell : History of Indian Nationalism, page 89. Extract from the speech of 24th June 1912 in the House of Lords.

३. Bannerjee : A Nation in the Making, page 300.

संबंधित लोगों की इच्छाओं के पूर्ण विरोध में हुआ है।"[१] लॉर्ड मॉर्ले ने फ़र्वरी १९१२ में लॉर्ड भवन में इस बात को फिर स्वीकार किया कि उस समय "विभाजन को तुरन्त रद्द करने के लिए कोई कदम न उठानेके कारण, मेरे कितने ही मित्र कई महीनों तक मुझ से नाराज रहे थे।"[२] किन्तु मि० मॉर्ले की दृष्टि में विभाजन को तुरन्त रद्द करना अनीतियुक्त था। वे सिविल सर्विस के सदस्यों के साथ उलझना नहीं चाहते थे; उन्हें सुधारों के सम्बन्ध में इन लोगों से काम लेना था। इसके अतिरिक्त उस समय विभाजन रद्द करने का लोगों पर यह प्रभाव होता कि लिबरल सरकार, पिछली ब्रिटिश सरकार की भारत सम्बन्धी सारी नीति, बदलना चाहती है। लॉर्ड मॉर्ले ने कहा, "उस समय चुप रहने का एक कारण और था··· उस नीति के परिणामों पर अपना मत निश्चित करने के लिए हमें पर्याप्त समय नहीं मिलता था।"[३] अन्तिम बात यह थी कि "दिसम्बर १९०६ में विभाजन रद्द करने का यह अर्थ लगाया जाता कि सरकार कोलाहल के आगे झुक गई।"[४]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लिबरल सरकार सन् १९०६ में पद ग्रहण करने के समय से ही विभाजन रद्द करने के लिए चिन्तित थी और वह उसके लिए केवल उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थी। सन् १९११ में उसे यह अवसर प्राप्त हुआ—हाल ही में एक नए वाइसरॉय ने पद ग्रहण किया था, सन् १९०९ के सुधार कार्यान्वित हो चुके थे, विभाजन-विरोधी आन्दोलन लगभग समाप्त हो चुका था, और सम्राट् तथा सम्राज्ञी राजभक्ति की भावनाओं को फिर से जगाने के लिए भारत जाने वाले थे। ऐसे समय पर विभाजन रद्द करने का कृत्य सम्राट् का अनुग्रह माना जाएगा और उसे सरकार की दुर्बलता नहीं समझा जाएगा। मुसलमानों को यह नीति कम आपत्तिजनक हो, इस उद्देश्य से सरकार ने राजधानी को, मुगलों के केन्द्र दिल्ली के लिए स्थानान्तरित करने का निर्णय किया। अन्य कारणों से भी[५] राजधानी को कलकत्ते से हटाना वांछनीय था और उस परिवर्तन के लिए इस अवसर का लाभ उठाया गया।

---

१. लार्ड हार्डिंज ने मि० बनर्जी से पारस्परिक वार्तालाप में कहा था, "दस वर्ष में आप लोगों को प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी।"—Bannerjee: A Nation in the Making, पृष्ठ ३००।

२. Speeches of John Morley pages 107 and 108.

३. Lord Hardinge's Speeches, Vol. I. Appendix, page 505.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५०४

५. "राजनैतिक दृष्टि से कलकत्ते की स्थिति केन्द्रीय नहीं थी; वहाँ से भारतीय रियासतों की, सामरिक जातियों की और महत्वपूर्ण उत्तरी पश्चिमी सीमा

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली दरबार करने की और साथ ही भारतवासियों की, विशेषकर बंगालियों की, सद्भावना प्राप्त करने की नीति, लॉर्ड हार्डिंज के भारत आने से पहले ही इंग्लैण्ड में निश्चित कर ली गई थी और उस नीति के सम्बन्ध में लॉर्ड हार्डिज का समर्थन प्राप्त कर लिया गया था। उनके कलकत्ता आने पर बंगाल के नेताओं ने विभाजन-विरोधी सभा करने का और उनके इस सम्बन्ध में लोगों की भावनाएँ जताने का निश्चय किया। लॉर्ड हार्डिज ने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को तुरन्त बुलाया और उन्हें सभा करने अथवा सार्वजनिक आन्दोलन करने के विचारों को छोड़ देने के लिए समझाया और उनके स्थान पर एक स्मारक प्रस्तुत करने की सलाह दी। उन्होंने इस बात का आश्वासन दिया कि वे उस स्मारक पर भली-भाँति विचार करेंगे। सार्वजनिक सभा करने का विचार छोड़ दिया गया और स्मारक तैयार किया गया। इस स्मारक में बंगाल के २५ ज़िलों में से १८ ज़िलों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए और उसे सन् १९११ में जून के अन्त में वाइसरॉय के पास भेज दिया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं, "विभाजन का संशोधन करने के सम्बन्ध में सरकार ने अपनी सिफ़ारिशों को २५ अगस्त १९११ के राजपत्र में रूप दिया ; स्मारक में जो तर्क दिए गए थे, उनमें से कुछ को सरकार ने स्वीकार किया और अपने राजपत्र में उनका प्रबल समर्थन किया।"[१]

राजधानी बदलने का और साथ ही विभाजन रद्द करने का इंग्लैण्ड और भारत दोनों ही स्थानों में विरोध किया गया; मुख्य आपत्ति, परिवर्तन करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में थी। लॉर्ड कर्ज़न ने परिवर्तन के उपर्युक्त ढंग को अवैधानिक, तथा एक दृढ़ लिबरल सरकार के लिए अशोभनीय, बताया। लॉर्ड मिंटो के मतानुसार, भारत के प्रान्तीय अध्यक्षों तथा इंग्लैण्ड के आंग्ल-भारतीय अधिकारियों के परामर्श के विना, इतने महत्त्वपूर्ण निर्णय करना गलत था। अन्य आक्षेपों के अनुसार, सरकार ने स्वार्थी, वृत्तिमत् लोगों के कृत्रिम तथा अस्वाभाविक आन्दोलन के सामने हार स्वीकार की थी और इस प्रकार पूर्वी बंगाल के राजभक्त मुसलमानों के साथ बहुत बड़ा अन्याय किया था।

प्रदेश की दूरी बहुत ज्यादा थी।" "इसके अतिरिक्त १९०७ के बंगाली क्रान्तिकारी आन्दोलन ने स्थिति को अत्यन्त जटिल बना दिया था; अन्य प्रान्तों के विधायक सदस्य कलकत्ता आकर बंगाली विचारों से प्रभावित होते थे।" तीसरी बात यह थी कि कलकत्ता में भारत सरकार की उपस्थिति के कारण प्रान्तीय सरकार बिलकुल नगण्य और अशक्त हो गई थी।"— Indian Insistent by Sir Harcourt Butler, page 70-71 से अनूदित।

१. Bannerjee : A Nation in Making, page 85.

कलकत्ता से राजधानी हटाना, भारत में बसे हुए यूरोपियनों के हितों के विरुद्ध था। इस सम्बन्ध में विरोध का दूसरा कारण यह था कि ब्रिटिश सत्ता समुद्री-शक्ति पर निर्भर थी; इस दृष्टि से कलकत्ता को छोड़ना अयुक्त था। तीसरे आक्षेप का आधार, नई राजधानी दिल्ली का इतिहास था; वहाँ कितने ही साम्राज्यों का कब्रिस्तान था।[1] लॉर्ड कर्ज़न ने कहा, "वस्तुतः दिल्ली के इतिहास की जितनी कम चर्चा की जाए, उतना ही अच्छा है।"[2]

इस प्रकार उक्त कारणों से सन् १९११ के राजपत्र की नीति का विरोध किया गया। लॉर्ड भवन में लॉर्ड मॉर्ले और लॉर्ड क्रिउवे ने उनका प्रबल प्रत्युत्तर दिया और विरोध धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया। नई राजधानी बसाने के सम्बन्ध में लॉर्ड हार्डिज की सरकार ने लगभग ४० लाख पौंड के व्यय का अनुमान किया था; दूसरी ओर लॉर्ड कर्ज़न ने १ करोड़ २० लाख पौंड के व्यय का अनुमान किया था।[3] आगे चल कर लॉर्ड कर्ज़न की बात ज़्यादा सही निकली। वस्तुतः राजधानी को केन्द्रीय तथा निष्पक्ष स्थिति में लाने के निमित्त, भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह एक अत्यन्त बड़ा परिमाण था जिस को भयंकर कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

५.

सन् १९११ के दिल्ली दरबार के प्रशासनीय परिवर्तनों को कार्यकारिणी-आदेशों और उद्घोषणाओं द्वारा कार्यान्वित किया गया। इस सम्बन्ध में सरकार को पिछले विधानों के अन्तर्गत अधिकांश अधिकार प्राप्त थे; कुछ विषयों के लिए अनुपूरक विधान बनाने की भी आवश्यकता हुई।

सब से पहले तो भारतमन्त्री ने सन् १८५३ के एक्ट के विभाग नं. १६ के अन्तर्गत यह घोषणा की कि भविष्य में गवर्नर-जनरल, बंगाल की फ़ोर्ट विलियम

---

१. For a study of this mentality read "1957", a novel by Hamish Blair.

२. Lord Hardinge's speeehes, vol. I Appendix page 465.

३. लॉर्ड हार्डिज ने आस्ट्रेलिया की राजधानी कैनबेरा बसाने के व्यय से नई राजधानी बसाने के व्यय की तुलना की। कैनबेरा बसाने का व्यय १ करोड़ ३० लाख पौंड था। इसी सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि वाइसरॉय भवन और सेक्रेटेरियेट भवन का कुल व्यय लन्दन में बैंक ऑव इंगलैंड की नई इमारत के अनुमानित व्यय के आधे से कुछ ही अधिक होगा।

प्रेसीडेंसी का गवर्नर नहीं होगा और उस प्रेसीडेंसी के लिए एक पृथक् गवर्नर की नियुक्ति होगी।[१] २२ मार्च १९१२ की उद्घोषणा द्वारा नई प्रेसीडेंसी का क्षेत्र फिर से निश्चित किया गया। सन् १९०५ में बंगला बोलनेवाली जनता की जिन पाँच कमिश्नरियों को पृथक् किया गया था, उन्हें अब फिर पुराने प्रान्त के साथ मिला दिया गया और इस प्रकार बंगाल की एक नई प्रेसीडेंसी बनाई गई।

२२ मार्च १९१२ की दूसरी उद्घोषणा द्वारा बिहार तथा उड़ीसा का नया प्रान्त बनाया गया। इस प्रान्त के लिए एक उपगवर्नर, कार्यकारिणी परिषद् तथा विधान परिषद् की व्यवस्था की गई।

उपर्युक्त दिनांक की तीसरी उद्घोषणा द्वारा आसाम को एक चीफ़ कमिश्नर का प्रान्त बनाया गया।

आवश्यक अनुपूरक व्यवस्था करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सन् १९१२ का गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट बनाया।

इस ऐक्ट ने पहली बात तो यह की कि उसने बंगाल के गवर्नर और उसकी परिषदों को वही अधिकार प्रदान किए जो मद्रास और बम्बई के गवर्नरों को और उनकी कार्यकारिणी तथा विधान परिषदों को प्राप्त थे।

ऐक्ट ने दूसरी बात यह की कि उसने बिहार तथा उड़ीसा के लिए एक कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना की ताकि १९०९ के भारतीय परिषद् ऐक्ट की धाराओं के कारण उसके बनाने में विलम्ब न हो।

अन्त में ऐक्ट ने चीफ़ कमिश्नरों के प्रान्तों के लिये भी विधान परिषदों की स्थापना करने का प्राधिकार दिया। सन् १९१२ के ऐक्ट के विभाग नं. ३ के अन्तर्गत दो विधान परिषदें बनाई गईं—एक आसाम के लिए (नवम्बर १९१२ में) और एक मध्य प्रान्त के लिए (नवम्बर १९१३ में)।

सन् १९१२ की एक उद्घोषणा द्वारा दिल्ली का एक छोटा-सा प्रान्त बनाया गया—इसमें नई राजधानी के चारों ओर का थोड़ा-सा प्रदेश सम्मिलित किया गया। इस प्रान्त के लिए एक चीफ़ कमिश्नर की व्यवस्था की गई। यह चीफ़ कमिश्नर स-परिषद् गवर्नर-जनरल के आधीन होना था।

सन् १९१२ के प्रशासनीय परिवर्तनों के फलस्वरूप सरकार ने भारतीय संविधान से सम्बन्धित विधियों को संहिताबद्ध करने की आवश्यकता को अनुभव किया। ऐसे बहुत-से ऐक्ट थे जो अयुक्त हो गए थे और व्यवहार में भी नहीं आते थे, किंतु वे रद्द नहीं किए गए थे; और भारत सरकार के अधिकार विभिन्न विधानों

---

१. २१ मार्च १९१२ को लॉर्ड कारमाइकेल को बंगाल का पहला गवर्नर नियुक्त किया गया।

में बिखरे हुए थे और समय तथा शक्ति का अपव्यय किए बिना उन अधिकारों को जानना अत्यन्त कठिन था। अतः जुलाई १९१५ में पार्लियामेंट ने एक कॉन्सॉलिडेटिंग ऐक्ट' बनाया।

सन् १९१५ के इस ऐक्ट का उद्देश्य उपयोग में आने वाली सब विधियों को एकत्र करके एक संहिता के रूप में प्रस्तुत करना था। इसी कारण उस ऐक्ट में पिछले विधानों में किसी प्रकार का संशोधन करनेवाले कोई खंड नहीं थे। "उसने सन् १७७० के बाद के ४७ ऐक्टों की व्यवहार में न आनेवाली धाराओं को रद्द किया और व्यवहार में आनेवाली अन्य सब धाराओं को एकत्र किया और उनको १३५ विभागों और ५ अनुसूचियों के एक ऐक्ट के रूप में प्रस्तुत किया।

उस विधेयक पर जो बाद में सन् १९१५ का ऐक्ट बना, पार्लियामेंट ने, दोनों भवनों की एक संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की थी। उसके समक्ष कुछ एसे प्रस्ताव आए जो उसके मतानुसार ऐक्ट के क्षेत्र से बाहर थे और इसी कारण प्रवर समिति ने उनको स्वीकार नहीं किया। इन प्रस्तावों को एक नए संशोधनकारी विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह विधेयक सन् १९१६ में ऐक्ट बन गया।

सन् १९१६ के भारतीय शासन (संशोधन ऐक्ट) ने कुछ साधारण परिवर्तन किए। उसकी धाराओं के अनुसार देशी राज्यों के कुछ छँटे हुए लोग भारतीय सिविल सर्विस परीक्षाओं की प्रतियोगिता में भाग ले सकते थे; देशी राज्यों और नेपाल प्रदेश के शासकों और निवासियों की सैनिक एवं असैनिक पदों पर नियुक्ति की जा सकती थी, देशी राज्यों के शासकों और निवासियों को विधान परिषदों के लिए नामनिर्देशित किया जा सकता था।

६.

विचाराधीन समय में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक ऐक्ट और बनाया, जिसका भारत सरकार के संविधान से सम्बन्ध था। यह था सन् १९११ का भारतीय उच्च न्यायालय ऐक्ट।

सन् १८६१ और १८६५ के विधानों ने उच्च न्यायालयों के संविधान, उनके क्षेत्राधिकार और उनकी संख्या[1] आदि को विनियमित किया था।

सन् १९११ के ऐक्ट ने मुख्य न्यायाधीश-सहित, सब न्यायाधीशों की

१. सन् १९११ में भारत में चार उच्च न्यायालय थे—एक कलकत्ता में, एक बम्बई में, एक मद्रास में और एक इलाहाबाद में। सन् १८६५ के ऐक्ट में जो अधिकार दिया गया था वह इलाहाबाद हाईकोर्ट बनाने से समाप्त हो गया था। अतः एक नया ऐक्ट बनाया गया और उसमें भविष्य के लिए उक्त धारा जोड़ दी गई।

अधिकतम संख्या को सोलह से बढ़ा कर बीस कर दिया।

ऐक्ट ने दूसरी बात यह की कि उसने सम्राट् को आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर नए उच्च न्यायालयों को स्थापित करने का और उनकी स्थापना के फलस्वरूप उनके क्षेत्राधिकार में आवश्यक परिवर्तन करने का प्राधिकार दिया।

अन्त में ऐक्ट ने स-परिषद् गवर्नर-जनरल को किसी उच्च न्यायालय के लिए अस्थायी अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त करने का अधिकार दिया। इन न्यायाधीशों का कार्य-काल दो वर्ष से अधिक नहीं हो सकता था।

इन अधिकारों का दो नए उच्च न्यायालय बनाने के लिए उपयोग किया गया—एक उच्च न्यायालय सन् १९१५ में पटना में स्थापित किया गया और दूसरा सन् १९१९ में लाहौर में स्थापित किया गया।

७.

सन् १९०९ के सुधारों के बाद भी सिविल सर्विस के उच्चतर पदों के सम्बन्ध में भारतवासियों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। शिक्षित वर्गों में बहुत बड़ा असंतोष था और उसको १७ मार्च १९११ को माननीय मि. सूबाराव ने साम्राज्यीय विधान परिषद् में व्यक्त किया। उन्होंने इस अवसर पर "देश के सिविल शासन के क्षेत्र में, भारतीयों की अधिकाधिक एवं उच्चतर पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में, भारतवासियों के अधिकारों पर विचार करने के लिए, एक राजकीय कमीशन नियुक्त करने की सिफारिश की।"[१]

सरकार ने उस प्रस्ताव को स्वीकार किया और उसके फलस्वरूप २१ अगस्त १९१२ को एक राजकीय कमीशन की नियुक्ति की गई। लॉर्ड इस्लिग्टन इस कमीशन के अध्यक्ष थे; उनके अतिरिक्त कमीशन के ११ सदस्य और थे, जिन में तीन भारतीय थे—श्री गोखले, मि. अब्दुर्रहीम और मि. चौबाल।[२] कमीशन

१. Indian Legislative Council proceedings. Vol. XLIX-page 492.

२. कमीशन के सदस्यों की छाँट के सम्बन्ध में भारत में तीव्र आलोचना हुई। आंग्ल-भारतीयों को तो यह आपत्ति थी कि सिविल सर्विसवालों को कम प्रतिनिधित्व दिया गया था; इसके अतिरिक्त कमीशन में मि. रैमजे मैकडोनैल्ड को नियुक्त किया गया था और वे कर्मचारीतन्त्र के तीव्र आलोचक थे। भारतवासियों को यह आपत्ति थी कि उनको अत्यल्प प्रतिनिधित्व दिया गया था और कमीशन में सर वैलेण्टाइन शिरोल को नियुक्त किया था। केवल मुस्लिम वर्ग प्रसन्न थे क्योंकि सर अब्दुर्रहीम के अतिरिक्त कमीशन में सर वैलेण्टाइन शिरोल, सर थियोडोर मॉरिसन और लॉर्ड रोनैल्ड शो थे; ये सब सदस्य मुस्लिम-पक्ष के प्रबल समर्थक थे।

को साम्राज्यीय तथा प्रान्तीय दोनों ही सेवाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों का परीक्षण करके उनपर अपनी रिपोर्ट देनी थी:—(१) भर्ती करने की प्रक्रिया और शिक्षण तथा परीक्षण की व्यवस्था; (२) सेवा, वेतन, छुट्टी और निवृत्ति-वेतन की शर्तें; (३) ग़ैर-यूरोपियनों की नियुक्ति पर प्रचलित प्रतिबन्ध और साम्राज्यीय तथा प्रान्तीय सेवाओं के विभाजन की वर्तमान व्यवस्था।[१] इसके अतिरिक्त कमीशन को सामान्य रूप से इन सार्वजनिक नौकरियों की आवश्यकताओं पर विचार करना था और उनमें उपयुक्त परिवर्तन के लिए सिफारिश करनी थी।

अगस्त १९१५ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मि. अब्दुर्रहीम की रिपोर्ट अलग थी और इसे श्री गोखले का "पूर्ण अनुमोदन प्राप्त था; वस्तुतः इसे उन्हीं के परामर्श से तैयार किया गया था।"[२] किंतु १९ फरवरी १९१५ को श्री गोखले का देहान्त हो गया और इस पृथक् रिपोर्ट पर उनके हस्ताक्षर न हो सके।

रिपोर्ट को उस समय प्रकाशित नहीं किया गया क्योंकि सरकार, महायुद्ध के दिनों में, किसी विवाद में पड़ने से बचना चाहती थी। लेकिन जब महायुद्ध के शीघ्र समाप्त होने की आशा नहीं दिखाई दी, तो अन्त में उस रिपोर्ट को जनवरी १९१७ में प्रकाशित कर दिया गया। मॉण्ट फोर्ड रिपोर्ट का कहना है कि, "उस समय तक महायुद्ध ने भारतवासियों की आशाओं को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया था.... (फलतः).............रिपोर्ट की.........निन्दा की गई.............उसे बिल्कुल अपर्याप्त बताया गया; रिपोर्ट ने भारतीय जनमत को संतुष्ट करने के स्थान पर उसे और ज्यादा चिढ़ा दिया।"[३]

कमीशन के सामने सब से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि सार्वजनिक नौकरियों के उच्चतर पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जाए। साम्राज्यीय सिविल सर्विस की अधिकांश शाखाओं के लिए साधारणतया यूरोप के लोगों में से भर्ती की जाती थी। जिन विभागों के लिए भारत में भर्ती की जाती थी, उनमें भी उच्चतर पदों के लिए यूरोपियनों, आंग्ल-भारतीयों और ईसाइयों को अधिमान दिया जाता था। ५०० रुपये प्रतिमास अथवा उससे अधिक वेतन के पदों पर भारतीयों का अनुपात केवल १९ प्रतिशत था। ८०० रुपये अथवा उससे अधिक वेतन के

१. Islington Commission Report, 1912–15–17. page 2

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ३९४,

३. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 5.

पदों पर उनका अनुपात केवल १० प्रतिशत था।[1] वेतन में क्रमशः वृद्धि के साथ भारतीयों का अनुपात उसी क्रम से घटता जाता था, यहाँ तक कि ऐसे पद थे जिन पर भारतीयों की कभी नियुक्ति ही नहीं हुई थी।

भारतवासियों ने यह उपाय सुझाया था कि इंगलैंड तथा भारत, दोनों ही स्थानों में प्रतियोगितापूर्ण समकालिक परीक्षाओं की व्यवस्था की जाए। कमीशन ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसके मतानुसार ऐसी व्यवस्था को अपनाने के लिए अभी उपयुक्त समय नहीं आया था। कमीशन का तर्क यह था कि भारत के विभिन्न प्रान्तों और समुदायों में शिक्षण-सुविधाओं का पर्याप्त और समान रूप में प्रसार नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त दूसरा यह था कि "भारतीय स्कूलों और कॉलेजों में, इंगलैंड के स्कूलों और कॉलिजों की भाँति, चरित्र के विकास और उसके निर्माण के लिए कोई निश्चित सुरक्षा नहीं थी।"[2] कमीशन की दृष्टि में सरकारी छात्रवृत्तियों की व्यवस्था से भी समस्या का हल नहीं हो सकता था। उसने उच्चतर पदों में भारतवासियों के लिए एक निश्चित अनुपात सुरक्षित रखने के सिद्धांत का भी अनुमोदन नहीं किया। यह सच है कि इस प्रश्न पर विचार करने का उचित दृष्टिकोण यह नहीं था कि प्रत्येक विभाग में कितने भारतीय नियुक्त किए जाने चाहिएँ तथापि मि. अब्दुर्रहीम का यह कहना बिल्कुल ठीक था, "कि यूरोप से अधिकारियों का आयात, विशुद्ध आवश्यकता से सीमित होना चाहिए।"[3] किंतु कमीशन के सदस्यों का दृष्टिकोण दूसरा ही था और उन्होंने भारतीयों के लिए अनुपात निश्चित करने के सुझाव को कोई मान्यता नहीं दी। इस सम्बन्ध में उनका एक तर्क तो यह था "कि जातीय आधार पर अनुपात निश्चित करने का सिद्धान्त अवांछनीय है" और दूसरा तर्क यह था कि "कि हम इस बात को जानते हैं कि न्यूनतम सीमा की प्रवृत्ति अधिकतम सीमा की ओर बढ़ने की हुआ करती है।[4] लेकिन इन तर्कों के होते हुए भी कमीशन के निजी प्रस्ताव मुख्यतः जातीय भावनाओं पर अवलम्बित थे।

कमीशन का सब से पहला प्रस्ताव तो यह था कि जिन नौकरियों के लिए साधारणतया भारत में भर्ती की जाती है, उनमें कुछ और नौकरियों को भी सम्मिलित कर दिया जाए। अपने दूसरे प्रस्ताव के अनुसार कमीशन ने अन्य नौकरियों

१. ये आंकड़े सन् १९१३ के हैं—देखिए—Islington Commission Report, pages 24 to 26.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट पृष्ठ ३०।

३. उपर्युक्त रिपोर्ट पृष्ठ ४११.

४. उपर्युक्त रिपोर्ट पृष्ठ २६.

को तीन वर्गों में विभाजित किया:—(१) आई. सी. एस. (भारतीय सिविल सर्विस), आई. पी. एस. (भारतीय पुलिस सर्विस) आदि नौकरियाँ—जिनमें "अधिकांश अफ़सरों की भर्ती यूरोप में की जानी चाहिए।"[1] आई. सी. एस. के ७५ प्रतिशत पदों के लिए इंगलैंड में प्रतियोगिता-पूर्ण परीक्षाओं के द्वारा भर्ती की जानी थी। अभ्यर्थियों की अधिकतम आयु २४ वर्ष से घटा कर १९ वर्ष कर दी गई थी जिसके फलस्वरूप भारतवासियों के लिए इस द्वार से प्रवेश पाना असंभव हो गया था। अन्य २५ प्रतिशत पदों के लिए, भारत में निश्चित योग्यता के अभ्यर्थियों में से नामनिर्देशन होना था। पुलिस सर्विस के लिए भारत में केवल १० प्रतिशत अभ्यर्थियों की भर्ती होनी थी; धीरे-धीरे यह अनुपात २० प्रतिशत तक बढ़ाया जाना था। (२) दूसरे वर्ग में शिक्षा, डाक्टरी, सार्वजनिक निर्माण आदि से सम्बन्धित नौकरियों की गणना थी...........इसमें यूरोप-वासियों और भारतवासियों, दोनों की ही भर्ती करना वांछनीय समझा गया। (३) तीसरे वर्ग में वैज्ञानिक और टैक्निकल नौकरियों की गणना थी। भारत में टैक्निकल शिक्षा की संस्थाएँ खुल जाने पर कालान्तर में उक्त नौकरियों की भर्ती भारत में होनी थी किंतु उस समय उनके लिए विदेशों में ही भर्ती की जानी थी।

ये प्रस्ताव केवल अपर्याप्त ही नहीं थे वरन् ये ब्रिटिश जातीय श्रेष्ठता की धारणा पर और साथ ही कुछ नौकरियों में अंग्रेजों का बहुत बड़ा अनुपात बनाए रखने की नीति पर अवलम्बित थे। ऐसी दशा में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके प्रकाशित होने पर भारत में सर्वत्र उनकी निन्दा की गई।

कमीशन ने विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं के सदस्यों के वेतन में वृद्धि करने के लिए भी सिफारिश की, जिसका कुल जोड़ मि. चौबाल के अनुसार, ८८ लाख रुपये से भी अधिक था। कमीशन के दो भारतीय सदस्यों ने इस बात को निर्विवाद रूप से सिद्ध भी किया कि भारत में इन सिविल अधिकारियों के वेतन, भत्ते आदि में किसी प्रकार की वृद्धि करने के लिए कोई कारण नहीं था क्योंकि उनको पहले से ही जो वेतन, भत्ता, आदि दिया जा रहा था, वह इंग्लैंड, सीलोन अथवा हांगकांग की सिविल सर्विस की अपेक्षा कहीं अधिक था।

कमीशन की अन्य सिफारिशें टैक्निकल ढंग की थीं और उन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कमीशन की रिपोर्ट की भारत में सभी जगह निन्दा की गई और उसे असंतोषप्रद तथा अपर्याप्त बताया गया। यहाँ तक कि भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट ने भी यह लिखना आवश्यक समझा कि, "भविष्य की नीति, (इस्लिंग्टन कमीशन की) रिपोर्ट पर

१. उपर्युक्त रिपोर्ट पृष्ठ ६१.

अवलम्बित होनी चाहिए, किंतु परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण हमारा यह मत है कि कुछ महत्वपूर्ण दिशाओं में उसके निष्कर्षों को आगे बढ़ाना आवश्यक होगा।"[१]

८.

सन् १९०९ से १९१९ तक के विचाराधीन युग में वैधानिक दृष्टि से विशेष महत्व की, एक घटना हुई,—भारत को, साम्राज्यीय सम्मेलन में, साम्राज्यीय युद्ध, परिषद् में, तथा शान्ति सम्मेलन के लिए ब्रिटिश साम्राज्यीय शिष्ट मंडल में, साम्राज्य के अन्य स्वशासक सदस्यों के साथ, (प्रकटतः) बराबरी का स्थान दिया गया।

सन् १८८७ में, महारानी विक्टोरिया की जयन्ती मनाने के सम्बन्ध में औपनिवेशिक सम्मेलन के नाम से साम्राज्यीय सम्मेलन ने अपनी सब से पहली सभा की थी। उसी औपनिवेशिक सम्मेलन को सन् १९०७ में साम्राज्यीय सम्मेलन का नाम दे दिया गया और उसके नए संविधान के अनुसार इसका मतलब था—सम्राट् सरकार तथा औपनिवेशिक सरकारों की, परस्पर सम्बन्धित विषयों पर विचार करने वाली सभा।"[२]

पहला साम्राज्यीय सम्मेलन १९११ में हुआ और उससे अगला सम्मेलन १९१५ में होने वाला था, किंतु महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण उसको अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया गया। लेकिन दिसम्बर १९१६ में इंग्लैंड में इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि सन् १९१७ के आरम्भिक महीनों में ही साम्राज्यीय सम्मेलन की मीटिंग की जाए और युद्ध परिषद् के लिए साम्राज्य के प्रतिनिधियों को बुलाया जाए।

सितम्बर १९१५ में भारतीय विधान परिषद् में एक प्रस्ताव द्वारा यह सिफारिश की गई "कि सम्राट् सरकार से, साम्राज्यीय परिषद् में भारत को नियमानुसार प्रतिनिधित्व देने के लिए निवेदन किया जाए।"[३] यद्यपि भारत एक स्वशासक देश नहीं था तथापि वाइसरॉय के मतानुसार "भारत के विस्तार, उसकी जनसंख्या, सम्पत्ति, सैन्य सामर्थ्य और राजभक्ति के कारण उसकी प्रतिनिधित्व की माँग उचित थी।"[3] फलतः १९१७में साम्राज्यीय युद्ध परिषद् और साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन, दोनों की सभाओं में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए, भारत मन्त्री को आमंत्रित किया गया। भारत मन्त्री की सहायता करने के लिए भारत सरकार ने

---

१. The Report on Indian Constitutionl Reforms, 1918. page 149.

२. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, vol. I. page 609

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६११

तीन व्यक्तियों को नियुक्त किया—हिज़ हाइनेस बीकानेर नरेश, माननीय सर जेम्स मेस्टन और सर सत्येंद्र सिनहा।

साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन की सभाएँ अप्रैल १९१५ में हुईं और उनमें अन्य प्रस्तावों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रस्ताव भी स्वीकार किए गए—(१) साम्राज्यीय सम्मेलन के संविधान में उपयुक्त परिवर्तन किया जावे ताकि भविष्य के सब सम्मेलनों में भारत भी भाग ले सके; और (२) युद्ध समाप्त होने के बाद, वैधानिक सम्बन्धों को फिर से निश्चित करने के लिए एक विशेष सम्मेलन किया जाए ताकि (अ) इस बात को मान्यता दी जा सके कि विदेश-नीति और विदेश सम्बन्ध निश्चित करने के विषय में ब्रिटिश डोमीनियनों को और साथ ही भारत को समुचित अधिकार होना चाहिए; और (ब) समय-समय पर परामर्श करने के लिए ....और आवश्यकता होने पर मिल कर योजनानुसार कार्यवाही करने के लिए कारगर व्यवस्था की जा सके।[१] एक अन्य प्रस्ताव में समान पारस्परिक व्यवहार के सिद्धांत को स्वीकार किया गया और स्वशासक ब्रिटिश डोमीनियनों में भारतीयों की स्थिति के बारे में भारत-सरकार द्वारा प्रस्तुत किए हुए ज्ञापन पर विचार करने के लिए सम्बन्धित सरकारों से सिफारिश की गई।

साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन की सभाओं के अतिरिक्त, साम्राज्यीय युद्ध परिषद् की बैठकें भी हुईं। सन् १९१७ की १८ मई को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने हाउस ऑव कॉमन्स में यह बताया कि साम्राज्यीय युद्ध परिषद् की मीटिंग प्रतिवर्ष करने का निर्णय किया गया था लेकिन अविलंब्य साम्राज्यीय प्रश्न उपस्थित होने पर यह मीटिंग जल्दी भी की जा सकती थी। उसी अवसर पर उन्होंने निम्नलिखित व्यक्तियों को परिषद् का सदस्य बताया—संयुक्त राज्य का प्रधान मन्त्री और साम्राज्यीय विषयों का संचालन करनेवाले उसके सहयोगी, प्रत्येक ब्रिटिश डोमीनियम का प्रधान मन्त्री अथवा उसका विशेष रूप से अधिकृत प्रतिनिधि और भारत सरकार द्वारा नियुक्त किया हुआ, भारतीय जनता का प्रतिनिधि।[२]

सन् १९१८ में भारत सरकार ने (तत्कालीन उप-भारत मन्त्री) सर सत्येंद्र सिनहा को साम्राज्यीय युद्ध परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त किया। साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए सर सत्येंद्र के अतिरिक्त पटियाला नरेश को भी नियुक्त किया गया।[३]

---

१. Keith : Speeches of Indian Policy, vol II. page 133

२. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, vol. II. page 617.

३. साम्राज्यीय विधान परिषद् में एक प्रस्ताव द्वारा यह कहा गया था कि भारतीय प्रतिनिधियों की नियुक्ति, परिषद् के निर्वाचित सदस्यों की

साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन की दूसरी बैठक जुलाई १९१८ में हुई और उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त सन् १९१७ के समान पारस्परिक व्यवहार के सिद्धांत को कार्यान्वित करना भी स्वीकार किया गया। एक प्रस्ताव द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया कि प्रत्येक सरकार को "अपने देश की जन-रचना (Composition of Population) के सम्बन्ध में पूर्ण नियंत्रण का अधिकार होना चाहिए और उसे, अपने देश में बसने के लिए विदेशों से आने वाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए;" लेकिन ब्रिटिश देशों के नागरिकों पर, "भ्रमण, वाणिज्य अथवा अध्ययन के उद्देश्य से, परस्पर एक-दूसरे देश में आने-जाने पर अथवा अध्ययन के सम्बन्ध में अस्थायी प्रवास पर, कोई रोक नहीं होनी चाहिए।"[1] साथ ही यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई कि "इन लोगों को स्थायी रूप से बसने का अथवा मजदूरी के उद्देश्य से अस्थायी प्रवास का कोई अधिकार नहीं होगा।[2] प्रस्ताव ने डोमीनियनों में पहले से स्थायी रूप से बसे हुए भारतीयों को अपनी पत्नियों और अवयस्क बच्चों को भारत से लाने की अनुमति दी लेकिन शर्त यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी एक पत्नी को और भारत सरकार द्वारा प्रमाणित उस पत्नी के ही बच्चों को डोमीनियन में ला सकेगा।

साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन की बैठक के कुछ ही समय बाद युद्ध समाप्त हुआ और संधि की समस्या सामने आई। इस सम्बन्ध में वर्साई में शान्ति-सम्मेलन हुआ और उस में ब्रिटिश साम्राज्य की ओर से प्रतिनिधि-मंडल भेजा गया। विगतकाल में ऐसे अवसरों पर केवल ब्रिटेन के ही प्रतिनिधि भेजे जाते थे लेकिन इस बार प्रत्येक डोमीनयन को और साथ ही भारत को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। प्रत्येक डोमीनियन और भारत के प्रतिनिधियों ने क्रमशः अपनी सरकारों की ओर से शान्ति-संधि पर पृथक् रूप से हस्ताक्षर किए। राष्ट्र संघ (League of Nations) की योजना, संधि का अविभाज्य अंग थी। फलतः संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले डोमीनियन और भारत भी उस संघ के स्वतन्त्र सदस्य बन गए।

इस प्रकार विदेशों से संबन्धित विषयों में भारत को एक डोमीनियन का दर्जा दिया गया लेकिन भारतवासियों की दृष्टि में भारत की इस पदोन्नति का कोई महत्व नहीं था। वस्तुतः अधिकांश प्रगतिशील राष्ट्रवादियों के अनुसार भारत के लिये

सिफारिशों के अनुसार होनी चाहिए, लेकिन भारत सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया।

१. Keith : Speeches on Indian Policy, vol. II, page 135

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १३६.

राष्ट्र संघ की सदस्यता कोई सौभाग्य की बात नहीं थी। वरन् वह सदस्यता उसके लिए एक बोझ के रूप में थी। उन्हें राष्ट्र संघ के उद्देश्यों पर संदेह था—उनके अनुसार, शोषण करने वाले साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने, संघ के रूप में अपनी गुटबन्दी की थी; और,भारतीय प्रतिनिधित्व, भारत की अपेक्षा इंग्लैंड के लिए अधिक उपयोगी था क्योंकि भारतीय प्रतिनिधित्व के लिए सरकारी अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था और उन पर ब्रिटिश नियंत्रण होता था। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि ये आक्षेप बहुत हद तक सच्चे थे क्योंकि राष्ट्र संघ तथा साम्राज्यीय संस्थाओं की सदस्यता का वास्तविक लाभ उसी समय उठाया जा सकता था जब अन्य सदस्यों की भाँति भारत भी स्वाधीन हो। किंतु दूसरी ओर यह तर्क भी बहुत हद तक सही था कि आरम्भिक बातों से चाहे कोई तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ न दिखाई दे, तथापि वे बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

अठारहवाँ अध्याय

क्रान्ति और दमन

१.

लॉर्ड मॉर्ले अपनी सुधार-योजना को मित्रता और सद्भावना के वातावरण में कार्यान्वित करना चाहते थे। अतः उन्होंने वाइसरॉय पर इस बात की आवश्यकता के संबंध में जोर दिया कि सुधारों के लिए वांछित वातावरण बनाने के उद्देश्य से कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण काम किया जाय, जिससे सरकार का कृपा-भाव प्रदर्शित हो। इस संबंध में उन्होंने बंगाल के निर्वासित व्यक्तियों को मुक्त करने का सुझाव दिया। किन्तु वाइसरॉय के मतानुसार, एक ऐसे समय पर जब भारत के विचारशील व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा था, राजनैतिक क्षेत्र में इन आग उगलने वालों को मुक्त करना अविवेकपूर्ण था।[1] भारत-सरकार के प्रबल विरोध ने भारत-मंत्री को उस समय चुप कर दिया और किसी कृपा पूर्ण कृत्य के स्थानपर एक अराजकतापूर्ण हत्या के बाद सुधारों का उपक्रमण किया गया। सन् १९१० की २५ जनवरी को लॉर्ड मिंटो ने नई निर्वाचित साम्राज्यीय विधान परिषद् का उद्घाटन किया लेकिन उससे एक ही दिन पहले पुलिस के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट, शमसुल आलम को गोली से मार दिया गया था।[2] यह अधिकारी अलीपुर षडयंत्र अभियोग के सिलसिले में कलकत्ता-हाईकोर्ट में उपस्थित हुआ

१. Buchan: Lord Minto, page, 392.
२. इसी पुस्तक का तेरहवाँ अध्याय देखिए।

था। अस्तु, नई साम्राज्यीय विधान परिषद् ने आरम्भ में ही एक अत्यन्त कठोर प्रेस (समाचार-संपादन) कानून बनाया।

२.

पिछले चार वर्षों में कितनी ही अराजकतापूर्ण हत्याओं का प्रयत्न किया गया था। जैसा कि वाइसरॉय ने लॉर्ड मॉर्ले को भी लिखा, इन हत्याओं के फलस्वरूप कलकत्ता में रहने वाले यूरोपियनों में घबराहट फैल गई थी। उस घबराहट को दूर करने के लिए, सरकार कठोर नीति अपनाने की आवश्यकता अनुभव कर रही थी। सेनापति ने मार्शल लॉ (फ़ौजी क़ानून) लागू करने का सुझाव दिया। इस संबंध में लॉर्ड मॉर्ले ने लिखा कि उस (फ़ौजी शासन) के विचार से ही "मेरी रग-रग काँप उठी।"[१] स्वयं वाइसरॉय ने उस सुझाव को निषिद्ध कर दिया और अन्त में यह निर्णय किया गया कि तुरंत ही एक कठोर प्रेस-कानून बनाया जाय। ९ फर्वरी १९१० को यह क़ानून तैयार हुआ और उसी दिन लॉर्ड मिंटो ने बंगाल के निर्वासित व्यक्तियों को छोडने की आज्ञा भी दी।

प्रेस-कानूनों के पिछले इतिहास का विगत अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है। सन् १८८१ में समाचारपत्रों को फिर स्वतंत्रता दे दी गई थी जिसके फलस्वरूप उनकी वृद्धि को विशेष प्रोत्साहन मिला था। सन् १९०१-०२ तक समाचारपत्रों की संख्या बढ़ कर ७०८ हो गई थी और सन् १९०७-०८ में उनकी संख्या ७५३ थी।[२] सन् १९०८ में समाचारपत्र (अपराध-उत्तेजक) ऐक्ट[३] बनाया गया था, जिसका उद्देश्य समाचार-पत्रों के क्रान्तिकारी प्रचार को रोकना था। इस ऐक्ट के अन्तर्गत सरकारी कार्यवाही के कारण, 'युगान्तर', 'संध्या' और 'वन्देमातरम्' जैसे उग्र समाचार-पत्रों का प्रकाशन बंद हो गया था। समाचार-पत्रों के विरुद्ध राजद्रोह का अभियोग चलाने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा नं० १२४ ए और धारा नं० १५३ ए के अन्तर्गत, भारत-सरकार को विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। उसी संहिता की धारा नं० १०८ के अन्तर्गत, समाचार-पत्रों से ज़मानत मांगी जा सकती थी और उग्र नीति का प्रचार करने वाले पत्रों का दमन करने के लिए सन् १९०८ के समाचार पत्र (अपराध-उत्तेजक) ऐक्ट का उपयोग किया जा सकता था। तथापि भारत सरकार के अनुसार, समाचार-पत्रों के राजद्रोहपूर्ण साहित्य का प्रचार रोकने के लिए उपर्युक्त अधिकार अपर्याप्त थे। अतः पंडित मालवीय और भूपेन्द्र नाथ बसु जैसे ग़ैरसरकारी सदस्यों के विरोध के होते हुए भी, परिषद् की कार्य-

---

१. Morley: Recollections, Vol. II. page 328.

२. Moral and Material Progress Report, 1911-12, page 362.

३. इस ऐक्ट की १४ वें अध्याय में चर्चा की जा चुकी है।

पद्धति के साधारण नियमों को निलम्बित करके, सरकार ने साम्राज्यीय विधान-परिषद् से जल्दी से एक कठोर प्रेस क़ानून बनवाया। यही कानून सन् १९१० के इंडियन प्रेस ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सन् १९१० के इस ऐक्ट में, सन् १८७८ के वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट की सारी गर्हित धाराएँ वर्तमान थीं। किन्तु दो बातों में महत्त्वपूर्ण अन्तर था—नया ऐक्ट सब समाचार-पत्रों पर लागू था, चाहे वे पत्र भारतीय भाषाओं के हों अथवा अंगरेज़ी के और चाहे वे आँग्ल-भारतीयों[1] के हों अथवा भारतवासियों के ; और दूसरा अन्तर यह था कि नए ऐक्ट की एक धारा के अनुसार हाईकोर्ट में अपील की जा सकती थी।

सन् १९१० के इस ऐक्ट के प्राधिकार के बल पर, मजिस्ट्रेट, नए छापेखानों[2] के मुद्रकों और साथ ही नए समाचार-पत्रों के प्रकाशकों[3] से (सन् १८६७ के प्रेस तथा पुस्तक निबंधन ऐक्ट की धारा नं० ४ के अन्तर्गत उनसे अपने समक्ष घोषणा कराने के बाद) कम-से-कम पाँच सौ और अधिक-से-अधिक दो हज़ार रुपये की ज़मानत माँग सकता था। नए ऐक्ट के लागू होने के पहले से जो प्रेस काम कर रहे थे, और जो समाचार-पत्र निकल रहे थे, उनके संबंध में भी ऐक्ट ने स्थानीय सरकारों को निश्चित प्राधिकार दिया। इसके अनुसार ये स्थानीय सरकारें उक्त छापेखानों के मुद्रकों अथवा उक्त समाचार-पत्रों के प्रकाशकों से (यदि वे ऐक्ट के विभाग नं. ४ (१) के अन्तर्गत आने वाले लेखों को छापते या प्रकाशित करते हों), कम-से-कम पाँच सौ और अधिक-से-अधिक पाँच हज़ार रुपये की ज़मानत माँग सकती थी। ऐक्ट के प्राधिकार के बल पर मजिस्ट्रेट, किसी प्रेस अथवा समाचार-पत्र की ज़मानत को (कारणों का अभिलेख करने के बाद), छोड़ सकता था अथवा इस संबंध में अपनी किसी पिछली आज्ञा को रद्द कर सकता था अथवा उसे बदल सकता था।

---

१. आँग्ल-भारतीय पत्रों को सम्मिलित करने का व्यवहारतः कोई अर्थ नहीं था। वे राजद्रोह का प्रचार नहीं कर सकते थे और जातीय भेदभाव के प्रचार के सिलसिले में सरकार उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करती थी।—देखिए इसी पुस्तक का बारहवाँ अध्याय—और Paragraph 7 of the Report of the Press Laws Committee, 1921.

२. Section 3 (i) of the Act, Ghose: Press and Press Laws in India, page 66.

३. Section 8 (i) of the Act. Ibid, page 69.

ऐक्ट ने अपने विभाग नं. ४ (१) के छः विस्तृत खंडों[1] में आपत्तिजनक बातों की परिभाषा बताई। इन बातों का मुद्रण अथवा प्रकाशन होने पर स्थानीय सरकार ज़मानत ज़ब्त कर सकती थी। सन् १९०८ के विस्फोटक पदार्थ एक्ट[2] और उसी वर्ष के समाचार-पत्र (अपराध-उत्तेजक) ऐक्ट[3] के अपराधों को सन् १९१० के ऐक्ट में फिर सम्मिलित किया गया। राजद्रोहपूर्ण प्रकाशन की परिभाषा इतनी विस्तृत कर दी गई कि उसमें देशी नरेशों, न्यायाधीशों, कार्य-कारिणी-अफ़सरों और सार्वजनिक अधिकारियों के विरुद्ध लेख लिखने की भी गणना की जा सकती थी। सम्राट् की सेना में नौकरी करने वालों में अभक्ति फैलाने के अथवा क्रान्तिकारी कामों के लिए रुपया वसूल करने के उद्देश्य से लोगों को धमकाने के अथवा क्रान्तिकारी अपराध की खोज और गवाही में सहायता देने वालों को रोकने के····सारे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयत्न, विभाग नं. ४(१) की आपत्तिजनक बातों की परिभाषा में सम्मिलित थे। वस्तुतः इस विभाग ने, समाचार-पत्रों के लिए सरकारी कामों की आलोचना करना असंभव कर दिया था। किन्तु इससे भी ज़्यादा बुरी बात यह थी कि कोई प्रकाशन, विभाग नं. ४ (१) की दृष्टि से आपत्तिजनक है अथवा नहीं, यह निर्णय करने का अधिकार, साधारण न्यायालयों के स्थान पर स्थानीय सरकार को दिया गया था।

यदि विभाग नं. ४(१)के अनुसार स्थानीय सरकार ने किसी छापेखाने की अथवा किसी समाचार-पत्र की ज़मानत ज़ब्त कर ली है और उस छापेखाने का मुद्रक[4] अथवा उस पत्र का प्रकाशक,[5] सन् १८६७ के प्रेस तथा पुस्तक निबंधन ऐक्ट के विभाग नं. ४ के अनुसार फिर घोषणा करता है तो प्रत्येक को (मजिस्ट्रेट के आदेशानुसार) कम-से-कम एक हज़ार रुपये की और अधिक-से-अधिक दस हज़ार रुपये की ज़मानत देनी थी। यदि स्थानीय सरकार के मतानुसार उक्त प्रेस अथवा उक्त पत्र, विभाग नं. ४(१) के अन्तर्गत फिर अपराध करता है, तो वह सरकार उसकी ज़मानत को, छापेखाने को और समाचार-पत्र की सारी प्रतियों को और अन्य आपत्तिजनक प्रकाशनों को ज़ब्त कर सकती थी।[6]

१. Section 4 (i) of the Act, Ghose : The Press and Press Laws in India, pages 67-68.

२. इसी पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय देखिये।

३. इसी पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय देखिये।

४. Section 5 of the Act, Ghose : The Press and Press Laws in India, page 68.

५. Section 10 of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७०.

६. See sections 6 and 10 of the Act, Ghose : The Press and Press Laws in India pages 69—71.

इसी संबंध में एक्ट ने स्थानीय सरकारों को एक बात का अधिकार और दिया।[1] इस अधिकार के अनुसार स्थानीय सरकारें, कस्टम विभाग के किसी अफ़सर को अथवा किसी डाकखाने के प्रमुख कर्मचारी को यह आज्ञा दे सकती थीं कि यदि उस अधिकारी को इस बात का सन्देह हो कि किसी पार्सल, बंडल अथवा लिफ़ाफ़े में कोई ऐसी चीज़ है जो विभाग नं. ४(१) के अन्तर्गत आपत्ति-जनक है तो वह उस पार्सल, बंडल, अथवा लिफ़ाफ़े को रोक ले और उसे स्थानीय सरकार को सौंप दे।

अन्त में १९१० के इस ऐक्ट ने स्थानीय सरकार की आज्ञा रद्द कराने के लिए, हाईकोर्ट में अपील[2] करने का अधिकार दिया। इस अपील का निर्णय तीन न्यायाधीशों की विशेष सभा द्वारा होना था।[3] यह अपील ज़ब्ती की आज्ञा के दो महीने के अन्दर ही इस आधार पर की जा सकती थी कि जिस विषय पर आपत्ति की गई है, उसकी विभाग नं. ४(१) के अन्तर्गत गणना नहीं की जा सकती।

इस ऐक्ट को लागू करने के कारण, सन् १९०९ से १९१९ तक के विचाराधीन युग में जो परिणाम हुए, उनका संक्षिप्त संकलित विवरण २ जुलाई १९१९ के उस समुद्री तार में दिया गया है जो इंडियन प्रेस एसोसियेशन के मंत्री ने ब्रिटिश प्रधान मंत्री और भारत मंत्री के पास भेजा था :——"इस ऐक्ट के अन्तर्गत ३५० छापेखानों को, ३०० समाचार-पत्रों को दंड दिया गया, ४०००० पौंड से अधिक की ज़मानतें ली गईं, ५०० से अधिक प्रकाशन ज़ब्त किए गए। ज़मानत न दे सकने के कारण २०० प्रेस काम शुरू नहीं कर सके, १३० समाचार-पत्रों का प्रकाशन नहीं हो सका। (भारतवासियों के) 'अमृत बाज़ार पत्रिका', 'बॉम्बे क्रॉनिकल', 'हिन्दु', 'इंडिपेन्डेन्ट', 'ट्रिब्यून' जैसे प्रमुख, प्रभावशाली अंगरेजी के पत्रों पर और 'बसुमती', 'स्वदेश मित्रम्', 'विजय', 'हिन्द वासी', 'भारत-मित्र' जैसे भारतीय भाषाओं के प्रमुख पत्रों पर ऐक्ट की कठोर धाराएँ लागू की गईं। दूसरी ओर आंग्ल-भारतीय पत्रों के उग्र, उत्तेजक लेखों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई।"[4] भारत सरकार पर, ऐक्ट के परिणामों के संबंध में जाँच करने के लिए ज़ोर दिया गया लेकिन उसका कोई फल नहीं हुआ। अन्त में यह विषय सन् १९२१ की नई विधान सभा के सामने आया और उसने जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की।

१. ऐक्ट के विभाग नं. १३ और १५ देखिये, The Press and Press Laws in India पृष्ठ ७१ और ७२.

२. ऐक्ट का विभाग नं. १७—उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७२.

३. ऐक्ट का विभाग नं. १८—उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७२.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३९–४०.

३.

प्रेस ऐक्ट का पारण करनेके कुछ ही महीने बाद सरकारने एक विधेयक और प्रस्तुत किया। इस विधेयक का उद्देश्य सन् १९०७ के राजद्रोहपूर्ण मीटिंग वर्जन ऐक्ट[1] के जीवन-काल को ३१ मार्च १९११ तक बढ़ाना था—ताकि नए गवर्नर-जनरल को अपना पद-ग्रहण करने के बाद, स्थिति को स्वयं देखने, उस पर अपना मत बनाने और उस संबंध में अपनी सिफ़ारिशें करने के लिए पर्याप्त समय मिल जाए। सन् १९०७ का ऐक्ट पूर्वी बंगाल और पंजाब[2] की तत्कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए बनाया गया था और वह असाधारण रूप से दमनकारी था। जैसा कि श्री गोखले ने विधान परिषद् में कहा,[3] उस ऐक्ट को बड़ी कठोरता के साथ और अनुचित रूप में लागू किया गया था। अगस्त १९१० तक स्थिति काफ़ी संभल चुकी थी और जैसा कि वाइसरॉय और सरकारी सदस्यों ने स्वीकार भी किया था, वह स्थिति संकटपूर्ण अथवा असाधारण नहीं थी। अतः ग़ैर सरकारी सदस्यों[4] ने उस ऐक्ट का जीवन-काल बढ़ाने वाले विधेयक का विरोध किया क्योंकि आवश्यकता होने पर वह ऐक्ट फिर भी बनाया जा सकता था। लेकिन सरकार अपन निश्चय पर जमी रही[5] और अगस्त १९१० में उस विधेयक का पारण हो गया।

सन् १९०७ का यह ऐक्ट मार्च १९११ में फिर भारतीय विधान परिषद् के सामन आया। इस बार सरकार ने ३१ मार्च के बाद उस ऐक्ट के लिए फिर जीवन-

१. The Press and Press Laws in India नामक पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय देखिये।

२. सन् १९०७ की परिस्थितियों के वर्णन के लिए इसी पुस्तक का तेरहवां अध्याय देखिये।

३. तीन ज़िला सम्मेलनों को वर्जित करने का यह कारण दिया गया कि उनमें भारतीय एवं प्रान्तीय विषयों पर विचार होगा। सभा करने की अनुमति देने से पहले प्रस्ताव माँगे जाते थे। दलित वर्गों को अपनी सामाजिक शिकायतें व्यक्त करने के लिये सभा करने की अनुमति नहीं दी गई।—देखिये—Gokhale's Speech—Legislative Council Proceedings, Vol. XLIX. Page 30.

४. श्री गोखले, मालवीय, मुधोलकर, सिनहा, मज़रूल हक, सूबा राव आदि सब ग़ैरसरकारी सदस्य इस विधेयक के विरुद्ध थे।

५. "श्रीमान्, हम इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जब सरकार किसी नीति को अपनाने का निश्चय कर लेती है तो इस परिषद् के ग़ैरसरकारी सदस्यों का मत उसे बदल नहीं सकता।"—देखिये, Gokhale's Speech—Legislative Council Proceedings, Vol. XLIX. Page 29.

दान देने का विचार नहीं किया किन्तु उसके स्थान पर और उसी उद्देश्य से एक नया, कम कठोर, स्थायी क़ानून बनाने का निश्चय किया। फलतः सन् १९११के राजद्रोह-पूर्ण मीटिंग वर्जन ऐक्ट का मार्चमें पारण हुआ और उसे प्रविधान पुस्तक (Statute Book) में स्थायी रूप से सम्मिलित कर लिया गया।[1]

सन् १९११ के ऐक्ट ने सन् १९०७ के ऐक्ट के कुछ स्पष्ट दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। सबसे पहली बात तो यह हुई कि नया ऐक्ट, स-परिष् गवर्नर-जनरल की विनिर्दिष्ट अनुमति के बाद ही, किसी प्रदेश अथवा प्रान्त में लागू किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, पुराने एक्ट की एक धारा के अनुसार बीस से अधिक व्यक्तियों की प्रत्येक सभा को सार्वजनिक सभा माना जाता था। नए एक्ट में दूसरा परिवर्त्तन यह हुआ कि उक्त धारा को छोड़ दिया गया। इसी ऐक्ट में तीसरा परि-वर्त्तन यह हुआ कि वर्जित सभाओं की परिभाषा देने वाले खण्ड नं. ४ में से "किसी राजनैतिक उद्देश्य के लिये" शब्दों को निकाल दिया गया। अब केवल वही सभाएँ वर्जित होनी थीं जिनसे सार्वजनिक शान्ति भंग होने का डर हो। ऐक्ट में चौथा परि-वर्त्तन यह था कि भविष्य में सार्वजनिक सभा करने की सूचना, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के स्थान पर ज़िला मजिस्ट्रेट अथवा इस काम के लिए अधिकृत अन्य किसी मजिस्ट्रेट को देनी थी। इन परिवर्तनों को छोड़ कर, सन् १९०७ के ऐक्ट की धाराओं का सन् १९११ के ऐक्ट में यथावत् विधायन कर दिया गया।[2]

इन संशोधनों के बावजूद अधिकांश ग़ैरसरकारी सदस्यों ने नए कानून का विरोध किया और उसे अनावश्यक, स्वेच्छापूर्ण और दमनकारी बताया। उसने कार्यकारिणी को विस्तृत, स्थायी एवं असाधारण अधिकार दिए जो देश के सार्व-जनिक जीवन के लिए घातक थे।

४.

इन दमनकारी प्रविधानों के पारण से भारतीय क्रान्तिकारियों के कामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। राजनैतिक हत्याएँ और डकैतियाँ—विशेषकर पूर्वी बंगाल और कलकत्ता में—पहले ही की तरह होती रहीं। २४ जनवरी १९१० को कलकत्ता के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस की हत्या हुई—उसकी चर्चा की जा चुकी है। मार्च १९१० में हावड़ा षड्यंत्र केस आरम्भ हुआ। इसमें ५० व्यक्तियों पर राजनैतिक हत्याओं का और सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का अभियोग लगाया गया था।[3] जुलाई में ढाका षड्यंत्र केस में ४४ व्यक्तियों पर फिर वही

१. बाद में सन् १९२१ की रिप्रेसिव लॉज़ कमेटी की सिफ़ारिश पर इस ऐक्ट को रद्द कर दिया गया।

२. इसी पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय देखिये।

३. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 44.

अभियोग लगाया गया। इनमें से पन्द्रह अभियुक्त, अपराधी सिद्ध हुए और उनको विभिन्न अवधियों—२ से ले कर ७ वर्षों तक—का कठोर कारावास दंड दिया गया।[१] इन के अतिरिक्त सन् १९१० में अन्य क्रान्तिकारी अपराधों के प्रयत्न किए गए।[२] सन् १९११ में क्रान्तिकारियों ने १८ अपराध किए—इनमें कलकत्ता की एक हत्या और साथ ही पूर्वी बंगाल की एक हत्या भी सम्मिलित थी।[३] २१ फर्वरी १९११को कलकत्ता में सिरीश चंद्र चक्रवर्ती को गोली से मार दिया गया और ११ दिसम्बर को राजकीय उद्घोषणा के दिन बारीसाल में इंस्पेक्टर मनमोहन घोष की हत्या की गई। "उसके बाद" सर रेजिनाल्ड क्रैडॉक के अनुसार "अस्थायी शान्ति रही लेकिन वह अस्थायी ही सिद्ध हुई।"[४] "मई १९१२ में बेकरगंज ज़िले में कुछ नवयुवकों ने डाका डाला। जुलाई में उसी ढंग की दो डकैतियाँ और हुईं—एक बेकरगंज में और एक ढाका में। सितम्बर में पुलिस-दीवान रतीलाल राय को ढाका में गोली से मार दिया गया।"[४] "नवम्बर १९१२ में गिरीन्द्र मोहन दास के बक्स में क्रान्तिकारी लेख्य (दस्तावेज़) और हथियार पकड़े गए।"[५] १३ दिसंबर १९१२ को, मिदनापुर बम केस का भेद देने वाले अब्दुर रहमान की हत्या करने का प्रयत्न किया गया।[६] किन्तु जिस अपराध की ओर भारत में तथा विदेशों में सब से ज़्यादा ध्यान आकर्षित हुआ—वह था,वाइसरॉय लॉर्ड हार्डिंज की हत्या का प्रयत्न। २३ दिसंबर १९१२ को नई राजधानी में राजकीय प्रवेश के समय, चांदनी चौक में पंजाब नेशनल बैंक के सामने, वाइसरॉय के सुसज्जित हाथी पर बम फेंका गया और उसके फलस्वरूप वाइसरॉय के एक सेवक की मृत्यु हुई, कुछ लोग घायल हुए और स्वयं वाइसरॉय को भी चोट आई। बम, बंगाल से लाया गया था और उस को फेंकने वाला, बसन्त कुमार घोष नाम का एक बंगाली था जिसने (खुफ़िया पुलिस के अधिकारी के सामने अपने बयान[७] के अनुसार) अपने आप को एक मुस्लिम-स्त्री के रूप में एक बुर्के में छिपा रखा था। इस कृत्य की सभी जगह निन्दा की गई और उसे गर्हित और नीचतापूर्ण बताया गया।

१. Indian Sedition Committee Report, 1918, पृष्ठ ४६.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४६–४७.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४८, ४९ और ५०.
४. Proceedings of the Indian Legislative Council, vol. LI, page 310.
५. Indian Sedition Committee Report 1918, page 53.
६. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५५.
७. O'Dwyer : India as I knew it, page 169-170.—Also see pages 143-144 of the Sedition Committee Report.

५.

इस प्रकार भारत के क्रांतिकारी अपराधों को रोकने में न तो सुधार ही सफल हुए और न १९१० और १९११ के दमनकारी क़ानून; किन्तु दमनकारी क़ानूनों की सामर्थ्य के संबंध में सरकारी निष्ठा यथावत् बनी रही। मार्च १९१३ में सरकार ने भारतीय विधान परिषद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य भारतीय दंड संहिता में कुछ संशोधन करना था। यही विधेयक, बाद में सन् १९१३ का फ़ौजदारी क़ानून (संशोधन) ऐक्ट बन गया।

इस ऐक्ट ने षड्यंत्र के अपराध को भारतीय दंड संहिता में पृथक् स्थान दिया। उस समय तक यह अपराध भारतीय दंड संहिता में सम्मिलित होने से किसी प्रकार छूट गया था; और गृह-सदस्य के अनुसार सन् १९१३ के विधेयक का उद्देश्य एक छूटी हुई बात की पूर्ति करना था। गृह-सदस्य ने यह भी कहा कि नया क़ानून, इंगलैंड के क़ानून के ढंग पर ही बनाया गया था किन्तु गैरसरकारी सदस्य इस बात को जानते थे कि उसे भारत में बड़ी कठोरता के साथ लागू किया जायगा और उसके दो कारण थे। मिस्टर एस. एन. बनर्जी ने पहला कारण यह बताया कि इंगलैंड में अभियोगों का निर्णय जूरी द्वारा होता था और वहाँ पर न्याय का स्तर भारत की अपेक्षा कहीं ज़्यादा ऊँचा था। और दूसरे कारण को मि. जिन्ना ने इस प्रकार व्यक्त किया कि दोनों देशों की फ़ौजदारी-पद्धति भिन्न थी और वह इंगलैंड में, अभियुक्त के प्रति कहीं ज़्यादा सहानुभूतिपूर्ण थी। मि. जिन्ना ने यह भी कहा कि नए क़ानून राजसत्ता के विरुद्ध षड्यंत्रों पर ही लागू होने चाहिएँ—व्यक्तिगत षड्यंत्रों पर नहीं। प्रवर-समिति ने स्थिति का संरक्षण करने का प्रयत्न किया और फ़ौजदारी पद्धति संहिता में कुछ संशोधन भी किया।

सन् १९१३ के ऐक्ट की सब से ज़्यादा महत्वपूर्ण बात, विभाग नं. १२० (अ) के अन्तर्गत, षड्यंत्र की परिभाषा थी—अन्य बातें गौण थीं। परिभाषा इस प्रकार थी:—

"जब दो या अधिक व्यक्ति, एक होकर (१) किसी अवैध काम को अथवा (२) किसी वैध काम को अवैध साधनों द्वारा, करने अथवा कराने के लिए सहमत होते हैं, तो उनका समझौता एक अपराधपूर्ण षड्यंत्र है। किन्तु अपराध करने अथवा कराने के समझौते के अतिरिक्त अन्य कोई समझौता अपराधपूर्ण षड्यंत्र नहीं है, जब तक कि समझौते के अलावा ऐसा कोई काम नहीं किया जाता जिससे समझौता करने वाले एक या अधिक व्यक्तियों का उद्देश्य प्रभावित होता हो।"[1]

विभाग नं. १२० (अ) बन जाने से भारत की क्रान्तिकारी समितियों की

१. Proceedings of the Indian Legislative Council, vol. LI, page 291.

बढ़वार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। बल्कि सच तो यह है, कि अगले तीन वर्षों में देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन तेज़ी से बढ़ा और उस की शाखाएँ पंजाब प्रान्त तक फैल गईं।

६.

सन् १९१३-१६ के वर्षों में क्रांतिकारी आन्दोलन, बंगाल और पंजाब, दोनों ही प्रान्तों में अपने शिखर पर पहुँच गया। बंगाल में पिस्तौल और बम की सहायता से राजनैतिक हत्या करने और राजनैतिक डकैतियाँ डालने का क्रम यथावत् बना रहा; और उनके अतिरिक्त एक व्यापक व्युत्थान का निष्फल प्रयत्न भी हुआ। इस व्युत्थान को योजना जर्मन अभिकर्ताओं की सहायता से तैयार की गई थी। इस जर्मन-बंगाली षड्यंत्र का अथवा अराजकतापूर्ण हत्याओं और डकैतियों का विस्तृत विवरण देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि सन् १९१८ की सिडीशन कमेटी रिपोर्ट के पृष्ठों में वह सरलता से मिल सकता है। तथापि उनका संक्षेप में वर्णन करना उचित और संगत होगा।

सन् १९१३ में बंगाल प्रान्त में क्रांतिकारियों ने १६ अराजकतापूर्ण प्रहार किए--इनमें दस डकैतियाँ थीं जिन में दो हत्याएँ और लगभग ६१००० रुपये की लूट सम्मिलित थी।[1] २७ मार्च को सिलहिट में बम द्वारा मि. गॉर्डन आई. सी. एस. की हत्या करने का प्रयत्न किया गया, किंतु मि. गॉर्डन के मकान तक पहुँचने से पहले ही बम फट गया और बम ले जाने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो गई। २९ दिसम्बर को कलकत्ता के कॉलेज स्क्वायर में हैड कांस्टेबिल हरिपद देव को गोली से मार दिया गया। उसके दूसरे दिन मैमनसिंह में इंस्पेक्टर बंकिमचन्द्र चौधरी की बम द्वारा हत्या की गई। ९ दिसम्बर को मिदनापुर में अब्दुररहमान की हत्या करने का फिर असफल प्रयत्न किया गया और ३० दिसम्बर को हुगली ज़िले के एक थाने में बम फेंका गया। सन् १९१४ में २९ अराजकतापूर्ण कृत्य हुए—इनमें १६ डकैतियाँ थीं जिनमें कुछ हत्याएँ भी सम्मिलित थीं। र्‌होडा एंड कम्पनी नामक कलकत्ता के बन्दूक आदि शस्त्रों के विक्रेताओं के यहाँ से, पिस्तौल और उनके कारतूसों के दस बक्सों की चोरी की गई। इन बक्सों में ५० मौज़र पिस्तौलें थीं और उनके लिए ४६००० कारतूस थे। इसके अतिरिक्त चार हत्याओं के सफल प्रयत्न किए गए--एक चटगाँव में, एक ढाका में और दो कलकत्ता में। इनमें से कलकत्ता की पहली हत्या, खुफ़िया विभाग के इंस्पेक्टर नृपेन्द्र घोष की थी, जिनको तीन प्रमुख सड़कों के एक केन्द्र पर ट्राम से उतरने के समय मारा गया था। एक व्यक्ति ने हत्या करनेवाले का पीछा किया किंतु उसे भी मार

---

१. The Report of the Sedition Committee, 1918, page 59.

दिया गया। दूसरी हत्या २५ नवम्बर को हुई—डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट बसन्त चटर्जी के मकान में दो बम फेंके गए। डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट तो बच गया लेकिन एक हैड कांस्टेबल मारा गया और तीन आदमी घायल हो गए।

सन् १९१५, इस युग का सब से ज़्यादा कलुषित वर्ष था और उसमें कितनी ही डकैतियाँ और सनसनी पैदा करने वाली हत्याएँ हुईं। बड़ी रकमें ले जानेवाले लोगों को, अमेरिका के ढंग पर, पिस्तौल और मोटर कार की सहायता से आम सड़कों पर लूटा गया; और जर्मन-बंगाली षड्यंत्र का भी इसी वर्ष पता लगा। अकेले कलकत्ता शहर में ही दस अराजकतापूर्ण आघात हुए; इनमें से दो में, अमेरिकन ढंग पर मोटर टैक्सी की सहायता ली गई। निरोद हालदार के अतिरिक्त, पुलिस-दरोग़ा सुरेशचन्द्र मुकर्जी, उप-दरोग़ा गिरींद्र बनर्जी तथा उपेन चटर्जी और एक कांस्टेबिल की हत्या की गई। कलकत्ता के इसी क्रांतिकारी दल ने जिसका नेतृत्व जतीन मुकर्जी और विपिन गांगुली के हाथों में था, कलकत्ता के बाहर पाँच आघात और किए। पूर्वी बंगाल में १६ आघात हुए—इनमें से तीन आघातों में सुयोजित हत्याएँ की गईं। पहली हत्या तो कामिला स्कूल के हैडमास्टर शरत् कुमार बसु की थी और दूसरी हत्या धीरेंद्र विस्वास की थी जो मुख़बिर हो गया था। तीसरी हत्या विशेष रूप से गर्हित थी। मैमनसिंह की पुलिस के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट जतीन मोहन अपने बच्चे को गोद में लिये हुए, अपने घर में बैठे हुए थे, उन पर गोली चलाई गई और उसके फलस्वरूप दोनों की मृत्यु हो गई। उत्तरी बंगाल में, सबसे पहला क्रांतिकारी अपराध भी १९१५ में हुआ। रंगपुर के एडिशनल पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट राय साहब नन्दकुमार बसु को, जो अपने घर पर ही थे, गोली से मारने का प्रयत्न किया गया, पर वे बच गए। उनके नौकर ने गोली मारने वालों का पीछा किया पर उसे बुरी तरह घायल कर दिया गया। हत्या के इस प्रयत्न के अतिरिक्त रंगपुर जिले में एक डाका डाला गया और एक डाका राजशाही ज़िले में भी डाला गया—इन दोनों डाकों में लगभग ७५००० रुपये की सम्पत्ति लूटी गई।

सन् १९१६ में छः हत्याएँ की गईं, जिनमें बसन्त चटर्जी की हत्या भी सम्मिलित थी; और कुछ डाके डाले गए जिनमें से कई डाके असफल भी रहे। इसी वर्ष बहुत से लोगों को जिन पर क्रांतिकारी होने का संदेह था, सन् १८१८ के विनियम नं. ३ के अन्तर्गत अथवा सन् १९१५ के डिफेंस ऑव इंडिया ऐक्ट की धाराओं के अन्तर्गत नज़रबन्द किया गया।[1] सन् १९१७ में कुल ९ आघात

१. सन् १८१८ के विनियम नं. ३ के अन्तर्गत ५६ व्यक्ति नज़रबन्द किए गए थे, जिनमें से तीन को १९१६ में छोड़ दिया गया था। सन् १९१५ के ऐक्ट के अन्तर्गत २३८ व्यक्ति नज़रबन्द किए गए थे—देखिये Indian Year Book 1917, page 698.

हुए, जिनमें से दो में, पुराने क्रांतिकारी साथियों की हत्या करने का प्रयत्न किया गया —एक को अनैतिकता के अपराध पर और दूसरे को विश्वासघात के अपराध पर; पहली हत्या का प्रयत्न सफल हुआ किंतु दूसरी हत्या के प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। इन हत्याओं के अतिरिक्त छः डकैतियों का प्रयत्न किया गया जिनमें से एक अत्यन्त साहसपूर्ण थी। कलकत्ते की आर्मीनियन स्ट्रीट में एक सराफ़ की दुकान पर रात के नौ बजे हमला किया गया जिसके फलस्वरूप दो आदमी मारे गए, दो घायल हुए, और बहुत से बहुमूल्य रत्नों और आभूषणों को लूट लिया गया। इस प्रयत्न में एक हमला करनेवाला भी मारा गया।

बंगाल के अराजकतापूर्ण अपराधों के इस वर्णन को पूरा करने के लिए सन् १९१५ के जर्मन-बंगाली षड्यंत्र की संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है।

७.

विदेशों में रहनेवाले भारतीय क्रांतिकारियों ने अपनी योजनाओं को पूरा करने के लिए महायुद्ध से लाभ उठाने का और जर्मनी से सहायता लेने का प्रयत्न किया। भारत में व्यापक व्युत्थान होने की दशा में, यूरोप में अंग्रेज़ों की शक्ति घटना स्वाभाविक था और जर्मन अधिकारियों ने इसी पृष्ठभूमि में भारतीय क्रांतिकारियों के लिए धन और शस्त्रों का प्रबन्ध करने के विचार को स्वीकार किया। इस दिशा में जर्मन-भारतीय सहयोग के लिए बर्लिन की 'इंडियन नेशनल पार्टी' स्थापित की गई और उसे 'जर्मन जनरल स्टाफ़' के साथ अनुबंधित कर दिया गया। इस पार्टी के संगठनकर्त्ता थे मि. पिलाई जो ज्यूरिच की इंटरनेशनल प्रो-इंडिया कमेटी के अध्यक्ष थे। अमेरिका की ग़दर पार्टी के संस्थापक हर दयाल, बरकतुल्ला, तारकनाथदास, के० सी० चक्रवर्ती और हेरम्बलाल गुप्त आदि व्यक्ति इस नई पार्टी के सदस्य थे।[1] पार्टी ने बंगाल और पंजाब, दोनों ही प्रान्तों में समकालिक व्युत्थान की योजना बनाई और उसके संचालन के निमित्त तीन केन्द्र बनाए। इनमें से एक केन्द्र बटाविया में, बंगाल के लिए था, दूसरा केन्द्र बैंकॉक में, अमेरिका से पंजाब को फिर लौटने वाले सिक्खों के लिए था; और तीसरा केन्द्र काबुल में, उत्तरी भारत के मुसलमानों के लिए था। अमेरिका से दो भारतीय नवयुवकों को संगठन करने के लिए भेजा गया—सत्येंद्र सेन को बंगाल में संगठन करना था और पिंगले को वही काम यू० पी० और पंजाब में करना था। नवम्बर १९१४ में वे अमेरिका से कलकत्ता आए और अपने-अपने क्षेत्रों में काम करने लगे। सन् १९१५ के आरम्भ में

१. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 119.

यूरोप से जितेन्द्र नाथ लाहिरी को भेजा गया और उसके द्वारा, सहायता के लिए निश्चित जर्मन आश्वासन मिला।

बंगाल के क्रांतिकारियों ने जितेंद्र मुकर्जी और नरेंद्र भट्टाचार्य के नेतृत्व में, बंगाल में व्युत्थान के लिए जर्मन-योजना में सहयोग देने का निश्चय किया। नरेंद्र भट्टाचार्य को सी. मार्टिन के बदले हुए नाम से बटाविया भेजा गया और उसका काम जर्मन अभिकर्त्ता थियोडोर हेल्फ़ेरिख से मिलकर योजनाओं को सुनिश्चित करना था। 'मैवरिक' और 'हैनरी एस०' नाम के दो जहाज़ों से भारत के लिए शस्त्र और धन भेजने का निश्चय किया गया। बटाविया से आनेवाले इस सामान को छुड़ाने के लिए 'हैरी एंड संस' नाम की जाली कम्पनी बनाई गई। यह अनुमान किया जाता था कि बंगाल की सेना से निपटने के लिये क्रांतिकारी संगठन की शक्ति पर्याप्त होगी और दूसरे प्रान्तों की सैन्य-सहायता को रोकने के लिए यह निश्चय किया गया कि बंगाल को शेष भारत से जोड़नेवाले तीन प्रमुख रेल मार्गों के बड़े-बड़े पुलों को उड़ा दिया जाय। सुन्दरबन क्षेत्र में राय मंगल नामक स्थान पर, बटाविया से आनेवाले सामान को उतारने की और उसको एक निकटवर्ती स्थान में जमा करने की व्यवस्था की गई। बाद में उसी स्थान से, इन हथियारों का क्रांतिकारी संस्थाओं में वितरण होना था।

'मैवरिक' जहाज़ सैन फ्रैन्सिस्को से रवाना हुआ और उसमें इरानियों के वेश में पाँच भारतीय क्रांतिकारी, जहाज़ के परिचारकों के रूप में मौजूद थे, किंतु जहाज़ ने अपना नौभार नहीं लिया था। सोकोरो द्वीप के निकट 'मैवरिक' की 'एनी लार्सेन नामक स्कूनर (छोटा जहाज़) से भेंट होनी थी। स्कूनर को न्यूयार्क से टौशर नामक जर्मन व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए हथियार लाने थे और उक्त द्वीप के निकट 'मैवरिक' को सौंपने थे। 'मैवरिक' ने इन हथियारों को अपने तले में एक तेल के खाली कुंड में छिपाने की व्यवस्था की थी। किंतु 'एनी लार्सेन' की 'मैवरिक' से नियत समय पर भेंट नहीं हो सकी और अन्त में वह लौटकर वाशिंगटन प्रदेश में एक स्थान पर पहुँचा, जहाँ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अधिकारियों ने उसके नौभार को जून १९१५ में पकड़ लिया। दूसरी ओर 'मैवरिक' जावा पहुँचा पर वह खाली था; बाद में उसे अमरीका वापिस भेज दिया गया।

"हैनरी एस०' को मनीला से रवाना होना था किंतु सीमा-शुल्क विभाग के अधिकारियों ने शस्त्र आदि के उसके नौभार को पकड़ लिया और उसे वहीं उतरवा लिया। यह सामान चटगाँव (पूर्वी बंगाल) के लिए निर्दिष्ट था।

इन प्रयत्नों के असफल हो जाने पर, शंघाई के जर्मन राजदूत ने हथियारों के

दो अन्य जहाज़ भेजने की व्यवस्था की। इनमें से एक का सामान हटिया में उतरना था और दूसरे का सामान बालासोर में उतरना था। किंतु वह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी क्योंकि इस बीच में भारत सरकार को सारे षड्यंत्र का पता लग गया और उसने उस षड्यंत्र को कुचलने के लिए समुचित प्रबन्ध कर लिया। बंगाल के नेताओं को गिरफ़्तार किया गया और पकड़ने के प्रयत्न में दो क्रांतिकारी मारे भी गए। इस षड्यंत्र से सम्बन्धित जो लोग शंघाई में थे उन्हें वहाँ की पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया और अमेरिकन अधिकारियों ने अमेरिका के भारतीय क्रांतिकारियों और उनके जर्मन-सहायकों पर सरकार की ओर से दो मुकदमे चलाए—एक शिकागो में और दूसरा सैन फ़्रैन्सिस्को में।

८.

उपद्रव का दूसरा केन्द्र पंजाब में था। सन् १९१३-१६ के बीच वहाँ का क्रांतिकारी आन्दोलन, बंगाल के आन्दोलन से भी ज़्यादा शक्तिशाली हो गया।

सन् १९०७-०८ में पंजाब की स्थिति के सम्बन्ध में एक पिछले अध्याय में चर्चा की जा चुकी है, किंतु उस समय वहाँ का आन्दोलन किसी भी रूप में क्रांतिकारी नहीं था। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब के क्रांतिकारी आन्दोलन की नींव सन् १९०८ में रखी जा चुकी थी। सिडीशन कमेटी ने[१] और साथ ही सर माइकेल ओ' डायर[२] ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अराजकतापूर्ण आन्दोलन से लाला लाजपतराय का सम्बन्ध था और उन्हीं के मकान से हरदयाल ने नवयुवकों को अराजकता के पथ पर अग्रसर करने का काम आरम्भ किया था। किंतु लाला लाजपतराय ने लिखा है:— "यह सारा बयान बिल्कुल झूठा है।"[३] वह अपने कथन की सचाई को सिद्ध करने के लिए तैयार थे। उन्होंने कहा है कि हरदयाल शहर में एक किराये के मकान में रहते थे जो उनके मकान से लगभग एक मील दूर था। यह सच है कि वह मि० चटर्जी आदि अपने नवयुवक मित्रों के साथ कभी-कभी उनसे मिलने आते थे। दूसरी ओर ऐसा प्रतीत है कि मि० अजीतसिंह, मांडले से लौटने के बाद अराजकता पूर्ण आन्दोलन में सम्मिलित हो गए थे।[४] सन् १९०९ में वे ईरान भाग गए और वहाँ से पेरिस और जेनेवा होते हुए रिओ-डी-जेनीरो (दक्षिण अमेरिका) चले गए। सर माइकेल ओ' डायर के अनुसार पहले महायुद्ध के दिनों में मि० अजीतसिंह का अमेरिका की ग़दर पार्टी से

१. See pages 144 and 145 of the Report.
२. O'Dwyer: India as I Knew it, page 186.
३. Lajpat Rai: The Political Future of India, page 163.
४. इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

सम्बन्ध था। अस्तु, दूसरे महायुद्ध के दिनों में वे इटली में थे। १५ अगस्त १९४७ के बाद उन्हें भारत लौटने की अनुमति दी गई। लेकिन १९४८ में उनकी मृत्यु हो गई।

जहाँ तक पंजाब के क्रांतिकारी आन्दोलन का सम्बन्ध है, यह बात अब निर्विवाद है कि हरदयाल उस आन्दोलन के वास्तविक संस्थापक थे। हरदयाल दिल्ली के रहने वाले थे और उनका विद्यार्थी जीवन बड़ा उज्ज्वल था। सरकार से उन्हें विदेश-छात्रवृत्ति मिली और १९०५ में वे पढ़ने के लिए ऑक्सफोर्ड चले गए। सन् १९०७ में छात्रवृत्ति छोड़ कर वे भारत चले आए। विदेशी राज्य का अन्त करने के उद्देश्य से उन्होंने लाहौर में रह कर, सामान्य बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध के कार्यक्रम का प्रचार किया। अपने काम के लिए उन्होंने लाहौर के दो नवयुवकों को भर्ती किया—एक तो मि० जे० एन० चटर्जी थे, जो बाद में बैरिस्टरी के अध्ययन के लिए इंग्लैंड को चले गए,और दूसरा नवयुवक था दीनानाथ, जो बाद में मुखबिर हो गया। उन्होंने इन नवयुवकों के शिक्षण का भार दिल्ली के मास्टर अमीरचन्द को सौंपा। मास्टर अमीरचन्द स्वयं हरदयाल के शिक्षक रह चुके थे, लेकिन १९०८ में हरदयाल ने उन्हें क्रांतिकारी बना लिया था। तदुपरान्त हरदयाल, आन्दोलन का संगठन करने के उद्देश्य से विदेश चले गए। अमीर चन्द ने दीनानाथ का शिक्षण जारी रखा और साथ ही अवध बिहारी और बालमुकुन्द नामक दो नवयुवकों को और भर्ती किया। शिक्षण कार्य में, अमीरचन्द को, देहरादून के फ़ॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीटयूट के रासबिहारी की सहायता प्राप्त थी। रासबिहारी ने अपन बंगाली नौकर बसन्तकुमार दास को भी क्रांतिकारी दल में सम्मिलित कर लिया और धन और शस्त्रों की सहायता प्राप्त करने के लिए पंजाब के क्रांतिकारी समुदाय का बंगाल क्रांतिकारी संगठन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इस प्रकार मास्टर अमीरचन्द और रासबिहारी को पंजाब के सर्वप्रथम क्रांतिकारी दल का सहकारी संचालक कहा जा सकता है।

सन् १९१३ में सरकार को इस क्रांतिकारी दल का पता लगा और उसके सदस्यों पर षड्यंत्र का मुकदमा चलाया गया। यह अभियोग, दिल्ली षड्यंत्र केस के नाम से प्रसिद्ध है। "मुकदमे के सिलसिले में जो गवाहियाँ सामने आईं, उनसे इस बात का संदेह होता है कि (वाइसरॉय लॉर्ड हार्डिज पर बम फैंकने से सम्बन्धित) दिल्ली-कांड के लिए यही लोग उत्तरदायी थे। इन लोगों ने अत्यन्त उग्र तथा उत्तेजक पर्चे भी बाँटे थे। ये पर्चे कलकत्ता से प्राप्त किए गए थे।..........यह बात भी सिद्ध हुई कि इन्हीं लोगों की योजना के अनुसार बसन्तकुमार दास ने १७ मई १९१३ को कुछ यूरोपीयनों को मारने अथवा घायल करने के उद्देश्य से लाहौर के लारेंस गार्डन की एक सड़क पर बम रखा था। उस बम से एक भारतीय चपरासी की,

जो अंधेरे में साइकल पर जा रहा था, मृत्यु हो गई थी।"[१]

इन अपराधों के लिए अभियुक्तों को बड़ा कठोर दंड दिया गया। अमीर चन्द, अवध बिहारी, बाल मुकुन्द और बसन्तकुमार दास को फाँसी की सज़ा दी गई और दो को सात साल का कठोर कारावास-दंड दिया गया। जिन लोगों को फाँसी का दंड दिया गया था "उनमें से दो ने स्वयं कोई अपराध नहीं किया था किंतु वे षड्यंत्र में सम्मिलित थे।"[२] रास बिहारी भाग गए। सर माइकेल ओ' डायर ने लिखा, है "वह अब भी फ़रार हैं—मैंने हाल ही में सुना है कि वह टोकियो में हैं।"[३] दूसरे महायुद्ध के दिनों में वे सुभाषचन्द्र बोस के सम्पर्क में थे जिन्होंने इंडियन नेशनल आर्मी (आज़ाद हिंद फ़ौज) का संगठन किया था और बर्मा में भारतीय प्रजातन्त्र की सामयिक सरकार बनाई थी।

९.

अगले तीन वर्षों में अमेरिका से देशान्तरगामी सिक्खों के बहुत बड़ी संख्या में लौटने पर, पंजाब का क्रान्तिकारी आन्दोलन और ज्यादा शक्तिशाली हो गया। अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सिक्खों ने अमेरिका और सुदूर पूर्व के लिए देशान्तर गमन किया। और बहुत से लोग थे जो कनाडा में बसने के लिए उत्सुक थे। लेकिन कनाडा के अधिकारीगण उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ डाल रहे थे। वे भविष्य में, भारतवासियों को अपने देश में बसने से रोकने के लिये तुले हुए थे। केवल इतना ही नहीं, वरन् वे पहले बसे हुए भारतीयों को भी भगाने के लिए हर तरह के उपायों को काम में ला रहे थे। वहाँ बसे हुए सिक्खों को अपनी पत्नियों और बच्चों को भारत से लाने की आज्ञा नहीं थी। कनाडा में बसने के लिए आने वाले हर एशिया निवासी को दो शर्तें पूरी करना आवश्यक था। एक शर्त तो यह थी कि प्रत्येक देशान्तराधिवासी के पास २०० डालर होने चाहिएँ और दूसरी शर्त यह थी कि अपने देश से कनाडा तक उसकी यात्रा अविच्छिन्न होनी चाहिए[४]। इसका अर्थ यह था कि भारतवासी कनाडा में बसने के लिए नहीं जा सकते थे क्योंकि भारत से सीधे कनाडा जाने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। सन् १९१३ में कनाडा से तीन सिक्ख प्रतिनिधि आए और उन्होंने ब्रिटिश कोलम्बिया में रहने वाले भारतीयों की शिकायतों को दूर कराने के लिए भारतीय जनमत जागृत किया[५] और भारत सरकार से यह अनुरोध किया कि वह इस संबंध में उपयुक्त कार्यवाही करे। उन्होंने

१. Indian Sedition Committee Report 1918, page 144.
२. Lajpat Rai: Political Future of India, page 173.
३. O' Dwyer: India as I Knew it, page 185.
४. Report of the Indian Sedition Committee, page 146.
५. सिडीशन कमेटी के अनुसार ये लोग ग़दर पार्टी के सदस्य थे।

पंजाब सरकार के अध्यक्ष तथा वाइसरॉय, दोनों से भेंट की। पंजाब के विभिन्न स्थानों में उन्होंने सार्वजनिक सभाएँ कीं। किन्तु कनाडा की सरकार ने अपने प्रतिबंधों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। सरदार गुरदीतसिंह[1] नामक एक सिक्ख सज्जन ने सार्वजनिक भावनाओं से प्रेरित होकर, कनाडा के विनियमों से बचने के लिए 'कोमागाटा मारू' नामक जापानी जहाज़ को किराये पर लिया और उसके द्वारा यात्रियों को हांगकांग, शंघाई आदि स्थानों से सीधे वैंक्यूवर पहुँचाने का निश्चय किया। यह जहाज़ ४ अप्रैल १९१४ को हांगकांग से रवाना हुआ और २३ मई को वैंक्यूवर पहुँचा और उसमें ३५१ सिक्ख तथा २१ पंजाबी मुसलमान थे। "स्थानीय अधिकारियों ने यात्रियों को जहाज़ से उतरने नहीं दिया क्योंकि उनके अनुसार यात्रियों ने विनियमों का पालन नहीं किया था। निवेदन किया गया, विरोध किया गया और जब ये बातें चल ही रही थीं,जहाज़ को, उसका शेष किराया (२२००० डालर) भी दिया गया। यह किराया वैंक्यूवर के भारतीयों ने दिया था जिसको बाद में दो प्रमुख उपद्रवियों ने अपने ज़िम्मे ले लिया।"[2] जहाज़ को कनाडा-तट को छोड़ कर चले जाने की आज्ञा दी गई लेकिन सिक्खों ने आज्ञा का उल्लंघन किया। पुलिस को मार कर भगा दिया गया। तब आज्ञाओं का पालन कराने के लिए सरकारी जहाज़ में सशस्त्र सैन्यदल भेजा गया। कनाडा की सरकार ने वापिसी यात्रा के लिए संभरण की व्यवस्था की और २३ जुलाई १९१४ को कोमागाटा मारू ने कनाडा से एशिया के लिए यात्रा आरंभ की। "इस समय तक यात्रियों का क्रोध बहुत बढ़ गया था क्योंकि उन्होंने इस यात्रा के लिए अपना सर्वस्व दाव पर लगा दिया था। · · · प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी प्रभावों से यह क्रोध और भी ज़्यादा बढ़ गया। क्रान्तिकारी दल ने वैंक्यूवर में जहाज़ पर चोरी से शस्त्र भिजवाने का प्रयत्न भी किया था।"[3]

कोमागाटा मारू के वापिस लौटने से पहले ही यूरोप में युद्ध आरम्भ हो गया। भारतीय अधिकारियों ने यात्रियों पर, बीच में किसी बन्दरगाह पर न उतरने की रोक लगा दी और उनसे सीधे कलकत्ते आने के लिए कहा। २९ सितम्बर को जहाज़ ने बजबज में लंगर डाला। इस समय तक 'भारत प्रवेश' अध्यादेश बन गया था। उसके अनुसार भारत सरकार, राज्य-संरक्षण की दृष्टि से आवश्यकता अनुभव करने पर, भारत में प्रवेश करने वाले किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रोक लगा सकती थी। अध्यादेश के अन्तर्गत सरकार ने सारे यात्रियों को एक

१. सरदार गुरदीत सिंह सिंगापुर में आकर बस गए थे और वे वहाँ के एक समृद्ध ठेकेदार थे।

२. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 147.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १४८.

स्पेशल रेलगाड़ी से बैठकर, सीधे पंजाब चले जाने की आज्ञा दी। यात्रियों को कोई किराया नहीं देना था। लेकिन "सिक्खों ने गाड़ी में घुसने से इंकार कर दिया और कलकत्ते में एक जलूस के रूप में घुसने का प्रयत्न किया। उनको बलात् लौटाया गया; फलत: उपद्रव हुए और दोनों ओर के आदमी मारे गए। बहुत से सिक्खों के पास अमेरिकन रिवाल्वर थे। जहाज़ के सिर्फ़ ६० आदमी, जिनमें १७ मुसलमान भी सम्मिलित थे, स्पेशल रेलगाड़ी से पंजाब गये। उपद्रव में १८ सिक्ख मारे गए, बहुतों को उस समय या बाद में गिरफ़्तार कर लिया गया; और २९ आदमी, जिनमें गुरदीत सिंह भी सम्मिलित थे, ग़ायब होगए। जो लोग गिरफ्तार हुए थे, उनमें से अधिकाँश को अगली जनवरी में अपने घर जाने की आज्ञा दे दी गई; ३१ लोगों को जेल में नज़रबन्द कर दिया गया।"[1] इस प्रकार कनाडा के विनियमों से बचने के प्रयत्न का अन्त हुआ।

१०.

कोमागाटा मारू की घटना के कारण, ब्रिटिश सरकार के प्रति सिक्खों की भावनाएँ बड़ी तीखी हो गईं; सिक्खों के अनुसार उनकी सारी विपत्तियों के लिए ब्रिटिश सरकार ज़िम्मेदार थी। विदेशों में रहने वाले सिक्खों[2] पर ग़दर-पार्टी के क्रान्तिकारी प्रचार का अब अधिक प्रभाव हो सकता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह पार्टी जर्मन सरकार की सहायता से भारत में क्रान्ति करने के लिए योजना बना रही थी।[3] पार्टी के क्रान्तिकारियों ने सिक्खों पर पंजाब वापिस जाने के लिए ज़ोर दिया और कहा कि वे उस सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए सहायता दें जिसने साम्राज्य के प्रति उनकी पिछली सेवाओं के बदले उनके साथ ऐसा बुरा व्यवहार किया था। "विदेशों में बसे हुए बहुत-से भारतीयों पर प्रभाव पड़ा और वे कनाडा, संयुक्त राष्ट्र, फिलिपाइन्स, हांगकांग और चीन से भारत लौट आए।"[4]

सन् १९१४-१५ में ग़दर पार्टी के प्रचार की तीव्रता बढ़ गई। हरदयाल ने ही रामचन्द्र, पेशावरी और बरकतुल्ला की सहायता से ग़दर पार्टी का संगठन किया था और उसका प्रधान केन्द्र कैलिफ़ोर्निया में था। पंजाब में क्रांतिकारी आन्दोलन[5] का उपक्रमण करने के बाद हरदयाल १९११ के आरम्भ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पहुँचे थे और बर्कले (कैलिफ़ोर्निया) में बस गए थे। वहाँ पर बसे

---

१. Indian Sedition Committee Report, 1918, पृष्ठ १९८।

२. कनाडा में लगभग ४००० सिक्ख बसे हुए थे। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र, फिलिपाइन, हांगकांग और चीन में भी बहुत-से सिक्ख बसे हुए थे।

३. इसी अध्याय में इसका वर्णन किया जा चुका है।

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९९.

५. इसी अध्याय के आठवें विभाग को देखिये।

हुए सिक्खों में एक प्रकार का क्रांतिकारी संगठन पहले से ही काम कर रहा था। हरदयाल ने उसे शक्तिशाली क्रांतिकारी केन्द्र बनाने के लिए अपना काम तुरन्त आरम्भ कर दिया। उन्होंने सारे संयुक्तराष्ट्र में प्रचार करने के लिए एक परिक्रम का संगठन किया। सन् १९१३ में उन्होंने 'ग़दर' नामक एक पत्र 'युगान्तर आश्रम' से निकाला और उसे कई भारतीय भाषाओं में छापा। यह पत्र अमेरिका और सूदूर पूर्व में बसे हुए भारतीयों में और भारत के विभिन्न भागों और विभिन्न वर्गों में मुफ़्त बाँटा जाता था। "'ग़दर' की भाषा, ब्रिटिश-विरोधी और अत्यन्त उग्र होती थी; उसमें मानवीय मनोभावों को हर संभव युक्ति से भड़काया जाता था; उसके प्रत्येक वाक्य में हत्या और विद्रोह का प्रचार होता था; और सभी भारतवासियों से भारत जाने के लिए आग्रह किया जाता था और उनसे कहा जाता था कि वे भारत में अंग्रेज़ों की हत्या करें, सरकार के विरुद्ध क्रांति करें और हर संभव उपाय को काम में लाकर ब्रिटिश राज्य का अन्त करें"।[१] हरदयाल ने इस समाचार-पत्र की सहायता से और सार्वजनिक तथा निजी सभाओं में व्याख्यानों द्वारा पार्टी के काम को आगे बढ़ाया। हरदयाल के लेख और व्याख्यान बड़े प्रभावशाली होते थे। १६ मार्च १९१४ को अमेरिकन अधिकारियों ने उन्हें निर्वासित करने के उद्देश्य से गिरफ़्तार किया। उन्हें ज़मानत पर छोड़ा गया लेकिन वे 'युगान्तर आश्रम' का काम रामचन्द्र को सौंप कर बरकतुल्ला के साथ स्विट्ज़रलैंड भाग गए और वहाँ से जर्मनी चले गए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है[२], इन लोगों ने बर्लिन में इंडियन नैशनल पार्टी का संगठन किया और जर्मनी की सहायता से भारत में प्रबल क्रांति करने की योजना बनाई।

महायुद्ध के पहले तीन वर्षों में पंजाबके क्रान्तिकारी आन्दोलन का निर्देशन दो परस्पर असंबद्ध केन्द्रों से हुआ; फलतः आन्दोलन की दो पृथक् धाराएँ थीं—एक में तो मुख्यतः विदेशों से लौटे हुए सिक्ख थे[३] और दूसरी धारा में 'पैन-इस्लामिक' मुसलमान थे। सिक्खों का निर्देशन अमेरिका और सुदूर पूर्व से हो रहा था। इन लोगों की सहायता के लिए ग़दर पार्टी ने अमेरिका से पिंगले को भेज दिया था। इस धारा को रासबिहारी बोस का सहयोग भी प्राप्त था; जैसा कि पहले कहा जा चुका है रासबिहारी बोस को दिल्ली षड्यन्त्र केस में फांसी का दण्ड दिया गया था पर वे गिरफ़्तार होने से पहले ही फ़रार हो गए थे। 'पैन-इस्लामिक' षड्यन्त्र का निर्देशन-केन्द्र काबुल में था और इसके नेता थे बरकतुल्ला और महेन्द्र प्रताप। इस षड्यन्त्र

१. Indian Sedition Committee Report 1918, pages 145-146.

२. इसी अध्याय के सातवें विभाग को देखिये।

३. इनमें कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू भी थे।

के सम्बन्ध में आगे चर्चा की जाएगी।

११.

महायुद्ध आरम्भ होने के कुछ ही समय बाद, कलकत्ता, मद्रास और कोलम्बो में, विदेशों में बसे हुए सिक्खों से भरे हुए जहाज़ आने लगे। सरकार को जो सूचना मिली थी उसके अनुसार ये लोग ग़दर पार्टी के अनुयायी हो गए थे और वे पंजाब में क्रान्ति करने के उद्देश्य से वापिस लौट रहे थे। २९ अगस्त १९१४ को 'विदेशवासी' अध्यादेश इन लोगों पर लागू नहीं हो सकता था। अतः ५ सितम्बर १९१४ को 'भारत प्रवेश' अध्यादेश बना कर जारी किया गया। इस अध्यादेश को सबसे पहले 'कोमागाटा मारू' जहाज़ के यात्रियों पर लागू किया गया।

२९ अक्तूबर को 'टोसा मारू' नामक दूसरा जापानी जहाज़ कलकत्ता आया; इसमें १७३ यात्री थे, जिनमें से अधिकांश, अमेरिका और सुदूरपूर्व से लौटने वाले सिक्ख थे। उसमें क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता भी थे, जिनमें से प्रत्येक को, प्रान्त के एक निश्चित क्षेत्र में काम करना था। पुलिस की जानकारी में १६ मार्च १९१५ तक, विदेशों से लौटे हुए ३१२५ आदमी पंजाब पहुँचे। पंजाब सरकार ने उनके मामलों की जाँच करने के लिए प्रभावशाली सिक्खों की स्थानीय कमेटियाँ विशेषरूप से नियुक्त की थीं और जाँच के फलस्वरूप १८९ आदमियों को जेल में रखा गया, ७०४ आदमियों पर अपने गाँव से बाहर न जाने के लिए रोक लगाई गई और २२११ आदमियों को कहीं भी आने-जाने की स्वतन्त्रता दी गई।[1] इन प्रतिबन्धों के कारण, विदेशों से लौटने वाले लोगों की योजनाएँ चौपट हो गईं किन्तु कुछ समय बाद, पिंगले और रासबिहारी बोस की सहायता से नई योजनाएँ बना ली गईं। इस बीच में, आवश्यक निधि संग्रह करने के उद्देश्य से लूट और हत्या का क्रम आरम्भ कर दिया गया। २७ नवम्बर १९१४ को १५ आदमियों के एक दल ने मोगा तहसील के खजाने पर धावा बोला। एक थानेदार और एक ज़िलेदार ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया, पर वे दोनों मारे गए। गाँववालों ने और पुलिस के आदमियों ने डाकुओं का पीछा किया जिसके फलस्वरूप दल के दो आदमी मारे गए, सात पकड़े गए, बाकी भाग गए। २८ तारीख को अमृतसर ज़िले के एक गाँव में एक दल और इकट्ठा हुआ लेकिन पुलिस और घुड़सवारों के आ जाने के कारण वे लोग भाग गए। ८ दिसम्बर १९१४ को एक पुलिस-अधिकारी पृथी राजपूत नामक एक संदिग्ध देशान्तरगामी को गिरफ़्तार करने गया किन्तु उस पर हमला किया गया और उसे अधमरा कर दिया गया। १७ तारीख को हिसार ज़िले के पीपली गाँव के एक ब्राह्मण से लगभग २२००० हज़ार रुपये लूट लिए गए।

१. The Indian Sedition Committee Report 1918, page 155.

पंजाब सरकार ने इस गम्भीर स्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार से एक नया, कठोर अध्यादेश बनाने के लिए कहा। एक ओर सरकार अध्यादेश बनाने में लगी हुई थी, दूसरी ओर विदेशों से लौटे हुए लोग अपनी योजना के अनुसार डकैतियों और हत्याओं के कार्यक्रम में लगे हुए थे। दिसम्बर १९१४ में और जनवरी तथा फर्वरी १९१५ में पंजाब के केन्द्रीय ज़िलों में कितने ही डाके डाले गए और रेलों की पटरियाँ उखाड़ने तथा पुलों को उडाने[1] के प्रयत्न किए गये। इन कामों के अतरिक्त, पंजाब के तीन महत्त्वपूर्ण सैनिक केन्द्रों में २१ फ़र्वरी १९१५ को एक समकालिक व्युत्थान का षड्यन्त्र भी रचा गया।

यह षड्यन्त्र, लाहौर षड्यन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है और इसकी योजना, पिंगले और रासबिहारी बोस ने बड़े यत्नपूर्वक बनाई थी। अमृतसर में बम बनाने के लिए एक फैक्ट्री खोली गई थी ; लेकिन आन्दोलन का प्रधान केन्द्र लाहौर में था और रासबिहारी बोस उसके मुख्य निर्देशक थे। उन्होंने "उत्तर भारत की विभिन्न छावनियों से नियत दिवस पर सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए, इन छावनियों में अपने दूत भेजे। उन्होंने विद्रोह के लिए, बहुत-से गाँववालों के दलों का संगठन भी किया। बम बनाए गए; हथियार इकट्ठे किए गए; झंडे तैयार किए गए; युद्ध की घोषणा लिखी गई; पटरियाँ उखाड़ने और तारों को काटने के औज़ार इकट्ठे किए गए।····इन लोगों ने लाहौर, फ़ीरोजपुर और रावलपिण्डी में समकालिक व्युत्थान की योजना बनाई थी; बाद में यह प्रकट हुआ कि उनका कार्य-क्षेत्र और भी ज्यादा बड़ा था····।"[1] एक गुप्तचर से सरकार को इस योजित व्युत्थान का पता लगा और सरकार ने रासबिहारी बोस के प्रधान केन्द्र पर छापा मारा। "तेरह आदमी पकड़े गए और चार मकानों की तलाशी ली गई। बारह बम पकड़े गए जिनमें से पाँच बम बंगाली नमूने पर बने हुए थे।·····रासबिहारी और पिंगले भाग गए लेकिन एक महीने बाद मेरठ छावनी में पिंगले को पकड़ा गया और उसके पास कुछ बम भी पाए गए।"[2]

इस प्रकार व्युत्थान की योजना को आरम्भ में ही कुचल दिया गया लेकिन राजनैतिक डकैतियों और हत्याओं का क्रम कुछ समय बाद तक चलता रहा। सरदार चन्दासिंह और सरदार बहादुर अच्छर सिंह जैसे प्रमुख सिक्ख सहयोगियों की हत्या की गई। पहले लाहौर षड्यन्त्र अभियोग के एक गवाह कपूर सिंह की भी हत्या की गई। अगस्त १९१५ तक आन्दोलन ठंडा पड़ गया और ३१ जनवरी १९१६ को पंजाब सरकार ने लिखा :—"विदेशों से लौटे हुए सिक्ख

---

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये—Indian Sedition Committee Report 1918, pages 152-53.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ १५४.

अब व्यवस्थित होते जा रहे हैं और साधारणतया सिक्खों की भावनाएँ इस समय जितनी सन्तोषप्रद हैं उतनी पिछले कई वर्षों में नहीं रही।"[1]

पंजाब सरकार के अनुसार स्थिति में परिवर्तन के दो कारण थे। १९१५ के 'भारत रक्षा ऐक्ट' के अन्तर्गत सरकार ने कठोरता से काम लिया था। और साथ ही प्रान्त के राजभक्त लोगों को अपने पक्ष में ले लिया था।

१२.

जैसा कि पहले कहा जा चुका है पंजाब सरकार ने दिसम्बर १९१४ में वाइसरॉय के विचारार्थ एक अध्यादेश का मसविदा प्रस्तुत किया था। उसका उद्देश्य विदेशों से लौटे हुए लोगों के राजनैतिक अपराधों के लिए, त्वरित अभियोग-निर्णय की व्यवस्था करना था। उसके द्वारा "संदिग्ध परिस्थितियों में शस्त्रों का वहन" एक नया, पृथक् अपराध बनाया गया; और स्थानीय सरकार की अनुमति से "(अ) राजनैतिक अथवा अर्ध-राजनैतिक अपराधों के लिए न्याय-पद्धति के निराकरण की; (ब) ऐसे अपराधों में अपील के निराकरण की; (स) सम्बन्धित व्यक्तियों से वर्तमान पद्धति की अपेक्षा एक शीघ्रतर पद्धति से ज़मानत लेनें की; (द) क्रान्तिकारियों को शरण देने वाले ग्रामवासियों और गाँव के अधिकारियों को तुरन्त दण्ड देने की" व्यवस्था की गई।[2]

भारत-सरकार ने इस सम्बन्ध में तुरन्त ही एक अध्यादेश बनाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की, लेकिन पंजाब सरकार आग्रह करती रही और २१ फ़रवरी को लाहौर षड्यंत्र का पता लगने के बाद यह आग्रह और ज्यादा बढ़ गया। भारत सरकार इंगलैंड के डिफेंस ऑव दी रिएल्म ऐक्ट के ढंग पर डिफेंस ऑव इंडिया (भारत-रक्षा) ऐक्ट बनाने का विचार कर ही रही थी। अतः पंजाब और बंगाल की विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए, भारत-सरकार ने, पंजाब सरकार के प्रस्तावित मसविदे की धाराओं को उस ऐक्ट में सम्मिलित करने का निश्चय किया।

इस पृष्ठ भूमि में यह स्पष्ट है कि १९१५ का भारत रक्षा एक्ट केवल युद्ध की ही परिस्थितियों का सामना करने के लिए नहीं बनाया गया था। उसका उद्देश्य राजनैतिक अपराधों का दमन करना भी था और उसके लिए देश के साधारण फ़ौजदारी कानूनों का अतिक्रमण करने की व्यवस्था की गई। यही मत, परिषद् में, इस विषय पर विवाद के सिलसिले में माननीय पं. मदन मोहन मालवीय ने प्रकट किया था। इस ऐक्ट को साम्राज्यीय विधान परिषद् की एक ही बैठक में (१८ मार्च

१. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 157.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ १५१.

१९१५ को) बनाया गया और उसके विभाग नं. ३ के अनुसार, "किसी भी व्यक्ति को, किसी भी अपराध पर प्राणदंड, निर्वासन-दंड अथवा सात वर्ष तक कारावास दंड" दिया जा सकता था।[१] इस पर पं. मालवीय ने कहा, "इस विभाग के द्वारा साधारण अपराधों के अभियोग-निर्णय के लिए फ़ौजदारी पद्धति संहिता की धाराओं का वस्तुतः अन्त किया जा रहा है।"[२]

देश अथवा साम्राज्य के सैनिक और समुद्री हितों के संरक्षण से सम्बन्धित धाराओं का परिषद् में कोई भी विरोध नहीं किया गया। साथ ही उग्र राजनैतिक अपराधों के दंड और दमन से सम्बन्धित धाराओं का भी कोई विरोध नहीं किया गया। किन्तु बहुत से ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने, विशेष न्याय-सभाओं की रचना, उनके विधान, ऐक्ट के अन्तर्गत अभियोगों के निर्णय और प्राणदंड देने के लिए उन न्याय सभाओं के अधिकारियों से सम्बन्धित धाराओं का प्रबल विरोध किया।

यह मत प्रकट किया गया कि जिन अपराधों का देश की रक्षा से सम्बन्ध हो, उनका अभियोग निर्णय (इंगलैंड के ढंग पर) सैनिक न्यायालय द्वारा होना चाहिए और अन्य अपराधों का निर्णय साधारण न्यायालयों द्वारा होना चाहिए। किंतु विभाग नं. ४ के अनुसार, ऐक्ट के अन्तर्गत सभी अभियोगों का निर्णय विशेष न्याय सभाओं द्वारा होना था। प्रत्येक न्याय सभा में स्थानीय सरकार द्वारा नियुक्त, तीन कमिश्नर होने थे। बहुत से ग़ैर-सरकारी सदस्यों के अनुसार कमिश्नरों के लिए जो अर्हता निश्चित की गई थी, वह असंतोप्रषद थी। उनका मत यह था कि विशेष न्याय-सभाओं के सदस्य हाईकोर्ट के जज होने चाहिएँ; किंतु ऐक्ट के अनुसार सैशन्स (सत्र-न्यायालय का) जज अथवा अतिरिक्त सैशन्स जज भी कमिश्नर नियुक्त किया जा सकता था और न्याय-सभा के तीन कमिश्नरों में से केवल दो के लिए ही विधिक ज्ञान अथवा न्यायिक अनुभव की आवश्यकता थी।[3] सम्राट् के खिलाफ युद्ध का षड्यंत्र रचने के उद्देश्य से अथवा सम्राट् के शत्रुओं को सहायता देने के उद्देश्य से, ऐक्ट के अन्तर्गत बने हुए नियमों अथवा ऐक्ट की आज्ञाओं का किसी प्रकार भी उल्लंघन करनेवाले अभियुक्त को, न्याय सभा के कमिश्नर प्राण दंड दे सकते थे। पंडित मालवीय ने कहा, "युद्ध के बन्दियों को नज़रबन्द किया जाता है; क्या विचाराधीन अभियुक्तों को नज़रबन्द रखने से अथवा

१. "Acts of 1915," page 8.

२. Indian Legislative Council Proceedings, Vol. LIII, page 490.

३. "Acts of 1910", page 8.

जीवन-भर के लिए निर्वासित करने से, सार्वजनिक सुरक्षा और न्याय की माँग पूरी नहीं हो सकती ?..........प्राण दंड में, एक अपरिवर्तनीय अन्याय की जोखिम होती है। त्वरित एवं संक्षिप्त अभियोग-निर्णय की व्यवस्था में यह जोखिम और ज्यादा बढ़ जाती है" ; विशेषकर ऐसे समय जब उच्चतर न्यायालय में अपील करने की व्यवस्था न हो। ऐक्ट के विभाग नं. ६ के अनुसार कमिश्नरों का निर्णय "अन्तिम और अपरिवर्तनीय" था।[१]

१३.

सन् १९१५ के भारत रक्षा एक्ट के अन्तर्गत, विशेष न्याय-सभाओं में, लाहौर षड्यंत्र और अन्य राजनैतिक अपराधों में सम्मिलित लोगों पर अभियोग चलाए गए। इन अभियोगों को ९ जत्थों में बाँटा गया था किंतु यहाँ पर तीन 'लाहौर षड्यंत्र' अभियोगों की संक्षिप्त[२] चर्चा करना ही पर्याप्त होगा।

पहले अभियोग के जत्थे में ६१ अभियुक्त थे। इस जत्थे में आन्दोलन के लगभग सारे नेता सम्मिलित थे और उनमें पिंगले और भाई परमानन्द भी थे। भाई परमानन्द १९१३ में भारत वापिस लौट आए थे और वे अमेरिका में हरदयाल के प्रमुख सहयोगी माने जाते थे। विशेष न्याय-सभा के निर्णय के अनुसार वे "षड्यंत्रकारियों के नेता थे"; अतः उन्हें प्राण-दंड दिया गया। वाइसरॉय ने इस दंड को घटा कर, आजीवन निर्वासन-दंड दिया ; बाद में इसको भी क्षमा कर दिया गया।

दूसरे अभियोग में ७४ अभियुक्त थे। २१ फ़र्वरी की योजना के असफल हो जाने के बाद भी, विदेशों से लौटे हुए लोग अपना क्रांतिकारी काम करते रहे। उन्होंने विद्यार्थियों में और भारतीय सैनिकों में क्रांतिकारी प्रचार का प्रयत्न किया और इन बातों के अतिरिक्त वे लोग कई हत्याओं और डकैतियों के लिए भी उत्तरदायी थे।

तीसरे लाहौर-षड्यंत्र अभियोग में कुल १२ अभियुक्त थे पर वे लोग उस जर्मन योजना से सम्बन्धित थे जिसके अनुसार बर्मा की ओर से भारत पर आक्रमण किया जाना था। आक्रमणकारियों का केन्द्र बैंकाक में था जहाँ कनाडा से लौटे हुए कुछ भारतीय क्रांतिकारी एकत्र हो गए थे और जर्मन-अभिकर्ताओं के साथ मिलकर काम कर रहे थे।

इन षड्यंत्र-अभियोगों में अत्यन्त कठोर दंड दिए गए। कुल १७५ व्यक्तियों पर अभियोग चलाया गया था "जिन में से १३६ अभियुक्तों के अपराधों के लिये

१. "Acts of 1915", page 9.

२. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये—Indian Sedition Committee Report 1918, pages 157–160.

मृत्युदंड मिलना चाहिए था......................किंतु केवल ३८ व्यक्तियों को प्राणदंड दिया गया..............इसमें से भी १८ अभियुक्तों के दंड को घटाकर निर्वासन दंड कर दिया गया....................और इस प्रकार अन्त में केवल २० आदमियों को फाँसी दी गई; ५८ को आजीवन निर्वासन दंड दिया गया, ५८ को कुछ वर्षों के लिए निर्वासन अथवा कारावास का दंड दिया गया।"[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है क्रांतिकारियों ने भारतीय सैनिकों में राजसत्ता के प्रति अभक्ति फैलाने का प्रयत्न किया था और इस दिशा में उन्हें कुछ सफलता भी मिली थी। सैनिक अधिकारियों ने खुले सैनिक न्यायालय में अभियोगों का निर्णय करना अनीतियुक्त समझा क्योंकि सर माइकेल के अनुसार "वे विद्रोहपूर्ण तैयारियों[2] के रहस्य को सर्वसाधारण में प्रकट नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने कलुषित सिक्ख सैन्य-उपदल को लड़ाई के मोर्चे पर भेज दिया। शस्त्रागार को किसी अन्य स्थान पर पहुँचाया गया पर जब सामान को गाड़ी से उतारा जा रहा था तो कुछ बम, जो कई महीनों से गुप्त रखे गए थे, फट गए। ऐसी स्थिति में अभियोगों को सैनिक न्यायालय के सिपुर्द करना आवश्यक हो गया। फलतः उस उपदल के १८ सैनिकों को प्राणदंड दिया गया; इनमें से छैः सैनिकों का दंड घटा दिया गया और बारह को फांसी दे दी गई।"[3]

१४.

युद्ध के दिनों में पंजाब में क्रांति करने के लिए 'पैन-इस्लामिस्ट' पार्टी ने भी प्रबल प्रयत्न किया। इस पार्टी का केन्द्र काबुल में था और इसके निर्देशक थे महेंद्रप्रताप और बरकतुल्ला। इन लोगों को बर्लिन की इंडियन नेशनल पार्टी ने काबुल भेजा था।

सन् १९११-१३ में बाल्कन युद्ध और तुर्किस्तान से इटली के युद्ध के समय, भारत में 'पैन-इस्लामिक' आन्दोलन जोर पकड़ गया था। इस आन्दोलन के नेता थे मौलाना जाफ़र अली, मुहम्मद अली और शौकत अली। मौलाना ज़ाफ़र अली लाहौर से निकलने वाले 'ज़मींदार' के सम्पादक थे और मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली ये दोनों भाई क्रमशः 'कामरेड' और 'हमदर्द' के सम्पादक थे। पिछले दोनों पत्र दिल्ली से प्रकाशित होते थे। तुर्किस्तान के प्रति ब्रिटिश नीति से, ये लोग अप्रसन्न थे और इन्होंने तुर्किस्तान के अपने इस्लामी भाइयों के लिए भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति जागृत की। वस्तुतः 'पैन-इस्लामिक' आन्दोलन सभी देशों के मुसलमानों से सम्बन्धित था। अस्तु, १९१२ में तुर्किस्तान के लिए

१. O'Dwyer: India as I Knew it, page 207.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २०३.
३. O'Dwyer: India as I Knew it, page 203.

चन्दा इकट्ठा किया गया और मौलाना जाफ़र अली उसकी एक किस्त देने के लिए स्वयं ही कुस्तुन्तुनियाँ गए। सुल्तान ने इस भेंट को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया और उसने १९१४ के आरम्भ में लाहौर की बादशाही मस्जिद के लिए एक कालीन भेजा।

तुर्किस्तान से मौलाना जाफ़रअली के लौटने पर 'पैन-इस्लामिस्ट' समाचार-पत्र,ब्रिटिश नीति की, और भी ज़्यादा तीखी आलोचना करने लगे। पंजाब सरकार ने १९१३ में 'ज़मींदार' की ज़मानत ज़ब्त कर ली। दुबारा ज़मानत माँगी गई और दी गई लेकिन पत्र की नीति में कोई अंतर नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय बाद सरकार ने प्रेस और ज़मानत, दोनों को ज़ब्त कर लिया। महायुद्ध आरम्भ होने पर मौलाना जाफ़र अली और दोनों अली-बन्धुओं को उनके गांवों में नज़रबन्द कर दिया गया।

महायुद्ध में तुर्किस्तान के शामिल होने पर बर्लिन के भारतीय क्रांतिकारियों ने पूर्वीय देशों में मुस्लिम व्युत्थान के लिए 'पैन-इस्लामिक' भावनाओं का उपयोग करने के उद्देश्य से महेंद्रप्रताप और बरकतुल्ला को काबुल भेजने का निश्चय किया। महेन्द्रप्रताप, उत्तर प्रदेश के एक धनी ज़मींदार हैं और एक सिक्ख राजघराने में उनका विवाह हुआ था। महायुद्ध आरम्भ होने के कुछ ही समय बाद वे स्विट्ज़रलैंड चले गए और वहाँ हरदयाल के सम्पर्क में आए। वहाँ से उन्हें बर्लिन ले जाया गया और एक प्रभावशाली भारतीय नरेश के रूप में उनका परिचय दिया गया। बरकतुल्ला भूपाल के रहने वाले थे और १९०९ में टोकियो यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हो गए थे। जापान पहुँचने पर उन्होंने 'इस्लामिक फ्रैटर्निटी' नामक एक पत्र निकालना आरम्भ किया। सन् १९११ में वे मिश्र, तुर्किस्तान और रूस गये और कृष्णवर्मा के सम्पर्क में आए। जापान लौटने पर उनका पत्र बन्द कर दिया गया और १९१४ में उनको प्रोफ़ेसर के पद से हटा दिया गया। तब वे सैन फ्रैंसिस्को पहुँच कर हरदयाल के सहयोगी और ग़दर पार्टी के नेता हो गए और बाद में उनके साथ बर्लिन चले गए। वहाँ से एक तुर्क-जर्मन मंडल के साथ उनको और महेंद्रप्रताप को काबुल भेजा गया। इन लोगों के और मंडल के काबुल जाने का उद्देश्य दोहरा था—अफ़ग़ानिस्तान के शासक को फोड़ना और उत्तरी भारत में क्रांति कराना।

पंजाब में 'पैन-इस्लामिक' आन्दोलन जड़ पकड़ गया था। मुस्लिम तरुण वर्ग उत्तेजित थे। एक गुप्त संगठन क्रांतिकारी काम के लिए, विद्यार्थी समुदाय में से, अपने सदस्य भर्ती करने का प्रयत्न कर रहा था। उसने लाहौर से १५ विद्यार्थी भर्ती किए, जो कालेजों में पढ़ते थे। इनके अतिरिक्त पेशावर और कोहाट से भी कुछ विद्यार्थी भर्ती किए गए और इन लोगों को बड़े टेढ़े-मेढ़े रास्तों से भारत की

उत्तरी पश्चिमी सीमा के बाहर भेजा गया, जहाँ वहाबी समुदाय का ब्रिटिश-विरोधी प्रधान केन्द्र था। इस केन्द्र से ये लोग काबुल गये,जहाँ आरम्भ में तो उन्हें नज़रबन्द रखा गया पर बाद में उन्हें छोड़ दिया गया और कुछ शर्तों पर कहीं भी आने-जाने की स्वतन्त्रता देदी गई।"[१] इन लोगों का 'सिल्क लेटर' षड्यंत्र से सम्बन्ध था। "इस षड्यंत्र की योजना भारत में बनाई गई थी। और उसका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त करना था। योजना के अनुसार, उत्तरी पश्चिमी सीमा से भारत पर आक्रमण होना था और उसी समय पर देश में मुस्लिम व्युत्थान होना था। इस योजना को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अगस्त १९१५ में उबैदुल्ला नामक एक मौलवी अपने तीन साथियों—अब्दुल्ला, फतेह मुहम्मद और मुहम्मद अली—को लेकर अफ़गानिस्तान पहुँचा।"[२] उबैदुल्ला, देवबन्द के एक मज़हबी मकतब का मौलवी था और उसने उस मकतब के बड़े मौलवी मुहम्मद हसन को भी ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं से भर दिया था। "१८ सितम्बर १९१५ को मुहम्मद हसन ने उबैदुल्ला का अनुकरण किया और वह मुहम्मद मियाँ और कुछ अन्य मित्रों के साथ अरब चला गया।[३]

मुहम्मद हसन के दल ने अरब में अपना काम शुरू किया और उसने हडजाज़ के तुर्की सैनिक गवर्नर ग़ालिब पाशा से जिहाद की घोषणा भी प्राप्त कर ली। सन् १९१६ में मुहम्मद मियाँ, 'ग़ालिबनामा' (जिहाद की घोषणा) को लेकर भारत लौट आया। उसने इस घोषणा की प्रतियों का भारत और सीमा प्रान्त में वितरण किया और बाद में वह काबुल पहुँच कर उबैदुल्ला के दल में सम्मिलित हो गया। 'ग़ालिबनामा' में तुर्कों और मुजाहद्दीन की उपलब्धियों का वर्णन किया गया था; उसके बाद एशिया, यूरोप और अफ्रीका के मुसलमानों की तैयारियों का हाल बताया गया था; और अन्त में भारतीय मुसलमानों से यह अपील की गई थी:—"मुसलमानो, जिस ईसाई सरकार ने तुम्हें ग़ुलाम बना रक्खा है, उस पर आक्रमण करो।.... दृढ़ निश्चय से, प्राणपण से प्रयत्न करो और शत्रुओं का संहार करो और उनके प्रति अपनी घृणा और शत्रुता को जता दो।"[४] 'ग़ालिबनामा' ने भारतीय मुसलमानों से यह भी कहा कि वे मुहम्मद हसन का विश्वास करें और उसकी "धन और जन से हर प्रकार की सहायता करें।"[४]

इस काम के लिए काबुल में केन्द्र बनाया गया। उबैदुल्ला और उसके मित्र वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे और उन लोगों ने तुर्क-जर्मन मंडल से, बर्लिन के

१. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 175.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १७६.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १७७.
४. Indian Sedition Committee Report, 1918, page 178.

भारतीय क्रांतिकारियों से और भारत के मुहाजरीन विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित कर लिया था। सन् १९१६ में रास्ते में 'ग़ालिबनामा' की प्रतियाँ बांटते हुए, मुहम्मद मियाँ भी काबुल पहुँच गया। इन सब लोगों ने मिलकर बड़े यत्नपूर्वक अपनी योजना बनाई। एक 'सामयिक सरकार' की स्थापना की गई और महेन्द्रप्रताप को उसका अध्यक्ष तथा बरकतुल्ला को उसका प्रधान मन्त्री बनाया गया। इस 'सामयिक सरकार' ने रूसी तुर्किस्तान के गवर्नर के पास एक पत्र भेजा और साथ ही एक पत्र तत्कालीन ज़ार (रूस नरेश) के पास भी भेजा—यह पिछला पत्र एक सोने की तश्तरी पर लिखा गया था और उसमें रूस से यह कहा गया था कि "वह अंग्रेज़ों के साथ अपनी मित्रता तोड़ कर, भारत में ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए सहायता दे।"[१] 'सामयिक सरकार' ने मौलाना मुहम्मद हसन के ज़रिये से तुर्किस्तान सरकार के साथ भी सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। मौलाना मुहम्मद हसन को दो पत्र लिखे गए—एक पत्र उबैदुल्ला ने लिखा और दूसरा पत्र मुहम्मद मियाँ ने लिखा। ये पत्र पीले रेशमी कपड़े[२] पर लिखे गए और उन्हें हैदराबाद (सिंध) के शेख़ अब्दुर्रहीम के पास भेजा गया, और एक पृथक् पत्र में, उनसे यह कहा गया कि वे मक्का में मौलाना मुहम्मद हसन के पास उन रेशमी पत्रों को या तो किसी विश्वासपात्र आदमी के ज़रिये से या ख़ुद ही पहुँचा दें।

"मुहम्मद मियां के पत्र में, जर्मन और तुर्क मंडलों के आने की, जर्मन मंडल के वापिस चले जाने की,[३] तुर्क मंडल के ठहरने की, कार्यक्रम के अभाव की, भागे हुए विद्यार्थियों की, 'ग़ालिबनामा' के प्रचार की, प्रस्तावित 'ख़ुदा की फ़ौज' की और 'सामयिक सरकार' की चर्चा की गई थी। प्रस्तावित फ़ौज में भारतवासियों की भर्ती की जानी थी; इसके अतिरिक्त इस्लामी शासकों में ऐक्य स्थापित करना था। मुहम्मद हसन को ये सब बातें तुर्किस्तान सरकार को बतानी थीं। उबैदुल्ला के पत्र में प्रस्तावित सेना का सूचीबद्ध विवरण दिया गया था। मदीना में सेना का प्रधान केन्द्र होना था और स्वयं मुहम्मद हसन को उसका मुख्य सेनापति बनना था। स्थानीय सेनापतियों के आधीन कुस्तुन्तुनिया, तेहरान और काबुल में केन्द्र बनाने थे। काबुल में उबैदुल्ला को सेनापति बनना था। सूची में अन्य सैनिक पदों के लिए बहुत से लोगों के नाम दिए गए थे। लाहौर के विद्यार्थियों में से

१. Indian Sedition Committee Report 1918, पृष्ठ १७९.

२. इसी कारण यह योजना, रेशमी पत्र (अर्थात् सिल्क लेटर) षड्यंत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

३. सन् १९१६ के आरम्भ में जर्मन मंडल, काबुल से वापिस चला गया क्योंकि उसे वहाँ अधिक ठहरना निरर्थक प्रतीत हुआ।

एक को मेजर जनरल का पद मिलना था, एक को कर्नल का और छैः को लेफ्टिनेंट कर्नल का।"[१]

काबुल पहुँचनेवाले मुहाजरीन विद्यार्थियों में, पंजाब के उप-गवर्नर के मित्र, एक खान के दो लड़के भी थे। इन लड़कों के साथ एक नौकर भी काबुल गया था और उन्होंने इस नौकर के द्वारा खान के पास संदेश भेजे—और खान ने उन लड़कों के प्रत्यागमन के लिए सर माइकेल ओ' डायर से प्रबन्ध कराना चाहा पर उसे सफलता नहीं मिली। अस्तु, 'रेशमी पत्र' (सिल्क लेटर्स) इसी नौकर के द्वारा भारत भेजे गए थे और वे उसके कोट के अस्तर के अन्दर सिले हुए थे। खान से मिलने आने से पहले वह उस कोट को एक भारतीय रियासत में छोड़ आया था। खान को दाल में कुछ काला दिखाई दिया और उसने नौकर को डरा-धमका कर सारा भेद मालूम कर लिया। अन्त में कोट मँगाया गया और खान ने उन 'रेशमी पत्रों' को निकाल कर अपने विभाग के कमिश्नर को सौंप दिया और उसने उन्हें उप-गवर्नर के पास भेज दिया।[२]

इस प्रकार 'सिल्क लेटर्स' षड्यंत्र का पता लगा और पंजाब सरकार ने उस षड्यंत्र को साकार न होने देने के लिए उपयुक्त प्रबन्ध कर लिया।

उन्नीसवाँ अध्याय

वैधानिक आन्दोलन

१.

दमन और सुधार की दोहरी सरकारी नीति के कारण भारत का राजनीतिक जीवन निरुद्ध हो गया था। बंगाल में, जहाँ आन्दोलन अत्यंत उग्र था और जहाँ दमन भी अपने शिखर पर था, सार्वजनिक जीवन गुप्त धाराओं में ढकेल दिया गया था और उसके फलस्वरूप बहुत से क्रान्तिकारी अपराध हुए थे। अन्य प्रान्तों में, उचित प्रेरणा के अभाव में, राष्ट्रीय संस्थाएँ मुरझा गई थीं। तिलक, माण्डले में एक लम्बी अवधि के लिए कैद थे और बाबू अरविन्द घोष स्वयं ही राजनैतिक जीवन से अलग हो गए थे। इन दोनों बातों ने "उग्र दल" को सक्रिय नेतृत्व से वंचित कर दिया था। मुसलमान और नरम दल के लोग मॉर्ले मिंटो सुधारों में फँसे हुए थे और अपने वार्षिक अधिवेशनों में, पुरानी शिकायतों को दूर करने के संबंध में कुछ प्रस्तावों का पारण करने के अतिरिक्त, सार्वजनिक कामों से दूर थे।

---

१. Indian Sedition Committee Report, 1918. page 178.

२. O'Dwyer : India as I Knew it, page 178,

सबसे पहले मुस्लिम समुदाय में पुनरुत्थान की चेष्टा प्रकट हुई। शिक्षित मुसलमानों के तरुण वर्ग ने यह अनुभव किया कि अन्य देशवासियों के हितों से, उनके हित मूलतः भिन्न नहीं थे। इसके अतिरिक्त अन्य इस्लामीय देशों–विशेषकर तुर्किस्तान और ईरान—के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने उनको प्रभावित किया और उनमें राष्ट्रीय भावनाएँ भरीं। उसी समय दो ऐसी बातें और हुईं जिनके कारण भारतीय मुसलमान, ब्रिटिश कर्मचारीतन्त्र से विमुख हुए और अपने देश के अन्य निवासियों के अधिक निकट आए—पहली बात थी, अंगरेज़ों की, त्रिपोली और बाल्कन युद्ध के सिलसिले में, तुर्किस्तान-विरोधी नीति; और दूसरी बात थी, तुर्किस्तान के प्रति यूरोपीय राष्ट्रों के व्यवहार के संबंध में, मुसलमानों के प्रति भारतीय राष्ट्रवादियों की सहानुभूति। अस्तु, मुस्लिम तरुण वर्ग, भारतीय राष्ट्रवादियों के साथ संधान के लिए प्रयत्न करने लगे और सन् १९१३ में इस दिशा में पहला कदम उठाया गया।

तरुण नेताओं के उद्योगानुसार, लीग के लिए नया संविधान बनाने के प्रश्न पर विचार करने के उद्देश्य से, दिसम्बर १९१२ में कलकत्ते में, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की परिषद् की मीटिंग करने का आयोजन किया गया। इस मीटिंग में मुस्लिम समुदाय के सभी प्रगतिशील नेतागण आए और इनमें मि० मुहम्मद अली जिन्ना भी थे जो अब तक लीग से दूर रहे थे।[1] उस समय वे एक कट्टर कांग्रेसी थे और उन्होंने एक विशुद्ध रूप से साम्प्रदायिक संस्था (मुस्लिम लीग) का सदस्य होने से इन्कार कर दिया था। इस मीटिंग ने कांग्रेस के राष्ट्रीय आदर्श को स्वीकार किया[2] और लीग के लिए एक नए संविधान का मसविदा तैयार किया जिसे २२ मार्च १९१३ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में बड़े उत्साहपूर्वक अंगीकार किया गया। यह अधिवेशन लखनऊ में हुआ था और सर इब्राहीम रहमतुल्ला उसके सभापति थे।

नए संविधान ने लीग के उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया:—"(१) इस देश के निवासियों में, ब्रिटिश राजसत्ता के प्रति राजभक्ति की भावनाओं का पोषण करना और उनको प्रोत्साहन देना; (२) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक एवं अन्य अधिकारों तथा हितों की रक्षा करना और उनको आगे बढ़ाना; (३) भारत के अन्य समुदायों और मुसलमानों में ऐक्य को प्रोत्साहन देना और पारस्परिक मित्रता बढ़ाना; (४) उपर्युक्त उद्देश्यों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना,

१. इस मीटिंग में उपस्थित होने वाले अन्य प्रगतिशील नेताओं में सर इब्राहीम रहमतुल्ला, मौलाना मुहम्मद अली, मज़रूल हक़, हसन इमाम, मुहम्मद शफ़ी और वज़ीर हसन थे।

२. लीग के नए संविधान का पुराने नेताओं ने प्रबल विरोध किया था।

ब्रिटिश राजसत्ता के अन्तर्गत, वैधानिक उपायों द्वारा भारत के लिए उपयुक्त स्वशासन-व्यवस्था प्राप्त करना और इस उद्देश्य के लिए अन्य बातों के अतिरिक्त राष्ट्रीय ऐक्य को प्रोत्साहन देना, वर्तमान शासन व्यवस्था में क्रमशः सुधार करना और भारत के निवासियों में सार्वजनिक भावना का पोषण करना तथा उक्त उद्देश्य के लिए परस्पर सहयोग को प्रोत्साहन देना।"[१]

मुस्लिम लीग के आदर्श तथा उसकी नीति में इस परिवर्तन का, कांग्रेस ने हृदय से स्वागत किया और उसने अपने कराची-अधिवेशन (दिसम्बर १९१३) में उसको व्यक्त करने के लिए एक विशेष प्रस्ताव का पारण किया। इस अधिवेशन का सभापतित्व नवाब सैयद मुहम्मद बहादुर ने किया था।[२] अस्तु, उक्त प्रस्ताव में यह आशा प्रकट की गई, "कि विभिन्न समुदायों के नेतागण, राष्ट्रीय हित की सारी समस्याओं के संबंध में एक संयुक्त कार्य-पद्धति अपनाने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे।"[३]

राष्ट्रीय एकता और संयुक्त कार्यक्रम की दिशा में दूसरा कदम मि० जिन्ना और उनके साथियों ने उठाया—उन्होंने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग से अपना अधिवेशन, कांग्रेस अधिवेशन के साथ एक ही जगह करने के लिए कहा। दिसम्बर १९१५ में दोनों संस्थाओं के अधिवेशन, बम्बई में एक ही समय पर किए गए और जब कांग्रेस के नेतागण, लीग के इस अधिवेशन को देखने के लिए हॉल में घुसे तो बड़े उत्साह और उल्लास के साथ उनका स्वागत किया गया। अस्तु, युद्धोत्तर-काल के लिए दोनों संस्थाओं ने परस्पर मिलकर एक सुधार योजना बनाने का और उस योजना को कार्यान्वित कराने के निमित्त, सरकार पर ज़ोर देने का निश्चय किया। दोनों संस्थाओं ने इस उद्देश्य के लिए कमेटियाँ नियुक्त कीं। इन्होंने कलकत्ता में और बाद में (दिसम्बर १९१८ में) लखनऊ में अपनी बैठकें कीं जहाँ कुछ ही समय बाद लीग और काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन होने वाले थे। सुधारों की एक संयुक्त योजना सूत्रित की गई और उसमें भारत के विभिन्न विधान-मंडलों में मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व देने के निर्णय द्वारा हिन्दु-मुस्लिम प्रश्न को तै किया गया। यह प्रतिनिधित्व मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक था। अस्तु, कांग्रेस और लीग, दोनों ने अपने अधिवेशनों में इस योजना का सोत्साह अनुमोदन किया और यह समझौता 'कांग्रेस लीग योजना'

१. Indian Year Book, 1914, page 476.

२. राष्ट्रीय एकता की दिशा में मुस्लिम समुदाय के तरुण नेताओं के साहसिक एवं देशभक्ति पूर्ण कृत्य की सराहना के प्रतीक स्वरूप, उस वर्ष के लिए नवाब बहादुर को विशेष रूप से छाँटा गया था।

३. Besant: How India Wrought for Freedom, page 564.

के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार भारत की दो बड़ी जातियों ने और दो बड़ी राजनैतिक संस्थाओं ने 'एक कार्यक्रम' अपनाया, और इस रूप में उनके द्वारा—विशेषकर उसी वर्ष नरम और उग्र पक्षों में फिर से ऐक्य हो जाने पर——ब्रिटिश भारत की राजनीतिक दृष्टि से जगी हुई सारी जनता का प्रतिनिधित्व हुआ।

२.

सन् १९०७ में सूरत-विच्छेद के बाद इंडियन नेशनल कांग्रेस एक विशुद्ध रूप से नरम-दली संस्था हो गई थी और उसके फलस्वरूप देश में उसकी प्रतिष्ठा घट गई थी। लेकिन उस संस्था ने अपनी आन्तरिक दृढ़ता और सामर्थ्य के बल पर, सन् १९१४ के अन्त तक, फिर देश के राजनैतिक जीवन में अपनी विगतकालीन प्रतिष्ठा और प्रधानता प्राप्त कर ली थी। इसके कई कारण थे और इनमें सबसे बड़ा कारण यह था कि उग्र पक्ष ने किसी प्रतियोगी संस्था की स्थापना नहीं की थी और सरकार की दमन नीति के फलस्वरूप उग्र दल बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया था। इन परिस्थितियों में, देश में जो कुछ भी राष्ट्रवादी राजनैतिक जीवन था, उसे कांग्रेस का माध्यम मिला और कांग्रेस के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति हुई। विच्छेद के बाद कांग्रेस के नए संविधान में उसके उद्देश्य निश्चित कर दिए गए थे और कार्य पद्धति के निश्चित नियमों का पालन अनिवार्य कर दिया गया था। यह कांग्रेस सन् १९०८ के बाद प्रतिवर्ष किसी बड़े शहर में अपना अधिवेशन करती थी और राष्ट्रीय परिवादों को दूर करने के लिए हलचल करती थी और स्वदेश तथा उपनिवेशों में भारतीयों की स्थिति के सुधार के लिए माँग करती थी। इसके अधिवेशनों में राष्ट्रीय सार्वजनिक जीवन के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति—जैसे फ़ीरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, डी० ई० वाचा, मदन मोहन मालवीय, लाजपतराय, सत्येन्द्र सिनहा, भूपेन्द्रनाथ बसु, अम्बिकाचरन मजूमदार, कृष्णस्वामी ऐयर, एन० सूबा राव, संकरन नैयर, मुहम्मद अली जिन्ना, ज़मरूल हक़, ए० रसूल, हसन इमाम, सैयद महमूद, मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास शास्त्री, सी० वाई० चिन्तामणि, सच्चिदानन्द सिनहा, तेज बहादुर सपरू, बिशन नारायण दर, हरकिशनलाल गोकरन नाथ मिश्र—भाग लेते थे। इन लोगों के अतिरिक्त कांग्रेस में भाग लेने वालों में, श्रीमती एनी बीसेन्ट का एक महत्वपूर्ण स्थान था। वे, 'थियॉसाफिकल सोसाइटी' की प्रेसीडेन्ट थीं और भारत के धार्मिक, सामाजिक और शिक्षण क्षेत्रों की अग्रणी थीं। उन्होंने भारत को अपनी मातृभूमि माना था और १९१४ तक वे उसके धार्मिक, सामाजिक एवं शिक्षण विषयक पुनरुत्थान के कामों में व्यस्त थीं। किन्तु महायुद्ध के प्रथम वर्ष में उन्होंने राजनैतिक जीवन में प्रवेश करने का निश्चय किया और पहली बार (दिसम्बर १९१४ में) कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में सम्मिलित हुईं—और जैसा कि प्रवेक्षित था, उन्होंने

तुरन्त ही कांग्रेस संगठन में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। अगले चार वर्षों में वे कांग्रेस की परिषदों में और ब्रिटिश भारत के राजनैतिक जीवन में अग्रणी रहीं और सन् १९१७ के दिसम्बर अधिवेशन में उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष पद प्राप्त हुआ। भारतवासियों की राजनीतिक तन्द्रा को दूर करने का और सक्रिय काम के लिए उन्हें संगठित करने का श्रेय, श्रीमती एनी बीसेन्ट के अतिरिक्त केवल लोकमान्य तिलक को ही दिया जा सकता है। और यह श्रीमती बीसेन्ट के ही प्रयत्न और प्रभाव का परिणाम था कि सन् १९१६ में कांग्रेस के नरम और उग्र पक्षों का लखनऊ में सम्मिलन हुआ और श्री तिलक और उनके समर्थकों का कांग्रेस में पुनःप्रवेश हुआ।

३.

सन् १९०८ और १९१६ के बीच कांग्रेस की कार्य-पद्धति वही रही जो सन् १९०५से पहले थी—किसी प्रमुख नगर में प्रतिवर्ष बड़े दिनों की छुट्टियों में कांग्रेस-अधिवेशन होता था और उसमें सभी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर सामान्य प्रस्तावों का पारण किया जाता था। सन् १९१४ में भारतीय परिवादों, विशेषकर दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति के संबंध में ब्रिटिश जनमत जागृत करने के लिए एक शिष्ट मंडल, इंगलैंड भेजा गया। इस मंडल के सदस्य थे—मि० भूपेन्द्रनाथ वसु, एम० ए० जिन्ना, एन० एम० समर्थ, एस० सिनहा, मज़रूल हक, माननीय बी० एन० शर्मा और लाला लाजपत राय। गर्हित 'शर्तबंद' कुली व्यवस्था को समाप्त करने की बात को छोड़कर, कांग्रेस की अन्य माँगों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और उसके अन्य परिवाद यथावत् बने रहे। इन आठ वर्षों में (जब कांग्रेस पूर्णरूप से नरम दल वालों के आधीन थी) उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति और राजनैतिक सुधारों की संयुक्त योजना जो देश की दो बड़ी राजनैतिक संस्थाओं को मान्य थी। विषय के निष्पक्ष विवेचन के हित में यह कटु सत्य कहना अनिवार्य है कि सन् १९१६ की सामुदायिक एकता प्राप्त करने के लिए, राष्ट्रीय एवं लोकतंत्रीय जीवन के एक मौलिक सिद्धान्त का हनन किया गया था। कांग्रेस ने, मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाने के प्रस्ताव का बराबर विरोध किया था। यह सच है कि कांग्रेस, मुसलमानों को और अन्य अल्पसंख्यकों को उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता अनुभव करती थी किन्तु उसने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों को देश के राष्ट्रीय जीवन के लिए घातक बताया था; और उसने उनकी व्यवस्था की अराष्ट्रीय और अलोकतंत्रीय कह कर निन्दा की थी। किन्तु सन् १९१६ में कांग्रेस ने राजनैतिक चर्य्या में ऐक्य प्राप्त करने के लिए[1] साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को, 'गुरुता' के सिद्धान्त

१. बहुत से कांग्रेसी, साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के दुष्परिणामों के प्रति पूरी तरह सजग थे; किन्तु उनकी दृष्टि में स्वराज्य के लिए यह मूल्य देना अनि-

को और विधान-कार्य में साम्प्रदायिक निषेधाधिकार को स्वीकार किया। इन तीनों रियायतों के मौलिक सिद्धान्त ग़लत थे और वे बहुत-से कांग्रेसियों की जीवन-भर की निष्ठा के विरुद्ध थे। ये रियायतें, 'कांग्रेस लीग योजना' में निश्चित रूप से सबसे ज़्यादा आपत्तिजनक थीं। किन्तु यह भाग्य का व्यंग्य है कि सरकार ने एक ओर तो योजना के वैधानिक भाग को अस्वीकार कर दिया और दूसरी ओर उसी योजना के साम्प्रदायिक समझौते को १९१९ के सुधारों का अनिवार्य अंग बना दिया।

सन् १९१६ के कांग्रेसियों के पक्ष में यह कहना आवश्यक है कि उनकी दृष्टि में ये रियायतें अस्थायी थीं। उन लोगों के मस्तिष्क में किसी प्रकार यह विश्वास जमा दिया गया था कि थोड़े ही समय में पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था का अन्त हो जायगा और उनके स्थान पर वास्तविक राष्ट्रीय एवं लोकतंत्रीय प्रतिनिधित्व व्यवस्था का प्रादुर्भाव होगा।[१] अब यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त प्रत्याशा अत्यन्त अस्वाभाविक थी और उसका निराशा में परिणत होना अवश्यंभावी था।

४.

विचाराधीन युग में असन्तोष, क्रोध और अवमान की भावनाओं को सबसे ज़्यादा उत्तेजित करने वाला विषय था—दक्षिण अफ़्रीका में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार। दक्षिण अफ़्रीका की उस अवस्था की चर्चा की जा चुकी है[२] जिसने महात्मा गांधी को (काले क़ानून के नाम से प्रसिद्ध) एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह करने को विवश किया था। यह ऐक्ट मार्च १९०७ में ट्रांसवाल पार्लियामेण्ट ने बनाया था। जब सत्याग्रह के फलस्वरूप महात्मा गांधी-सहित लगभग १५० आदमी जेल पहुँच गए तो सरकार ने संधि-चर्चा की। महात्मा गांधी और जनरल स्मट्स में समझौता हुआ और इसके अनुसार भारतीयों को स्वेच्छापूर्वक अपना निबंधन कराना था और सरकार को 'काला क़ानून' रद्द करना था।[३] किन्तु जब महात्मा गांधी ने अपने साथियों के विरोध के होते हुए और साथ ही अपने प्राणों को जोखिम में डालकर,[४] अपनी ओर से संबंधित समझौते के

वार्य था। उन्हें यह आशा थी कि स्वराज्य के बाद साम्प्रदायिकता का कालान्तर में अपने-आप अन्त हो जायगा।

१. सन् १९१६ के कांग्रेस-लीग समझौते के संबंध में इस पुस्तक के पहले अंगरेज़ी संस्करण की आलोचना को यथावत् रखा गया है।

२. इसी पुस्तक का बारहवाँ अध्याय देखिये।

३. जनरल स्मट्स ने महात्मा गांधी से कहा था "अधिकांश लोगों के स्वेच्छापूर्वक निबंधन कराने पर मैं एशियाटिक ऐक्ट को तुरंत रद्द कर दूंगा।" Satyagraha in South Africa, page 242.

४. Gandhi : Satyagraha in South Africa, page 306.

भाग को पूरा कर दिया, तो जनरल स्मट्स ने 'काले कानून' को रद्द करने से इंकार कर दिया। इसी बीच ट्रांसवाल पार्लियामेण्ट ने एक ऐक्ट और बना दिया था जिसके अनुसार प्रत्येक नए भारतीय को वहाँ बसने से रोक दिया गया था। ऐसी परिस्थितियों में, विवश होकर फिर सत्याग्रह आरंभ करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। इस बार यह सत्याग्रह दोनों ऐक्टों के विरुद्ध होना था। सरकार को अन्तिमेत्थम दिया गया "कि यदि समझौते के अनुसार 'काला कानून' रद्द नहीं किया जाता और यदि इस विषय में सरकार का निर्णय एक नियत दिनांक तक प्राप्त नहीं होता तो भारतीयों द्वारा प्राप्त किए हुए निबंधन-पत्रों को जला दिया जायगा और वे लोग उसका फल भोगने को तैयार रहेंगे।"[1] १६ अगस्त १९०८ को एकत्र किए हुए निबंधन पत्रों को (जिनकी संख्या २००० से अधिक थी) जला दिया गया और सत्याग्रह फिर आरंभ कर दिया गया। बहुत-से लोग जेल गये—बहुतों को भारत के लिए निर्वासित कर दिया गया। जेल में हर प्रकार की कठोरता बरती गई—एक आदमी ठंड लगने के कारण न्यूमोनिया से मर गया। एक जेल में सत्याग्रहियों को विवश होकर भूख-हड़ताल करनी पड़ी। मिस्टर गांधी और सेठ हाजी हबीब का जो शिष्ट मंडल इंगलैंड गया था, वह भी खाली-हाथ लौट आया। जेल जानेवाले सत्याग्रहियों के कुटुम्बों के लिए मिस्टर गांधी ने मि. कैलेनबारव की ज़मीन पर टाल्सटाय फ़ार्म को आरंभ किया। संघर्ष चलता रहा और जब तक एक-दो सत्याग्रही जेल जाते रहे।

दक्षिण अफ़्रीका में दुबारा सत्याग्रह आरंभ होने पर भारत के लोगों में हलचल हुई। देश के विभिन्न भागों में सभाएँ की गईं। संघर्ष जारी रखने के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया और दक्षिण अफ़्रीका भेजा गया। फ़र्वरी १९१० में मि. गोखले ने साम्राज्यीय विधान परिषद् में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया और उसके द्वारा नैटाल उपनिवेश के लिए 'शर्तबन्द' मज़दूरों की भर्ती रोकने के लिए स-परिषद् गवर्नर-जनरल को अधिकार प्रदान करने की सिफ़ारिश की। उस प्रस्ताव का उद्देश्य दक्षिण अफ़्रीका के उपनिवेश में भारतीयों की स्थिति सुधारने के लिए वहाँ की सरकार पर दबाव डालना था। सरकार ने प्रस्ताव स्वीकार किया और नैटाल के लिए 'शर्तबंद' मज़दूरों की भर्ती पर रोक लगा दी, पर वांछित फल प्राप्त नहीं हुआ। मि० गोखले ने दक्षिण अफ़्रीका जाने के लिए और वहाँ की वस्तुस्थिति का अध्ययन करने के लिए भारत-मंत्री की सहायता मांगी। अक्टूबर और नवम्बर १९१२ में मि० गांधी के साथ उन्होंने दक्षिण अफ़्रीका के विभिन्न भागों का दौरा किया। उन्होंने वहाँ के मंत्रिमंडल से भी काफ़ी लम्बी बातचीत की। जनरल बोथा से यह आश्वासन मिल जाने पर कि 'काला कानून' रद्द कर दिया जायगा और ३ पौंड

१. Gandhi : Satyagraha in South Africa, page 306.

का टैक्स समाप्त कर दिया जायगा, मि० गोखले नवम्बर १९१२ में दक्षिण अफ़्रीका से भारत लौट आए।[1]

जनरल स्मट्स ने फिर वचन भंग किए और ३ पौंड के टैक्स को रद्द करने के लिए विधान प्रस्तुत करने से इंकार कर दिया और यह कारण बताया कि नैटाल के सदस्य उक्त प्रस्ताव के विरुद्ध थे। विवश होकर सत्याग्रह के कार्यक्रम में इस टैक्स को रद्द करने की मांग को भी शामिल किया गया।

इस समय तक सत्याग्रहियों का छोटा-सा दल लगभग निपट चुका था। किंतु शीघ्र ही एक नया परिवाद उठ खड़ा हुआ और उसके कारण महात्मा गांधी को सत्याग्रह को फिर एक सक्रिय रूप में चलाने का अवसर मिला। और इस बार उन्होंने स्त्रियों से भी सहयोग देने के लिए कहा। १४ मार्च १९१३ को दक्षिण अफ़्रीका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश मि. सर्ले ने एक निर्णय द्वारा ऐसे विवाहों को जिन का निबन्धन नहीं हुआ हो और जिन को ईसाई ढंग पर न किया गया हो, अमान्य घोषित कर दिया। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ़्रीका की यूनियन सरकार से प्रार्थना की कि इस सम्बन्ध में भारतीयों के लिए एक विशेष विधान बना दिया जाए; लेकिन सरकार ने उस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। तब महात्मा गांधी ने भारतीय पुरुषों और स्त्रियों से इस विषय पर सत्याग्रह करने के लिए कहा। स्त्रियों के सब से पहले जत्थे में फ़ोनिक्स आश्रम में रहनेवाली १६ स्त्रियाँ थीं जिन में श्रीमती कस्तूरबा गांधी भी थी। इन सब को तीन महीने का कठोर कारावास-दंड दिया गया। दूसरे जत्थे में ११ स्त्रियाँ थीं जो सन् १९०८-९ के संघर्ष के दिनों में टाल्स्टॉय फ़ार्म में रहीं थीं। इन स्त्रियों ने न्यूकैसिल की खानों में काम करने वालों को भड़काने के लिए नैटाल की सीमा में प्रवेश किया। श्रमिकों ने (जिन की संख्या लगभग ६००० थी) कर्तव्य की पुकार पर ध्यान दिया और हड़ताल कर दी। इन ११ स्त्रियों के गिरफ़्तार हो जाने पर हड़तालियों के नेतृत्व के लिए महात्मा गांधी स्वयं न्यूकैसिल पहुँच गए।

खानों के मालिकों ने हड़तालियों के साथ कठोर व्यवहार किया। हड़तालियों को उनके मकानों में से निकाल दिया गया और उन लोगों को अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ खुले मैदान में रहना पड़ा। टाल्स्टॉय फार्म की स्त्रियों के कारावास के कारण वे लोग और ज्यादा चिढ़ गए थे और खानों में काम पर जाने के लिए तैयार नहीं थे। भारतीय परिवादों को दूर कराने के उद्देश्य से मि. गांधी ने उनके साथ ट्रांसवाल की सीमा पर जाकर सत्याग्रह करने का निश्चय किया।

न्यूकैसिल से ट्रांसवाल के लिए इस 'शान्ति पूर्ण' सेना की ऐतिहासिक यात्रा २८ अक्तूबर को आरम्भ हुई। इस सेना का उद्देश्य टाल्स्टॉय फ़ार्म पर पहुँचना था

१. Gandhi : Satyagraha in South Africa, page 408.

लेकिन सीमा पर हड़तालियों के गिरफ़्तार कर लिए जाने का डर था। इस सेना में २०३७ आदमी, १२७ स्त्रियाँ और ५७ बच्चे थे। मि. गांधी को मार्ग में तीन बार गिरफ़्तार किया गया—दो बार जमानत पर छोड़ दिया गया, लेकिन तीसरी बार उन्हें डरबन ले जाया गया और उनपर अभियोग चलाया गया, जिस के फलस्वरूप उन्हें ९ महीने का कठोर कारावास दंड दिया गया। १० नवम्बर को हड़तालियों की भी गिरफ्तारी की गई और उन्हें तीन स्पेशल रेलगाड़ियों में भरकर न्यूकैसिल भेज दिया गया। वहाँ उनपर अभियोग चलाया गया और उनको जेल भेज दिया गया। किंतु साधारण जेलों में रखने के स्थान पर उन्हें खानों के बाड़े में कांटेदार तारों के घेरे में रखा गया और खानों के यूरोपियन नौकरों को उनका रक्षक बनाया गया। मि. गांधी ने लिखा है:—"ये मज़दूर बहादुर आदमी थे और उन्होंने खानों में काम करने से साफ़ इन्कार कर दिया, जिस के फलस्वरूप उन्हें बुरी तरह पीटा गया। उद्धत रक्षकों ने मज़दूरों में ठोकरें मारीं, उन्हें गालियाँ दीं और अन्य प्रकार के दुर्व्यवहार किए और उन ग़रीब मज़दूरों ने इन कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन किया।[1] दक्षिण अफ्रीका के अन्य भागों में काम करने वाले भारतीय मज़दूरों ने, न्यूकैसिल के मज़दूरों के प्रति सहानुभूति के कारण, अपने यहाँ भी हड़ताल की। कुछ स्थानों पर गोलियाँ चलाई गईं और कुछ भारतीय मज़दूर मारे भी गए। बहुत-सी स्त्रियों ने सत्याग्रह किया; उन्हें भी गिरफ़्तार किया गया और दंड दिया गया। उनके साथ बड़ी निष्ठुरता का व्यवहार किया गया और वलियम्मा मुदालियर नामक एक सोलह वर्ष की लड़की को जेल में बुखार हुआ और बाद में जेल से छोड़े जाने पर वह शीघ्र ही मर गई। दक्षिण अफ्रीका का सारा भारतीय समुदाय, उद्धत यूरोपियनों के जातीयतापूर्ण संगठित अत्याचार का सामना करने के लिए, एक संयुक्त निकाय के रूप में उठ खड़ा हुआ।

दक्षिण अफ्रीका की क्रूर एवं अन्यायपूर्ण सरकार के विरुद्ध वहाँ के भारतीय समुदाय की वीरता की सारे भारत में प्रशंसा की गई। सारे देश में विराट् सभाएँ की गईं। और उनमें भारतीयों के प्रति दक्षिण अफ्रीका की सरकार के दुर्व्यवहार का विरोध किया गया। कष्ट में पड़े हुए अपने भाइयों के साथ भारतवासियों ने हार्दिक सहानुभूति प्रकट की। सत्याग्रहियों की सहायता के लिए चन्दे इकट्ठे किए और उसमें देशी नरेशों और ग़रीबों, सभी ने सहयोग दिया। सत्याग्रहियों के प्रति भारतवासियों की सहानुभूति में लार्ड हार्डिंज ने अपना और अपनी सरकार का योग दिया। भारत सरकार के लिए यह एक असाधारण बात थी। २४ नवम्बर १९१३ को लॉर्ड हार्डिंज ने महाजन सभा, मद्रास में एक व्याख्यान में कहा :—हाल ही में, दक्षिण अफ़्रीका

१. Gandhi : Satyagraha in South Africa, page 476.

में आप के देश भाइयों ने वहाँ के कानूनों को, जिन्हें वह गर्हित और अन्यायपूर्ण समझते हैं, तोड़ने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध करने का संगठन किया है। वहाँ के कानूनों के प्रति उन लोगों के जो भाव हैं उनसे हम लोग भी असहमत नहीं हो सकते। वे लोग कानूनों को तोड़ने के परिणामों से भली-भाँति परिचित हैं और वे वीरतापूर्वक सारे दंड सहने के लिए तैयार हैं। उनके इस संघर्ष में भारत की प्रबल हार्दिक सहानुभूति है। यद्यपि मैं स्वयं भारतीय नहीं हूँ किंतु उनके प्रति आपके साथ ही मेरी सहानुभूति भी है।[1] लॉर्ड हार्डिंज ने व्याख्यान के अन्त में इस बात की माँग की कि इस सारे विषय की निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा जाँच की जाए और जाँच करनेवाली कमेटियों में भारतीय हितों को भी पूर्ण प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसी बीच मि. गोखले ने, जिन्हें समुद्री तार द्वारा दक्षिण अफ़्रीका के संघर्ष के दैनिक समाचार मिलते रहते थे, मि. एंड्रिडज और मि. पिअर्सन से नैटाल और ट्रांसवाल में भारतीयों की सहायता करने के लिए दक्षिण अफ़्रीका जाने को कहा। भारत सरकार ने भारतीय परिवादों को दूर कराने के लिए सर बेंजमिन राबर्टसन को भेजा। दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने एक जाँच कमेटी नियुक्त की, लेकिन उसकी रचना असंतोषप्रद होने के कारण, सत्याग्रहियों ने उसके सामने गवाही देना अस्वीकार कर दिया। सरकार और मि. गांधी में एक सामयिक समझौता हुआ, जो सन् १९१३ के गांधी-स्मट्स समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अधिकांश भाग को सन् १९१४ के इंडियन्स रिलीफ एक्ट में रूप दिया गया। एक्ट ने तीन पौंड के गर्हित टैक्स को रद्द किया, भारतीय विवाहों को मान्यता प्रदान की (किंतु एक पत्नी और उसके ही बच्चों को वैध माना जा सकता था) और विभाजन निश्चित होने पर अधिवासी प्रमाणक (Domicile Certificate) के आधार पर यूनियन में प्रवेश करने के अधिकार को स्वीकार किया।[2] मि. गांधी और जनरल स्मट्स में पत्र व्यवहार द्वारा अन्य बातें तै की गई। जनरल स्मट्स को मि. गांधी ने अपने अन्तिम पत्र में लिखा, "इंडियन रिलीफ विधेयक के कारण से और इस पत्र-व्यवहार से उस सत्याग्रह संघर्ष का अन्त हो गया है जिस का आरम्भ सितम्बर १९०६ में हुआ था और जिस के कारण भारतीय समुदाय को आर्थिक क्षति के अतिरिक्त काफ़ी शारीरिक कष्ट उठाने पड़े हैं और सरकार को काफ़ी चिन्ता और परेशानी का सामना करना पड़ा है।"[3]

जिस समय दक्षिण अफ़्रीका में संघर्ष हो रहा था, उसी समय एक शिष्ट-

१. Modern Review, December 1913, page 638.
२. Gandhi : Satyagraha in South Africa, page 505.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५०६.

मंडल भारत का दौरा कर रहा था। यह मंडल कनाडा से आया था और कनाडा के भारतवासियों की स्थिति और उनके कष्टों के सम्बन्ध में जनमत जागृत कर रहा था। इस मंडल के सदस्य थे मि. नन्दसिंह, नारायण सिंह और बलवन्त सिंह। कनाडा में भारतवासियों की दशा के सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है और वहाँ के विनियमों से बचने के लिए सरदार गुरदीत सिंह के प्रयत्न और कोमागाटा मारु की यात्रा का भी वर्णन किया जा चुका है।[१] अस्तु, सन् १९१७ के साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन में भारतीय शिष्ट मंडल ने स्वशासक उपनिवेशों में भारतीयों की स्थिति के प्रश्न को विचारार्थ प्रस्तुत किया। सर सत्येंद्र ने इस विषय पर एक अत्यन्त योग्यतापूर्ण ढंग से लिखा हुआ ज्ञापन सम्मेलन के सामने रखा। विस्तृत एवं निस्संकोच रूप से विचार हुआ और उसके फलस्वरूप पारस्परिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। अगले वर्ष सम्मेलन ने एक विस्तृत प्रस्ताव का पारण किया। और इस अधिकार को मान्यता दी कि प्रत्येक देश को अपनी जन-रचना विनियमित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए किंतु भ्रमण, वाणिज्य और अध्ययन के सिलसिले में ब्रिटिश नागरिकों पर एक-दूसरे देश में आने-जाने के सम्बन्ध में कोई रोक नहीं होनी चाहिए। सन् १९१८ के प्रस्ताव ने अन्त में यह निश्चय किया :—"अन्य ब्रिटिश देशों में पहले से बसे हुए भारतीयों को (भारत से) अपनी स्त्रियों और बच्चों को लाने का अधिकार होना चाहिए किंतु (अ) उक्त प्रत्येक भारतवासी की एक पत्नी और उसके ही बच्चों को सम्बन्धित उपनिवेश में प्रवेश करने का अधिकार होगा और (ब) प्रत्येक प्रवेश करने वाले को अपने विभाजन के लिए भारत-सरकार का प्रमाणक प्रस्तुत करना होगा।"[२]

इस प्रकार १९१८ के प्रस्ताव ने स्वशासक उपनिवेशों में भारतीयों की समस्या का सामयिक हल किया। यह हल वस्तुतः एकांगी और भारत के लिए अहितकर था। उपनिवेशों में ऐसे बहुत से प्रदेश थे जहाँ कोई आबादी ही नहीं थी अथवा बहुत छितरी हुई आबादी थी। भारतवासी पिछले कितने ही वर्षों से इन स्थानों में बसने अथवा नौकरी करने के अधिकार के लिए प्रयत्न और बलिदान कर रहे थे। उक्त समझौते के अनुसार यह अधिकार उनसे हमेशा के लिए छीन लिया गया। बदले में भारत सरकार को अन्य उपनिवेशों के लोगों को भारत में बसने से रोकने का अधिकार दिया गया—यह एक ऐसा अधिकार

१. इसी पुस्तक के १८ वें अध्याय का नवाँ विभाग देखिए।

२. Resolution of the Imperial War Conference of 1918, quoted by "Emigrant" in "Indian Emigration" page 35.

था जो बिल्कुल निरर्थक था। तथापि, सन् १९१८ के प्रस्ताव के पारण से, स्वशासक उपनिवेशों में पहले से बसे हुए भारतीयों की स्थिति में, निश्चित सुधार हुआ।

५

पहले महायुद्ध के दिनों में, ब्रिटिश उपनिवेशों के लिए भारतवासियों के देशान्तरगमन का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण हो गया; और अन्त में भारत सरकार को विवश होकर, गर्हित 'शर्तबंद' श्रम व्यवस्था को समाप्त करना पड़ा। सन् १८३३में दास-प्रथा तोड़ने के बाद यह व्यवस्था अस्तित्व में आई थी। उपनिवेशों का रोपक समुदाय भारत में अपने अभिकर्त्ताओं द्वारा, साधारणतया पाँच वर्ष के लिए नियत वेतन के आधार पर मज़दूरों की भर्ती करता था। इस शर्तबंद प्रथा में पाँच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद मज़दूर को भारत लौटाने की अथवा उपनिवेश में स्वतंत्र नागरिक की तरह बसने की अथवा फिर भर्ती कर लेने की कोई व्यवस्था नहीं थी।

आरंभ से ही यह स्पष्ट था कि देशान्तरगमन की उक्त शर्तबंद प्रथा अवांछनीय थी। मज़दूरों की भर्ती करने में ज़बरदस्ती और जालसाज़ी से काम लिया जाता था। बहुत-से अनभिज्ञ लोगों को धोखा दिया गया; बहुत-सी विवाहित स्त्रियों को लुभाया गया; वृद्ध माताओं और पिताओं के अकेले लड़कों को लालच दिया गया; स्टेशनों और तीर्थ स्थानों पर भीड़ में बिछुड़े हुए संबंधियों का अपहरण किया गया; और एक गाँव से दूसरे गाँव को जानेवाले लोगों को बहकाया गया। ये लोग भर्ती गोदामों में ले जाए जाते थे और वहाँ पर इन लोगों से शर्त के पत्रों पर हर प्रकार के उपायों को काम में लाकर हस्ताक्षर करा लिए जाते थे।[1] इन लोगों को न तो यात्रा की शर्तें ही ठीक-ठीक बताई जाती थीं और न यह ठीक-ठीक बताया जाता था कि वे लोग किन शर्तों के अनुसार उपनिवेशों में रहेंगे अथवा काम करेंगे। उपनिवेशों में इस व्यवस्था के अन्तर्गत मज़दूरो पर जुर्माने होते थे, उनको पीटा जाता था, कैद किया जाता था। भर्ती किए जानेवाले मजदूरों से इन बातों की कोई चर्चा नहीं की जाती थी। सारी व्यवस्था धोखे और जालसाज़ी पर टिकी हुई थी।[2] यह सच है कि भारत-सरकार ने स्थिति संभालने के लिए प्रयत्न किया था और भर्ती के संबंध में कुछ प्रतिबंध[3] लगाए थे किन्तु जैसा कि २० मार्च

१. इस संबंध में विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—Report of Messers Andrews and Pearson on Indentured Labour in Fizi.

२. श्री गोखले के अनुसार यह व्यवस्था वीभत्स थी और धूर्तता पर टिकी हुई थी—देखिए—Speeches of Gokhale, page 520.

३. इस संबंध में जो कानून बनाए गए, उनके संक्षिप्त इतिहास के लिए

१९१६ को साम्राज्यीय विधान परिषद् में प०मालवीय ने कहा, भर्ती करनेवाले धूर्त अभिकर्ता बड़ी रकमों के लालच से[1] उनको निष्फल कर देते थे। समुद्री यात्रा का प्रबन्ध अत्यन्त असन्तोषप्रद होता था। बहुत-से लोगों को थोड़ी-सी जगह में भर दिया जाता था; खाने और सोने का उचित प्रबन्ध नहीं होता था। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता था कि बहुत-से लोग बीमार पड़ जाते थे और उनमें से बहुत-से लोग मर भी जाते थे। उपनिवेशों में और भी ज्यादा खराब हालत होती थी। कितने ही मजदूर पागल हो गये और कुछ ने आत्महत्या भी की। सन् १९०८-१२ के वर्षों में शर्तबन्द भारतीय मजदूरों की आत्महत्या का अनुपात, प्रति दस लाख ९२६ था[2] जो साधारण परिस्थितियों में आत्महत्या के अनुपात की तुलना में भयंकर प्रतीत होगा। बहुत-से मजदूर भ्रष्ट और पतित जीवन व्यतीत करते थे।[3]

जब भारतवासियों को उपनिवेशों में रहनेवाले अपने देशभाइयों की दशा का पता लगा तो उन्होंने उस गर्हित 'शर्तबंद' मजदूर व्यवस्था का अन्त कराने के लिए हलचल की। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में व्याख्यान दिए गए और प्रस्ताव स्वीकार किए गए। समाचार-पत्रों ने आन्दोलन किया और साम्राज्यीय विधायिका सभा के निर्वाचित सदस्यों ने इस परिवाद को दूर करने के लिए सरकार पर जोर दिया। सन् १९१०में श्री गोखले ने साम्राज्यीय विधान परिषद् में इस विषय पर जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, उसकी चर्चा की जा चुकी है। ४ मार्च १९१२ को मि. गोखले ने विधान परिषद् में एक और विस्तृत प्रस्ताव प्रस्तुत किया और उसके द्वारा भारत में 'शर्तबन्द' मजदूरों की भर्ती को पूर्ण रूप से वर्जित कर देने के लिए

देखिये—"Indian Emigrant" by an Emigrant, pages 15 to 25.

१. यू. पी. के पश्चिमी जिलों में एक पुरुष-मजदूर भर्ती करने की फ़ीस ४५ रुपए थी और एक स्त्री-मजदूर भर्ती करने की फ़ीस ५५ रुपए थी। Proceedings of the Imperial Legislative Council, vol. LIV page 400.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४०४.

३. श्री एण्ड्रूज और श्री पिअर्सन ने फ़िजी की हालतों का इस प्रकार वर्णन किया है:—"हम फ़िजी की कुली बस्तियों के अपने पहले दृश्य को भूल नहीं सकते। स्त्रियों और पुरुषों—सभी के चेहरों से उनके भ्रष्ट जीवन का निश्चित परिचय मिलता था।···ऐसा प्रतीत होता था कि पतित जीवन की महामारी का प्रकोप हुआ है। वैवाहिक ग्रन्थि की पवित्रता का कोई स्थान नहीं था—सर्वत्र पाशविकता का राज्य था। स्त्रियाँ अपने पतियों को बदलती रहती थीं और लड़कियों का क्रय-विक्रय होता था।"—उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४०४.

सिफ़ारिश की। परिषद् के प्रत्येक उपस्थित भारतीय सदस्य ने प्रस्ताव का समर्थन किया किन्तु सरकारी बहुमत के कारण उसका पारण नहीं हो सका। भारत सरकार ने, सैण्डर्सन कमेटी (१९०९) की सिफ़ारिशों के अनुसार अपनी नीति निश्चित की थी। यह कमेटी ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त की गई थी और उसको ब्रिटिश उपनिवेशों की हालतों की जाँच करने का काम सौंपा गया था। कमेटी का यह मत था कि 'शर्तबंद' व्यवस्था देशान्तरगामियों के लिए लाभप्रद थी और जो कुछ दोष वर्तमान थे, उन्हें दूर किया जा सकता था। तथापि भारतीय मत को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार ने मि. मैकनील और मि. चिमनलाल को चार उपनिवेशों —जमैका, ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गिनी और फ़िजी—की हालतों को देखने और उनपर रिपोर्ट देने के लिए भेजा। उस समय इन्हीं चार उपनिवेशों के लिए शर्तबन्द देशान्तरगमन की अनुमति थी। रिपोर्ट में विभिन्न उपनिवेशों की कुली-बस्तियों की दशा गर्हित बताई गई किन्तु साथ ही यह कहा गया कि "अधिकांश देशान्तरगामियों ने घातक दरिद्रता और निराशा की स्थिति का सरल सुरक्षित जीवन और समृद्धि की आशा से विनियम किया था।"[1] मि. मैकनील और चिमनलाल ने 'शर्तबन्द' प्रथा को जारी रखने की सिफ़ारिश की। भारतवासी इस सिफ़ारिश से सहमत नहीं हुए। उन्होंने मि. एण्ड्रूज़ और मि. पिअर्सन की रिपोर्ट को, जो लगभग उसी समय प्रकाशित हुई थी, विशेष महत्त्व दिया। इस रिपोर्ट में संबंधित तथ्य और आंकड़े दिए गए थे। भारत-सरकार ने यह अनुभव किया कि भारतीय जनमत इस कुटिल व्यवस्था को भविष्य में सहन नहीं करेगा और उस व्यवस्था के कल्पित आर्थिक लाभों का उन पर कोई प्रभाव नहीं होगा। अतः सन् १९१५ में भारत सरकार ने उस व्यवस्था को बिलकुल तोड़ देने के लिए भारत-मंत्री से सिफारिश की। २० मार्च १९१६ को पं० मदन मोहन मालवीय ने उस व्यवस्था का अन्त करने के लिए साम्राज्यीय विधान परिषद् में प्रस्ताव प्रस्तुत किया। पंडित मालवीय ने उस समस्या का सारा इतिहास बताया; उपनिवेशों में मजदूरों की आर्थिक एवं नैतिक दशा के संबंध में तथ्य प्रकट किए और आंकड़े दिए; इस कथन को सिद्ध करने की चुनौती दी कि उन मज़दूरों की औसत बचत भारतीय मज़दूरों से अधिक थी;[2] और अंत में सरकार से उस कुटिल, गर्हित, अपमानजनक और भ्रष्टकारी व्यवस्था का अन्त करने की अपील की।[3]

१. "Indian Emigration" page 28.

२. खाद्य पदार्थों के मूल्य और रहन-सहन के व्यय के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि फिजी में रहने वाले कुलियों की विशुद्ध आय पूर्वी बंगाल के मजदूरों की आय से अधिक नहीं है।

३. Proceedings of the Imperial Legislative Council, vol. LIV, page 405.

लॉर्ड हार्डिज ने प्रस्ताव को स्वीकार किया और इस बात की घोषणा की कि भारतमंत्री ने उस व्यवस्था का अन्त करने की नीति को अंगीकार कर लिया है किन्तु उपनिवेशों को नई परिस्थितियों से मेल बिठाने के लिए कुछ समय दिया जाना चाहिए; इस अवधि में भारत मंत्री, औपनिवेशिक विभाग और संबंधित उपनिवेशों के साथ परामर्श करके, स्वतन्त्र रूप से देशान्तरगमन की योजना भी बना लेंगे। बीच के समय में, सन् १९१६ के भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत 'शर्तबंद' मजदूरों की भर्ती बन्दी कर दी गई और इस अस्थायी रोक के उठाए जाने से पहले ही उस व्यवस्था का स्थायी रूप से अन्त कर दिया गया जो लार्ड हार्डिज के शब्दानुसार शिक्षित भारतीयों की दृष्टि में 'दासता का प्रतीक' थी।[1]

६.

'शर्तबंद' देशान्तरगमन की समाप्ति से भारत माता के सुन्दर चेहरे का एक काला दाग़ दूर हुआ और लगभग उसी समय राष्ट्रीय संगठन कांग्रेस में नरम और उग्र पक्ष के पुर्नमिलन से एक घाव भर गया। तिलक के छोड़ जाने के बाद शीघ्र ही महायुद्ध आरंभ हो गया था और उन्होंने उस अवसर पर राजभक्ति की घोषणा करके उस पुर्नमिलन के लिए मार्ग तैयार कर दिया था। लोकमान्य तिलक ने इस अभियोग को अस्वीकार किया कि किसी भी समय उनका उद्देश्य भारत से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ना था और अन्त में उन्होंने कहा कि "ऐसे संकट के समय प्रत्येक भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्राट्-सरकार को यथासामर्थ्य सहयोग और सहायता प्रदान करे।"[2] श्रीमती बीसेन्ट ने इस सुअवसर का लाभ उठाया और श्री गोखले और श्री तिलक में समझौता करा दिया। कांग्रेस-संविधान के अनुच्छेद नं० २० में संशोधन होने के बाद ही उग्र पक्ष के लोग कांग्रेस में प्रतिनिधि के रूप में भाग ले सकते थे। किन्तु सर फ़ीरोजशाह मेहता कांग्रेस में तिलक और उनके समर्थकों के पुनरागमन के विरुद्ध थे क्योंकि उन्हें इस बात का डर था कि उग्र पक्ष के लोग नरम पक्ष वालों को पृष्ठभूमि में डालकर, कांग्रेस पर अपना आधिपत्य जमा लेंगे। अतः उन्होंने कांग्रेस के अगले अधिवेशन को बम्बई में कराने का प्रबन्ध किया जहाँ "वे अपने व्यक्तित्व और असाधारण प्रभाव से.....सब कुछ मनवा सकते थे।"[3] उन्होंने अधिवेशन का अध्यक्ष पद सर सत्येन्द्र सिनहा को प्रदान किया। सर सिनहा का राजनैतिक काम न के बराबर था, किन्तु सर फ़िरोजशाह ने उनके निज-निर्णय के विरुद्ध,

१. Proceedings of the Imperial Legislative Council vol. LIV, page 412.

२. Athalye : Lokmanya Tilak, page 216.

३. Mody : Sir Pherozshah Mehta, vol II, page 658.

उनको पद-ग्रहण करने के लिए बाध्य किया और इस प्रकार अधिकांश सदस्यों के मनोनीत लाला लाजपतराय को अध्यक्ष पद के लिए छाँटे जाने से रोक दिया। ऐसी दशा में यह विचार किया जाता था कि बम्बई अधिवेशन, अनुच्छेद नं० २० में संशोधन करना अस्वीकार कर देगा और उग्र पक्षवालों को अपना पृथक् संगठन बनाना होगा। किन्तु कांग्रेस-अधिवेशन से कुछ ही सप्ताह पहले सर फ़ीरोजशाह का देहान्त हो गया। श्री गोखले की कई महीने पहले मृत्यु हो चुकी थी। अस्तु, श्रीमती बीसेन्ट और उनके समर्थकों ने, कांग्रेस में उग्र पक्ष के पुनरागमन के लिए वांछित संशोधन, सरलता से स्वीकार करा लिया। दिसम्बर १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में उग्र पक्ष के लोगों ने पूरी तरह भाग लिया और उसमें तिलक को अत्यन्त उत्साहपूर्ण स्वागत और अपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ।

७.

सन् १९१७ में राजनैतिक आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया। लोकमान्य तिलक और श्रीमती बीसेन्ट ने बड़े यत्नपूर्वक पिछले तीन-चार वर्षों में उसके लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर लिया था।

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा जा चुका है, दमन और सुधार की दोहरी नीति ने देश के राजनैतिक जीवन को अत्यन्त शिथिल कर दिया था। धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से स्थिति में सुधार हुआ लेकिन श्री गांधी के प्रेरक नेतृत्व के अन्तर्गत दक्षिण अफ़्रीका की घटनाओं से उसको विशेष प्रोत्साहन मिला। दक्षिण अफ़्रीका और अन्य उपनिवेशों में भारतीयों की अपमानजनक स्थिति से लोगों को साम्राज्य में अपनी वास्तविक स्थिति का पता लगा और उनको इस बात का दृढ़ विश्वास हो गया कि जब तक वे स्वयं अपने देश के मालिक नहीं होंगे तब तक विदेशों में अच्छा व्यवहार प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती—केवल स्व-शासन से ही उनकी प्रतिष्ठा बढ़ सकती थी।[1] सन १९०६ के कलकत्ता-अधिवेशन में श्री दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्ष पद से इस बात को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी किया था; किन्तु उस समय स्वराज्य का आदर्श उग्र-पक्षी नेताओं के अनुसार भी बहुत दूर माना जाता था। यूरोपीय महायुद्ध छिड़ने पर सारी स्थिति बदल गई और सुदूर भविष्य का आदर्श निकट भविष्य में व्यवहार्य दिखाई देने लगा।

---

१. यह बात श्रीमती बीसेण्ट ने इस आंग्ल-भारतीय आलोचना के उत्तर में कही थी कि भारतीय नेतागण युद्ध की परिस्थितियों का स्वराज्य प्राप्त करने के लिए उपयोग करना चाहते हैं। देखिए: Annie Besant: The Future of Indian Politics—pages 52 to 66.

महायुद्ध ने स्वशासन की माँग को जन्म नहीं दिया वरन उसकी पूर्वस्थित माँग को एक नई महत्ता, अविलंब्यता और वास्तविकता प्रदान की। युद्ध ने भारतीयों को दासता के अपमान और उसकी बीभत्सता के प्रति फिर से सचेत किया और उन्हें स्वशासन और स्वतन्त्रता का सच्चा मूल्य बताया। यदि जर्मन सेनाओं ने इंगलैंड जीत लिया तो क्या दशा होगी? इसके उत्तर में अंगरेज़ राजनीतिज्ञ जो चित्र खींचते थे, वह इतना भयंकर होता था, कि उस विपत्ति को रोकने के लिए कोई भी बलिदान बहुत बड़ा नहीं मालूम पड़ता था। इस संबंध में दूसरी बात यह थी कि अंगरेज़ राजनीतिज्ञों ने अपने पक्ष के लिए सहयोग तथा समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से उस युद्ध को "संसार में लोकतंत्र की सुरक्षा करने के निमित्त" बताया। भविष्य में प्रत्येक बड़े अथवा छोटे राष्ट्र को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना था; और किसी भी राष्ट्र को, चाहे वह कितना ही छोटा अथवा दुर्बल क्यों न हो, ऐसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत, जिसका वह राष्ट्र अनुमोदन न करता हो, रहने के लिए विवश नहीं करना था। भारतीय नेताओं ने इन घोषणाओं को यथावत् स्वीकार किया और भारतीय स्वशासन के लिए उनका उपयोग किया। श्रीमती एनी बीसेण्ट ने मद्रास प्रेसीडेन्सी में और श्री तिलक ने बम्बई प्रेसीडेन्सी में होम-रूल (स्वराज्य) के लिए ज़ोरों से प्रचार किया। श्रीमती बीसेण्ट और लोकमान्य तिलक, दोनों ही चतुर राजनीतिज्ञ थे—दोनों ही महायुद्ध में हर प्रकार की सहायता करने के लिए उत्सुक थे; किन्तु दोनों ही का यह मत था कि महायुद्ध ने भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये एक दैवी अवसर प्रदान किया है और उसका लाभ उठाने से चूकना नहीं चाहिए। जब उनको अथवा उनके साथियों को युद्ध-सम्मेलनों में बुलाया जाता था तो वे स्वशासन और समान प्रतिष्ठा का प्रश्न सामने ले आते थे और उसको युद्ध की सहायता के प्रश्न के साथ जोड़ देते थे।[1] लेकिन अन्य भारतीय नेताओं की निष्ठा दृढ़तर थी—उन्हें चुपचाप तुरंत सेवा करने और धैर्यपूर्वक पुरस्कार की प्रतीक्षा करने की नीति में विश्वास था। उनमें से कुछ को बाद में यह अनुभव हुआ कि उनकी निष्ठा ग़लत थी, किन्तु दुर्भाग्य से उस समय तक बहुत देर हो चुकी थी।

श्रीमती बीसेण्ट सन् १९१४ के आरंभ में कांग्रेस में सम्मिलित हुई थीं और उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा और संगठन की सहायता से औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा

१. मि. तिलक और उनके साथियों का यह मत था कि युद्ध में सहयोग देने के लिए भारतीयों को सेना में बराबरी का स्थान दिया जाना अनिवार्य था। उन्ह इस बात का निश्चय होना चाहिए था कि युद्ध के बाद वे एक स्वतंत्र भारत में लौटेंगे।

डोमिनियन स्वराज्य प्राप्त करने की आशा की थी।[1] किन्तु शीघ्र ही वह इस निर्णय पर पहुँची कि नरम दली कांग्रेस में आगे बढ़ने और सर्वसाधारण को शिक्षित तथा संगठित करने के साहस का अभाव है। अतः उन्होंने 'न्यू इंडिया' नामक एक दैनिक पत्र को और 'कामनवील' नामक एक साप्ताहिक पत्र को निकाला और एक नई राजनैतिक संस्था की स्थापना की। इस नई संस्था को अविलम्ब स्वराज्य की माँग के लिए समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से सर्वसाधारण में सारे वर्ष काम करना था। किन्तु होम रूल लीग स्थापित करने से पहले, उन्होंने कांग्रेस को वही काम करने के लिये अवसर देना स्वीकार किया और नियत समय बीत जाने के बाद ही सितम्बर १९१६ में होम रूल लीग का मद्रास में उद्घाटन किया गया। अप्रैल १९१६ में लोकमान्य तिलक ने पूना में होम रूल लीग की स्थापना कर ली थी और वे दैनिक 'केसरी' और साप्ताहिक 'महरट्टा' की सहायता से महाराष्ट्र में प्रचार कर रहे थे। जेल से छूटने के समय से ही श्री तिलक राष्ट्रवादी (उग्र) पार्टी को फिर से संगठित और दृढ़ करने के लिए काम कर रहे थे और उनके प्रेरक एवं योग्यतापूर्ण नेतृत्व में पार्टी का बल और प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था। पूना और मद्रास दोनों ही स्थानों की होम रूल लीगों ने मिलकर देश में होम रूल के लिये प्रबल प्रचार किया। दिसम्बर १९१६ में इंडियन नेशनल कांग्रेस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने सुधारों की एक संयुक्त योजना स्वीकार की और उन्होंने देश में उसके प्रचार के लिए होम रूल संगठन के उपयोग करने का निश्चय किया। सन् १९१६ के लखनऊ (कांग्रेस) अधिवेशन के बाद श्रीमती बीसेण्ट और श्री तिलक ने 'कांग्रेस लीग योजना' के समर्थन और देश की राजनैतिक एवं राष्ट्रीय जागृति के लिए और भी ज्यादा जोरों से प्रचार का काम किया।

बम्बई और मद्रास प्रेसिडेन्सियों में होमरूल-आन्दोलन से उन प्रेसिडेन्सियों की सरकारों को घबराहट हुई और उन्होंने श्रीमती बीसेण्ट और श्री तिलक की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाकर उन नए आन्दोलनों का परोक्ष रूप से दमन करने का प्रयत्न किया। मई १९१६में, मि. तिलक के विरुद्ध कार्यवाही की गई और होमरूल-सभाओं में उनके कुछ व्याख्यानों पर आपत्ति की गई; और उनसे एक वर्ष तक सद्व्यवहार के लिए २०००० रुपए की एक व्यक्तिगत बॉण्ड भरने की और इतनी ही रकम की दो जमानतें जमा कराने की आज्ञा दी गई। बाद में, बम्बई हाईकोर्ट में अपील के फलस्वरूप मजिस्ट्रेट की आज्ञा रद्द कर दी गई। लगभग इसी

१. श्रीमती बीसेण्ट ने सर फ़ीरोज़शाह और अन्य कांग्रेसियों के समक्ष अपना सारा कार्यक्रम रखा था जिसमें धार्मिक, समाजिक एवं शिक्षण विषयक कार्यक्रम भी सम्मिलित था, किन्तु उन लोगों ने धार्मिक एवं सामाजिक कार्यक्रम को अपनाने से इंकार कर दिया था।

समय (२६ मई १९१६ को) 'न्यू इंडिया' से २००० रुपए की जमानत माँगी गई, जो २८ अगस्त को जब्त कर ली गई। दुबारा १०००० रुपए की जमानत माँगी गई और वह तुरन्त ही दे भी दी गई। श्रीमती बीसेण्ट ने जब्ती की आज्ञा के विरुद्ध मद्रास-हाईकोर्ट में अपील की और बाद में प्रिवी कौंसिल में भी अपील की, पर कोई सफलता नहीं मिली।

श्री तिलक और श्रीमती बीसेण्ट के राजनैतिक कामों पर सरकारी रोक का, बिलकुल उलटा प्रभाव हुआ। सन् १९१७ में उन दोनों ने राष्ट्रीय प्रचार के काम में अपने आप को पूरी तरह—तन मन से—लगा दिया और होमरूल का आन्दोलन बहुत ज्यादा ज़ोर पकड़ गया। सन् १९१७ के आरंभ में लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसके फलस्वरूप लोगों में असन्तोष की भावना और भी ज़्यादा बढ़ गई और होमरूल की माँग और ज़्यादा ज़ोरदार हो गई। सरकार ने सक्रिय निरुत्साहन और साधारण दमन की नीति अपनाने की आवश्यकता अनुभव की। एक आज्ञा द्वारा स्कूल और कॉलेजों के विद्यार्थियों को होमरूल-सभाओं में सम्मिलित होने से रोका गया। प्रान्तीय गवर्नरों ने होमरूल के प्रचार को निरुत्साहित करने के लिए व्याख्यान दिए और आन्दोलन के नेताओं को चेतावनी दी। मद्रास-सरकार और भी आगे बढ़ी और उसने श्रीमती बीसेण्ट और उनके दो सहयोगियों को नजरबन्द करने की आज्ञा दी। राष्ट्रवादी नेताओं के अनुसार सरकार ने अ-ब्राह्मणों को, होम-रूल-विरोधी आन्दोलन आरम्भ करने में सहायता दी और प्रेसीडेन्सी में साम्प्रदायिकता की ज्वाला को भड़काया। अस्तु, श्रीमती बीसेण्ट, श्री वादिया और श्री एरण्डेल की नजरबन्दी से सारे देश में विरोध और रोष का ज्वार उमड़ पड़ा और देश के विभिन्न स्थानों में विरोध-सभायें की गईं। राष्ट्रवादी नेतागण जो अबतक होम रूल संगठन से अलग रहे थे, अब उसमें सम्मिलित हो गए और उसके दायित्वपूर्ण पदों पर काम करने लगे। जुलाई में, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपनी मीटिंग में होमरूल लीगों के काम की सराहना की और श्रीमती बीसेण्ट और उनके सहयोगियों की नजरबन्दी के सम्बन्ध में सरकारी कार्यवाही की निन्दा की। उसने श्री तिलक की प्रेरणा से वाइसरॉय और भारत-मंत्री के समक्ष दृढ़ एवं गम्भीर प्रतिनिधित्व किया, भारत-सरकार की दमनकारी एवं प्रतिक्रियावादी नीति की निन्दा की और तुरन्त ही स्वराज्य की एक बहुत बड़ी किस्त प्रदान करने की माँग की। कमेटी ने कहा कि एक राजकीय उद्घोषणा द्वारा भारतीय राजनैतिक माँगों को स्वीकार किया जाए और नजरबन्द नेताओं—श्रीमती बीसेण्ट और उनके सहयोगियों—को मुक्त किया जाए। कमेटी ने सरकार को इस बात की चेतावनी भी दी कि यदि उक्त कार्यवाही जल्दी न की गई तो देश में

१. इसी पुस्तक के सत्रहवें अध्याय का सातवाँ विभाग देखिए।

असन्तोष और अशान्ति की बढ़वार बराबर होती रहेगी। श्रीमती बीसेण्ट को १९१७ के कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष पद दिया गया; और श्रीमती बीसेण्ट तथा उनके सहयोगियों के छुटकारे के लिए प्रयत्न जारी रखने का निर्णय किया गया।

जुलाई और अगस्त १९१७ में भारतीय राजनैतिक आंदोलन चोटी पर पहुँच गया। इन्हीं दिनों (जुलाई १९१७ में) मेसोपोटामियन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी; उसने इंग्लैण्ड तथा भारत, दोनों ही देशों में खलबली मचा दी और उसके फलस्वरूप भारतीय राजनैतिक सुधारों को विशेष समर्थन और बल प्राप्त हुआ। लार्ड हार्डिंज की सरकार और भारत मंत्री मि० चैम्बरलेन ने जिस प्रकार मेसोपोटामिया के युद्ध का संचालन किया था, कमीशन ने उसकी तीव्र आलोचना की थी। लॉर्ड भवन में अपने एक व्याख्यान द्वारा लॉर्ड हार्डिंज ने दोष के अधिकांश भाग को ब्रिटिश युद्ध विभाग के सिर मढ़ दिया किन्तु मि० माण्टेगु ने, जो पहले उप-भारत मंत्री रह चुके थे, हाउस ऑव कॉमन्स में मेसोपोटामियन कमीशन रिपोर्ट पर अपने (१२ मार्च १९१७ के) प्रसिद्ध व्याख्यान में तत्कालीन भारत सरकार की बड़ी तीव्र आलोचना की। उन्होंने कहा कि "हमारे आधुनिक उद्देश्यों की दृष्टि से भारत सरकार अत्यन्त जड़, अत्यन्त निश्चेष्ट और अत्यन्त असमर्थ है।"[१] उन्होंने यह मत प्रकट किया कि वाइसरॉय को काम करने के लिए अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, भारतीय विधायिका सभाओं को आंशिक नियंत्रण का अधिकार सौंपा जाना चाहिए, इंडिया ऑफ़िस के व्यय का बोझ भारतीय राजस्व पर नहीं होना चाहिए और भारत परिषद् के अधिकारों को घटाकर, भारत-मन्त्री को वास्तविक दायित्व सौंपा जाना चाहिए। इसी सम्बन्ध में उन्होंने इंडिया ऑफ़िस (भारत मंत्री के पूरे कार्यालय) के ढांचे में सुधार करने के लिए कहा और तत्कालीन इंडिया ऑफिस की इन शब्दों में निन्दा की:—"प्रविधानीय व्यवस्था के अनुसार इंडिया ऑफिस की कार्य-पद्धति में इतने घुमाव-फिराव हैं और इतने वाग्जाल की खानापूरी करनी पड़ती है कि साधारण नागरिक उसका स्वप्न में भी अनुमान नहीं कर सकता।"[२] मि० माण्टेगु ने इस भारतीय माँग का समर्थन किया कि ब्रिटिश नीति तुरन्त घोषित की जानी चाहिए और भारत की ब्रिटिश सरकारी व्यवस्था में बहुत बड़ा परिवर्तन किया जाना चाहिए। "अब कुशलता का तर्क भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि मेसोपोटामिया की धांधलेबाजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत सरकार अकुशल है।"[३] उन्होंने हाउस ऑव कॉमन्स में कहा, "यदि आप भारतवासियों की राजभक्ति का उपयोग करना चाहते हैं तो उन्हें अपने भाग्य-

१. The Indian Annual Register, 1919, page IX.
२. Ibid. page XI.
३. Indian Annual Register, page XII.

नियंत्रण के लिए अधिक अवसर दीजिए—असमर्थ परिषदों के रूप में नहीं वरन् स्वयं कार्यकारिणी के अधिकाधिक नियंत्रण के रूप में।"[१] अन्त में उन्होंने कहा:—"यदि आप आधुनिक अनुभव के आधार पर इस एक शताब्दी पुराने और प्रतिरोध-पूर्ण ढांचे में परिवर्तन नहीं करेंगे तो मुझे ऐसा दिखाई देता है कि आप भारतीय साम्राज्य के नियंत्रण का अधिकार खो बैठेंगे।"[२]

भारतीय राष्ट्रवादी पत्रों ने प्रचार के लिए मि० मॉण्टेगु के व्याख्यानों का लाभ उठाया। उसकी प्रशंसा की गई और उसको विस्तृत रूप से उद्धृत किया गया। देश की सरकारी व्यवस्था में तुरन्त परिवर्तन करने की आवश्यकता बताने के लिए उसका उपयोग किया गया। इस प्रकार होम-रूल और नजरबन्द नेताओं की मुक्ति के आन्दोलन को प्रबल प्रोत्साहन मिला।

इसी बीच यूरोप में युद्ध-स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई और इंग्लैण्ड को भारत से अधिक सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता हुई। भारतवासी सहायता के लिए तैयार थे किन्तु इस बात का निश्चित आश्वासन चाहते थे कि निकट भविष्य में उन्हें स्वराज्य मिल जाएगा। मि० लॉयड जॉर्ज ने समय के प्रवाह को अनुभव किया और मि० चैम्बरलैन के स्थान पर (जिन्होंने मेसो-पोटामियन कमीशन रिपार्ट से सम्बन्धित आलोचनाओं के कारण त्यागपत्र दे दिया था), मि० मॉण्टेगु को भारत-मंत्री नियुक्त किया। ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने अन्य कामों में व्यस्त होते हुए भी, भारतीय नीति की नई घोषणा का मसविदा तैयार करने का काम हाथ में लिया और साथ ही श्रीमती बीसेण्ट और उनके सहयोगियों को छोड़ने के सम्बन्ध में भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी की। इसके अतिरिक्त सरकार ने सेना के 'कमीशंड' पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के सम्बन्ध में रोक हटाई और ९ व्यक्तियों को, जिन्होंने युद्ध में विशिष्ट सेवा की थी, उक्त 'कमीशण्ड' पद प्रदान किए। २० अगस्त १९१७ को, मि० चार्ल्स रॉबर्ट्‌स के एक प्रश्न के उत्तर में मि० मॉण्टेगु ने हाउस ऑव कॉमन्स में यह ऐतिहासिक घोषणा की:—"साम्राज्य सरकार की नीति जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, यह है कि शासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक साथ लिया जाए और स्वशासक संस्थाओं का क्रमश: विकास किया जाए ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में क्रमश: उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सके।"....मैं यह और कहना चाहूँगा कि इस नीति की प्रगति क्रमश: कई किस्तों में ही हो सकती है। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार, जिन पर भारत के विभिन्न लोगों की उन्नति और भलाई का उत्तरदायित्व है, प्रत्येक किस्त के समय और परिमाण का निर्णय करेंगी जिसमें वे इस बात को

१. Ibid, page XIII.
२. Ibid, page, XIV.

ध्यान में रखेंगी कि जिन लोगों को सेवा के नए अवसर प्रदान किए जा रहे हैं, उनसे कितना सहयोग प्राप्त हुआ है और उन पर उत्तरदायित्व का कितना बोझ डाला जा सकता है।"[१]

उसी समय भारत-मंत्री ने यह भी बताया कि सम्राट्-सरकार ने उनको परामर्श और जाँच के उद्देश्य से तुरन्त ही भारत भेजने का निश्चय किया है।

२० अगस्त १९१७ की घोषणा से भारतीय राष्ट्रवादियों के दल में फिर एक बार फूट पड़ी। नरम पक्ष के राष्ट्रवादियों ने "उस घोषणा का 'भारत के मैगना कार्टा' के रूप में स्वागत किया; उन्होंने सरकार से उसके उद्देश्यों की साई के रूप में, नजरबन्दों को छोड़ने की माँग की और भारत-मंत्री के अभ्यागमन के लिए लोगों को जागृत करने के निमित्त अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करने का निश्चय किया।"[२] दूसरी ओर उग्र पक्ष के मतानुसार उक्त घोषणा, भाषा और तत्व दोनों ही की दृष्टि से असन्तोषप्रद थी और उन्होंने नजरबन्दों के छुटकारे के लिए और साथ ही भारतीय आकांक्षाओं और माँगों की श्रेयतर मान्यता के लिए आन्दोलन जारी रखने का निश्चय किया।

नजरबन्द नेताओं के छुटकारे का आन्दोलन कुछ[३] अंशों में सफल हुआ। ५ सितम्बर १९१७ को भारत सरकार ने नजरबन्दों के छुटकारे के निमित्त मद्रास-सरकार से इस शर्त पर सिफ़ारिश करने के लिए अपनी तत्परता की घोषणा की कि "वे नेतागण युद्ध के अवशिष्ट समय में राजनैतिक आन्दोलन के लिए उग्र एवं अवैधानिक उपायों को काम में नहीं लाएँगे।"[४]

दोनों होम-रूल संस्थाओं ने भारत में राजनैतिक जागृति और प्रचार के अपने कामों को जारी रखा और साथ ही इंग्लैण्ड में भी प्रचार-कार्य करने का निश्चय किया। श्री तिलक और श्रीमती बीसेण्ट, दोनों ही इस अवसर पर इंग्लैण्ड में जनमत शिक्षित करने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे और उन्होंने पुराने कांग्रेसियों पर इंग्लैण्ड में एक शिष्टमंडल भेजने की वांछनीयता पर जोर दिया। सन् १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस ने एक शिष्टमंडल भेजने का निश्चय किया था, किन्तु बाद में सर विलियम वेडरबर्न की मंत्रणा से उसका विचार छोड़ दिया गया। इस बीच इंग्लैंड में निवृत्त आंग्ल-भारतीयों तथा अन्य प्रतिक्रियावादियों ने भारत-

१. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 1.
२. India in the years 1917-18, page 37.
३. अली-बंधुओं ने सरकार को आश्वासन देने से इन्कार कर दिया था, अतः उनको मुक्त नहीं किया गया।
४. India in the years 1917-18, page 41.

विरोधी प्रचार आरम्भ कर दिया। इन लोगों ने सुधार-नीति का विरोध करने के लिए इंडो-ब्रिटिश-एसोसियेशन की स्थापना की और लॉर्ड सिडेनहैम को उसका अध्यक्ष बना दिया। अस्तु, श्री तिलक ने इंग्लैंड के मज़दूर दल के सम्पर्क स्थापित करने के लिए और वस्तुस्थिति देखने के लिए मि० बैप्टिस्टा को इंग्लैण्ड भेजा। इसके अतिरिक्त एक होम रूल शिष्टमंडल भेजने के लिए धन इकट्ठा करने के उद्देश्य से उन्होंने महाराष्ट्र का व्यापक परिश्रम किया; इसी प्रकार श्रीमती बीसेण्ट ने भी प्रयत्न किया। दोनों होमरूल लीगों ने सन् १९१८ के वसंत में अपने शिष्ट-मंडलों को इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया। और सरकार ने आवश्यक पारपत्र भी प्रदान कर दिए। पहला शिष्टमंडल मार्च में चला गया और दूसरा शिष्टमंडल कोलम्बू से प्रस्थान करने वाला ही था कि ब्रिटिश युद्ध कैबिनेट के आदेशानुसार पार-पत्र रद्द कर दिए गए। इस प्रकार होम रूल लीगों को ब्रिटिश जनता के समक्ष अपने दृष्टि-कोण व्यक्त करने से रोक दिया गया और उनसे इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन के कुटिल प्रचार का प्रत्युत्तर देने के अवसर को छीन लिया गया।

१० नवम्बर १९१७ को 'माण्टेगु मिशन' भारत आया और उसने परामर्श और जाँच का काम आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप भारतमंत्री और वाइसरॉय ने सुधारों की एक संयुक्त योजना प्रस्तुत की जो 'मिशन' के अन्य सदस्यों—लॉर्ड डॉनोमोर, सर विलियम ड्यूक, मि० (बाद में सर) भूपेन्द्रनाथ बसु और मि० चार्ल्स रॉबर्ट्स—को भी मान्य थी। इसी योजना को बाद में सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया एक्ट में रूप दिया गया।

बीसवाँ अध्याय

मॉण्टफोर्ड सुधार

१.

मॉर्ले-मिण्टो सुधारों का उद्देश्य भारत में सांसद्-व्यवस्था स्थापित करना नहीं था। यह बात स्वयं लॉर्ड मार्ले ने लॉर्ड भवन के अपने व्याख्यान में स्पष्ट कर दी थी। दूसरी ओर सन् १९१९ के सुधारों के संयुक्त प्रवर्तकों के अनुसार उन (मॉर्ले-मिण्टो) सुधारों का उद्देश्य एक ऐसा विधान बनाना था, जिसके चारों ओर पिछड़े हुए विचारों के प्रतिगामी लोग एकत्रित हो सकें और भविष्य में किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन का विरोध करें।[१] लॉर्ड मॉर्ले और लॉर्ड मिण्टो दोनों ही, शासन में केवल ऐसे भारतीयों को साथ लेना चाहते थे जो भविष्य में "शक्ति के संतुलन को बदलने का और भारतीय संस्थाओं के लोकतन्त्रीकरण का विरोध करेंगे।"[१] किन्तु भारत के नरम

१. The Report of the Indian Constitutional Reforms, 1918, page 48.

पक्ष के राष्ट्रवादी बड़ी आशाएँ लगाएँ बैठे थे और उनका यह विश्वास था कि लॉर्ड मॉर्ले का प्रत्याख्यान, लॉर्ड भवन में विरोध शान्त करने के लिए था और सुधारों से सरकारी ढाँचे में परिवर्तन होगा और निर्वाचित सदस्यों को शासन में उत्तरदायित्व-पूर्ण सहयोग का अवसर मिलेगा।[१] श्री गोखले ने यह आशा की थी कि "वित्तीय विषयों में भारत सरकार के नियंत्रण का स्थान परिषदों की आलोचना और विवेचना के नियंत्रण को मिलेगा;"[१] "जातीय दृष्टिकोणों को पृष्ठभूमि में रखा जाएगा और सर्वोच्च परिषदों में प्रत्येक प्रश्न के भारतीय दृष्टिकोण को उचित महत्त्व प्राप्त होगा;"[२] "और प्रान्तों में ऐसा कोई विधान नहीं बनाया जावेगा जिसके विपक्ष में ग़ैर-सरकारी बहुमत हो; और निर्वाचित सदस्यों को प्रान्तीय विषयों पर प्रभाव डालने का उपयुक्त अवसर प्राप्त होगा।"[२] किन्तु ऐक्ट के लागू होने के बाद कुछ ही महीनों में श्री गोखलेके विचार बदल गए। अगस्त१९१०में उन्होंने साम्राज्यीय विधान परिषद् में कहा:—"श्रीमान्! अब हम इस बात से भलीभांति परिचित हैं कि जब सरकार एक बार कोई निश्चय कर लेती है तो परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्य चाहे जो कहें किन्तु उसका सरकार पर कोई प्रभाव नहीं होता।"[३] प्रान्तीय परिषदों की दशा भी ज़्यादा अच्छी नहीं थी क्योंकि निर्वाचित सदस्यों का कहीं पर भी कारगर बहुमत नहीं था और इसके अतिरिक्त लगभग सभी विषयों में अन्तिम सत्ता साम्राज्यीय सरकार के हाथों में थी।

इस प्रकार मार्ले-मिण्टो सुधार भारत के अत्यन्त नरम पक्षी राजनीतिज्ञ को भी सन्तुष्ट न कर सके। इसके कई कारण थे। सबसे पहला कारण तो यह था कि साम्राज्यीय विधान परिषद्में एक ठोस और दृढ़ सरकारी व्यूह था। इस व्यूहसे बचने, उसको तोड़ने अथवा बेधने का कोई उपाय नहीं था। सरकार और ग़ैर-सरकारी भारतीयों के बीच यह व्यूह चीन की दीवार की भाँति स्थायी रूप से जमा हुआ था। परिषदों में जो चर्चा होती थी वह वस्तुतः निर्जीव होती थी और उसमें से वास्तविकता और उत्तरदायित्व की भावना को दूर कर दिया जाता था। सरकारी सदस्यों के मस्तिष्क में अन्तःकरण और अनुशासन के बीच एक तीखा संघर्ष था; और ग़ैर-सरकारी सदस्यों के मस्तिष्क में विवशता और निराशा की भावना तीखी हो गई थी और उसने नरम पक्ष के लोगों को उग्र पक्ष वालों के साथ एक होने को विवश कर दिया था। सारे विषयों में जातीय भेदभाव को प्रधानता दी

---

१. The Report of the Indian Constitutional Reforms, 1918, page 64.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ६५.

३. Proceedings of the Imperial Legislative Council Vol. XLIX, page 29.

जाती थी। मि० कर्टिस के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता था कि सारी व्यवस्था का उद्देश्य जातीय भावनाओं को कुपित करना और जातीय भेदभावों को बढ़ाना था।[1]

यह बात केवल साम्राज्यीय विधान परिषद् में ही नहीं थी, जहाँ सरकारी सदस्य का बहुमत था, वरन् यह बात प्रान्तीय परिषदों में भी थी, जहाँ ग़ैरसरकारी सदस्य बहुमत में थे और बंगाल में भी, जहाँ निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था। इसका एक कारण तो यह था कि ग़ैर-सरकारी बहुमत केवल नाममात्र को था। जैसा कि मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया है, "अनुपस्थित रहने वालों में सरकारी सदस्यों की अपेक्षा ग़ैरसरकारी सदस्य अधिक होते थे और इस प्रकार ग़ैर-सरकारी बहुमत निरर्थक हो जाता था।[2] दूसरा कारण यह था कि नामनिर्देशित और यूरोपियन सदस्य साधारणतया, सरकारी पक्ष की ओर रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे। तीसरा कारण यह था कि सरकारी सदस्यों को केवल संयुक्त रूप से ही काम नहीं करना पड़ता था वरन् उन्हें केन्द्रीय सरकार के निर्णयों की रक्षा करनी होती थी, चाहे वे निर्णय प्रान्तीय सरकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध ही क्यों न हों। भारत मंत्री के अनुसार उस व्यवस्था का सिद्धान्त यह था कि, "भारत के लिए एक ही शासन-व्यवस्था है......अतः स्थानीय (प्रान्तीय) सरकार का यह कर्तव्य है कि वह किसी भी प्रस्ताव पर विचार करने में, भारत सरकार के निर्णय का यथाशक्ति समर्थन करे।"[3]

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि ग़ैर-सरकारी सदस्यों का शासन अथवा विधान कार्य पर कोई प्रभाव नहीं था। बहुत-से विषयों में विधेयकों का अन्तिम मसविदा बनाने और प्रशासनीय निर्णय करने से पहले उनसे परामर्श किया जाता था। परिषदों में प्रस्तुत हो जाने के बाद भी कितने ही प्रस्तावों में गैर-सरकरी सदस्यों ने महत्त्वपूर्ण संशोधन कराया था। निम्नलिखित विधेयकों के सम्बन्ध में यही बात हुई थी—इंडियन कोर्ट फ़ीस (एमेण्डमेण्ट) बिल (१९१०), इंडियन फैक्ट्रीज बिल (१९११), इंडियन पेटेण्ट्स एण्ड डिज़ाइन्स बिल (१९११) क्रिमिनल ट्राइब्स बिल (१९११), लाइफ एश्योरेन्स कम्पनीज़ बिल (१९१२), और इंडियन (बोगस डिग्रीज़) मेडिकल बिल (१९१६)। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय सदस्य केवल उन्हीं विधेयकों में संशोधन कराने में सफल हुए थे जो सरकार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं थे अथवा जो मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार "देश की शान्ति और सुरक्षा"[4] से सम्बन्धित नहीं थे। प्रशासनीय विषयों में भी सरकार

---

१. Curtis: Dyarchy, page 372.

२. Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 62.

३. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ५८.

४. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ६०.

पर ग़ैरसरकारी मत का कुछ हद तक प्रभाव पड़ा था—जैसे कुछ उपनिवेशों के लिए 'शर्तबन्द' मजदूर व्यवस्था का अन्त, संयुक्त प्रान्त में कार्यपालिका परिषद की स्थापना, पंजाब में हाई-कोर्ट की स्थापना, जेल-शासन की जाँच और उस पर रिपोर्ट करने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति और लोकसेवा आयोग तथा औद्योगिक आयोग की नियुक्ति।[१] सही अनुदृष्टि के लिए यह कहना उचित होगा कि सन् १९१७ के अन्त तक साम्राज्यीय विधान परिषद् में १६८ प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए और उनमें से सरकार ने केवल २४ को स्वीकार किया; ६८ प्रस्ताव वापिस ले लिए गए और ७६ रद्द कर दिए गए।[१]

मॉर्ले-मिण्टो सुधारों की असफलता का दूसरा कारण यह था कि प्रान्तीय सरकारों पर भारत-सरकार का नियंत्रण कम नहीं हुआ और साथ ही सार्वजनिक नौकरियों में भारतीयों की भर्ती के सम्बन्ध में अत्यन्त अनुदार नीति का अनुसरण किया गया। "स्थानीय संस्थाओं में कोई उन्नति नहीं हुई; प्रान्तीय वित्त को स्वतन्त्रता नहीं मिली और सार्वजनिक नौकरियों में भारतीयों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई।"[२] भारत-सरकार अब भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी थी और वह प्रान्तीय शासन और विधान में अपना नियंत्रण कम नहीं कर सकती थी।" वित्त और शासन से सम्बन्धित वह क्षेत्र, जिसमें परिषदें सरकारी कामों पर प्रभाव डाल सकती थीं, अत्यन्त संकुचित था। बार-बार स्थानीय (प्रान्तीय) सरकार को यह कहना पड़ता था कि प्रस्तुत विषय उसके अधिकार से बाहर है। प्रान्तीय बन्दोबस्त के कारण वे सरकारें राजस्व के क्षेत्र में कोई नया कदम नहीं उठा सकती थीं; भारत-सरकार के नियंत्रण के कारण उन्हें प्रशासनीय क्षेत्र में काम करने की स्वतन्त्रता नहीं थी; अतः वे भारत सरकार के समक्ष परिषद् का दृष्टिकोण ही प्रस्तुत कर सकती थीं।"[३]

मॉर्ले-मिण्टो सुधारों की असफलता का तीसरा कारण यह था कि उनकी योजना के अन्तर्गत जो निर्वाचन व्यवस्था अपनाई गई थी वह बिलकुल अपर्याप्त थी, उसमें विभिन्न समुदायों के साथ भेदभाव किया गया था और उसका मौलिक सिद्धांत ग़लत था। एक ओर तो मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र बनाए गए थे और अन्य हितों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया था किन्तु दूसरी ओर आम जनता को प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। वस्तुतः सर्वसाधारण के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था इतनी संकुचित और टेढ़ी थी कि उससे न तो लोगों की राजनीतिक जागृति

१. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 61.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ६१.

३. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ६५.

ही हो सकती थी और न उससे उन लोगों में उत्तरदायित्व की भावना भरी जा सकती थी। यह कथन आगे दिये हुए तथ्यों से स्पष्ट हो जाएगा—साम्राज्यीय विधान परिषदों के लिए साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाताओं की औसत संख्या केवल २१ थी और एक क्षेत्र में तो यह संख्या कुल ९ थी। "परिषद् के सारे निर्वाचित सदस्यों को प्राप्त होने वाले कुल वोटों की संख्या ४००० से अधिक नहीं थी। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को औसत से लगभग १५०वोट प्राप्त होते थे। संयुक्त प्रांत की विधान परिषद् के सदस्यों को प्राप्त होने वाले कुल वोटों की संख्या लगभग ३००० थी और प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को औसत से १४३ वोट प्राप्त होते थे।"[१] प्रान्तीय परिषदों के लिए साधारण जनता के प्रतिनिधियों का निर्वाचन स्थानीय मंडलों के ग़ैर-सरकारी सदस्य करते थे और साम्राज्यीय परिषद् के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन, प्रान्तीय परिषदों के ग़ैर-सरकारी सदस्य करते थे। इसका परिणाम यह था कि "आद्य मतदाता और विधान परिषद् के उसके प्रतिनिधि में कोई सम्पर्क नहीं था और उस मतदाता की वोट का विधान परिषद् की कार्यवाही पर कोई प्रभाव नहीं था।"[२] सन् १९०९ के भारतीय परिषद् ऐक्ट की इस निर्वाचन-व्यवस्था को मि० कर्टिस ने एक 'वंचना' बताया है।[३]

ऐसे मौलिक दोषों के होते हुए, राजनैतिक सुधारों के प्रश्न को अनिश्चित रूप से स्थगित करना संभव नहीं था; और महायुद्ध से सम्बन्धित कामों में व्यस्त होने पर भी सरकार को विवश होकर इस ओर ध्यान देना पड़ा। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड विलिंगडन ने श्री गोखले से एक सुधार-योजना तैयार करने के लिए कहा जिसे उन्होंने मार्च १९१५ तक पूर्ण रूप से तैयार कर दिया। कुछ ही समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। यह योजना जो 'गोखले के राजनैतिक मृत्युलेख'[४] के नाम से प्रसिद्ध है, मृतजात थी। श्री गोखले की दृष्टि 'प्रान्तीय स्वायत्तता' पर थी—जिसका अर्थ केवल यह था कि उच्च सत्ता के नियंत्रण से स्वतन्त्रता हो। उसमें उत्तरदायित्व प्रदान करने की समस्या पर विचार नहीं किया गया था। यही दोष उस ज्ञापन[५] में था जो साम्राज्यीय विधान परिषद् के उन्नीस भारतीय सदस्यों ने प्रस्तुत किया था और यही दोष उस योजना में भी था जिसे १९१६ में कांग्रेस और

---

१. Curtis: Dyarchy, Page 368.

२. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, Page 54.

३. Curtis: Dyarchy, Page 368.

४. इस योजना के लिए देखिए—Keith: Speeches and Documents on Indian Policy Vol. II Page III to 116.

५. इस ज्ञापन के लिए देखिए—उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ११६ से १२४ तक।

मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से, बड़े यत्नपूर्वक बनाया था।[1] उत्तरदायी सरकार की क्रमशः स्थापना करने की दृष्टि से भारतीय समस्या का हल करने वाली सबसे पहली सुधार-योजना वह थी जिसे मि० लायोनेल कर्टिस के नेतृत्व में 'इंगलिश राउण्ड टेब्ल ग्रुप' ने तैयार किया था। इस योजना में द्वैध शासन व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया था।[2] इसी द्वैध प्रणाली के आधार पर मि० मॉण्टेगु और लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने अपनी योजना बनाई और उसको भारतीय वैधानिक सुधारों पर (१९१८ की) अपनी रिपोर्ट में प्रस्तुत किया।

मि० कर्टिस ने भारतीय जनता को सम्बोधित करते हुए कई पत्र प्रकाशित किए और उनमें यह बताया कि "स्व-शासन" और "उत्तरदायी शासन" में एक महत्वपूर्ण अन्तर था। यह बात सच थी। भारत को स्वशासन तो अविलम्ब प्रदान किया जा सकता था। सरकारी ढांचे को चलाने के लिए शिक्षित भारतीयों की संख्या पर्याप्त थी। किन्तु अपढ़ ग्रामवासियों को उत्तरदायी सरकार के लिए शिक्षित करना मामूली काम नहीं था और उसे जल्दी नहीं किया जा सकता था—विशेषकर ऐसी स्थिति में जब वे लोग भाषा, धर्म और दूरी से विभाजित थे। इस बात को लॉर्ड कर्ज़न जैसे चतुर व्यक्ति अच्छी तरह जानते थे और सन् १९१८ के सुधारों के कार्यान्वित होने के बाद यह बात प्रकट हो गई थी कि २० अगस्त १९१७ को प्रसिद्ध घोषणा का मसविदा तैयार कराने में लॉर्ड कर्ज़न का बहुत बड़ा हाथ था। वस्तुतः कांग्रेस-लीग-योजना को अस्वीकार करने का वास्तविक कारण यह था कि उसमें भारतीय हाथों में बहुत ज्यादा अधिकार सौंपने की मांग की गई थी।

'कांग्रेस-लीग-योजना' के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों, दोनों ही की परिषदें विस्तृत होनी थीं; नामनिर्देशित सदस्यों की संख्या कुल के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होनी थी; पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर परिषदों में मुसलमानों को निश्चित अनुपात में स्थान मिलने थे; प्रान्तीय विधान मंडलों को विधायिका एवं वित्तीय नियंत्रण का पूर्णाधिकार मिलना था; उन्हीं मंडलों को प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय कार्यकारिणी सरकार का निर्देशन करने का अधिकार मिलना था; और रक्षा, विदेश एवं राजनैतिक विभागों से संबंधित विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों में ऐसे ही अधिकार केन्द्रीय क्षेत्र में दिए जाने थे। उस योजना में प्रान्तीय एवं केन्द्रीय कार्यपालिका सरकारों का ढांचा बदल दिया गया; उनके अध्यक्ष ऐसे व्यक्ति होने थे जो सिविल सर्विस के सदस्य न हों; और कार्यकारिणी परिषद् के आधे सदस्य भारतीय होने थे जो विधान मंडलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा

---

१. Keith: Speeches and Documents on Indian Policy, Vol. II, pages 124-132.

२. Curtis: Dyarchy.

चुने जाने थे। साधारणतया कार्यकारिणी परिषदों में सिविल सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति नहीं होनी थी। ऐसी दशा में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उक्त योजना का, जिसमें भारतीयों को इतने विस्तृत अधिकार सौंपने की मांग की गई थी, आंग्ल-भारतीय कर्मचारीतंत्र ने विरोध किया, उसकी तीव्र आलोचना की गई[1] और उसे १९१८ के सुधारों के संयुक्त प्रवर्तकों ने अस्वीकार कर दिया।

३.

भारत-मंत्री और वाइसरॉय की संयुक्त रिपोर्ट उस सुधार योजना पर अवलम्बित थी जिसे इंगलिश राउण्ड टेबल ग्रुप के सदस्य सर विलियम ड्यूक और उस ग्रुप के नेता मि. कर्टिस ने तैयार किया था। सर विलियम ड्यूक उस समय भारत परिषद् के सदस्य थे, उससे पहले वह बंगाल के उप-गवर्नर रह चुके थे और बाद में वे माण्टेगु मिशन के सदस्य होकर भारत आए। सुधारों के संबंध में सर विलियम की तीन धारणायें थीं :—(१) अब वह समय आ गया है कि भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में शिक्षित करना चाहिए और इसके लिये कुछ ऐसे विषयों को जिन में कोई जोखिम न हो, लोक-नियंत्रण के अन्तर्गत कर देना चाहिए; (२) कुछ ऐसे सरकारी विभाग हैं (जैसे पुलिस विभाग) जिनकी दृढ़ता और जिन की क्षमता सरकार के लिये अपरिहार्य हैं, उनको वर्तमान स्थिति में लोक-नियंत्रण के अन्तर्गत नहीं सौंपा जा सकता"[2]; और (३) प्रत्येक प्रान्त में कुछ जन-जाति क्षेत्र हैं जिनमें सरकार का शासन यथावत् रहना चाहिए। इन धारणाओं को

१. ये आलोचनाएँ संक्षेप में इस प्रकार थीं (१) कार्यकारिणी सरकारों का विधान इसलिए असन्तोषप्रद था कि उसमें सिविल सर्विस वालों को दूर रखा गया था। इन्हीं लोगों को सरकारी काम की सबसे ज्यादा जानकारी और उसका अनुभव था। अध्यक्ष को कार्यकारिणी बनाने में अपने निर्णय से काम लेने से वंचित कर दिया था। (२) कार्यकारिणी की स्थिति जोखिम से भरी हुई थी। कार्यकारिणी के सदस्य पाँच वर्ष को नियुक्त होने थे; उनपर विधायिका को कठोर नियंत्रण दिया गया था। ऐसी दशा में गतिविरोध स्वाभाविक था। (३) विशेषाधिकार का संरक्षण निरर्थक था। (४) योजना में राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। (५) योजना अव्यवहार्य थी। The Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 104—113.

२. Curtis : Dyarchy, page 18. The Duke Memorandum was first published in India in 1920 in Dyarchy by Lionel Curtis.

मान लेने पर द्वैध प्रणाली के अतिरिक्त और कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी जिसके अनुसार प्रांत का शासन दो भागों में बाँटा जाना था—एक तो वह भाग जो जनता के प्रति उत्तरदायी होना था और दूसरा वह भाग जो भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी होना था। सर विलियम के ज्ञापन ने बंगाल सरकार को दो भागों में बाँटा था—(१) स-परिषद् गवर्नर के आधीन संरक्षित विभाग और (२) हस्तांतरित विभाग जिनका संचालन गवर्नर की अध्यक्षता में कुछ सदस्यों के 'मंत्रिमंडल' के हाथों में होना था। तुरन्त हस्तान्तरित किए जानेवाले विभाग ये थे—शिक्षा, स्थानीय स्वशासन एवं संमार्जन। शीघ्र ही इन में ये पाँच विभाग और जोड़े जाने थे—निबंधन, सहयोग आकलन, कृषि, वन और सार्वजनिक निर्माण। हस्तान्तरित विभागों का खर्च चलाने के लिए कोई पृथक् अथवा विशेष व्यवस्था नहीं थी किन्तु यह सुझाव दिया गया था कि आबकारी की आय का उपयोग किया जाए और नए टैक्स लगाए जाएँ।

यह ज्ञापन सन् १९१६ के आरंभ में ही तैयार हो गया था। उसके कुछ समय पहले लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड भारत के वाइसरॉय होकर आ गए थे। मई १९१६ में उस ज्ञापन की एक प्रति वाइसरॉय के पास भेजी गई और अक्टूबर १९१६ में इंगलिश राउण्ड टेबल ग्रूप के नेता मि. कर्टिस, उस योजना के मौलिक विचारों का प्रतिपादन करने के लिए भारत आए। कुछ संशोधन करने के बाद वह योजना एक 'संयुक्त संबोधन' के रूप में भारत मंत्री और वाइसरॉय के समक्ष (नवम्बर १९१७ में) प्रस्तुत की गई। इस संयुक्त संबोधन में ६४ यूरोपियनों के और ९० भारतीयों के हस्ताक्षर थे। नवम्बर १९१७ में प्रकाशित होने पर, यूरोपीय और भारतीय दोनों ही प्रकार के समाचार-पत्रों ने उसकी तीव्र आलोचना की।

४.

मि. मांटेगू अपने मिशन के सदस्यों के साथ १० नवम्बर १९१७ को बम्बई में आए। प्रकटतः उनका उद्देश्य, भारत की राजनैतिक दशा की जाँच करना था, भारतीय जनता और उच्च सरकारी अधिकारियों के मत से परिचित होना था, और वाइसरॉयके सहयोगसे अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करना था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारत-मंत्री के भारत आने का उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। भारत आने से पहले ही उन्हें 'कांग्रेस-लीग-योजना' और ड्यूक-ज्ञापन' दोनों का पता था और उन्होंने अपनी योजना, कम से कम उसकी रूपरेखा, निश्चित कर ली थी। भारत आने के उनके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि वे इस ढंग से काम करना चाहते थे कि "मानो सुधारों की सारी योजना भारत सरकार द्वारा ही बनाई गई है।"[१] इस दृष्टि से वे अधिकांश रूप में असफल रहे। उन्हें वाइसरॉय की कार्यकारिणी-परिषद् से,

१. Montagu: An Indian Diary, page 1.

प्रान्तीय सरकारों के अध्यक्षों से, विशेषकर पंजाब के सर माइकेल ओ' डायर और मद्रास के लॉर्ड पेण्टलैन्ड से, और यूरोपीय अधिकारियों से सहयोग प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई। विरोधी वर्ग के लिए उन्हें बहुत-सी रियायतें करनी पड़ीं। सिविल सर्विस के लोगों को उन्हें यह आश्वासन देना पड़ा कि उनके वेतन में काफी वृद्धि की जाएगी, गवर्नरों को उच्च पदों पर पहुँचाने के लिए उन्हें अधिक अवसर प्रदान किये जाएँगे और उन्हें संरक्षण मिलेगा जिसमें उनके नए अधिपति—मंत्रिगण—हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे। भारत-सरकार को प्रसन्न करने के लिए प्रान्तीय स्वायत्तता पर प्रतिबंध लगाये गए और प्रान्तीय जनता को प्रदान किए जानेवाले उत्तरदायित्व को घटा दिया गया। इस प्रकार योजना का जो अन्तिम रूप सामने आया उसमें मौलिक योजना की इस भव्यता का अभाव था जिसे बनाए रखने के लिए मि. मांटेगु बड़े उत्सुक थे। भारत आने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपने पहले पत्र में उन्होंने लिखा था:——"मेरे भारत आने का अर्थ यह है कि हम लोग कोई बहुत बड़ी बात करने जा रहे हैं। मैं इंगलैंड लौट कर कोई खोखलापन नहीं दिखा सकता; वह बात युगान्तरकारी होनी चाहिए अन्यथा वह निरर्थक है; वह भारत के भावी इतिहास की केन्द्रशिला होनी चाहिए....।"[१] "मैं इंगलैंड के अपने साथियों को यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि यदि हमारे परामर्श के फलस्वरूप कोई ऐसी योजना बनी है जो अत्यन्त संकुचित और कृपण है तो यह छलघातक होगा———क्योंकि वे लोग फिर कभी हमारा विश्वास नहीं करेंगे———उस देश के लोग, जिसका इतिहास हमारा गौरव है।"[२]

किंतु रिपोर्ट पूरी होने पर जब लॉयड जॉर्ज को सूचना दी गई तो उस समय भारत मंत्री की भाषा बिलकुल भिन्न थी। "मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि वह उपेक्ष्य नहीं है......उसमें एक सिद्धान्त है.....प्रस्तावों में सुधार के लिए बहुत गुंजाइश है किन्तु रिपोर्ट की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तथापि इस योजना को यदि शीघ्र ही कार्यान्वित नहीं किया जाता तो वह समयानुरूप नहीं रहेगी।"[३] ब्रिटिश सरकार को आवश्यक विधान बनाने में डेढ़ वर्ष लगा और उसके बाद सुधारों को कार्यान्वित करने में एक वर्ष और लगा। फरवरी १९२१ में कनाट के ड्यूक ने नियमानुरूप साम्राज्यीय विधान सभा का उद्‌घाटन किया; और उस समय तक देश में असहयोग आन्दोलन पूरा जोर पकड़ गया था। मॉर्ले-मिंटो सुधारों की भाँति, मॉण्ट फ़ोर्ड सुधार भी कार्यान्वित होने के समय तक पुराने पड़ गए थे।

---

१. Montagu : An Indian Diary, page 8.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १० और ११.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३६२.

मि. मॉण्टेगु को अपने दूसरे और तात्कालिक उद्देश्य में अधिक सफलता मिली। सन् १९१७ के बीच के महीनों में भारतीय स्थिति अत्यंत गंभीर हो गई थी। उसी समय यूरोप में युद्ध की स्थिति भी अत्यन्त संकटापन्न थी। ब्रिटिश सरकार के मतानुसार यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारत की स्थिति सुधरे और वहाँ से युद्ध के लिए अधिक सहायता प्राप्त हो। २० अगस्त १९१७ की घोषणा और मि. मॉण्टेगु के आगमन का परिणाम यह हुआ कि लोगों का ध्यान आन्दोलन की ओर से हटा और उन्होंने भारत मंत्री और उनके साथियों पर जोर डालने का प्रयत्न किया। १८ फर्वरी १९१८ को मि. मॉण्टेगु ने लिखा:—"युद्ध के अत्यन्त संकटपूर्ण समय में मैंने भारत को छै: महीने तक शान्त रखा है; मैंने राजनीतिज्ञों को अपने मिशन के अतिरिक्त और किसी विषय पर ध्यान ही नहीं देने दिया।"[१] उन्होंने एक और बड़ी बात की थी। उन्होंने अपने पक्ष में भारतीय नेताओं के एक दल का संगठन कर लिया था; इन नेताओं को उनके उद्देश्य की सचाई में विश्वास था और वे उनको पूर्ण सहयोग देने को तैयार थे। मि. मॉण्टेगु के विचार से यह बात आवश्यक थी "कि हमारा समर्थन करने के लिए एक दल हो……अन्यथा मैं मन्त्रि-मंण्डल को इस बात का विश्वास कैसे दिला सकूँगा कि भारत में हमारी योजना को कार्यान्वित करने के लिए कोई समुदाय तैयार है।"[३] १२ दिसम्बर १९१७ की अपनी योजना में उन्होंने निम्नलिखित बात को एक पृथक् स्थान दिया:—"भारतीयों की एक नई संस्था बनाई जाए जिसे सरकार की ओर से हर प्रकार की सहायता दी जाए; यह संस्था हमारे प्रस्तावों के पक्ष में प्रचार करे और हमारी सहायता करने के लिए इंगलैण्ड को शिष्ट मंडल भेजे।"[४] उन्होंने इस विषय पर मि. (बाद में सर) भूपेन्द्रनाथ बसु और सर (बाद में लॉर्ड) सत्येन्द्र सिनहा से बात की:—"हम लोगों ने एक मध्यम दल बनाने के बारे में वार्तालाप किया; वे लोग बड़े उत्साही प्रतीत हुए; और समाचार-पत्र निकालने के बारे में कहा। मेरे विचार से वे सचमुच कुछ करना चाहते हैं।"[५] और उन्होंने काम किया। कुछ ही महीनों में 'मॉडरेट पार्टी' अस्तित्व में आई; उसका पृथक् संगठन बना; और उसने अपने प्रान्तीय एवं अखिल भारतीय सम्मेलन पृथक् रूप से किए।

५

भारतीय वैधानिक सुधारों से संबंधित रिपोर्ट ८ जुलाई १९१८ को

---

१. Montagu : An Indian Diary, page 288.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १३४.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०२–१०४.
४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०४.
५. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २१७.

प्रकाशित हुई। किन्तु काम पूरा करने के लिये तीन कमेटियाँ नियुक्त की गईं—लॉर्ड सॉउथबॉरो की अध्यक्षता में मताधिकार कमेटी; मि. रिचर्ड फीथम की अध्यक्षता में कार्याधिकार कमेटी; और लॉर्ड क्रिडवे की अध्यक्षता में गृह-प्रशासन कमेटी। इन कमेटियों की रिपोर्ट जून १९१९ में प्रकाशित हुई। इन रिपोर्टों के आधार पर सन् १९१९ का गवर्नमेन्ट ऑव इंडिया विधेयक का मसविदा बनाया गया। ५ जून १९१९ को मि. मॉण्टेगु ने विधेयक के दूसरे वाचन के लिए कहा। दूसरे वाचन के बाद दोनों भवनों ने विधेयक को एक संयुक्त-प्रवर-समिति को विचारार्थ सौंपने का निर्णय किया। लॉर्ड सेल्बोर्न इस प्रवर-समिति के अध्यक्ष थे और उनके अतिरिक्त उस समिति में सात हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्य थे और सात लॉर्ड भवन के सदस्य थे। इस संयुक्त-प्रवर-समिति ने बहुत-से—सरकारी और ग़ैर-सरकारी, अंगरेज़ और भारतीय—साक्षियों का परीक्षण किया। उसने एक बड़ी योग्यतापूर्ण रिपोर्ट तैयार की जिसे हाउस ऑव कॉमन्स ने स्वीकार किया और विधेयक में तदनुसार परिवर्तन किया गया। ५ दिसम्बर को हाउस ऑव कॉमन्स ने उसका पारण किया; १८ दिसम्बर को हाउस ऑव लॉर्डस ने उसका पारण किया और २३ दिसम्बर १९१९ को उसे राजकीय स्वीकृति प्राप्त हुई। किन्तु उसको कार्यान्वित करने के लिए, अनुपूरक नियम बनने थे। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच वित्तीय समीकरण के संबंध में सरकार को परामर्श देने के लिये एक कमेटी नियुक्त करने की भी आवश्यकता थी। वित्तीय संबंध कमेटी ने, जिसके अध्यक्ष लॉर्ड मेस्टन थे, अपनी रिपोर्ट ३१ मार्च १९२० को प्रस्तुत की। भारत सरकार ने २० जुलाई १९२० को ऐक्ट के अन्तर्गत बने हुए नियमों को प्रकाशित किया। नए विधान-मंडलों के लिए नवम्बर में निर्वाचन हुए और १ जनवरी १९२१ को भारत में सुधारों को कार्यान्वित किया गया।

६

Main Principles

सन् १९१९ के सुधारों ने ब्रिटिश भारतीय इतिहास में तीन नई और महत्व-पूर्ण बातें कीं——उत्तरदायी शासन का आरम्भ किया; देशी नरेशों को भारतीय शासन में —विशेषकर देशी राज्यों से संबंधित विषयों में—साथ लिया; और द्वैध शासन व्यवस्था का प्रवर्तन किया।

२० अगस्त १९१७ को जिस नीति की घोषणा की गई थी उसे व्यवहार में लाने के लिए मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट ने चार बड़े-बड़े सिद्धान्त निश्चित किए थे। इनमें से पहला सिद्धान्त यह था:—

स्थानीय संस्थाओं पर, जहाँ तक संभव हो, पूर्ण-रूप से लोक-नियंत्रण होना

चाहिए और उन्हें बाहरी नियंत्रण से ज्यादा से ज्यादा स्वतन्त्रता होनी चाहिए।"[१]

इस विषय पर भारत सरकार ने मई १९१८ के प्रस्ताव[२] में अपनी नीति पहले ही निश्चित कर दी थी किन्तु प्रत्येक प्रान्त की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार उस नीति को कार्यान्वित करने का काम नई प्रान्तीय सरकारों के लिए छोड़ दिया गया था।

मॉण्ट फोर्ड रिपोर्ट के दूसरे सूत्र में दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था—प्रान्तीय सरकारों के प्रति सत्ता का निक्षेपण और प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व का आरम्भ। दूसरे सिद्धान्त को व्यवहार में लाने के लिए प्रान्तीय सरकारों का दो भागों में विभाजन होना था—एक भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी और दूसरा प्रान्तीय मतदाताओं के प्रति। इस प्रकार मॉण्ट फ़ोर्ड रिपोर्ट ने २० अगस्त १९१७ की घोषणा की नीति को रूप देने का प्रस्ताव किया। ऐक्ट की प्रस्तावना ने इस नीति को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया और भारत के उन्नत राष्ट्रवादियों की 'आत्म निर्णय' की माँग को अस्वीकार किया और साथ ही पूर्ण सांसद-सत्ता और उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को मान्यता दी। उसमें यह भी कहा गया:—"भारत-वासियों की उन्नति और भलाई का दायित्व पार्लियामेन्ट पर है और केवल वह पार्लियामेन्ट ही इस बात का निर्णय कर सकती है कि (उत्तरदायित्व की) प्रत्येक किस्त कब दी जाएगी और कितनी बड़ी होगी।"

७

इस प्रकार मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों के केन्द्रीय प्रस्ताव ने प्रान्तीय स्वायत्तता के लिए दो महत्त्वपूर्ण बातें आरंभ कीं—उच्च सत्ता के नियंत्रण से स्वतंत्रता और जनता के प्रति शक्ति का हस्तान्तरण।

प्रशासन के विषयों और आय की मदों को दो—केन्द्रीय और प्रान्तीय—वर्गों में बांटा गया। अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्रीय विषय ये थे:—रक्षा (इसमें सेना, नौसेना और हवाई सेना की गणना थी); विदेश-सम्बन्ध; देशी राज्यों से सम्बन्ध; रेलें (कुछ अपवादों को छोड़कर); सैन्य महत्व के संचार साधन, डाक और तार; मुद्रा और टंकण; सार्वजनिक ऋण; साम्राज्यीय राजस्व की मदें; दीवानी और फ़ौजदारी कानून और पद्धति; धार्मिक (चर्च आदि से सम्बन्धित) व्यवस्था; अखिल भारतीय नौकरियाँ; वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान की केन्द्रीय संस्थाएँ; और ऐसे सब विषय जो स्पष्ट रूप से प्रान्तीय विषय घोषित न किए गए हों। महत्त्वपूर्ण प्रान्तीय विषय ये थे:—स्थानीय स्वशासन; शिक्षा (कुछ अपवादों को छोड़कर);

---

१. The Report on the Indian Constitutional Reforms 1918, page 123.

२. इसी पुस्तक का १७ वाँ अध्याय देखिए।

चिकित्सा विभाग; संमार्जन और सार्वजनिक स्वास्थ्य; सार्वजनिक निर्माण जैसे सड़क, भवन, छोटी रेलवे लाइनें; कृषि; उद्योग-धंधों का विकास; आबकारी; पशु चिकित्सा विभाग, मनिक्षेत्र और सहयोग समितियाँ; दुर्भिक्ष सहायता; मालगुज़ारी प्रशासन; सिंचाई; वन; न्याय, पुलिस, जेल; फैक्ट्री निरीक्षण और श्रम-समस्या; प्रान्तीय ऋण; और ऐसे काम जिन्हें अभिकर्त्ता के रूप में करना हो।

कार्याधिकार का यह विभाजन इतना निश्चित और कठोर नहीं था जैसा कि संघ-व्यवस्था में होता है। यदि कभी इस बात पर सन्देह होता कि कोई विषय केन्द्रीय है अथवा प्रान्तीय, तो उस प्रश्न का निर्णय स-परिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा होना था और यह निर्णय अन्तिम था। दूसरी बात यह थी कि भारत सरकार किसी भी विषय को (जो सूची के अनुसार केन्द्रीय हो) स्थानीय महत्व का बताकर, उसे प्रान्तीय विषय घोषित कर सकती थी। अन्त में कुछ प्रान्तीय विषयों पर विधान बनाने के लिए स-परिषद् गवर्नर-जनरल की पूर्व-अनुमति लेना आवश्यक था।

इसी प्रकार राजस्व की मदों को दो वर्गों में बाँटा गया था और विभाजित शीर्षकों की व्यवस्था का अन्त कर दिया गया था, किन्तु केन्द्रीय सरकार के घाटे को पूरा करने के लिए प्रान्तीय अंशदान की व्यवस्था की गई थी। भारत सरकार को अपना सारा व्यय चलाने के लिए नई मदों से राजस्व आय को जल्दी से जल्दी बढ़ाना था और उपर्युक्त अंशदान व्यवस्था केवल उसी समय तक के लिए थी।

राजस्व की मदों का बंटवारा मेस्टन कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार किया गया था। राजस्व की निम्नलिखित मदें प्रान्तों को सौंपी गई थीं—मालगुज़ारी आबकारी, सिंचाई, वन, स्टाम्प और निबन्धन। साम्राज्यीय राजस्व मदों में सीमा-शुल्क, आयकर, रेलें, डाक और तार, नमक और अफ़ीम की गणना थी। अन्य मदें भी इसी तरह केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच विभाजित थीं। बम्बई और बंगाल की आपत्ति को कुछ हद तक दूर करने के लिए, आय-कर की अतिरिक्त उगाही में से उन्हें २५ प्रतिशत का भाग दिया गया था, बशर्ते कि वह अतिरिक्त उगाही, आय के निर्धारण में वृद्धि के कारण हो।

मेस्टन कमेटी ने यह अनुमान किया था कि राजस्व की मदों के नए बंटवारे के कारण केन्द्रीय बजट में सन् १९२१-२२ में ९८३.०६लाख रुपए का घाटा होगा। दूसरी ओर कमेटी ने यह अनुमान किया था कि प्रान्तों की कुल आय में १८.५० लाख को विशुद्ध वृद्धि होगी। अतः कमेटी ने केन्द्रीय घाटे को पूरा करने के लिए प्रान्तों का आरम्भिक अंशदान निश्चित करने का आधार उनकी 'नई व्यय-सामर्थ्य' को बनाया। यह बात स्वीकार की गई कि यह आधार वस्तुतः साम्यामूलक नहीं था और आदर्श आधार 'देने की सामर्थ्य' पर होना चाहिए था। अतः इस बात का प्रस्ताव किया गया कि सात वर्षों के अन्दर वास्तविक अंशदान आदर्श आधार के

अनुसार हो जाना चाहिए। इस बीच भारत सरकार को अपनी वित्तीय व्यवस्था इस प्रकार करनी थी कि वह प्रान्तीय अंशदान की आवश्यकता से जल्दी से जल्दी मुक्त हो जाए। भारत सरकार द्वारा निश्चित आरम्भिक और मानक अंशदान इस प्रकार थे :—

प्रान्त	बढ़ी हुई व्यय-सामर्थ्य (लाख रुपयों में)	सन् १९२१-२२ का आरम्भिक अंश दान (लाख रुपयों में)	आरंभिक अंशदान का अनुपात (प्रतिशत)	भारत सरकार द्वारा निश्चित मानक प्रतिशत
मद्रास	५,७६	३,४८	३५½	१७/९०
बम्बई	९३	५६	५½	१३/९०
बंगाल	१,०४	६३	६½	१९/९०
संयुक्त प्रान्त	३,९७	२,४०	२४½	१८/९०
पंजाब	२,८९	१,७५	१८	९/९०
बर्मा	२,४६	६४	६½	६½/९०
बिहार तथा उड़ीसा	५१	×	×	×
मध्य प्रान्त	५२	२२	२	५/९०
आसाम	४२	१५	१½	२½/९०
कुल जोड़	१८,५०	९,८३	१००	९०

भारत के ८ बड़े प्रान्तों में (जिनका उपर्युक्त तालिका में नाम दिया गया है) एक-सी शासन-व्यवस्था व्यवहार में लाई गई। इस समय बर्मा को छोड़ दिया गया था किन्तु १९२२ में बर्मा में और १९३१ में उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त में उसी व्यवस्था को कार्यान्वित किया गया। ये सब 'गवर्नरों के प्रान्त' कहलाते थे।

मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों के फलस्वरूप, प्रत्येक गवर्नर के प्रान्त में व्यवहार में आने वाली व्यवस्था, द्वैध-प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है। प्रान्तीय विषयों को दो वर्गों में विभाजित किया गया था—'संरक्षित' और 'हस्तान्तरित'। हस्तान्तरित विषयों में स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, संमार्जन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, कृषि, उद्योग-धंधों का विकास, आबकारी, पशुचिकित्सा, मीन क्षेत्र और सहयोग समितियों की गणना थी। संरक्षित विषयों की सूची में निम्नलिखित विभाग थे—वित्त; मालगुज़ारी; दुर्भिक्ष सहायता; न्याय, पुलिस, जेल, सुधारालय, जन-जाति; समाचार-पत्रों, छापेखानों और पुस्तकों का नियंत्रण; सिंचाई और जल-मार्ग; फैक्ट्रियों का निरीक्षण, खानें, बिजली, गैस, बॉइलर, मोटर गाड़ी, श्रम-हित और औद्योगिक झगड़े; अपवर्जित क्षेत्र और सार्वजनिक सेवाएं; और

अभिकर्त्ता के कार्य। संरक्षित विषयों के उचित प्रबंध के लिए प्रान्तीय सरकारें (१९१९ के ऐक्ट के अनुसार) भारत मंत्री और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के द्वारा इंगलैंड की जनता के प्रति उत्तरदायी थीं। हस्तान्तरित विषयों में सुशासन का उत्तरदायित्व, प्रान्तीय विधान-परिषदों द्वारा, प्रान्तीय मतदाताओं पर था। ऐसी परिस्थितियों में प्रान्तीय सरकारों को उच्चतर सत्ता के नियंत्रण से मुक्त करना संभव नहीं था। अतः केवल हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में ही भारत मंत्री और भारत सरकार के नियंत्रण में कुछ वास्तविक कमी हुई।

संयुक्त-प्रवर-समिति ने यह मत प्रकट किया था कि संरक्षित विषयों के प्रशासन के संबंध में, प्रविधानीय रूप से नियंत्रण कम करना न तो वांछनीय था और न उसकी कोई आवश्यकता ही थी। किन्तु उसने यह सुझाव दिया था कि व्यवहार द्वारा एक ऐसी परंपरा डाली जावे कि "जब प्रान्तीय सरकार और विधान-मंडल किसी विषय पर सहमत हों तो साधारणतया उनके दृष्टिकोण को मान्यता दी जावे और ऐसे अवसरों पर भारत मंत्री और भारत सरकार हस्तक्षेप न करें जब तक कि किसी केन्द्रीय विषय की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक न हो।[१] हस्तान्तरित विषयों के संबंध में संयुक्त-प्रवर-समिति ने इस बात की सिफ़ारिश की थी कि भविष्य में भारत मंत्री और भारत सरकार का नियंत्रण कम-से-कम होना चाहिए।[१] इस उद्देश्य से प्रविधानीय नियम बनाए गए जिनके अनुसार केवल निम्नलिखित बातों के लिए सपरिषद गवर्नर-जनरल में अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण के अधिकार निहित किए गए :—

(१) केन्द्रीय विषयों के प्रशासन के रक्षण के लिए;

(२) संबंधित प्रान्तों में मतभेद होने पर उनके प्रश्नों का निपटारा करने के लिए; और

(३) ऐक्ट की निम्नलिखित धाराओं अर्थात् एस. २९ए, एस ३९ (१ए), भाग ७ ए के संबंध में अथवा उनके उद्देश्य से अथवा उनके अन्तर्गत भारत मंत्री द्वारा अथवा उसकी अनुमति से बनाए हुए नियमों के अनुसार सपरिषद गवर्नर-जनरल के निहित अथवा प्रदत्त अधिकारों और कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन करने के लिए।"[२]

उपर्युक्त तीन विषयों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो विषयों में भी भारत-

---

१. Mukherjee : Indian Constitutional Documents, Part II, page 524.

२. Sapru: The Indian Constitution, pages 21-22 ऐक्ट के इन निर्दिष्ट विभागों का ठेकों, नियुक्तियों और हाई कमिश्नर द्वारा उगाहे हुए प्रान्तीय ऋणों आदि से सम्बन्ध था।

मंत्री को अधीक्षण, नियंत्रण और निर्देशन का अधिकार था:—

(४) "साम्राज्यीय हितों के संरक्षण के लिए"; और

(५) "भारत और साम्राज्य के अन्य भागों के बीच में कोई प्रश्न उपस्थित होने पर उसके सम्बन्ध में भारत सरकार की स्थिति निश्चित करने के लिये।"[१]

इस प्रकार निक्षेपण सम्बन्धी नियमों ने भारत सरकार और भारत-मंत्री के नियंत्रण को हस्तान्तरित विषयों के कुछ निर्दिष्ट मामलों तक सीमित किया। किन्तु व्यवहार में सिविल सर्विस और वित्त विभाग के द्वारा भारत मंत्री का नियंत्रण और प्रभाव, हस्तान्तरित विषयों के सारे क्षेत्र पर था। अखिल भारतीय नौकरियों के सदस्य जो हस्तान्तरित विभागों का वस्तुतः संचालन करते थे, मंत्रियों के नियंत्रण के आधीन नहीं थे। गवर्नर तक उनकी निजी पहुँच थी और उनके हित भारत-मंत्री द्वारा संरक्षित थे। वित्त विभाग संरक्षित विषय था और उसका हस्तान्तरित क्षेत्र पर व्यवहार में बहुत बड़ा नियंत्रण था। इस प्रकार भारत-मंत्री और भारत-सरकार परोक्ष रूप से सारे हस्तान्तरित क्षेत्र पर बहुत बड़ा प्रभाव डाल सकते थे।

अस्तु, जहाँ तक प्रान्तीय सरकारों पर नियंत्रण में कमी करने का प्रश्न है, वहाँ यह बताना आवश्यक है कि निक्षेपण नियमों ने वित्तीय और विधानीय निक्षेपण की भी व्यवस्था की थी। वित्तीय क्षेत्र में प्रान्तों को, कुछ बातों में भारत सरकार को सूचना देने के अभ्यधीन, अपना बजट बनाने का अधिकार दिया गया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रान्तों को राजस्व की पृथक् मदें प्रदान कर दी गई थीं; उन्हें नए टैक्स लगाने का अधिकार भी दिया गया था—अनुसूची नं० १ में लिखित टैक्सों के सम्बन्ध में भारत सरकार से पूर्व-अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं थी। अन्य नए टैक्सों के लिए भारत सरकार की अनुमति लेना अब भी आवश्यक माना गया। प्रान्तीय सरकारों को अपने प्रान्तीय राजस्व की प्रतिभूति पर सार्वजनिक उपयोगिता के स्थायी कामों के लिए—जैसे सिंचाई-योजना, दुर्भिक्ष-सहायता आदि के लिए—सार्वजनिक ऋण उगाहने का अधिकार भी दिया गया। किन्तु प्रत्येक ऋण—उसके निश्चित परिमाण, उसकी व्याज दर और उसके भुगतान करने की व्यवस्था—के सम्बन्ध में भारत सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक था। संरक्षित विभागों के व्यय पर नियंत्रण कम करने के लिए कोई नियम नहीं बनाए गए थे, किन्तु हस्तान्तरित विभागों के व्यय के सम्बन्ध में भारत मंत्री और भारत-सरकार के नियंत्रण को कम करने के लिए प्रविधानीय नियम बनाए गए थे और उनके स्थान पर इस नियंत्रण का अधिकार प्रान्तीय विधान-मंडलों को सौंप दिया

१. Horne : The Political System of British India, page 92.

गया था। निक्षेपण नियमों में सार्वजनिक नौकरियों के वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन के सम्बन्ध में और साथ ही इंगलैंड से (सरकारी) सामान क्रय करने के अधिकार के सम्बन्ध में संरक्षण की व्यवस्था कर दी गई थी।

विधानीय निक्षेपण के क्षेत्र में १९१९ के ऐक्ट ने प्रान्तीय विधायिका सभाओं को प्रान्त के सुशासन और शान्ति-व्यवस्था के लिए विधि बनाने का अधिकार दिया। भारतीय विधान-कार्य के विषयों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय विषयों पर विधि बनाने के लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु और बहुत से विषयों में (जैसे केन्द्रीय विषयों पर विधि बनाने के सम्बन्ध में अनुसूची नं० १ में निर्दिष्ट टैक्सों के अतिरिक्त अन्य नए टैक्सों के लिए विधि बनाने के सम्बन्ध में; ऐसे टैक्सों को रद्द करने अथवा संशोधित करने के सम्बन्ध में, जिन्हें सन् १९१९ से पहले प्रान्तीय विधान-मंडल के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता ने बनाया हो; और ऐसे टैक्सों को रद्द करने अथवा संशोधित करने के सम्बन्ध में, जिन्हें सन् १९१९ के बाद भारत सरकार ने बनाया हो), गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति लेना आवश्यक था।

गवर्नरों को प्रान्तीय विधान मंडलों द्वारा स्वीकृत, कुछ निर्दिष्ट प्रकार के विधेयकों को गवर्नर-जनरल के विचारार्थ सुरक्षित रखना आवश्यक था; और १९१९ के ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल को प्रान्तीय विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत किसी विधयक को निषिद्ध करने का अधिकार भी दिया।

इस प्रकार १९१९ के ऐक्ट और उसके अन्तर्गत बने हुए निक्षेपण नियमों ने प्रान्तीय सरकारों को पूर्ण रूप से स्वायत्त नहीं बनाया। दूसरी ओर प्रान्तीय सरकारों को अब भी सपरिषद् गवर्नर-जनरल की आज्ञाओं का पूरी तरह पालन करना आवश्यक था और उन्हें अपनी कार्यवाहियों और अन्य महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में भारत सरकार को बराबर पूरी तरह परिचित रखना था। तथापि प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया था। किन्तु मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों ने इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण एक कदम और उठाया था—वह था आठ (बाद में दस) प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था का आरम्भ। प्रत्येक गवर्नर के प्रान्त की सरकार को दो भागों में बाँटा गया था—संरक्षित विभाग जो स-परिषद गवर्नर के आधीन थे, और हस्तान्तरित विभाग जो गवर्नर की अध्यक्षता में मंत्रियों के आधीन थे—एक विभाग का ब्रिटिश मतदाताओं के प्रति उत्तरदायित्व था और दूसरे विभाग का प्रान्तीय मतदाताओं के प्रति।

जैसा कि संयुक्त प्रवर समिति ने कहा था गवर्नर नई प्रांतीय शासन-व्यवस्था की कीली था। सम्राट् द्वारा उसकी नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए होती थी। तीन प्रेसिडेन्सियों के लिए साधारणतया इंग्लैंड के सार्वजनिक जीवन के लोग गवर्नर

नियुक्त किए जाते थे और अन्य पाँच प्रान्तों के लिए साधारणतया ज्येष्ठ लोक-सेवक छाँटे जाते थे जिनके सम्बन्ध में प्रविधान के अनुसार गवर्नर-जनरल से परामर्श करना आवश्यक था। कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी। उनका कार्यकाल पाँच वर्ष के लिए निश्चित था और उनका वेतन भी ऐक्ट द्वारा निश्चित था। गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट ने कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की अधिकतम संख्या चार निश्चित की थी किन्तु संयुक्त प्रवर समिति का यह मत था कि अधिकांश प्रान्तों में दो से अधिक सदस्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता नहीं होगी। प्रविधान के अनुसार परिषद् के लिए कम-से-कम बारह वर्ष के अनुभवी एक लोक-सेवक की नियुक्ति करने का नियम था। कार्यकारिणी परिषद् में किसी भारतीय सदस्य की नियुक्ति के लिए कोई प्रविधानीय व्यवस्था नहीं की गई थी, किन्तु यह बात उपलक्षित थी कि उक्त दो सदस्यों में से कम-से-कम एक सदस्य ग़ैर-सरकारी भारतीय होगा। संयुक्त प्रवर समिति की सिफ़ारिश के अनुसार कार्यकारिणी के लिये दो यूरोपियनों की नियुक्ति होने की दिशा में दो ग़ैर-सरकारी भारतीयों की भी नियुक्ति होनी थी।

ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों में से गवर्नर द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति होनी थी, जिनके लिए यह आवश्यक था कि वे प्रान्तीय विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्य हों अथवा नियुक्ति के बाद छः महीने के अन्दर ही निर्वाचित सदस्य हो जावें। संयुक्त प्रवर समिति के अनुसार ऐसे ही व्यक्ति मंत्री नियक्त किए जाने थे जिन्हें विधान-परिषद् का विश्वास प्राप्त हो सकता था और जो उसका नेतृत्व कर सकते थे। मंत्रियों की प्रतिष्ठा वही होनी थी जो कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की थी और उन्हें वही वेतन मिलना था जो कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को मिलता था—किन्तु विधान-परिषद् आवश्यक समझने पर वोट द्वारा उस वेतन को घटा सकती थी। ऐक्ट के अनुसार "इस प्रकार नियुक्त किए हुए मंत्री का कार्य-काल गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त था।[१] प्रविधान में मंत्रियों को अधिकतम संख्या निश्चित नहीं की गई थी, किन्तु संयुक्त प्रवर समिति का यह मत था कि "किसी भी प्रान्त में दो से कम मंत्रियों की आवश्यकता नहीं होगी और कुछ प्रान्तों में अधिक मंत्रियों की आवश्यकता होगी।"[२] गवर्नर के स्वविवेक पर कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों और मंत्रियों की सहायता के निमित्त परिषद् कार्यवाह नियुक्त करने के लिए ऐक्ट में व्यवस्था की गई थी। परिषद् कार्यवाहों की नियुक्ति विधान-परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्यों में से की जानी थी

१. Mukherjee : The Indian Constitution Part I. page 228.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५१२.

और उनको विधान-परिषद् द्वारा निश्चित वेतन मिलना था।

संरक्षित विषयों का शासन, गवर्नर द्वारा बनाए हुए नियमों के अनुसार स-परिषद् गवर्नर द्वारा होना था। कार्यकारिणी परिषद् में मतभेद होने पर विषयों का निर्णय बहुमत के अनुसार होना था। परिषद् में समान मत होने पर अध्यक्ष को दूसरा अथवा निर्णायक वोट देने का अधिकार था। किन्तु यदि गवर्नर के मतानुसार, "उसके प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की शान्ति, सुरक्षा अथवा हितों पर मौलिक प्रभाव पड़ता हो" तो वह अपनी परिषद् के बहुमत के निर्णय का प्रविधान के आधार पर उल्लंघन कर सकता था।[1]

गवर्नमेंट आव इंडिया ऐक्ट, १९१९, के अनुसार हस्तांतरित विषयों का शासन गवर्नर को अपने मंत्रियों के परामर्श से करना था किंतु उसको मंत्रियों की सलाह को अस्वीकार करने और अपने निर्णयानुसार काम करने का अधिकार था। दूसरी ओर मंत्रिगण त्याग-पत्र दे सकते थे। "अन्तिम स्थिति में गवर्नर अपनी विधान-परिषद् का विलोपन कर सकता था और नए निर्वाचन के बाद नए मंत्री छाँट सकता था; किन्तु संयुक्त प्रवर समिति ने यह आशा प्रकट की थी कि इस मार्ग के अपनान पर गवर्नर एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाएगा कि विलोपन के विषय पर वह नए मंत्रियों के विचारों को स्वीकार कर सकेगा।"[2] किन्तु आयात की दशा में, जिसके लिए गवर्नर-जनरल के पास सत्यापन करने का नियम था, गवर्नर को इस बात का अधिकार था कि वह मंत्रियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति न करे और हस्तान्तरित विषयों के शासन को अस्थायी रूप से अपने हाथों में ले ले। यह अधिकार, इस सम्बन्ध में बनाए हुए एक नियम के कारण और भी सबल हो गया था, जिसके अनुसार भारत मंत्री की पूर्व-अनुमति से गवर्नर-जनरल किसी हस्तान्तरित विषय का निश्चित समय के लिए निलम्बन कर सकता था।

यह एक विचित्र बात है कि मॉण्टफोर्ड सुधारों में मंत्रियों की संयुक्त सभा के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। गवर्नरों को जो अनुदेश दिये गये थे उनके अनुसार गवर्नर के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह मंत्रियों के संयुक्तरूप से परामर्श करे अथवा मंत्रियों की एक मंडल के रूप में सभा करे। ऐक्ट के अनुसार गवर्नर द्वारा विभिन्न मंत्रियों की नियुक्ति पृथक् रूप से होनी थी और वे विधान-मंडल में व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होने थे। यह बात पूर्ण रूप से गवर्नर के स्वविवेक पर छोड़ दी गई थी कि वह अपने मंत्रियों की नियुक्ति एक ही राजनैतिक पार्टी में से करे अथवा विभिन्न राजनैतिक दलों में से करे अथवा वह ऐसे व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त

१. Mukherjee : The Indian Constitution Part I, page 226.

२. उपर्युक्त पुस्तक, भाग २. पृष्ठ ५१२.

करे जो किसी राजनैतिक दल के सदस्य न हों और साथ ही वह उनसे व्यक्तिगत रूप से परामर्श करे अथवा संयुक्त रूप से। विवश होकर किसी एक मंत्री के त्याग-पत्र देने की दशा में मंत्रिगण व्यवहार द्वारा संयुक्त रूप से त्याग-पत्र देने की परंपरा डाल सकते थे। यह सच है कि संयुक्त प्रवर समिति ने इस बात की आशा की थी कि मंत्रिगण एक साथ मिल कर काम करेंगे और उन्होंने इस बात की सिफ़ारिश भी की थी किन्तु इस सम्बन्ध में कोई वास्तविक व्यवस्था नहीं की गई थी। अनुदेशों के लेख में यह अवश्य कहा गया था कि गवर्नर को चाहिए कि वह अपने मंत्रियों के लिए निर्देशक के रूप में काम करे, विधान-परिषद् से उनके सम्बन्ध के सिलसिले में उनको परामर्श दे और जहाँ तक संभव हो उन्हें साधारणतया अपना समर्थन प्रदान करे और साथ ही जब तक उसे यह निश्चय न हो जावे कि मंत्रियों ने परिषद् का विश्वास खो दिया है तब तक उन्हें उनके पदों पर बना रहने दे।

इस प्रकार प्रत्येक प्रान्त की सरकार को दो पृथक्, सुनिश्चित भागों में बाँटा गया था। कोई विषय संरक्षित है अथवा हस्तान्तरित, इसका निपटारा गवर्नर द्वारा होना था और उसका निर्णय अन्तिम था। किन्तु वित्त-विभाग का दोनों से समान सम्बन्ध था और उस पर बहुत हद तक दोनों भागों का कुशल संचालन निर्भर था।

निक्षेपण नियमों की व्यवस्था के अनुसार संरक्षित और हस्तान्तरित विषयों में राजस्व का वितरण सरकार के दोनों भागों के पारस्परिक समझौते के आधार पर होना था। संयुक्त प्रवर समिति ने यह विश्वास प्रकट किया था कि साधारणतया ऐसा समझौता करने में जो दोनों पक्षों को मान्य हो, कोई कठिनाई नहीं होगी—"उचित लेन-देन और समझदारी के आधार पर इस समस्या का सरलता से हल किया जा सकता है।" तथापि मतभेद की दशा में गवर्नर को "संरक्षित और हस्तान्तरित विषयों के लिए राजस्व और अवशेष का बँटवारा करने का अधिकार दिया गया था।" गवर्नर द्वारा बँटवारे की आज्ञा की अवधि में, किसी नए टैक्स के कारण राजस्व में वृद्धि होने पर, उसकी आय टैक्स लगानेवाले भाग को ऋण उगाहने अथवा अतिरिक्त टैक्स लगाने के प्रस्तावों पर संयुक्त रूप से विचार करने का नियम था, किन्तु उन पर प्रत्येक भागको पृथक् रूप से निर्णय करना था।

यह थी मॉण्टफोर्ड सुधारों की द्वैध शासन व्यवस्था। संयुक्त प्रवर समिति ने उसको कार्यान्वित करने के ढंग पर भी प्रकाश डाला था। समिति ने यह मत प्रकट किया था कि "सारे महत्त्वपूर्ण विषयों पर गवर्नर की अध्यक्षता में कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य और मंत्रियों में संयुक्त रूप से विचार करने की परिपाटी विकसित की जाए। ऐसे विषयों पर अत्यधिक परामर्श और मंत्रणा के लिए स्थान

नहीं हो सकता ;"[1] किन्तु एक बार विचार-विनिमय हो जाने के बाद उन पर पृथक् रूप से निर्णय होना चाहिए—ताकि प्रत्येक सरकारी काम और कार्यवाही का उत्तरदायित्व निश्चित और स्पष्ट हो।

इस प्रयोग की सफलता गवर्नर के केन्द्रीय व्यक्तित्व पर निर्भर थी। अनुदेशों के लेख के अनुसार वह "भारत में सुशासन का मानक बनाए रखने के लिए और भारत को स्वशासन के लिए उपयुक्त बनाने के उद्देश्य से विभिन्न परिवर्तनों को प्रोत्साहन देने के लिए पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी था।"[2] संयुक्त प्रवर समिति के अनुसार उसे "अपसारी नीतियों और विभिन्न आदर्शों में संतुलन करना था और मतभेद तथा विरोध को रोकना था।"[3] उसे नए अनुभवहीन मंत्रियों के लिए "निर्देशक, मित्र और प्रेरक" के रूप में काम करना था। उसे उन्हें मंत्रणा और चेतावनी देनी थी, प्रोत्साहन देना था, किन्तु उसे उन्हें स्वयं ही निर्णय करने के अवसर देना था ताकि वे ठोकर खाकर अनुभव से शिक्षा ले सकें। अनुदेशों के लेख के अनुसार उस पर निम्नलिखित बातों का दायित्व था, "प्रान्त में सुरक्षा और शान्ति बनाए रखना" और धार्मिक तथा जातीय झगड़ों को रोकना; मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करना; दलित, पिछड़ी हुई और मौल जन-जातियों की उन्नति को प्रोत्साहन देना; "यूरोपियनों और आंग्ल-भारतीयों के उचित वैध हितों का संरक्षण करना"; लोक सेवाओं के सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का संरक्षण करना, वाणिज्य और उद्योग से सम्बन्धित विषयों में अनुचित भेदभाव को रोकना; व्यापारिक एकाधिपत्य अथवा विशेषाधिकार के अनुदान से, सर्वसाधारण के हितों को क्षति न पहुँचने देना। इन दायित्वों के सम्बन्ध में कर्तव्य पालन करने के लिए गवर्नरों को विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए थे। वे अपनी परिषदों की उपेक्षा कर सकते थे, अपने मंत्रियों को पदच्युत कर सकते थे; द्वैधशासन व्यवस्था का अस्थायी रूप से निलम्बन कर सकते थे; विधान को निषिद्ध कर सकते थे; संरक्षित विभागों से सम्बन्धित नीति और व्यय का, विधान-मंडल की अस्वीकृति होते हुए भी, निबन्धन कर सकते थे।

८.

प्रान्तों में उत्तरदायी शासन-व्यवस्था आरम्भ करने के सम्बन्ध में निर्णय

---

१. Mukherjee : The Indian Constitution, Part II, page 513.

२. उपर्युक्त पुस्तक, भाग १. पृष्ठ २१६.

३. उपर्युक्त पुस्तक, भाग १, पृष्ठ ४१३-१४.

कर लेने पर विधान-मंडलों में सुधार करने का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया। मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट ने प्रान्तों में दूसरे (विधायिका) भवन स्थापित करने के प्रस्ताव का विरोध किया, किन्तु इस बात का प्रस्ताव किया कि "प्रत्येक प्रान्त में एक विस्तृत विधान-परिषद् होनी चाहिए; विभिन्न प्रान्तों की परिषदों का आकार और उनकी रचना भिन्न होनी चाहिए; उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुत बड़ा बहुमत होना चाहिए और उनमें आवश्यक साम्प्रदायिक और विशेष प्रतिनिधित्व होना चाहिए।[1]

ऐक्ट के अन्तर्गत बनाए हुए नियमों के अनुसार गवर्नरों के प्रान्तों की विधान-परिषदों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार निश्चित की गई थी:—बंगाल १३९; बम्बई १११; मद्रास १२७; यू. पी. १२३; पंजाब ९३; बिहार तथा उड़ीसा १०३; मध्यप्रान्त ७०; आसाम ५३। मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट ने इस बात की सिफारिश की थी कि सरकारी सदस्यों की संख्या कुल के २० प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए और निर्वाचित सदस्यों की संख्या ७० प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए। कुछ वर्गों और हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए ग़ैर सरकारी व्यक्तियों का नाम-निर्देशन होना था। इन सिफ़ारिशों को संयुक्त प्रवर समिति और पार्लियामेन्ट ने स्वीकार किया और उनको गवर्नमेन्ट ऑव इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत बनाए हुए नियमों में रूप दिया गया।

मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट ने यथासंभव विस्तृत मताधिकार पर अवलम्बित प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था अपनाने की सिफ़ारिश की थी। किन्तु कुछ समुदायों और विशेष हितों के लिए साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचन क्षेत्र बनाने के लिए कहा गया था। मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट के प्रवर्तकों को इस बात का विश्वास था कि पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था उत्तरदायी सरकार के विकास के लिए, लोगों में नागरिक भावना की वृद्धि के लिए और पिछड़ी हुई जातियों की प्रगति के लिये घातक थी। उस व्यवस्था के फलस्वरूप पिछड़े हुए समुदायों के स्व-आयास और प्रगति के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता था और उसमें विभिन्न समुदायों के तत्कालीन पारस्परिक सम्बन्धों के स्थिर हो जाने का डर था। तथापि मि० मॉण्टेगु और लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने मुसलमानों के लिये वही व्यवस्था बनाये रखना आवश्यक समझा और मॉर्ले-मिण्टो सुधारों के समय दी हुई प्रतिज्ञा को उसका कारण बताया। किन्तु उन्होंने लिखा, "जिन प्रान्तों में मुसलमान-मतदाताओं का बहुमत है वहाँ साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करने के लिए हमें कोई कारण

१. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 146.

दिखाई नहीं देता।"[1] अन्य समुदायों ने—जैसे पंजाब में सिक्खों ने, मद्रास में अ-ब्राह्मणों ने, भारतीय ईसाइयों ने, आंग्ल-भारतीयों ने, यूरोपियनों ने और बम्बई में लिंगायतों ने[2]—माण्टेगु मिशन से, स्वाभाविक रूप में इस बात पर ज़ोर दिया कि मुसलमानों की भाँति उनके लिए भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था अपनाई जाए। मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट के लेखक साम्प्रदायिक व्यवस्था को साधारणतया विस्तृत करने के विरोधी थे और उन्होंने एक अपवाद (सिक्खों) को छोड़ कर इन समुदायों की माँगों को अस्वीकार कर दिया। उनका यह मत था कि "पंजाब के सिक्खों का पृथक् और महत्वपूर्ण समुदाय है; भारतीय सेना को उस समुदाय से साहसी एवं महत्वपूर्ण अंश प्राप्त होता है; किन्तु वे सभी जगह अल्पसंख्यक हैं और अनुभव से यह प्रकट हुआ है कि उन्हें लगभग कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता। अतः हम सिक्खों के लिए भी और केवल उन्हीं के लिए उस व्यवस्था को अपनाना चाहते हैं जिसे मुसलमानों के सम्बन्ध में अपनाया गया है।"[2] किन्तु जब मुसलमानों और सिक्खों के लिए एक बार उस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया तो उसे अन्य समुदायों के लिए अस्वीकार करना असंभव था और मताधिकार कमेटी ने निम्नलिखित समुदायों के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र की व्यवस्था अपनाने की सिफ़ारिश की—मद्रास में भारतीय ईसाइयों के लिए बम्बई, मद्रास, बंगाल, यू. पी., बिहार तथा उड़ीसा में यूरोपियनों के लिए, और मद्रास तथा बंगाल में आंग्ल-भारतीयों के लिए। कमेटी ने मद्रास के अ-ब्राह्मणों के और बम्बई के मराठों के सम्बन्ध में भी सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और इस बात की सिफ़ारिश की कि जिन निर्वाचन-क्षेत्रों में एक से अधिक सदस्य चुने जाने हों उनमें उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाएँ।

इस प्रकार १९१९के ऐक्ट के अंतर्गत बने हुए नियमों के अनुसार मुसलमानों सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपियनों और आंग्ल-भारतीयों को पृथक् प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ और अ-ब्राह्मणों और मराठों के लिए स्थान सुरक्षित किए गए। नियमों ने ज़मीदारों, वाणिज्य और उद्योग, रोपक और खनिज हितों के लिये और साथ ही विश्वविद्यालयोंके लिए विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था भी की। दलित वर्गों,श्रम आदि के लिए नाम निर्देशन द्वारा प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। किन्तु स्त्रियों के प्रतिनिधित्व के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई, क्योंकि विदेशियों के लिए इस कोमल विषय पर निर्णय करना उपयुक्त नहीं समझा गया: उसका निर्णय नई, सुधरी हुई परिषदों के लिए छोड़ दिया गया।

---

१. The Report on Indian Constitutional Reforms 1918, page 149.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १५०.

नए संविधान में निर्वाचन के सम्बन्ध में एक भेद और किया गया था। यह भेद था शहरी और ग्राम्य निर्वाचन-क्षेत्रों में। इस विषय पर मताधिकार कमेटी की विवेचना से भारत सरकार असहमत थी। उसने अपने पाँचवें राजपत्र में लिखा: "यह विषय महत्वपूर्ण है और उसमें समझदारी से काम लेने की आवश्यकता है। धर्म और जाति के बाद, भारतीय लोगों को विभाजित करनेवाली सबसे बड़ी रेखा शहरों और गाँवों के बीच में है। इस रेखा से विभाजन होता है, प्रगति और पिछड़ेपन में; अंग्रेज़ी शिक्षा और देशी शिक्षा में; स्वशासन के अनुभव और उस अनुभव के अभाव में; समाचार पत्रों, पुस्तकालयों, वृत्तियों, समितियों आदि की व्यवस्था और उसके अभाव में।"[१] वस्तुत: इस तर्क के अनुसार भारत सरकार को शहरी क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में काफी वृद्धि करनी चाहिए थी क्योंकि उनके मत से परिषदों में सदस्य भेजने के लिए शहरी वर्ग ही सबसे ज़्यादा उपयुक्त थे। किन्तु भारत सरकार ज़्यादा पिछड़ी हुई और वश्य परिषदें चाहती थी और उसमें मताधिकार कमेटी द्वारा शहरी क्षेत्रों को दिए हुए स्थानों में काफ़ी कमी करने की सिफ़ारिश की।

संयुक्त प्रवर समिति ने भी ग्राम्य क्षेत्रों के लिए प्रतिनिधित्व बढ़ाने के प्रस्ताव का समर्थन किया।

२० जुलाई १९२० के नियमों ने विभिन्न जातियों, हितों आदि के लिए वस्तुत: कितने स्थान प्रदान किए, इस सम्बन्ध में चर्चा करने से पहले दो तथ्यों की ओर ध्यान दिलाना उपयुक्त होगा (१) सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में मुसलमानों को स्थान प्रदान करने के लिए दिसम्बर १९१६ के लखनऊ-समझौते को स्वीकार किया; और (२) गवर्नर को अधिकार दिया गया, जिसके अनुसार वह प्रत्येक विधेयक के सम्बन्ध में परिषद् की सहायता करने के उद्देश्य से उस समय के लिए दो (आसाम के लिए एक) विशेषज्ञों को साधारण सदस्य के रूप में नाम-निर्देशित कर सकता था। विभिन्न प्रान्तों की विधान-परिषदों की रचना के सम्बन्ध में उपयुक्त आंकड़ों को दो तालिकाओं में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है:—

---

१. Mukherjee: The Indian Constitution, Part II page 464.

१. इस तालिका में विभिन्न प्रान्तीय परिषदों की रचना को प्रकट किया गया है:

विधान-परिषद् का नाम	नाम-निर्देशित सदस्य			निर्वाचित सदस्य												सदस्यों की कुल संख्या
				साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से	साम्प्रदायिक नर्वाचन-क्षेत्रों से						विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से				निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या	
	सरकारी	गैर-सरकारी	कुल		मुसलमान	सिख	भारतीय ईसाई	यूरोपियन	आंग्ल-भारतीय	कुल	ज़मींदार	विश्वविद्यालय	वाणिज्य आदि	कुल		
१. मद्रास	२३	६	२९	६५	१३	..	५	१	१	२०	६	१	६	१३	९८	१२७
२. बम्बई	२०	५	२५	४६	२७	..	..	२	..	२९	३	१	७	११	८६	१११
३. बंगाल	२०	६	२६	४६	३९	..	.	५	२	४६	५	१	१५	२१	११३	१३९
४. यू० पी०	१८	५	२३	६०	२९	.	.	१	..	३०	६	१	३	१०	१००	१२३
५. पंजाब	१६	६	२२	२०	३२	१२	..	..	..	४४	४	१	२	७	७१	९३
६. बिहार तथा उड़ीसा	२०	७	२७	४८	१८	..	..	१	.	१९	५	१	३	९	७६	१०३
७. मध्यप्रान्त	१०	६	१६	४०	७	..	..	..	.	७	३	१	३	७	५४	७०
८. आसाम	९	५	१४	२१	१२	..	..	..	..	१२	..	..	६	६	३९	५३

इस प्रकार प्रान्तों की विधान-परिषदें काफ़ी बड़ी कर दी गई थीं और उन्हें विभिन्न समुदायों और हितों की दृष्टि से अधिक प्रतिनिधिपूर्ण बना दिया गया था। निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बहुत बढ़ा दिया गया था; हर प्रान्त में उनका बहुत बड़ा बहुमत था। सारी परिषदों की कुल संख्या में उनका ७७.८ प्रतिशत[१] भाग था। किन्तु नई परिषदें लोकतन्त्रीय अथवा वस्तुतः लोक प्रतिनिधिपूर्ण नहीं कही जा सकती थीं। मताधिकार प्रत्यक्ष अवश्य कर दिया गया था, किन्तु था बहुत संकीर्ण। सन् १९२० में जिन लोगों को मताधिकार प्राप्त हुआ था उनकी कुल संख्या केवल ५३ लाख थी। देश की कुल जनसंख्या २४ करोड़ १७ लाख थी। इस प्रकार कुल[२] जनता के २ प्रतिशत से कुछ अधिक भाग को अथवा २० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों के केवल ८.८ प्रतिशत को मताधिकार दिया गया था। मतदाताओं का यह

१. Mukherjee : The Indian Constitution, Part 1, page 310.

२. India in 1922-23, chart facing page 53.

अनुपात विभिन्न प्रान्तों के लिए विभिन्न था:—सबसे ज्यादा यू० पी० में ११.८ और सबसे कम बिहार तथा उड़ीसा में ३.९।[1]

२. इस तालिका में शहरी और ग्राम्य निर्वाचन-क्षेत्रों के विभाजन को प्रकट किया गया है:—

विधान परिषद् का नाम	शहरी निर्वाचन क्षेत्रों से				ग्राम्य निर्वाचन क्षेत्रों से				कुल (शहरी और ग्राम्य सदस्यों की) संख्या
	मुस्लिम	सिक्ख	ग़ैर-मुस्लिम	कुल	मुस्लिम	सिक्ख	ग़ैर मुस्लिम	कुल	
१. मद्रास	२	..	९	११	११	..	५६	६७	७८
२. बम्बई	५	..	११	१६	२२	..	३५	५७	७३
३. बंगाल	६	..	११	१७	३३	..	३५	६८	८५
४. यू० पी०	४	..	८	१२	२५	..	५२	७७	८९
५. पंजाब	५	१	७	१३	२७	११	१३	५१	६४
६. बिहार तथा उड़ीसा	३	..	६	९	१५	..	४२	५७	६६
७. मध्यप्रान्त	१	..	९	१०	६	..	३१	३७	४७
८. आसाम	..	..	..	१	१२	..	२०	३२	३३

मतदाताओं की अर्हतायें विभिन्न प्रान्तों के लिए, शहरी, ग्राम्य और जमींदार निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए भिन्न थीं। किन्तु अनर्हतायें सभी जगह एक ही थीं अर्थात् कोई भी व्यक्ति जो (१) ब्रिटिश प्रजाजन न हो अथवा (२) स्त्री हो; अथवा (३) अधिकारी न्यायालय के निर्णयानुसार विकृत-मस्तिष्क हो; अथवा (४) २१ वर्ष से कम आयु का हो, तो वह अपना नाम निर्वाचक-नामावली में लिखने का अधिकारी नहीं था। छः महीने से अधिक अवधि के लिए कारावास से दंडनीय अपराधों के संबंध में अथवा कदाचार के कारण अभिशंसित व्यक्तियों को पाँच वर्ष तक मताधिकार से वंचित कर दिया गया था। प्रान्तीय सरकार को प्राधिकार दिया गया था जिसके अनुसार वह अन्तिम अनर्हता को और देशी राज्यों के शासकों और उनकी प्रजा के सम्बन्ध में अनर्हता को दूर कर सकती थी। प्रान्तीय विधान-मंडल विशेष प्रस्ताव द्वारा स्त्रियों को मताधिकार प्रदान कर सकते थे।

यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई अनर्हता न हो और उसे किसी निर्वाचन क्षेत्र के लिए निर्दिष्ट सारी अर्हतायें प्राप्त हों तो वह उस क्षेत्र की निर्वाचक नामावली

१. Report of the Reforms Enquiry (Muddiman) Committee 1924, page 129.

में अपना नाम निबन्धित कराने का अधिकारी था। साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों की अर्हताएँ ये थीं :–(१) निर्वाचन-क्षेत्र में पिछले बारह महीनों से निवास और चुंगी को कम से कम ३ रुपये[1] प्रतिवर्ष के टैक्स का भुगतान; अथवा (२) ऐसे मकान का निवास अथवा स्वामित्व, जिसका वार्षिक किराया ३६ रुपये[2] अथवा उससे अधिक हो; अथवा (३) कम से कम २००० रुपये प्रतिवर्ष की आय पर आय-कर निर्धारण; अथवा ग्राम्यक्षेत्रों में ऐसी कृषि व भूमि का स्वामित्व जिसका वार्षिक निर्धारित मूल्य कम से कम १० रुपये हो। विभिन्न प्रांतों में यह पिछली रक़म १० रुपये से लेकर ५० रुपये तक थी।[3] सभी प्रान्तों में मताधिकार के लिए सैन्य-सेवा को अर्हता दी गई थी और पंजाब तथा मध्य प्रान्त में गाँव के मुखिया अथवा 'लम्बरदार' को भी मताधिकार दिया गया था। ज़मींदारों के निर्वाचन-क्षेत्र की मुख्य अर्हता यह थी कि वह व्यक्ति इतनी ज़मीन का मालिक हो जिसकी निर्धारित मालगुज़ारी ५०० रुपये हो। विभिन्न प्रान्तों के लिए यह रक़म भी भिन्न थी और वह पंजाब में ५०० रुपये से लेकर यू० पी० में ५००० रुपये तक थी। विश्वविद्यालयों के निर्वाचन क्षेत्र में ७ वर्ष से अधिक अवधि के सभी स्नातकों को मताधिकार दिया गया था। अन्य व्यक्ति निर्वाचन-क्षेत्र के लिए उन विशेष हितों की संस्थाओं को—जैसे वाणिज्य मंडल (चैम्बर्स ऑव कॉमर्स), मिलमालिकों की संस्थाओं, रोपक संस्थाओं आदि को—मताधिकार दिया गया था।

प्रान्तीय विधान-मंडलों के अभ्यर्थियों के लिए विशेष अर्हतायें निश्चित नहीं की गई थीं। उनके लिए केवल दो बातें आवश्यक थीं। एक तो यह कि उनको, जिस निर्वाचन-क्षेत्र से वे खड़े हो रहे हों, उसके मतदाता[4] की सारी अर्हतायें प्राप्त होनी चाहिएँ और उनकी आयु पच्चीस वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। मतदाताओं के सम्बन्ध में उपर्युक्त अनर्हताओं के अतिरिक्त, अभ्यर्थियों के लिए कुछ अनर्हतायें और थीं—जैसे दिवाला, वकालत से निलम्बन आदि।

निर्वाचन और उनकी निर्दोषिता के संबंध में बहुत से नियम बनाए गए थे। कदाचार को रोकने के लिए कठोर नियम निश्चित किए गए थे। निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा करने के लिए, गवर्नरों द्वारा कमिश्नरों की नियुक्ति करने की

१. बड़े शहरों—जैसे कलकत्ता, मद्रास और बम्बई—के लिए यह रक़म इससे बहुत ज़्यादा थी।

२. बंगाल, बिहार, तथा उड़ीसा में मुसलमानों के लिए काफ़ी कम रक़म निश्चित की गई थी।

३. यू० पी० में यह रक़म २५ रुपये थी।

४. निवास सम्बन्धी अर्हताएँ बम्बई, पंजाब और मध्यप्रान्त के अभ्यर्थियों के ही लिए थीं।

व्यवस्था की गई थी। इस सम्बन्ध में गवर्नरों की आज्ञाएँ कमिश्नरों की रिपोर्ट के अनुसार होनी थीं और वे आज्ञाएँ अन्तिम थीं।

इस प्रकार नई विधान-परिषदें निर्वाचित संस्थाएँ थीं, किन्तु निर्वाचन व्यवस्था विशुद्ध रूप से प्रादेशिक नहीं थी। सरकारी गुट का अनुपात अवश्य कम था किंतु वह महत्त्वशून्य नहीं था। नाम-निर्देशित सदस्यों और विशेष तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों के सदस्यों की सहायता से वह गुट काफ़ी प्रभाव डाल सकता था।

गवर्नर के प्रान्त की विधान-परिषद् ३ वर्ष के लिए बनाई जाती थी। किंतु आवश्यकता होने पर उसका विलोपन तीन वर्ष की अवधि से पहले भी किया जा सकता था। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर विधान-परिषद् का जीवन अधिक से अधिक एक वर्ष तक के लिए बढ़ा भी सकता था। परिषद् के आह्वान, सत्रावसान और विलोपन का और साथ ही उसकी सभा के स्थान और समय के निश्चित करने का अधिकार गवर्नर को दिया गया था। गवर्नर, विधान-परिषद् का सदस्य नहीं हो सकता था किंतु वह उसको सम्बोधन करने का अधिकारी था। परिषद् के अध्यक्ष की पहले चार वर्ष के लिए नियुक्ति और उपाध्यक्ष के निर्वाचन की पुष्टि, गवर्नर[1] को करनी थी।

विधान-परिषद् को प्रान्तीय सुशासन और शान्ति के लिए विधि बनाने का साधारण अधिकार दिया गया था; किंतु इस अधिकार को कई प्रकार से परिमित कर दिया गया था। जैसा कि पहले[2] कहा जा चुका है सब से पहली बात तो यह थी कि निक्षेपण नियमों के अनुसार बहुत से विषयों में गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति लेना आवश्यक था। दूसरी बात यह थी कि कि गवर्नर, विधान-परिषद् द्वारा अस्वीकृत प्रस्तावों को संरक्षित विषयों के शासन सम्बन्धी अपने दायित्व के नाम पर निबन्धित कर सकता था। तीसरी बात यह थी कि गवर्नर किसी भी विधेयक अथवा उसके किसी भाग के सम्बन्ध में चाहे वह परिषद् में किसी भी स्थिति में क्यों न हो, विचार करने पर रोक लगा सकता था—यह कारण बता कर कि उससे प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा अथवा शान्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। और अन्तिम बात यह थी कि विधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत विधेयकों को निषिद्ध करने का अधिकार गवर्नर और गवर्नर-जनरल दोनों में ही निहित था—साथ ही किसी भी विधेयक को परिषद् के समक्ष दुबारा विचार करने के लिए लौटाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त सम्राट् को प्रांतीय विधान-मंडल के किसी भी ऐक्ट को अस्वीकार करने का अधिकार था।

१. माण्टफ़ोर्ड ने इस बात की सिफ़ारिश की थी कि स्वयं गवर्नर ही विधान-परिषद् का अध्यक्ष हो और उपाध्यक्ष भी यथासंभव सरकारी व्यक्ति ही हो।

२. इसी अध्याय के सातवें विभाग को देखिए।

प्रान्तीय विधान-मंडलों की विधायिका शक्ति पर ये बहुत बड़े प्रतिबन्ध थे; किंतु उनमें से कुछ द्वैध शासन-व्यवस्था की विचारधारा में आनुषंगिक थे।

संरक्षित विभागों के लिए स-परिषद गवर्नर द्वारा आवश्यक विधान बनाने के सम्बन्ध में मांटफ़ोर्ड रिपोर्ट ने कई पद्धतियों का परीक्षण किया और अन्त में उस काम के लिए बड़ी कमेटियाँ बनाने की सिफ़ारिश की जिनमें सरकारी बहुमत हो। किंतु संयुक्त प्रवर समिति ने उस योजना को अस्वीकार किया क्योंकि उसके अनुसार उस व्यवस्था से सरकारी गुट के दोष स्थायी होने का, सपरिषद् गवर्नर के दायित्व के ढक जाने का और संकट के समय में विधान तुरन्त न बन सकने का डर था। अतः कमेटी ने यह प्रस्ताव किया कि गवर्नर को इस बात का स्पष्ट और प्रत्यक्ष दायित्व दिया जाय कि यदि विधान-परिषद् आवश्यक विधान का पारण न करे तो वह स्वयं ही अपने उत्तरदायित्व पर सम्बन्धित विधान बना दे। "गवर्नर के निजी दायित्व पर बने हुए ऐक्ट, गवर्नर-जनरल द्वारा सम्राट् की 'कृपा' के लिए सुरक्षित रखे जाने चाहिएँ।" इस को गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट १९१९, के तेरहवें खंड में रूप दिया गया।[1]

संरक्षित विषयों से सम्बन्धित व्यय और आपातकालीन व्यय के लिये भी ऐक्ट में इसी प्रकार की व्यवस्था की गई। गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९१९, के अनुसार विधान-परिषद् में, प्रतिवर्ष वित्तीय विवरण प्रस्तुत किया जाना था और अनुदान सम्बन्धी माँगों के रूप में राजस्व के विनियोग के लिए प्रस्ताव रखे जाने थे। "परिषद् किसी मांग को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है; अथवा प्रस्तावित परिमाण को घटा सकती है............,[2] किंतु (१) गवर्नर द्वारा इस बात का निबन्धन हो जाने पर कि उस विषय पर उसके उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उक्त व्यय आवश्यक है, प्रान्तीय सरकार को संरक्षित विषयों के सम्बन्ध में उस माँग के प्रत्यानयन करने का अधिकार होगा; (२) आपातकाल में प्रान्तीय शान्ति और सुरक्षा के लिए गवर्नर को जितना परिमाण वह ठीक समझे उतने के व्यय के लिए सम्बन्धित विभागों को अधिकृत करने का अधिकार होगा[3]; और (३) राजस्व के विनियोग सम्बन्धी सारे प्रस्ताव गवर्नर की सिफ़ारिश पर ही पेश किए जायँगे।

ऐक्ट के खंड नं. २ (३) से विधान-परिषदों के वित्तीय अधिकार और भी ज्यादा परिमित हो गए थे। इसके अनुसार व्यय के निम्नलिखित शीर्षकों से सम्बन्धित प्रस्ताव परिषदों में प्रस्तुत नहीं किए जाने थे:—

१. India in 1919, pages 242 and 243.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २४०.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २४१.

(१) सपरिषद् गवर्नर-जनरल को प्रान्तीय सरकार द्वारा दिए जाने वाले अनुदान; और

(२) ऋणों की व्याज और निक्षेप-निधि; और

(३) ऐसा व्यय जिसका परिमाण किसी विधि के द्वारा अथवा उसके अन्तर्गत निश्चित है; और

(४) सम्राट् द्वारा उसके अनुमोदन से अथवा सपरिषद् भारत-मन्त्री द्वारा नियुक्त किए हुए व्यक्तियों के वेतन और निवृत्ति, वेतन; और

(५) प्रान्त के हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन और साथ ही प्रान्तीय महाधिवक्ता का वेतन ।

विधान-परिषदों के सदस्यों को परिषद् के स्थायी नियमों के अभ्यधीन ये अधिकार प्राप्त थे—वे प्रश्न पूछ सकते थे, प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते थे, स्थगन प्रस्ताव और मन्त्रियों के प्रति अविश्वास के प्रस्ताव रख सकते थे और विधेयक प्रस्तुत कर सकते थे । परिषद् के नियमों में उचित कार्यपद्धति और प्रान्तीय सुरक्षा तथा शान्ति के हित में कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए थे ।

भारत सरकार ने प्रांतीय विधान-परिषदों की कार्य-पद्धति के सम्बन्धमें नियम बनाए थे। इन नियमों की अनुपूर्ति आरम्भ में सपरिषद गवर्नर की स्थायी आज्ञाओं से हुई किंतु इनमें परिषदें बाद में परिवर्तन अथवा संशोधन कर सकती थीं। इन नियमों के अनुसार स्थायी समितियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई ताकि सदस्यगण सरकार की वास्तविक समस्याओं के सम्पर्क में आ सकें। उनका काम केवल परामर्श देने का था और उनका उद्देश्य मुख्यत: शिक्षणात्मक था। इनमें वित्त समिति सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थी जो नये व्ययके सारे प्रस्तावों पर परामर्श देती थी। उसके बिलकुल पृथक् सार्वजनिक लेखा समिति थी जिसकी प्रत्येक प्रान्त में नियुक्ति होनी थी। नियमों में उसकी रचना और उसके कार्यों को निश्चित कर दिया गया था। अध्यक्ष सहित उसके कुल सदस्यों की संख्या १२ थी, अध्यक्ष स्वयं वित्त सदस्य होता था। इस समिति के दो तिहाई सदस्य, विधान-परिषद् के ग़ैरसरकारी सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था के अनसार चुने हुए होते थे। समिति को विनियोग के खातों की परीक्षा करनी होती थी, इस बात को देखना होता था कि वोट किये हुए धन का उपयोग विधान-मंडल की इच्छानुसार ही किया गया था और उसे अपनी जाँच की रिपोर्ट परिषद् को देनी होती थी। इस प्रकार विधान मंडल यह जान सकता था कि उसके निर्णयों का उचित रूप से पालन किया गया अथवा नहीं ।

गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९१९, ने प्रान्तीय क्षेत्र में उपर्युक्त परिवर्तन किए। उनके द्वारा उत्तरदायी शासन की दिशा में पहला कदम उठाया गया।

स्वयं ऐक्ट के अन्दर ही इस बात की व्यवस्था की गई थी कि दस वर्ष बाद एक प्रविधानीय कमीशन नियुक्त किया जाय और उसके सदस्यों को सम्राट्[1] तथा पार्लियामेंट के दोनों भवनों के अनुमोदन से छाँटा जाय। इस कमीशन को ब्रिटिश भारत की व्यवहृत शासन व्यवस्था, शिक्षा की वृद्धि और प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास और अन्य सम्बन्धित विषयों की जाँच करनी थी और निम्नलिखित बातों पर रिपोर्ट देनी थी—उत्तरदायी शासन के सिद्धांत को मान्यता देना वांछनीय है अथवा नहीं, यदि वांछनीय है तो किस हद तक मान्यता दी जाय, तत्कालीन उत्तरदायी शासन को कितना विस्तृत, संशोधित अथवा परिमित किया जाय; और दूसरे विधायिका भवनों की स्थापना करना वांछनीय है अथवा नहीं। इन बातों के अतिरिक्त ब्रिटिश भारत और प्रान्तों से सम्बन्धित अन्य बातों को सम्राट् द्वारा कमीशन को उसके विचारार्थ सौंपा जा सकता था।[2]

९.

यद्यपि मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट ने यह स्पष्ट कर दिया था कि केन्द्रीय शासन का स्वरूप बदलने का अथवा केन्द्र में उत्तरदायी व्यवस्था आरम्भ करने का कोई उद्देश्य नहीं था, तथापि केन्द्रीय व्यवस्था को भारत में अथवा इंग्लैंड में यथावत् छोड़ना संभव नहीं था। अतः मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों ने भारत और इंग्लैंड दोनों ही स्थानों में सरकारी ढाँचे में कुछ परिवर्तन किए और भारतीय लोक सेवाओं तथा देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध की समस्या पर भी प्रकाश डाला।

२० अगस्त १९१७ की घोषणा में यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार की नीति, "शासन के प्रत्येक विभाग में अधिकाधिक भारतीयों को साथ लेने की है।" किन्तु मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट ने इस सम्बन्ध में एक चेतावनी दी। "किसी सेवा में अचानक ही नये अंश की ऐसी भर्ती नहीं होनी चाहिए कि उसका सारा स्वरूप ही एकदम बदल जाय" और प्रतिवर्ष भर्ती किये जाने वाले भारतीयों की संख्या ऐसी होनी चाहिए कि उनको "उस सेवा के पुराने सदस्य उचित रूप से शिक्षित

---

१. ऐक्ट में अथवा संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट में ऐसी कोई धारा नहीं है जिससे भारत मन्त्री पर कोई ऐसी रोक हो कि कमीशन के लिए पार्लियामेंट के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के नामों की सिफ़ारिश न की जाय।

२. Clause 41 of the Act. India in 1919, page 513. इस बात में सन्देह है कि देशी राज्यों से संबंधित प्रश्नों को उस कमीशन को सौंपना वैध था। १९१९ के ऐक्ट के अनुसार केवल ब्रिटिश भारत से सम्बन्धित विषय ही उसे सौंपे जा सकते थे।

कर सकें और उस सेवा की भावना से प्रेरित कर सकें।"[१] अतः यह प्रस्ताव किया गया कि जिन सेवाओं के लिए इंगलैंड में भर्ती होती थी, उन सेवाओं के लिए भारत में भर्ती करने के निमित्त एक नियत अनुपात निश्चित कर दिया जाय। उदाहरण के लिए इंडियन सिविल सर्विस के "३३ प्रतिशत पदों के लिए भारत में भर्ती की जाय।"[२] विभिन्न लोकसेवाओं में भारतीयकरण की गति क्रमशः बढ़ाई जानी थी।

सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया ऐक्ट ने स-परिषद् भारत मंत्री को प्राधिकार दिया कि वह इंडियन सिविल सर्विस[3] में "भारत के अधिवासी लोगों की" नियुक्ति के लिये नियम बनावे और साथ ही "भारत की सिविल नौकरियों के वर्गीकरण के लिए, उनकी भर्ती की प्रक्रिया के लिए, उनके वेतन, भत्ते, व्यवहार और अनुशासन के विनियमन के लिए" नियम बनावे।[४] ऐक्ट के प्राधिकार के बल पर भारत मंत्री नियम आदि बनाने के अधिकार को स-परिषद् गवर्नर-जनरल को अथवा प्रान्तीय सरकार आदि को सौंप सकता था। १९१९ के ऐक्ट ने स-परिषद् भारत-मंत्री द्वारा एक लोक-सेवा-आयोग को नियुक्ति की व्यवस्था की। इस आयोग में अध्यक्ष-सहित पाँच से अधिक सदस्य नहीं होने थे, प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल पाँच वर्ष का था, किन्तु उसकी दुबारा नियुक्ति भी हो सकती थी। "यह लोक-सेवा-आयोग, भारत में लोक-सेवाओं की भर्ती और नियंत्रण के संबंध में वह सारे कार्य करेगा जो स-परिषद् भारत-मंत्री द्वारा नियमों के अनुसार उसे सौंपे जायँगे।"[५]

स-परिषद् भारत-मंत्री द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार भारत में समकालिक प्रतियोगितापूर्ण परीक्षाओं की व्यवस्था कुछ हद तक अपनाई गई; साथ ही विभिन्न समुदायों और प्रान्तों को लोक-सेवाओं में प्रतिनिधित्व देने के लिए नाम-निर्देशन की व्यवस्था की गई। किन्तु सिविल सेवाओं से संबंधित सारे प्रश्न को जिसमें यूरोपीय सदस्यों के वेतन बढ़ाने का प्रश्न भी सम्मिलित था, सन् १९२२ में एक राजकीय कमीशन को सौंपा गया। इस कमीशन के अध्यक्ष लॉर्ड ली थे।

मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट के संयुक्त लेखकों ने लोक-सेवाओं के यूरोपीय सदस्यों के

---

१. The Report on Indian Constitutional Reforms 1919 page 200.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ २०१.

३. Section 37 (1) of the Act India in 1919, page 252.

४. Section 36 (2) of the Act, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २५१.

५. Section 38 (2) of the Act, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २५२.

संबंध में बड़ी चिन्ता प्रकट की थी और केवल उनके वेतन तथा भत्ते में वृद्धि के लिए और वैधानिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने के कारण उनकी क्षतिपूर्त्ति के लिए ही सिफ़ारिश नहीं की थी वरन् नए संविधान में उनको प्रबल संरक्षण देने की व्यवस्था भी की थी। इसी उद्देश्य से १९१९ के ऐक्ट में तीन महत्त्वपूर्ण धाराओं को स्थान दिया गया। पहली धारा में उनको जो संरक्षण दिया गया था उसके अनुसार मंत्रिगण उनको पदच्युत नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर मंत्रियों के लिए उन्हें महत्त्वपूर्ण पदों पर बनाये रखने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। दूसरी धारा के अनुसार इन सदस्यों को मंत्रियों का अतिक्रमण करके गवंनर से शिकायत करने का अधिकार दिया गया। तीसरी धारा के अनुसार उनके वेतन, भत्ते आदि का पूर्ण संरक्षण किया गया। यदि इन संरक्षणों के बावजूद, सिविल सेवाओं के कुछ सदस्य "ऐसा अनुभव करें कि वह द्वैध प्रणाली के अन्तर्गत उपयुक्त रूप से काम नहीं कर सकते" तो संयुक्त-प्रवर-समिति ने यह सुझाव दिया कि सम्राट् सरकार, यदि उसके लिए यह शक्य हो, तो उन सदस्यों को अन्यत्र समान पद प्रदान करे अथवा उनको आनुपातिक पेंशन पर निवृत्त[1] कर दिया जाय।

१०.

मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट का तीसरा सूत्र यह था:—

"भारत सरकार, पार्लियामेण्ट के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी है, और इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त, प्रान्तों में आरंभ होने वाली नई व्यवस्था के अनुभव-काल में, उस (भारत सरकार) का मौलिक विषयों में अधिकार निर्विवाद है। इस अवधि में भारतीय विधान-परिषद्, विस्तृत और अधिक प्रतिनिधिपूर्ण की जानी चाहिए और सरकार को प्रभावित करने के उसके अवसर बढ़ाए जाने चाहिए।"[2]

इस नीति को गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९१९ के भाग २ में और इस संबंध में भारत सरकार द्वारा बनाए हुए नियमों में रूप दिया गया। दो भवनों के एक नए विधान-मंडल की स्थापना की गई और वाइसरॉय की कार्यकारिणी-परिषद् की रचना में थोड़ा-सा संशोधन किया गया। कार्यकारिणी परिषद् की सदस्यता के संबंध में अधिकतम सीमा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया गया;[3]

१. Mukherjee: The Indian Constitution; part II, page 526.
२. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 124.
३. Clause 28 (1) of the Act, India in 1919, page 248.

भारतीय उच्च न्यायालयों के १० वर्ष से अधिक की स्थिति के वकील उसके सदस्य नियुक्त किए जा सकते थे[1]; और भारतीय विधान-परिषद् के सदस्यों में से परिषद्-कार्यवाह नियुक्त करने की व्यवस्था की गई।[2] कार्यकारिणी परिषद् के तीन सदस्यों के लिए पूर्ववत् सेवा की अर्हता आवश्यक थी—अर्थात् वे लोग भारत में कम-से-कम दस वर्ष तक सम्राट् के सेवक रहे हों। कार्यकारिणी परिषद् में भारतीयों की नियुक्ति करने के संबंध में कोई प्रविधानीय व्यवस्था नहीं की गई थी, किन्तु संयुक्त प्रवर समिति की सिफ़ारिशों पर तीन भारतीयों को परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया।

नए केन्द्रीय विधान-मंडल में दो भवन होने थे—राज्य-परिषद् और भारतीय विधान सभा। राज्य-परिषद् स्थापित करने के लिए मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट ने मुख्यतः इस उद्देश्य से सिफ़ारिश की थी कि यदि किसी "अनिवार्य" विधान को अधिक लोकाधिमत प्रथम भवन स्वीकार न करे तो भारत सरकार उसका राज्य-परिषद् से पारण करवा सके। अतः उसने इस बात का प्रस्ताव किया कि राज्य-परिषद् में कुल ५० सदस्य हों जिनमें से आधे, सरकारी व्यक्ति हों; ४ नाम-निर्देशित ग़ैर सरकारी व्यक्ति हों और शेष २१ निर्वाचित व्यक्ति हों—जिनमें से १५ सदस्य, प्रान्तीय परिषदों के ग़ैर-सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों और ६ सदस्य जमींदारों, मुसलमानों और वाणिज्य-मंडलों द्वारा प्रत्यक्ष व्यवस्था के अनुसार निर्वाचित हों। रिपोर्ट के लेखकों ने कहा : "राज्य-परिषद्, सारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत को सर्वोच्च विधायिका सत्ता होगी और उसे सारे भारतीय विधानों को दोहराने का अधिकार प्राप्त होगा। अतः हम उसकी ओर देश के सर्वोत्तम उपलब्ध व्यक्तियों को आकर्षित करना चाहते हैं। हमारी यह इच्छा है कि वह विकसित हो और उसमें वे सब विशेषताएँ हों जो दोहराने वाले भवनों के लिए आवश्यक और उपयुक्त समझी जाती हैं।"[3] संयुक्त प्रवर समिति ने इस बात को आवश्यक अथवा वांछनीय नहीं समझा कि "राज्य-परिषद् को सरकारी विधान के लिए उपकरण बनाया जाय।" समिति ने इस बात की सिफ़ारिश की कि "आरंभ से ही उसकी वास्तविक द्वितीय भवन के रूप में रचना की जावे।"[4] मताधिकार कमेटी ने इस बात का सुझाव दिया था कि राज्य-परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्यों का वही मतदाता निर्वाचन करें जो विधान सभा के लिए निर्वाचन करते हैं, किन्तु

१. Clause 28 (2) of the Act. India in 1919, page 249.
२. Clause 28 (1) of the Act. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २४९.
३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १७९.
४. Mukherjee : The Indian Constitution, Part II, page 520.

संयुक्त प्रवर समिति ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और उसने भारत सरकार को यह प्राधिकार देने की सिफ़ारिश की कि वह राज्य-परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र बनावे।

भारत सरकार द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार राज्य-परिषद् में ६० सदस्य होने थे जिनमें से एक सदस्य की गवर्नर-जनरल द्वारा अध्यक्ष पद पर नियुक्ति की जानी थी। शेष ५९ सदस्यों में से, २५ नाम-निर्देशित होने थे—१९ सरकारी और ६ गैर-सरकारी; ३४ निर्वाचित होने थे—२० साधारण निर्वाचन-क्षेत्र से, ३ यूरोपीय वाणिज्य-मंडल से और ११ साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र से (१० मुस्लिम क्षेत्र से और १ सिक्ख क्षेत्र से)। राज्य-परिषद् को पुनरीक्षक भवन के रूप में काम करना था और उसे विधान के संबंध में प्रथम भवन के बराबर अधिकार प्राप्त थे।

प्रथम भवन का नाम था भारतीय विधान-सभा और इसमें—सभा के अध्यक्ष के अतिरिक्त—१४३ सदस्य होने थे। अध्यक्ष की नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा पहले चार वर्षों के लिए की जानी थी। अन्य सदस्यों में से, ४० नाम-निर्देशित होने थे–२५ सरकारी और १५ ग़ैर-सरकारी; और १०३ निर्वाचित होने थे–५१ साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से; ३२ साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों से (मुसलमानों द्वारा ३० और सिक्खों द्वारा २); और २० विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों से (ज़मींदारों द्वारा ७, यूरोपियनों द्वारा ९ और भारतीय वाणिज्य-वर्ग द्वारा ४)। मताधिकार कमेटी ने भारतीय विधान-सभा के लिए परोक्ष निर्वाचन-व्यवस्था की सिफ़ारिश की थी; क्योंकि उसके मतानुसार प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था वांछनीय होते हुए भी अव्यवहार्य थी–प्रान्तीय मताधिकार के आधार पर बने हुए निर्वाचन क्षेत्र बहुत बड़े और बोझल होंगे; संकीर्ण मताधिकार "अयुक्त" और "राजनैतिक दृष्टि से अवांछनीय" होगा।[1] संयुक्त प्रवर समिति ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और इस बात की सिफ़ारिश की कि भारत सरकार से इस संबंध में नये प्रस्ताव प्रस्तुत करने को कहा जाय।

इस प्रकार केन्द्रीय विधान-मंडल के लिए निर्वाचन-व्यवस्था, मताधिकार और विभिन्न प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों की स्थापना के प्रश्न, भारत सरकार के निर्णय के लिए छोड़ दिये गए थे। भारत सरकार ने केन्द्रीय विधान-मंडल के दोनों भवनों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था के पक्ष में निर्णय किया। राज्य-परिषद् के निमित्त उन लोगों को मताधिकार दिया गया जिनकी आय-कर से निर्धारित वार्षिक आय १००००रुपये से कम न हो। (विभिन्न स्थानों अथवा समुदायों में यह

१. Mukherjee: The Indian Constitution, Part II page 215.

रकम १०००० रुपये से लेकर २०००० रुपये तक थी) अथवा जो ७५० रु० वार्षिक मालगुज़ारी देते हैं (विभिन्न स्थानों अथवा समुदायों में यह रकम ७५० रुपये से लेकर ५००० रुपये तक थी)।[1] इनके अतिरिक्त उन लोगों को जिन्हें सार्वजनिक कार्य का पूर्व-अनुभव हो अथवा उन लोगों को जो मान्य विद्वान् हों—जैसे उन लोगों को जो किसी विधान-मंडल के सदस्य हों अथवा रह चुके हों; अथवा उन लोगों को जो नगरपालिका मंडल अथवा ज़िला मंडल अथवा सहयोग-केन्द्रीय-बैंक के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष हों अथवा रह चुके हों; अथवा उन लोगों को जो किसी विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य हों अथवा रह चुके हों; अथवा उन लोगों को जिन्हें प्राच्य-विद्वत्ता की सबसे बड़ी उपाधि मिली हो—राज्य-परिषद् के साधारण निर्वाचन-क्षेत्र की निर्वाचक नामावलि में अपना नाम निबंधित कराने का अधिकार था।

भारतीय विधान-सभा के लिए मतदाताओं की अर्हतायें इस प्रकार थीं:—(१) कम से कम १५ (कहीं-कहीं पर २०) रुपये प्रतिवर्ष नगरपालिका-करों का शोधन; अथवा (२) ऐसे मकानों में निवास अथवा उनका स्वामित्व जिनका वार्षिक किराया १८० रुपये हो; अथवा (३) कम से कम २००० रुपये (विभिन्न स्थानों अथवा समुदायों के लिए यह रकम ५००० रुपये तक थी) की वार्षिक आय का आय-कर द्वारा निर्धारण; अथवा (४) विभिन्न प्रान्तों में ५० रुपये से १५० रु० तक कम-से-कम मालगुज़ारी का निर्धारण।

राज्य-परिषद् और भारतीय विधान-सभा, दोनों ही के निर्वाचकों और अभ्यर्थियों के लिए वही अनर्हतायें थीं जो प्रान्तीय परिषदों के निर्वाचकों और अभ्यर्थियों के लिए क्रमशः निश्चित की गईं थीं। केन्द्रीय विधान-मंडल के दोनों भवनों के अभ्यर्थियों के लिए कोई विशेष अर्हतायें नहीं थीं। उनके लिए केवल दो बातें आवश्यक थीं कि उनकी आयु २५ वर्ष से अधिक हो और वे जिस निर्वाचन-क्षेत्र से खड़े हो रहे हों उसके मतदाता की उन्हें अर्हतायें प्राप्त हों।

इस प्रकार केन्द्रीय विधान-मंडल के दोनों भवनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था—किन्तु राज्य-परिषद् में यह निर्वाचित बहुमत बहुत साधारण था। यह भवन मुख्यतः धनी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता था—राज्य-परिषद् के लिए मतदाताओं की कुल संख्या १७३६४ थी।[2] भारतीय विधान-सभा अपेक्षाकृत

१. बंगाल और विहार तथा उड़ीसा में मुसलमानों के लिए काफ़ी कम रकमें निश्चित की गई थीं। सब से कम रकम पंजाब के लिए निश्चित की गई थी और सबसे ज्यादा रकम यू० पी० के लिए निश्चित की गई थी।

२. The figures are taken frcm Appendix II of India in 1920, page 248.

विस्तृत मताधिकार पर निर्मित हुई थी; किन्तु उसके भी मतदाताओं की कुल संख्या १० लाख से अधिक नहीं थी—सन् १९२० में वास्तविक संख्या ९०९८७४ थी—जब कि देश की जनसंख्या लगभग २५ करोड़ ४० लाख थी।

प्रत्येक भवन एक निश्चित अवधि के लिए निर्मित किया गया था किन्तु गवर्नर-जनरल को अवधि से पहिले उसका विलोपन[1] करने का अथवा अवधि के बाद भी उसको जीवित रखने का[2] अधिकार दिया गया था। साधारणतया सभा की जीवनावधि तीन वर्ष की थी और राज्य-परिषद् की पाँच वर्ष की। प्रत्येक भवन को अपना कार्य-संचालन, व्यवहार-नियमों के अनुसार करना था। इन नियमों की अनुपूर्ति भवनों को अपनी स्थायी आज्ञाओं से करनी थी। दोनों भवनों के अधिवेशन का समय और स्थान गवर्नर-जनरल द्वारा निश्चित होना था, जिसे उन भवनों के आह्वान, सत्रावसान और विलोपन का अधिकार था। उसे दोनों भवनों के सदस्यों को सम्बोधित करने का भी अधिकार था।

केन्द्रीय विधान-मंडल के विधान-कार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था किन्तु उसके अधिकारों पर बहुत बड़े प्रतिबन्ध भी लगे हुए थे। भारतीय विधान-मंडल, सारे ब्रिटिश भारत के लिए, भारत के अन्य भागों में सम्राट् की प्रजा और सेवकों के लिए, सम्राट् की भारतीय प्रजा के लिए चाहे वह कहीं भी क्यों न हो, और सम्राट् की स्थल, जल और वायु सेना में काम करने वाले सभी लोगों के लिये, विधि बना सकता था। वह ऐसी विधियों को जो ब्रिटिश भारत में लागू हों अथवा जो पिछले वाक्य में उल्लिखित लोगों पर लागू हों, उस समय के लिए रद्द अथवा संशोधित कर सकता था। किन्तु भारत के किसी हाईकोर्ट को तोड़ने के संबंध में अथवा यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा अथवा उनके बच्चों को प्राणदंड देने के लिए, छोटे न्यायालयों को अधिकार देने के संबंध में, विधान बनाने के लिए स-परिषद् भारत मंत्री की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक था। भारतीय विधान-मंडल को, पार्लियामेण्ट द्वारा बनाए हुए किसी प्रविधान को रद्द अथवा संशोधित करने का अथवा ऐसा कोई काम करने का जिससे पार्लियामेण्ट की सत्ता पर अथवा उसकी अलिखित

---

१. कार्यकारिणी, विधान मंडल से स्वतंत्र थी; अस्तु, किन परिस्थितियों में अवधि से पहले विलोपन करना आवश्यक समझा जाता, यह कहना कठिन है।

२. जिस तरह प्रान्तीय परिषदों के लिए एक वर्ष का समय निश्चित किया गया था उस प्रकार से केन्द्रीय विधान मंडल के लिए कोई समय निश्चित नहीं किया गया।

३. See Section 65 of the Government of India Act 1915, as amended by the Act of 1919. Mukherjee: Indian Constitution, part I, page 273.

विधियों पर अथवा संयुक्त राज्य के विधान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो, कोई अधिकार नहीं था।

ये प्रतिबंध ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की प्रभुता यथावत् बनाये रखने के लिए लगाए गए थे। इनके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् की श्रेष्ठता और सत्ता बनाये रखने के लिए केन्द्रीय विधान मंडल पर और बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रतिबंध लगाए गए थे। सबसे पहला प्रतिबंध यह था कि निम्नलिखित बातों पर प्रभाव डालने वाले प्रस्तावों को प्रस्तुत करने के लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक था:—

"(१) सार्वजनिक ऋण, अथवा भारतीय सार्वजनिक राजस्व अथवा भारतीय राजस्व पर किसी परिव्यय का भार; अथवा

(२) भारत की ब्रिटिश प्रजा के किसी वर्ग के धर्म, उसकी रीति अथवा परंपरा; अथवा

(३) सम्राट् की जल, स्थल और वायु सेना के किसी भाग का अनुशासन; अथवा

(४) सरकार का विदेशी नरेशों अथवा रियासतों से संबंध; अथवा ऐसा कोई प्रस्ताव—

"(अ) जिससे ऐसे प्रान्तीय विषयों अथवा ऐसे किसी प्रान्तीय विषय के किसी भाग का विनियमन होता हो, जो इस ऐक्ट के अन्तर्गत बने हुए नियमों के अनुसार भारतीय विधान-मंडल के विधान क्षेत्र के अभ्यधीन न हो; अथवा

(ब) जिससे प्रान्तीय विधान-मंडल का कोई ऐक्ट रद्द या संशोधित होता हो; अथवा

(स) जिससे गवर्नर-जनरल द्वारा बनाया हुआ कोई ऐक्ट अथवा अध्यादेश रद्द अथवा संशोधित होता हो।"[१]

दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि यदि गवर्नर-जनरल के मत से किसी विधेयक अथवा उसके किसी भाग से "ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति अथवा सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो"[२] तो वह उस विधेयक या उसके संबंधित भाग पर, चाहे वह किसी भी भवन में और किसी भी स्थिति में क्यों न हो, चर्चा करने के संबंध में रोक लगा सकता था।

१. Section 67 clause (2) of the Consolidated Act. See Mukherjee: The Indian Constitution, part I, pages, 281 and 282

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २८२.

केन्द्रीय विधान-मंडल की सत्ता पर तीसरा प्रतिबन्ध यह था कि यदि गवर्नर-जनरल के मत से "ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति, सुरक्षा अथवा उसके हितों के लिए"[१] किसी विधि का बनाना अनिवार्य है और यदि दोनों भवनों ने उसे बनाने से इंकार कर दिया है तो उसे प्राधिकार था कि वह उस विधि का विधान कर दे अर्थात् प्रचलित शब्दावली में उसका निबन्धन करदे। ऐसे प्रत्येक ऐक्ट के लिए सम्राट् की स्वीकृति लेने का नियम था किंतु "इससे पहले यह आवश्यक था कि उसकी प्रतियाँ पार्लियामेंट के प्रत्येक भवन के समक्ष अधिवेशन के कम-से-कम आठ दिनों तक रखी जावें।"[२] यह व्यवस्था, संयुक्त प्रवर समिति की सिफ़ारिश से, मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट की उस मौलिक योजना के स्थान पर अपनाई गई थी, जिसके अनुसार मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट के प्रस्तावित द्वितीय भवन को अनिवार्य विधान बनाना था। समिति की दृष्टि में यह उचित नहीं था कि गवर्नर-जनरल अपने दायित्व को छिपावे और मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट द्वारा प्रस्तावित राज्य-परिषद् के सरकारी गुट से इसका काम निकाले। इस सम्बन्ध में पहले भी ध्यान आकर्षित किया जा चुका है।

केन्द्रीय विधान-मंडल के अधिकारों पर चौथा प्रतिबन्ध यह था कि गवर्नर-जनरल को आपातकाल में "ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति और उसके सुशासन के लिए अध्यादेश"[३] बनाने का अधिकार था। गवर्नर-जनरल द्वारा बनाए हुए अध्यादेश की उतनी ही विधिक मान्यता होनी थी जितनी कि भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाये हुए किसी ऐक्ट की। कोई भी अध्यादेश छै महीने से अधिक के लिए जारी नहीं किया जा सकता था।[४]

पाँचवाँ प्रतिबन्ध यह था कि गवर्नर-जनरल को, केन्द्रीय विधान-मंडल के दोनों भवनों द्वारा पारित किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने से पहले, फिर विचार करने के लिए मंडल के पास वापिस भेज देने का अधिकार था।

अन्तिम बात यह थी कि भारतीय बिधान-मंडल की किसी भी विधि के विधायन के लिये गवर्नर-जनरल की स्वीकृति अनिवार्य थी। उसे अधिकार था कि उस विधेयक को अपनी स्वीकृति दे अथवा उसे सम्राट् की कृपा के लिए सुरक्षित कर दे। सम्राट् को भारतीय विधान-मंडल अथवा गवर्नर-जनरल द्वारा बनाये हुए किसी भी ऐक्ट को अस्वीकार कर देने का अधिकार था। संयुक्त प्रवर समिति ने

---

१. Section 37 B of the Consolidated Act: Mukherjee: Indian Constitution, Part I, page 293.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९४.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९८,२९९.

४. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९९.

इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि गवर्नर-जनरल का निषेधाधिकार वास्तविक था और उसे व्यवहार में लाने का उद्देश्य था।

गवर्नर-जनरल की अनुमति के लिए किसी विधेयक को उसके पास भेजने से पहले यह आवश्यक था कि विधान-मंडल के दोनों भवनों ने उसको अपनी स्वीकृति दे दी हो। "यदि किसी विधेयक को एक भवन ने स्वीकार कर लिया है किंतु उस भवन के स्वीकार कर लेने के छः महीने के अन्दर ही उस विधेयक को उसी रूप में अथवा संशोधनों के बाद (जो पहले भवन को मान्य हों) दूसरे भवन से स्वीकृति नहीं मिलती तो गवर्नर-जनरल स्वविवेक से उस विषय के निर्णय को दोनों भवनों के संयुक्त अधिवेशन को सौंप सकता था।"[1] इस प्रकार दोनों भवनों के गतिरोध को दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था की गई थी।

दोनों भवनों के सदस्यों को निश्चित नियमों के अनुसार प्रश्न पूछने का, अनुपूरक प्रश्न पूछने का, प्रस्ताव प्रस्तुत करने का, स्थगन-प्रस्ताव प्रस्तुत करने का, और विधान के प्रक्षेप प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया था। सदस्यों को भवनों में भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार भी दिया गया था।

गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९१९ के अनुसार, गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् का वित्तीय विवरण, भारतीय विधान-मंडल के दोनों भवनों में प्रस्तुत किया जाना था। सरकार को—केवल गवर्नर-जनरल की ही सिफ़ारिश पर—अनुदानों की माँगों के रूप में राजस्व-विनियोग के प्रस्ताव प्रस्तुत करने थे। व्यय के निम्न-लिखित शीर्षकों को छोड़ कर, शेष सब प्रस्तावों पर भारतीय विधान सभा को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था।

(१) ऋणों की व्याज और निक्षेप निधि सम्बन्धी परिव्यय, और

(२) ऐसा व्यय जिसका परिमाण किसी विधि द्वारा निश्चित हो; और

(३) सम्राट् द्वारा अथवा उसके अनुमोदन से अथवा सपरिषद् भारत मन्त्री द्वारा नियुक्त किये हुए लोगों के वेतन और निवृत्ति-वेतन और;

(४) मुख्य कमिश्नरों और न्यायिक कमिश्नरों के वेतन; और

(५) ऐसा व्यय जिस को सपरिषद् गवर्नर-जनरल की आज्ञानुसार निम्न-लिखित वर्गों में गणना हो:—

(अ) धर्म (चर्च) सम्बन्धी;

(ब) राजनैतिक;

(स) सुरक्षा सम्बन्धी।"[1]

१. Section 25 of the Act of 1919, "India in 1919" page 249.

दोनों में से किसी भवन में "विना गवर्नर-जनरल के निर्देश के" उपर्युक्त मदों पर तो चर्चा भी नहीं की जा सकती थी।

व्यय की अन्य मदों पर विधान सभा अपना मत प्रकट करती थी—वह किसी माँग को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती थी अथवा कुल माँग को घटाकर किसी माँग के परिमाण को घटा सकती थी किंतु गवर्नर-जनरल को, "यह घोषित करने पर कि विधान सभा द्वारा अस्वीकृत माँग उसके उत्तरदायित्व के पालन के लिए आवश्यक है," उस माँग के परिमाण को यथावत् रखने का अधिकार था। आयातकाल में ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा के लिए, गवर्नर-जनरल को जितना परिमाण वह ठीक समझे उतने के व्यय के लिए, सम्बन्धित विभागों को प्राधिकृत करने का अधिकार था।"[1]

इस प्रकार भारतीय विधान-मंडल केवल एक प्रभुता-रहित विधायक-निकाय ही नहीं था वरन् वह कार्यकारिणी के समक्ष अशक्त भी था। प्रशासनीय, विधानीय एवं वित्तीय, सभी क्षेत्रों में, स-परिषद् गवर्नर-जनरल का पूरा अधिकार था। कार्यकारिणी, विधान-मंडल से स्वतन्त्र ही नहीं थी वरन् इसको लगभग सभी विषयों में उसका उल्लंघन करने का अधिकार था। तथापि कुछ सदस्यों को स्थायी समितियों के द्वारा, कार्यकारिणी-विभागों के संचालन और प्रशासनीय समस्याओं के निकट-सम्पर्क में आने का अवसर मिल जाता था। सभा की स्थायी समितियों में, वित्त समिति और सार्वजनिक लेखा समिति अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। सभा के सदस्यों को भारत सरकार की वास्तविकता प्रकट करने का भी अवसर था—यह जताने का कि सरकार, देश के लोगों की इच्छाओं और उनके हितों के विरुद्ध काम कर रही थी। भारतीय विधान सभा और चाहे जो कुछ करने में समर्थ या असमर्थ हो किंतु उसे भारत सरकार का असली स्वरूप प्रकट करने का अधिकार अवश्य था।

१२.

१९१९ के ऐक्ट ने भारत की 'गृह सरकार' में भी कुछ परिवर्तन किये। सब से पहली बात तो यह हुई कि प्रान्तों को आंशिक उत्तरदायित्व देने के कारण, सपरिषद् भारत मंत्री को नियंत्रण कम करने का अधिकार दिया गया। संरक्षित विभागों के संबंध में अथवा भारत सरकार के संबंध में प्रविधानीय रूप से नियंत्रण कम करना संभव नहीं था क्योंकि इनके लिए पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायित्व था। किन्तु संयुक्त प्रवर समिति ने ऐसी परम्परा डालने का सुझाव दिया था कि असाधारण परिस्थितियों के अतिरिक्त, ऐसे विशुद्ध रूप से भारतीय विषयों में जिनके संबंध में सरकार और भारतीय विधान मंडल सहमत हों, भारत-मंत्री हस्तक्षेप न करे। यह बात आर्थिक विषयों के संबंध में विशेष रूप से आवश्यक

१. Section 25 of the Act of 1919, 'India in 1919' page 249.

अनुभव की गई क्योंकि संयुक्त प्रवर समिति इस बात का सन्देह दूर करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी "कि भारत की आर्थिक नीति ब्रिटेन के व्यापार के हित में व्हाइट हाल से निर्देशित होती है। यही कारण है कि इस दृष्टि से व्यवहृत नीति 'आर्थिक स्वायत्तता परंपरा' के नाम से पुकारी जाती थी।"

१९१९ के ऐक्ट ने 'गृह सरकार' के संबंध में दूसरा परिवर्तन भारत-परिषद् के संविधान में किया। भारतीय जनमत ने भारत-परिषद् को तोड़ने की मांग की थी और क्रिउवे कमेटी का मत बराबर बँटा हुआ था। किन्तु संयुक्त प्रवर समिति ने भारत-परिषद् को बनाये रखने की सिफ़ारिश की जिसे १९१९ के ऐक्ट ने स्वीकार किया और उसमें कुछ साधारण संशोधनों के अतिरिक्त भारत परिषद को पूर्ववत् बनाये रखा। परिषद् की सदस्यता की अधिकतम सीमा को १४ से घटाकर १२ कर दिया गया और न्यूनतम सीमा को १० से घटा कर ८ कर दिया गया। भविष्य में नौ सदस्यों के स्थान पर परिषद् के आधे सदस्यों के लिए ही सेवा की अर्हता आवश्यक थी। नये सदस्यों का कार्य-काल सात वर्ष से घटा कर पाँच वर्ष कर दिया गया। सदस्यों के लिए १२०० पौंड का वार्षिक वेतन निश्चित कर दिया गया; किन्तु भारतीय सदस्यों को इस वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड का वार्षिक भत्ता देने की व्यवस्था भी की गई। परिषद् की मीटिंग कम-से-कम प्रति सप्ताह के स्थान पर प्रतिमास होती थी। गण-पूर्त्ति के संबंध में प्रविधानीय व्यवस्था नहीं की गई; उसकी संख्या स्वयं भारत मंत्री को निश्चित करनी थी। कार्य संचालन के लिए नियम बनाने का अधिकार स-परिषद भारत मंत्री को दिया गया। इस संबंध में इस बात की ओर ध्यान उचित होगा कि संयुक्त प्रवर समिति ने भारत-परिषद् की उपयोगिता बढ़ाने के लिए 'विभाग व्यवस्था' अपनाने की सिफ़ारिश की थी।

तीसरी बात यह थी कि मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों ने स-परिषद् भारत-मंत्री के अभिकरण कार्यों को प्रशासनीय एवं राजनैतिक कार्यों से पृथक् करने की व्यवस्था की थी। क्रिउवे कमेटी का यह सुझाव था कि स-परिषद् भारत मंत्री के अधिकरण-कार्य भारत के हाई कमिश्नर को, (जिसकी इसी उद्देश्य से लन्दन में नियुक्ति की जावे) सौंप दिये जाने चाहिएँ। ऐक्ट ने सम्राट् को अधिकार दिया "कि वे संयुक्त राज्य में भारत के हाईकमिश्नर की नियुक्ति के लिए, उसके वेतन, निवृत्ति वेतन, अधिकार कर्त्तव्य और उसकी सेवा की शर्तों के लिए परिषद् आदेश द्वारा व्यवस्था करें और उसको वे सब अधिकरण-कार्य सौंप देने की व्यवस्था करें जो पहले सपरिषद् भारत मंत्री द्वारा किये जाते थे.....साथ ही वे शर्तें

१. Mukherjee: The Indian Constitution, Part II, page 523.

निश्चित कर दें जिनके अनुसार उसे स-परिषद् गवर्नर-जनरल अथवा प्रान्तीय सरकार की ओर से काम करना होगा।"[1]

सन् १९२० में भारत के हाई कमिश्नर[2] की नियुक्ति की गई और उसको पण्य विभाग, भारतीय विद्यार्थी विभाग और भारतीय व्यापारिक कमिश्नर के कार्यों के निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार दिया गया। क्रमशः इंडिया ऑफ़िस के सारे अधिकरण-कार्यों को लन्दन के भारतीय हाई कमिश्नर को सौंपने का उद्देश्य था।

संयुक्त प्रवर समिति ने इस बात की सिफ़ारिश की थी कि इंडिया आफ़िस के सारे राजनैतिक और नियंत्रण सम्बन्धी कार्यों के व्यय का भार (इसमें भारत-मंत्री का वेतन भी सम्मिलित था), ब्रिटिश राजस्व पर होना चाहिए और केवल अधिकरण-कार्यों के व्यय का भार भारतीय राजस्व पर होना चाहिए। अतः १९१९ के ऐक्ट ने व्यवस्था की कि "भारत मंत्री का वेतन, उसके उपमंत्रियों का वेतन और उसके विभाग का अन्य व्यय··भारतीय राजस्व से न दिया जाकर, पार्लियामेण्ट से दिया जावे··और यह व्यय इसी प्रकार दिया जाएगा।"[3] इस धारा के अनुसार इंडिया ऑफ़िस के नियंत्रण संबंधी और राजनैतिक कामों के व्यय का भार, साथ ही भारत मंत्री और उसके उपमंत्रियों के वेतन का भार ब्रिटिश राजस्व पर डाल दिया गया।

१३

इस प्रकार १९१९ के सुधार केवल प्रान्तीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थे: उन्होंने केन्द्रीय सरकार और गृह सरकार पर भी प्रभाव डाला। केवल इतना ही नहीं वरन् उन्होंने भारतीय नरेशों को भी अपनी परिधि में लिया। नरेन्द्र मंडल (चैम्बर ऑव प्रिंसेज़) और उसकी स्थायी समिति की स्थापना द्वारा ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के पारस्परिक सहयोग-व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया गया। ब्रिटिश भारत की सरकारों और देशी राज्यों के आपसी झगड़ों को और देशी नरेशों के संबंध में कदाचार के आक्षेपों को जांच कमीशन के सिपुर्द करने की व्यवस्था भी की गई।

मि. मॉण्टेगु और लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड का यह मत था कि ब्रिटिश भारत के वैधानिक परिवर्तनों से देशी राज्यों पर भी प्रभाव पड़ेगा और इसी कारण उन्होंने

---

१. Section 35 of the Act, India in 1919, page 251.

२. सर विलियम मेयर को सबसे पहला हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। सर मेयर कुछ ही समय पहले भारत सरकार के वित्त-सदस्य के पद से निवृत्त हुए थे।

३. Section 30 of the Act, India in 1919, page 249.

देशी राज्यों से संबंध के प्रश्न का परीक्षण किया।[1] उन्होंने देशी नरेशों को इस बात का आश्वासन देने की आवश्यकता अनुभव की कि ब्रिटिश भारत में चाहे जो परिवर्तन हों किन्तु संधियों, सनदों और व्यवहार के अनुसार उन्हें जो अधिकार, प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनमें किसी प्रकार की कमी नहीं होगी।[2] वस्तुतः ऐसे किसी आश्वासन की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट ने जिन परिवर्तनों की सिफ़ारिश की थी उनसे देशी राज्यों के साथ संबंध के प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किन्तु कुछ देशी नरेश इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी स्थिति सुधारने के लिए और अपने परिवादों और अपनी असमर्थताओं को दूर करने के लिए उत्सुक थे।

मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था:—"देशी राज्यों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति समय-समय पर बदलती रही है। आरंभ में देशी राज्यों को अपनी परिधि से बाहर हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था; उसके बाद लॉर्ड हेस्टिंग्स की नीति के अनुसार देशी राज्य अधस्थ और विश्लिष्ट हो गए। इस नीति का स्थान उस वर्तमान नीति ने लिया जिसके अनुसार देशी राज्यों का सर्वोच्च सत्ता से सहयोग और ऐक्य का संबंध है।"[3] किन्तु इस संबंध में इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार में जो सहयोग था, वह बराबरी की हैसियत से नहीं था। लॉर्ड कैनिंग के समय से लॉर्ड रीडिंग के समय तक भारत की ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों की अधस्थता और अपनी श्रेष्ठता पर बराबर ज़ोर दिया—यहाँ तक कहा गया कि उसकी प्रभुता को शब्दों द्वारा पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता; उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था; और ब्रिटिश सत्ता को, संधियों, सनदों आदि से स्वतन्त्र रूप से, देशी राज्यों के सभी विषयों में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार था। अस्तु, मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट में उनकी स्थिति इस प्रकार व्यक्त की गई:—"देशी राज्यों को बाहरी आक्रमण से सुरक्षा प्राप्त है; सर्वोच्च सत्ता उनकी ओर से देशी और विदेशी राज्यों के प्रति काम करती है और जब उनके प्रदेशों की आन्तरिक शान्ति पर कोई बड़ा संकट होता है तो हस्तक्षेप करती है। दूसरी ओर विदेशी सरकारों के साथ उनके वही संबंध हैं जो सर्वोच्च सत्ता के हैं; सुरक्षा में उनका समान दायित्व है; और उन पर अपने प्रदेशों की समृद्धि और उनके

१. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 193.

२. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ १९४।

३. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 190.

सुशासन का दायित्व है ।"[1]

पिछले सत्तर वर्षों में देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत के सम्पर्क-बिन्दु काफ़ी बढ़ गए थे और बहुत से कामों के लिए भारत के ये दोनों भाग लगभग एक इकाई बन गए थे। मॉण्टफ़ोर्ड-रिपार्ट के अनुसार:—"भारत के दोनों भागों के परस्पर घुलमिल जाने की दिशा में एक प्रक्रिया काम करती हुई दिखाई देती है। अकाल के अवसरों पर हमने देशी राज्यों की सहायता की है ; हमने उन्हें ब्रिटिश भारत के अनुभवी अधिकारियों की सेवाएँ निम्नलिखित कार्यों में प्रदान की हैं—उनकी मालगुज़ारी अथवा वित्तीय व्यवस्था को दोहराने अथवा उसका निरीक्षण करने के लिए अथवा उनके प्रदेशों में कृषि और सिंचाई की दशा सुधारने के लिए। बहुत से देशी राज्यों ने दीवानी और फ़ौजदारी पद्धति के संबंध में हमारी संहिताओं को अपनाया है। कुछ देशी राज्यों ने हमारी शिक्षण-व्यवस्था का अनुकरण किया है और उसे आगे भी बढ़ाया है। पुलिस और न्याय के क्षेत्रों में सहयोग बढ़ा है। हमारी रेलवे और तार-व्यवस्थाएँ बहुत से देशी राज्यों में भी काम करती हैं। भारतीय सीमा शुल्क का सभी देशी राज्यों से सम्बन्ध है जिनमें वे राज्य भी सम्मिलित हैं जिनके अपने निजी बन्दरगाह हैं।"[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के दोनों भाग बहुत से विषयों में एक दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। किन्तु देशी राज्यों की राजनैतिक जागृति, ब्रिटिश भारत की अपेक्षा कहीं कम थी। विभिन्न देशी राज्यों में भी यह जागृति एक-सी नहीं थी। अतः यह कहा गया, "देशी राज्य विकास की विभिन्न सीढ़ियों पर हैं। कहीं सामन्तवाद है; कहीं कुछ अधिक उन्नति हो गई है; और कुछ राज्यों में प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रारम्भ हो गया है। इन सभी राज्यों की, जिनमें सबसे ज्यादा उन्नत राज्य भी सम्मिलित हैं, यह एक विशेषता है कि उनमें से प्रत्येक में उसके नरेश का व्यक्तिगत राज्य है और उसका विधान, न्याय और शासन पर नियंत्रण है।[2]

अस्तु देशी राज्यों की स्थिति क्रमशः सुधरती रही। विद्रोह के बाद के वर्षों में अंगरेज़ों को देशी नरेशों पर अविश्वास था और उन्हें इस बात का डर था कि अवसर मिलने पर वे सब अंगरेज़ों के विरुद्ध एक हो जाएँगे। अतः उस समय ब्रिटिश नीति देशी राज्यों को विश्लिष्ट रखने की थी और देशी नरेशों के परस्पर मिलने के अवसर यथासंभव सीमित कर दिये गये थे। किन्तु

१. लॉर्ड कैनिंग, लॉर्ड लिटन,, लॉर्ड कर्ज़न, लॉर्ड हार्डिंज और लॉर्ड रीडिंग ने देशी राज्यों की अस्वस्थ स्थिति के संबंध में विशेष रूप से ज़ोर दिया था।

२. The Report on the Indian Constitutional Reforms 1918, page 191.

ब्रिटिश भारत के शिक्षित वर्गों में राष्ट्रीय चेतना बढ़ने पर, देशी नरेशों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ; और उन का समर्थन प्राप्त करने की ओर देश के शासन में उनको साथ लेने की नीति का क्रमशः विकास हुआ। ब्रिटिश भारत के शिक्षित वर्गों की माँगों के विरुद्ध देशी नरेशों की दृढ़ दीवार का उपयोग करने की संभावनाओं की ओर सब से पहले लॉर्ड लिटन का ध्यान आकर्षित हुआ था। इसी कारण उन्होंने बड़े देशी नरेशों की एक भारतीय प्रिवी कौंसिल बनाने की सिफारिश की थी। जैसा कि अन्यत्र[१] कहा जा चुका है। उस प्रस्ताव का केवल इतना ही फल हुआ कि देशी नरेशों के नाम के साथ "सम्राज्ञी की परिषद् के सदस्य" की खोखली उपाधि जोड़ दी गई। लॉर्ड कर्ज़न ने फिर उसी विचार को उठाया और "देशी नरेशों की परिषद्" की स्थापना करने का प्रस्ताव किया। किन्तु ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों में, राष्ट्रीय शक्तियों से संकट का सामना करने के उद्देश्य से परस्पर सहयोग के विचार को सक्रिय रूप देने का काम लॉर्ड मिंटो ने किया। जैसा कि नरेन्द्र-मंडल के विशेष संगठन-विभाग ने 'दि ब्रिटिश क्राउन एण्ड दि इंडियन स्टेट्स' में कहा है :—"ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की वृद्धि से लॉर्ड मिंटो घबरा गए थे......और उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध देशी नरेशों के संगठन में एक दृढ़ दीवार दिखाई दी।" उन्होंने बताया कि "इस सारी व्यवस्था की केन्द्रीय बात यह है कि साम्राज्यीय सरकार और देशी राज्यों के हित एक हैं; अतः उनके प्रदेशों के आन्तरिक मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिये।" अस्तु, "सारे भारत—प्रान्तों और साथ ही राज्यों—की भलाई से संबंधित विषयों पर देशी नरेशों से परामर्श करने की परंपरा आरंभ की गई।"[२] लॉर्ड मिंटो ने आरंभ में साम्राज्यीय मंत्रणा-परिषद् स्थापित करने का प्रस्ताव किया और बाद में देशी शासकों की साम्राज्यीय परिषद् बनाने का सुझाव दिया किन्तु दोनों में से किसी भी प्रस्ताव को रूप नहीं दिया गया। लार्ड हार्डिंज ने उस नीति को एक कदम और आगे बढ़ाया और देशी राज्यों में उच्चतर शिक्षा के संबंध में विचार करने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया। देशी राज्यों के हितों से संबंधित प्रश्नों पर परामर्श करने की परंपरा को भी लॉर्ड हार्डिंज ने जारी रखा और नरेशों को परस्पर परामर्श करने के लिए प्रोत्साहन दिया। सन् १९१४ तक कुछ प्रमुख देशी नरेश भारत की भावी नीति में देशी राज्यों की

१. See Introduction of Singh : Indian States and British India : Their Future Relations; particularly pages 56-57.

२. Quoted in Singh : Indian States and British India : Their Future Relations, page 56.

स्थिति सुरक्षित रखने के बारे में विचार करने लगे थे। लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने अपने दो पूर्वाधिकारियों की नीति को जारी रखा और केवल देशी राज्यों से संबंधित और साथ ही देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत से संयुक्त रूप से संबंधित विषयों पर विचार करने के लिए देशी नरेशों के वार्षिक सम्मेलन किए। किन्तु देशी नरेश वस्तुस्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे और जब मि. मांटेगु तथा लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने सुधारों के सिलसिले में जाँच करने के लिए देश का दौरा किया तो देशी नरेशों ने एक शिष्ट मंडल द्वारा अपने परिवादों का प्रतिनिधित्व किया और अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किए। उन्होंने तीन मुख्य दिशाओं में परिवर्तन करने के लिये कहा। डा. रशब्रुक विलियम्स के शब्दानुसार, "वे यह अनुभव करते थे कि अखिल भारतीय नीति निश्चित करने में उनका कोई स्थान नहीं था। उन का दूसरा परिवाद यह था कि देशी राज्यों और ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों के झगड़ों का निपटारा करने के लिये कोई निष्पक्ष व्यवस्था नहीं थी क्योंकि अधिकांश मामलों में भारत सरकार स्वयं फँसी हुई होती थी और वही निर्णय करती थी। अन्त में उनका यह विश्वास था कि राजनैतिक बिभाग.....प्राय: संधियों की उपेक्षा करता था और साधारणतया उसका व्यवहार स्वेच्छापूर्ण होता था।"[१]

"इन दोषों को दूर करने के लिए..... देशी नरेशों ने एक ऐसी सभा बनाने की योजना रखी जिसमें वे परस्पर मिल सकें और अपने सर्वमान्य हितों पर विचार कर सकें; " और जिस के द्वारा वे अखिल भारतीय विषयों पर ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों के साथ मिल कर परामर्श कर सकें। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक योजना का प्रस्ताव किया जिसके अनुसार विवादास्पद विषय निर्णय के लिए एक निष्पक्ष न्यायालय को सौंपे जाने थे। अन्त में उन्होंने इस बात की इच्छा प्रकट की कि राजनैतिक कार्यवाह का उनकी एक समिति के साथ सम्पर्क हो ताकि विभाग की साधारण नीति, देशी नरेशों की इच्छाओं और भावनाओं को ध्यान में रखते हुए निश्चित की जा सके।"[२]

माण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट ने देशी नरेशों के मुख्य प्रस्तावों को स्वीकार किया। रिपोर्टमें कहा गया:—"हम परामर्श के उद्देश्य से एक स्थायी निकाय स्थापित करना चाहते हैं। कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका देशी राज्यों पर साधारणतया प्रभाव पड़ता है;

---

१. Quoted from the British Crown and the Indian States in Singh : Indian States and British India : Their Future Relations, page 58.

२. Singh : Indian States and British India : Their Future Relations, page 59.

साथ ही ऐसे प्रश्न भी हैं जिनका पूरे साम्राज्य से अथवा ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों से समान संबंध है; हमारा यह विचार है कि उन प्रश्नों पर प्रस्तावित निकाय का मत अत्यन्त मूल्यवान् होगा। वाइसरॉय उन प्रश्नों को उस परिषद् के विचारार्थ भेजेगा और हम को उसका सुचिन्तित मत जानने का अवसर मिलेगा। हमारे विचार से वाइसरॉय द्वारा अनुमोदित कार्यावली पर विचार करने के लिए उस परिषद् की सभायें नियमित रूप से —साधारणतया वर्ष में एक बार—होनी चाहिये।"[1] इस प्रकार मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट ने देशी नरेशों की एक स्थायी परिषद् स्थापित करने का प्रस्ताव किया। "हमारा दूसरा प्रस्ताव यह है कि देशी नरेशों की उक्त परिषद् प्रति वर्ष एक छोटी स्थायी समिति नियुक्त करे जिसमें वाइसरॉय और राजनैतिक विभाग द्वारा 'परंपरा और व्यवहार के विषयों' पर अभिदेश किया जा सके।"[2] रिपोर्ट में कहा गया कि इस समिति में परिषद् की इच्छानुसार दीवानों अथवा मंत्रियों की नियुक्ति की जा सकती है। अन्त में रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि जिन विवादों में निष्पक्ष जाँच वांछनीय हो, वाइसरॉय एक कमीशन नियुक्त करे जिस में एक हाईकोर्ट का न्यायाधीश और उसके अतिरिक्त प्रत्येक पक्ष का नामनिर्देशित प्रतिनिधि हो। यदि उस कमीशन की रिपोर्ट वाइसरॉय को मान्य न हो तो उसे भारत-मंत्री के निर्णय के लिए अभिदिष्ट किया जावे।[3]

सन् १९१९ की जनवरी के अन्त में देशी नरेशों के एक सम्मेलन में इन प्रस्तावों पर विचार किया गया; किन्तु यह सम्मेलन प्रतिनिधित्व के संबंध में किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच सका। उस सम्मेलन ने नरेशों की परिषद् की योजना का अनुमोदन किया और यह सुझाव दिया कि उसे नरेन्द्र मंडल के नाम से पुकारा जावे। इस सम्मेलन की सिफारिशें भारत मंत्री के समक्ष रखी गई; और वाइसरॉय ने भारत मंत्री के परामर्श से नरेन्द्र मंडल स्थापित करने की योजना का मसविदा तैयार किया जिसे नवम्बर १९१९ में देशी नरेशों के दूसरे सम्मेलन के समक्ष रखा गया। सम्मेलन ने इस योजना का अनुमोदन किया और कार्यपद्धति, पंच न्यायालय और जाँच कमीशन के नियमों का मसविदा बनाने में वाइसरॉय की सहायता करने को एक कमेटी नियुक्त की। ८ फरवरी १९२१ को ड्यूक ऑव कॅनॉट ने नरेन्द्र-मंडल का नियमानुसार उद्घाटन किया।

---

१. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 195.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९५-१९६.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २९६.

१४.

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में सहयोग के लिए इस नई व्यवस्था के संबंध में सन् १९१९ के गवर्नमेन्ट ऑव इंडिया ऐक्ट में कोई धारा नहीं थी। नरेन्द्र-मंडल की स्थापना का निर्णय एक राजकीय उद्घोषणा द्वारा व्यक्त किया गया था।

नवम्बर १९१९ में देशी नरेशों के सम्मेलन में लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने 'शासक नरेशों' और 'शासक सामन्तों' में विभेद किया था। शासक नरेश, देशी राज्यों के वे शासक थे जिनको राजप्रतिष्ठा के आधार पर तोपों की सलामी मिलती थी, जिनको अपने प्रदेशों के आन्तरिक शासन का लगभग पूर्ण अधिकार था और जिनको स्वयं ही नरेन्द्र-मंडल का सदस्य होने का अधिकार था। अन्य सब केवल शासक सामन्त थे। अन्त में नरेन्द्र-मंडल की रचना के अनुसार केवल १०८ देशी नरेशों को व्यक्तिगत सदस्यता का अधिकार दिया गया। अन्य देशी राज्यों को दो समूहों में बाँटा गया:—वे राज्य जिनको नरेन्द्र-मंडल में प्रतिनिधित्व दिया गया—ऐसे १२७ राज्य थे और उनको १२ प्रतिनिधि सदस्य चुनने का अधिकार दिया गया था; और वे राज्य जिनको कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था और इन की संख्या ३२७ थी। इस प्रकार नरेन्द्र-मंडल में १२० सदस्य थे——१०८ शासक नरेश जो अपने अधिकार के बल पर उसके सदस्य थे; और १२ प्रतिनिधि जो शासक सामन्तों द्वारा चुने गए थे। लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने नरेन्द्र-मंडल के बारे में कुछ बातें स्पष्ट कर दी थीं;—"पहली बात तो यह थी कि मंडल में उपस्थित होना और वोट देना, सदस्यों की स्वेच्छा पर निर्भर होगा"; "दूसरी बात यह थी कि मंडल में परामर्श किया जावेगा किन्तु उसकी कोई कार्यकारिणी सत्ता नहीं होगी"; और "तीसरी बात यह थी कि मंडल की स्थापना से भारत सरकार और किसी देशी राज्य के सीधे संबंध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि प्रत्येक देशी राज्य का, चाहे उसे मंडल में प्रतिनिधित्व हो अथवा न हो, भारत सरकार से सीधे संबंध बनाये रखने का अधिकार यथापूर्व रहेगा।" अन्त में लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने कहा:—"इस संबंध में यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि मंडल में किसी राज्य-विशेष के आन्तरिक मामलों की अथवा किसी व्यक्तिगत शासक के कार्यों की चर्चा नहीं की जावेगी।"[1]

इस नरेन्द्र-मंडल की, वाइसरॉय की अध्यक्षता में, उसके द्वारा अनुमोदित कार्यावली पर विचार करने के लिए साधारणतया वर्ष में एक बार सभा होनी थी। मंडल को अपने लिये एक चांसलर का निर्वाचन करना होता था जिसे वाइसरॉय की अनुपस्थिति में अध्यक्ष का पद ग्रहण करना होता था। वह स्थायी समिति का

१. देशी नरेशों के सम्मेलन में लार्ड चेम्सफ़ोर्ड के व्याख्यान से अनूदित—देखिये The Indian Annual Register, 1920, page 88.

भी अध्यक्ष होता था, जिसमें, उसके अतिरिक्त चार या पाँच सदस्य और होते थे। स्थायी समिति के सदस्यों का इस शर्त के अभ्यधीन प्रति वर्ष निर्वाचन होता था कि उसमें—राजपूताना, मध्य भारत, बम्बई और पंजाब—प्रत्येक क्षेत्र के देशी नरेशों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

मंडल के कार्यों और उसके अधिकारों पर प्रतिबंधों को राजकीय उद्घोषणा में इस प्रकार व्यक्त किया गया :—

"साधारणतया देशी राज्यों के प्रदेशों से संबन्धित विषयों पर और साथ ही उन विषयों पर, जिनका ब्रिटिश भारत अथवा मेरे शेष साम्राज्य के साथ उन प्रदेशों पर भी संयुक्त रूप से प्रभाव पड़ता है, मेरा वाइसरॉय निस्संकोच परामर्श करेगा। उसका किसी व्यक्तिगत देशी राज्य अथवा किसी व्यक्तिगत नरेश के मेरी सरकार के साथ संबंध से लगाव नहीं होगा; और उसका देशी राज्यों की वर्तमान व्यवस्था और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।"[1]

स्थायी समिति की "भारत सरकार के केन्द्र में प्रति वर्ष दो या तीन बार मीटिंग होती है और उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण काम यह है कि वह ऐसे विषयों पर, जिनका देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत, दोनों के शासन के साथ संबंध है; सरकार के विभिन्न विभागों के साथ विचार-विनिमय करती है।"[2]

१५

मॉण्टफोर्ड-रिपोर्ट ने देशी राज्यों के संबंध में दो विषयों पर और निर्देश किया था ; उनका संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। रिपोर्ट के लेखकों ने कहा :— "हमारे दो अवशिष्ट प्रस्तावों का ब्रिटिश भारत की संविधानीय योजना से प्रत्यक्ष संबंध है। हम इस बात की सिफ़ारिश करते हैं कि साधारण सिद्धान्त के रूप में, भारत सरकार के साथ सारे महत्वपूर्ण देशी राज्यों के सीधे राजनैतिक संबंध होने चाहिएँ।"[3] इस बात की केवल कुशलता और कार्य-संचालन में शीघ्रता की ही दृष्टि से नहीं वरन् साधारण नीति के आधार पर भी— अखिल भारतीय

१. Singh : Indian States and British India : Their Future Relations, page 61—के एक उद्धरण का अनुवाद।

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६३।

३. The Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 197. इस सिफारिश के फलस्वरूप वस्तुत: जो परिवर्तन हुए उनके लिये देखिये—Singh : Indian States and British India; Their Future Relations, page 53 and 54.

महत्व के विषयों को प्रान्तीय विषयों से अलग करने के लिए—उसकी आवश्यकता थी। अन्य देशी राज्यों के संबंध में रिपोर्ट के लेखकों ने कोई निश्चित सिफ़ारिशें नहीं कीं। उन्होंने लिखा:—"भारत सरकार इन राज्यों से सीधे संबंध स्थापित कर सकती है अथवा इस समय उनको प्रान्तीय सरकारों के साथ संबंध बनाये रखने को छोड़ सकती है; किन्तु दूसरी स्थिति में हमारे विचार से प्रान्तीय अध्यक्ष को देशी राज्यों के साथ अपने संबंध में केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप में काम करना चाहिये और देशी राज्यों के साथ ये प्रान्तीय संबंध इस अर्थ में प्रान्तीय विषय नहीं माने जाने चाहिएँ कि कभी भी वे विधान-परिषद् के नियन्त्रण के अन्तर्गत आ सकते हैं।"[1]

मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट का दूसरा और अन्तिम प्रस्ताव देशी नरेशों और ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों द्वारा देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत दोनों से संबंधित विषयों पर, संयुक्त रूप से परामर्श करने की व्यवस्था के संबंध में था। राज्य-परिषद् में कुछ नरेशों को उस समय सम्मिलित करने का प्रस्ताव, अव्यवहार्य था। अत: रिपोर्ट के लेखकों ने इस बात की सिफ़ारिश की कि वाइसरॉय "ऐसे अवसरों पर राज्य-परिषद् और नरेश-परिषद् अथवा उनके प्रतिनिधियों के बीच संयुक्त परामर्श का प्रबंध करे।"[1]

इक्कीसवाँ अध्याय

विच्छिन्नता की वृद्धि

१

मॉण्टफ़ोर्ड-योजना भारतवासियों के लिये वस्तुत: झगड़े की जड़ सिद्ध हुई। बड़े यत्न और बलिदान के बाद क्रमश: जो ऐक्य स्थापित किया गया था, वह विना किसी विशेष प्रकट प्रयास के, लगभग तुरन्त ही नष्ट कर दिया गया। दस वर्ष अलग रहने के बाद राष्ट्रवादियों के नरम और उग्र पक्ष, जो पुन: एक हो गए थे, उनको मॉण्टफ़ोर्ड-योजना ने एक बार फिर विभाजित कर दिया। कई सामुदायिक और साम्प्रदायिक संस्थाएँ अस्तित्व में आईं अथवा दृढ़ की गईं। उनका उद्देश्य प्रस्तावित सुधारों में अपने वर्ग अथवा समुदाय के लिए विशेषाधिकार प्राप्त करना था। दिसम्बर १९१६ में लखनऊ में जो हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य हुआ था उस पर अक्टूबर १९१६ में आरा (बिहार) के साम्प्रदायिक दंगों के कारण इतना तनाव पड़ा कि वह टुकड़े-टुकड़े होने से बाल-बाल बचा।

१. Report on Indian Constitutional Reforms, 1918, page 198.

दंगों का तात्कालिक कारण यह था कि २९ सितम्बर १९१७ को इब्राहीमपुर (ज़िला शाहाबाद) के मुसलमानों ने अपने समझौते को तोड़ कर गाय का बलिदान किया था। निकटवर्ती ग्राम्य क्षेत्रों के हिन्दू, गाय का बलिदान सदा के लिए बन्द कर देने का दृढ़ निश्चय किये हुए थे क्योंकि उनके लिये गाय बड़ी श्रद्धा की चीज़ थी। "३० सितम्बर की सुबह को हिन्दुओं के बहुत बड़े दल ने—अनुमानतः २५००० आदमियों ने—इब्राहीमपुर और निकट के कुछ गाँवों पर आक्रमण किया। उसे तितर-बितर करने के लिए पुलिस को काफी लड़ाई लड़नी पड़ी। उस अवसर पर काफी लूट-मार भी हुई और एक थाने पर आक्रमण किया गया। तुरन्त ही उस ज़िले को सैन्य-पुलिस भेजी गई और ३६ घंटे तक प्रकटतः शान्ति रही। किन्तु २ अक्टूबर को ज़िले के अधिकांश भाग में फिर एक-साथ दंगे आरंभ हो गए और ६ दिन तक न्याय और व्यवस्था का अभाव रहा।"[१] ९ अक्टूबर को झगड़े गया ज़िले में भी फैल गए। बहुत-से उपद्रवियों को गिरफ़्तार किया गया। "भारत-सुरक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत बनाये हुए विशेष न्यायालयों में उन पर अभियोग चलाया गया और लगभग एक हज़ार आदमियों के दोष सिद्ध हुए और उनको विभिन्न अवधियों के लिए कारावास-दंड दिया गया।"[२]

आरा के इन उपद्रवों की सारे भारतीय समाचार-पत्रों ने तीव्र निन्दा की किंतु डा. रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है कि कुछ हिन्दू समाचार-पत्रों ने "सरकार के सिर दोष मढ़ने का प्रयत्न किया और अनभिज्ञ देहाती जनता की धर्मांधता की चर्चा नहीं की।"[३]

इस प्रकार २० अगस्त १९१७ की घोषणा के बाद, हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द के होते हुए भी, भारत में एक बहुत बड़ा सांप्रदायिक दंगा हुआ। और यह एक विचित्र बात है कि मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद भी देश में भीषण दंगे हुए। १८ सितम्बर १९१८ को यू. पी. के सहारनपुर ज़िले में, कटारपुर नामक गाँव में एक साम्प्रदायिक दंगा हुआ। गाय का बलिदान रोकने के प्रयत्न में हिन्दुओं द्वारा लगभग २० मुसलमान मारे गए। बहुत-से हिन्दू गिरफ़्तार किये गए और उन पर अभियोग चलाया गया। "१७५ अपराधी सिद्ध हुए.....; ८ को प्राणदण्ड दिया गया, १३५ को आजीवन देश-निर्वासन दण्ड दिया गया और २ को सात वर्ष का कठोर कारावास।"[४]

१. India in 1917-18, page 39.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४०।

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४०–४१।

४. Lovett: A History of the Indian Nationalist Movement, page 180.

इन दंगों के कारण हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की प्रबल परीक्षा हुई ; और यदि कुछ बाहरी कारण न होते, जिनके फलस्वरूप, मुसलमान ब्रिटिश सरकार[1] के विरुद्ध हो गए थे, तो वह ऐक्य समाप्त हो गया होता। अस्तु, महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रवादी नेताओं की 'ख़िलाफ़त' और तुर्किस्तान के संबंध में मुस्लिम माँगों के प्रति सहानुभूति के कारण साम्प्रदायिक ऐक्य दृढ़तर हुआ। राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए बहुत-से हिन्दुओं ने, 'ख़िलाफ़त' के प्रश्न और शान्ति-सम्मेलन में मुस्लिम-विरोधियों के प्रति संधि-शर्तों के संबंध में, मुसलमानों का पूर्ण समर्थन किया।

२.

हिन्दुओं के इस भाव ने हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द बनाये रखा। तथापि मॉण्ट-फ़ोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन से साम्प्रदायिक भावनाओं और भेदों को बढ़ावा मिला। १९१६–१७ में अ-ब्राह्मण आन्दोलन मद्रास में आरंभ हो गया था। डा. नैयर के योग्यतापूर्ण एवं आक्रामक नेतृत्व में उसने बड़ी शीघ्रता मे प्रगति की थी; उन लोगों की यह धारणा थी कि उनके आन्दोलन के प्रति सरकार की सहानुभूति थी। वस्तुतः राष्ट्रवादियों को इस बात का पूरा विश्वास था कि सरकारी प्रेरणा से ही सारे आन्दोलन का संगठन किया गया था और उसका उद्देश्य होमरूल आन्दोलन का विरोध करना था।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में बहुत समय से ब्राह्मणों की स्थिति बड़ी प्रभावपूर्ण और प्रतिष्ठित थी और मुख्यतः उन्हीं के हाथों में शक्ति केन्द्रित थी —किन्तु सम्पत्ति मुख्यतः अ-ब्राह्मणों के हाथों में थी। अपनी शक्ति, विद्या और श्रेष्ठता के अभिमान में ब्राह्मणों ने शताब्दियों से इतर जातियों के साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया था। यद्यपि कुछ प्रगतिशील ब्राह्मण समाज-सुधार के काम में लगे हुए थे और इतर

१. ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध तीखी भावनाओं की कलकत्ता के साम्प्रदायिक दंगों में अभिव्यक्ति हुई। ये दंगे ९ और १० सितम्बर १९१८ को हुए। सरकार ने मुस्लिम-सम्मेलन करने पर रोक लगा दी थी। उस सरकारी आज्ञा को रद्द कराने के लिए एक मुस्लिम-जलूस गवर्नमेण्ट हाऊस की तरफ़ जा रहा था। उसे रोकने के लिए पुलिस ने प्रयत्न किया और उसके फलस्वरूप उपद्रव आरंभ हो गया। जलूस को तितर-बितर करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी। अगले दिन स्थिति और ज़्यादा बिगड़ गई। मिल-मजदूरों ने उपद्रवियों का साथ दिया और एक फ़ोरमैन को बुरी तरह पीटा। लगभग दो हज़ार मुसलमानों ने कलकत्ता शहर में बलात् प्रवेश करने का प्रयत्न किया। इन लोगों को तितर-बितर करने के लिए फिर गोली चलानी पड़ी।

जातियों को ऊपर उठाने के लिए पूरा प्रयत्न कर रहे थे तथापि ब्राह्मणों और अ-ब्राह्मणों के संबंध बहुत असंतोषप्रद थे—एक ओर श्रेष्ठता का अभिमान था और दूसरी ओर आत्म-दैन्य था। लॉर्ड पैण्टलैण्ड की सरकार ने श्रीमती बीसेण्ट के भारतीय होमरूल के संगठित प्रचार का सामना करने के लिए, उस स्थिति का चतुरतापूर्वक उपयोग किया। १९१७-१८ में अ-ब्राह्मणों ने होमरूल की माँग के विरुद्ध प्रचार किया और जिसे वह 'ब्राह्मणराज्य' कहते थे उसे अस्तित्व में न आने देने के लिए, ब्रिटिश राज्य को बनाये रखने की माँग की। अ-ब्राह्मणों के पक्ष को व्यक्त करने के लिए और भारतीय हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण का विरोध करने के लिए, डा. नैयर इंग्लैण्ड गए।

मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट ने, पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र द्वारा अथवा संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में सुरक्षित स्थानों द्वारा अ-ब्राह्मणों को विशेष प्रतिनिधित्व देने की माँग को अस्वीकार किया क्योंकि अ-ब्राह्मण वर्ग प्रेसीडेन्सी में बहुसंख्यक थे। इसका अ-ब्राह्मणों ने, जो 'जस्टिस पार्टी' के रूप में संगठित थे, प्रबल विरोध किया। उन्होंने काफ़ी हलचल मचाई, जिसका परिणाम यह हुआ कि कुछ बहु-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों में सुरक्षित स्थान रखने की उनकी माँग को संयुक्त प्रवर समिति ने स्वीकार कर लिया।

३

मद्रास के अ-ब्राह्मणों की अपेक्षा पंजाब के सिक्खों का पक्ष कहीं-अधिक प्रबल था। वस्तुतः सिक्खों का ही एक ऐसा समुदाय था जिसके लिए मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के लेखकों ने पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की वही व्यवस्था अपनाने की आवश्यकता अनुभव की जो मुसलमानों के संबंध में अपनाई गई थी।

सन् १९१९ तक सिक्खों का कोई पृथक् राजनैतिक संगठन नहीं था। उस समय तक उन्होंने अपना ध्यान धार्मिक और सामाजिक सुधारों पर केन्द्रित किया था और इनके अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए प्रयत्न किया था। १८८८ में 'खालसा दीवान' नामक एक सुधार-संस्था लाहौर में स्थापित की गई थी—और उसकी सारे प्रान्त में 'सिंह सभा' नामक धार्मिक शाखाएँ थीं। खालसा दीवान का उद्देश्य, सिक्ख सम्प्रदाय से अंध-विश्वास और हिन्दू कर्मकाण्ड को दूर करना था और उनके स्थान पर सिक्ख रीतियों को प्रोत्साहन देना था। खालसा दीवान के प्रयत्नों का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि १८९२ में अमृतसर में खालसा-कॉलेज स्थापित किया गया। किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरंभ होने तक खालसा दीवान का संगठन मृतप्राय हो गया। दूसरी ओर, लगभग उसी समय अमृतसर में 'चीफ़ खालसा दीवान' नामक एक दूसरा केन्द्रीय संगठन अस्तित्व में

आया। यह दीवान अब भी वर्तमान है और महत्वपूर्ण शिक्षणात्मक कार्य कर रहा है। सन् १९०८ के बाद उसकी शिक्षण समिति ने प्रति वर्ष सिक्ख शिक्षणात्मक सम्मेलन का संगठन किया है और उसने प्रान्त में बहुत-सी शिक्षण संस्थाओं को बराबर आर्थिक अवलम्ब दिया है।

सिक्खों की धार्मिक, सामाजिक एवं शिक्षा संबंधी उन्नति को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त, इस दीवान ने सिक्ख समुदाय के राजनैतिक हितों पर भी ध्यान दिया है। दीवान की राजनैतिक नीति को कोई प्रबल समर्थन नहीं मिला है क्योंकि सिक्ख तरुण वर्ग की दृष्टि में वह नीति अत्यन्त नरम अथवा पिछड़ी हुई और सरकार के पक्ष में है। रिकाबगंज (नई दिल्ली) के गुरुद्वारे की दीवार पर झगड़े के संबंध में दीवान बहुत अप्रिय हो गया—क्योंकि सरकार के प्रति उसका भाव कठोर नहीं था। तथापि यह दीवान सिक्खों के राजनैतिक हितों का संरक्षण करता रहा और समय-समय पर आवश्यकतानुसार सरकार के समक्ष प्रतिनिधित्व करता रहा। मॉण्टेगु मिशन को उसने एक लिखित ज्ञापन दिया और एक शिष्ट-मंडल का संगठन किया, जिसने भारतमंत्री और वाइसरॉय से भेंट की।

सिक्ख ज्ञापन ने प्रान्त के राजनैतिक और आर्थिक[1] जीवन में सिक्खों की महत्वपूर्ण स्थिति पर ज़ोर दिया और महायुद्ध तथा व्युत्थान के समय में उनके महान् बलिदानों की ओर ध्यान आकर्षित किया। महायुद्ध के समय में पंजाब से कुल जितने सैनिक भर्ती किये गए थे, उनमें से एक तिहाई सिक्ख थे और साधारण समय में कुल भारतीय सेना में २० प्रतिशत सिक्ख सैनिक होते थे। इसके अतिरिक्त वे पंजाब के शासक रह चुके थे; और प्रान्त के कुलीन और प्रतिष्ठित ज़मींदार वर्ग में आधे से अधिक लोग सिक्ख थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रान्त के बहुसंख्यक समुदाय की अपेक्षा उन्होंने अधिक प्रगति की थी। इन तथ्यों के आधार पर ज्ञापन में यह माँग की गई कि पंजाब-परिषद् में उन्हें एक तिहाई प्रतिनिधित्व दिया जावे और सेवाओं में उन्हें उचित भाग दिया जावे।

मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट ने अनुपात के प्रश्न को नहीं छेड़ा किन्तु मुसलमानों के आधार पर सिक्खों की पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग को स्वीकार कर लिया। पंजाब सरकार ने सिक्खों को अधिक स्थान देने की माँग का समर्थन किया :—"प्रान्त में उनकी प्रभावशाली स्थिति कुछ हद तक ऐतिहासिक और राजनैतिक कारणों पर, कुछ हद तक उनकी सैन्य प्रतिष्ठा पर और कुछ हद तक केन्द्रीय ज़िलों तथा नहर-उपनिवेशों में उनके आर्थिक महत्व पर अवलम्बित है। उस स्थिति के कारण

१. पंजाब में सिक्खों की जनसंख्या कुल ११ प्रतिशत थी, किन्तु वे ४० प्रतिशत मालगुज़ारी और नहर की आबपाशी देते थे।

यह उचित ही है कि उनकी संख्या की ओर ध्यान देकर उन्हें काफ़ी प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिये।"[१] किन्तु पंजाब-परिषद् ने उनके विषय पर विचार करना अस्वीकार किया और एक प्रस्ताव द्वारा केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए 'कांग्रेस लीग योजना' के स्थान-विभाजन का अनुमोदन किया ; क्योंकि उस राष्ट्रीय समझौते में सिक्खों को कोई स्थान नहीं था। मताधिकार कमेटी ने सिक्खों को पंजाब-परिषद् में ५४ में से कुल ८ स्थान प्रदान किए जिसके कारण उनमें प्रबल असन्तोष हुआ और उन्होंने अपने हितों की रक्षा करने के लिए एक पृथक् राजनैतिक संस्था संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की। लायलपुर ज़िले के सिक्ख आगे बढ़े और उन्होंने अन्य ज़िलों के तरुण वर्ग के सहयोग से 'सिक्ख लीग' की स्थापना की। इस लीग का पहला अधिवेशन अमृतसर में कांग्रेस-सप्ताह में किया गया और उसके अध्यक्ष सरदार गज्जनसिंह थे जो पंजाब विधान-परिषद् के सदस्य थे। सिक्खों को जो प्रतिनिधित्व दिया गया था, लीग ने उसे अपर्याप्त बताया और पंजाब-परिषद् में एक तिहाई निर्वाचित तथा नामनिर्देशित स्थानों के लिए माँग की।

सिक्ख लीग और चीफ़ खालसा दीवान, सिक्खों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए हलचल करते रहे और उन्होंने भारत मंत्री तथा ब्रिटिश मंत्रिमंडल के सामने अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक शिष्टमंडल इंग्लैण्ड भेजा, किन्तु उसका कोई विशेष फल नहीं हुआ। अन्त में जो योजना स्वीकार की गई उसमें कुल ९३ निर्वाचित तथा नामनिर्देशित स्थानों में से सिक्खों को १२ स्थान दिये गए। निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ७१ थी जिसमें से ३२ मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों से, २० साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों से, ७ विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों से और १२ सिक्ख निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जाने थे।

४

सुधारों के प्रश्न ने साम्प्रदायिक भावना को केवल अ-ब्राह्मणों और सिक्खों में ही नहीं बढ़ाया वरन् यूरोपियनों, आंग्ल-भारतीयों और भारतीय ईसाइयों में भी बढ़ाया। "काफ़ी समय से ग़ैर-सरकारी अंग्रेज़-समुदाय भारतीय राजनीति में कोई खास दिलचस्पी नहीं लेता था। लगभग तीस वर्ष पहले इल्बर्ट बिल आन्दोलन के संबंध में जो यूरोपियन डिफ़ेंस एसोसियेशन स्थापित की गई थी, उसका प्रभाव बहुत घट गया था और उसकी संख्या बहुत कम हो गई थी।"[२] किन्तु सुधारों की नई नीति के कारण यूरोपीय समुदाय अपना संगठन दृढ़ करने की आवश्यकता अनुभव करने लगा।

१. The Gurudwara Reform Movement and the Sikh Awakening, page 75.

२. India in 1917-18, page 43.

सन् १९१३ में यूरोपियन डिफ़ेंस एसोसियेशन का नाम केवल 'यूरोपियन एसोसियेशन' हो गया था और १९१७ में उसे एक नए आधार पर संगठित करने का प्रयत्न किया गया। "सारे भारत में उसकी शाखाएँ बनाई गईं और कलकत्ता में एक नया केन्द्रीय संगठन स्थापित किया गया। अंग्रेज़ों के अधिकांश पत्रों का समर्थन पाकर, कुछ ही समय में उसकी सदस्यता ७०० अथवा ८०० से बढ़कर लगभग ८००० हो गई।"[1] जब मि. मॉण्टेगु भारत में आए तो यूरोपियन एसोसियेशन ने भारत मंत्री और वाइसरॉय के सामने अपने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। भारत पर सुधार लादने के परिणामों के संबंध में उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की और राजनैतिक प्रगति के सिलसिले में त्वरा की नीति का तीव्र विरोध किया। उसने ग़ैरसरकारी यूरोपीय समुदाय के हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व की माँग की। मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट ने पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिये यूरोपियनों की माँग को अस्वीकार किया किन्तु यूरोपीय हितों के संरक्षण के लिए सरकार को विशेष अधिकार देने की और साथ ही यूरोपीय वाणिज्य, उद्योग, खनिज तथा रोपक हितों को पूर्ण प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की। यूरोपियन एसोसियेशन इससे सन्तुष्ट नहीं हुई और उसने यूरोपीय व्यापारिक हितों को दिए हुए विशेष प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त, पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिये मताधिकार कमेटी के सामने अपना पक्ष प्रस्तुत किया। आंग्ल-भारतीयों और भारतीय ईसाइयों की माँगों को भी मॉण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट ने अस्वीकार कर दिया था; उन्होंने भी मताधिकार कमेटी के सामने अपना पक्ष प्रस्तुत किया। इन तीनों समुदायों की पृथक् प्रतिनिधित्व की माँगों को मताधिकार कमेटी और संयुक्त प्रवर समिति, दोनों ने स्वीकार किया और १९१९ के सुधारों में उनको (जिन प्रान्तों में उनकी काफ़ी संख्या थी) पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व दिया गया।

५.

यद्यपि सुधारों की नीति का भारत की यूरोपियन एसोसियेशन ने प्रबल विरोध किया है, किंतु वह इंग्लैंड की इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन के दृढ़ विरोध की तुलना में बहुत कम था। इस एसोसियेशन की २० अगस्त १९१७ की घोषणा के कुछ समय बाद ही लन्दन में स्थापना की गई थी और उस का उद्देश्य सरकार की नई नीति का विरोध करना और ब्रिटेन में भारत-विरोधी जनमत जागृत करना था। किंतु प्रकटतः उसका उद्देश्य "भारतीय जनता के ऐक्य और उसकी उन्नति" को प्रोत्साहन देना था। इस दिखावटी उद्देश्य की आलोचना करते हुए हिज़ हाईनेस महाराजा बीकानेर ने कहा:—"इस एसोसियेशन की व्यवस्था, उसके तर्क और

१. India in 1917-18, page 43.

विभिन्न कार्यों ने उसके प्रदर्शित उद्देश्य पर एक जाल डाल रखा है और हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ऐसे मित्रों से हमारी रक्षा हो।"[१]

इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन का संगठन कुछ निवृत्त आंग्ल-भारतीय अधिकारियों ने किया था; लॉर्ड सिडनहैम उनके नेता थे। मांटेगु मिशन के भारत पहुँचने के कुछ ही दिन पहले, ३० अक्तूबर १९१७ को उसका उद्घाटन हुआ। उसने आरम्भ में ही, भारतीय वाणिज्य से सम्बन्धित ब्रिटिश व्यापारियों के पास एक गुप्त पत्र भेजा और उनसे एसोसियेशन की निधि के लिए उदारतापूर्वक अंशदान देने के लिए कहा और उन्हें यह बताया कि उनका दान, "भारत में ब्रिटिश हितों के बीमे की भाँति होगा।" इस पत्र में अंग्रेजों के स्वार्थों और हितों को उकसाया गया। लन्दन में एक भारतीय पत्रकार की चतुराई से इस पत्र का प्रकाशन हो जाने पर एसोसियेशन का वास्तविक रूप प्रकट हो गया।

इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन ने ब्रिटेन में बड़े जोरों से भारत-विरोधी प्रचार किया और उसने इस बात का प्रयत्न किया कि भारत में यूरोपियन एसोसियेशन उसका अनुकरण करे। "आरम्भ से ही उसने समाचार-पत्र और पुस्तिकाओं द्वारा निरन्तर प्रचार किया है। उनका उद्देश्य भारत की स्थिति के बारे में साधारण आदमियों के मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना है। उनमें भारत के शिक्षित वर्गों का हर ढंग से अवमान किया जाता है····कभी (अंग्रेज) मजदूर के व्यक्तिगत और वर्ग हित को उभाड़ा जाता है और कभी भारतीय व्यापार में लगी हुई कम्पनियों के स्वार्थों को उकसाया जाता है।"[२] उसने, भारतीयों के विरोध में और साथ ही भारत में राजनैतिक सुधारों की नीति के विरोध में, जनमत जागृत करने के लिए, प्रत्येक अवसर से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उसने इंडियन सिडीशन कमेटी की जाँच का लाभ उठाने के लिए "भारत में खतरा:—राजद्रोह और हत्या" नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की। संभवतः इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं में यह सब से ज्यादा निन्दापूर्ण और अपभाषात्मक थी; किंतु इस ढंग की वह कोई अकेली पुस्तिका नहीं थी। सच यह है कि भारत के इन स्व-घोषित मित्रों और शुभचिन्तकों ने शिक्षित भारतीयों और इंग्लैंड में उनके समर्थकों को गाली देने में सभी सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था।

१. सेवाय होटल (लन्दन) के १२ मार्च १९१९ के व्याख्यान से उद्धृत—देखिये—
Indian Annual Register, 1919, page 83.

२. The Indian Annual Register 1919, page 83-84.

इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन ने मांटफ़ोर्ड-योजना का जब से उसका पहली बार विचार सूझा और जबतक वह कार्यान्वित की गई और उसके बाद भी, अत्यन्त प्रबल विरोध किया। इस एसोसियेशन के सदस्य भारत में स्वशासक संस्थाओं की वृद्धि के विचार से अपना मेल नहीं बिठा सके।

६.

अंगरेज़ों का एक वर्ग और था जो सुधारों की नीति का लगभग उतना ही कट्टर विरोधी था जितना कि इंडो-ब्रिटिश एसोसियेशन का अंगरेज़ समुदाय—और यह वर्ग था इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों का। इंग्लैंड में बसे हुए सिविल सर्विस के निवृत्त सदस्यों की भाँति, ये लोग वैसा ही सार्वजनिक प्रचार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे; किंतु अपनी स्थिति के अनुसार उन्होंने यथासंभव विरोध करने के लिए संगठन किया। मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के लेखकों ने उनका विरोध दूर करने के लिए और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए पूरा प्रयत्न किया था; और उन्होंने लिखा भी था:—"यह कहना अपवादपूर्ण है कि इंडियन सिविल सर्विस ने एक निकाय के रूप में पिछले अगस्त में प्रकट की हुई नीति का प्रतिरोध किया है अथवा वह भविष्य में प्रतिरोध करेगा। उन्होंने उसका स्वागत किया है क्योंकि इस बात को उनसे ज़्यादा अच्छी तरह और कोई नहीं जानता कि नीति घोषित करने की कितनी भारी आवश्यकता थी और वे उस नीति को दृढ़ निश्चय के साथ ठीक उसी तरह कार्यान्वित करेंगे जैसे कि उन्होंने सदैव अपने लिए निर्धारित अन्य नीतियों को कार्यान्वित किया है।"[1]

यह सच है कि अन्त में भारतीय सिविल सर्विस के अधिकांश सदस्यों ने १९१९ के सुधारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया; किन्तु मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन के कुछ ही समय बाद उन्होंने प्रस्तावों का विरोध करने के लिए और इस वक्तव्य का खण्डन करनेके लिए कि उन्होंने सुधारों का स्वागत किया है, अपना संगठन किया। मद्रास की इंडियन सिविल सर्विस एसोसियेशन ने भारत मंत्री के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक ज्ञापन का मसविदा तैयार किया और उसमें कहा गया:—"अब हम ब्रिटिश भारत के प्रशासन से संबंधित योजना और प्रस्तावों की आलोचना नहीं करना चाहते; किन्तु इस विषय पर हम यह कहना उचित और वांछनीय समझते हैं कि अंगरेज़ी समाचार-पत्रों में जो यह संकेत किया गया है कि सिविल सर्विस का सारा समुदाय प्रस्तावित योजना का केवल अनुमोदन ही नहीं करता वरन् स्वागत भी करता है, वह ग़लत है।"[2]

---

१. The Report on Indian Constitutional Reforms 1918, pages 206-207

२. The Indian Annual Register, 1920, page 213.

१९१८ में देश में कई आई० सी० एस० संस्थाओं का संगठन किया गया। एक की बिहार में स्थापना की गई, दूसरी की मद्रास में और तीसरी बंगाल में स्थापित होनी थी किन्तु उसके विचार को रूप नहीं मिला। बिहार एसोसियेशन ने अपने सदस्यों के पास एक गुप्त पत्र भेजा था जो किसी तरह से पटना के 'सर्चलाइट' के हाथों में पड़ गया और उसमें २० दिसम्बर १९१८ को प्रकाशित किया गया। ऐसा ही एक गुप्त पत्र मद्रास आई० सी० एस० एसोसियेशन के कार्यवाह ने सिविल सर्विस के ब्रिटिश सदस्यों के पास भेजा था। उसकी एक प्रति मद्रास के 'न्यू इंडिया' ने किसी तरह प्राप्त कर ली और वह पत्र उसमें ११ जनवरी १९१९ को प्रकाशित किया गया।

मद्रास के पत्र में भारत मंत्री के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले एक ज्ञापन का मसविदा था। सिविल सर्विस के एक सदस्य ने, जिसके पास वह हस्ताक्षर के लिए भेजा गया था, उस पत्र के बारे में यह कहा:—"इसमें मादकता की एक उग्र मात्रा दी गई है। सारा पत्र राजनैतिक वक्रोक्ति से परिपूर्ण है; उसकी विद्रोहपूर्ण भाषा में प्रतीप है।"[1]

मद्रास के पत्र से भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों में बड़ी हलचल हुई और इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों के मनोभाव और कार्यों की निन्दा करने के लिए देश के विभिन्न भागों में सार्वजनिक सभाएँ की गईं।

सिविल सर्विस द्वारा मॉण्टफ़ोर्ड-प्रस्तावों का विरोध, अविवेकपूर्ण और असंयमित था; किन्तु साथ ही वह स्वाभाविक भी था। पिछली कई पीढ़ियों से देश के शासन में सिविल सर्विस के सदस्यों की स्थिति अत्यन्त शक्तिशाली और विशेषाधिकारपूर्ण थी। अचानक ही उन सदस्यों को भविष्य में अपनी अधयस्थ स्थिति का चित्र दिखाई दिया। वे आपे से बाहर हो गए और अपनी निराशा में उन्हें जो कुछ सूझ पड़ा, वही करने लगे। मद्रास और बिहार के पत्रों से उनकी चिंता और घबराहट व्यक्त होती है। उनसे यह भी प्रकट होता है कि सिविल सर्विस के सदस्य मुख्यत: स्वार्थी भावनाओं से प्रवृत्त थे। अस्तु, भारत सरकार को बड़ी घबराहट हुई और वाइसरॉय ने सिविल सर्विस को प्रसन्न करने के लिए उनके गुण गाने आरम्भ कर दिए और उनके आर्थिक तथा राजनैतिक हितों के पूर्ण संरक्षण के लिए दृढ़ आश्वासन दिया।[2] किन्तु लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड के व्याख्यान से भारतीय जनमत के नेताओं में फिर रोष छा गया। उस व्याख्यान का अर्थ था प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय। उसने एक ओर ऊँची नौकरियों के विद्रोही सदस्यों को

१. The Indian Annual Register, 1920, Page 221.

२. ६ फर्वरी १९१९ को भारतीय विधान-परिषद् में लॉर्ड चेम्सफोर्ड का व्याख्यान

धमकी दी थी और दूसरी ओर रालेट कमेटी द्वारा प्रस्तावित दमनकारी विधान बनाने के लिए सरकारी निश्चय को प्रकट किया था। वस्तुतः वाइसरॉय के व्याख्यान के बाद तुरंत ही गृह-सदस्य ने भारतीय विधान-परिषद् में उन विधेयकों को जो 'काले कानून' के नाम से प्रसिद्ध हुए, प्रस्तुत किया। सरकार की इस दोहरी असन्तोषप्रद नीति ने सार्वजनिक भावनाओं को अत्यन्त तीखा कर दिया और उसके फलस्वरूप देश में एक ऐसी ज़बर्दस्त हलचल हुई जैसी पहले कभी नहीं हुई थी।

७.

इस प्रकार २० अगस्त १९१७ की घोषणा और मॉण्टफोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन से भारत के राजनीतिक मतभेद फिर आरंभ हुए। १९१७-१८ में विभिन्न सामुदायिक संस्थाओं ने ही अपना फिर से संगठन नहीं किया वरन् कांग्रेस में दुबारा फट पड़ी और (१९०७ के विपरीत) इस बार अलग होने वालों ने अपना पृथक् राजनैतिक संगठन बनाया और उस अखिल भारतीय संस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय शाखाएँ बनाईं और इस प्रकार दोनों पक्षों में फिर से ऐक्य होना लगभग असंभव होगया।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है मि. मॉण्टेगु के भारत आने का एक उद्देश्य यह भी था कि वे भारत में एक मॉडरेट पार्टी स्थापित करना चाहते थे जो उनकी सुधार-योजना को अपना समर्थन दे और बाद में उसे कार्यान्वित भी करे। भारत से वापिस जाने से पहले बंगाल के कुछ नेताओं के साथ इस संबंध में उनका समझौता हो गया था। और मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन से कुछ समय पहले बंगाल में 'नेशनल लिबरल लीग' की स्थापना हो गई थी। भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट प्रकाशित होने के दो दिन बाद श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में इंडियन एसोसियेशन की सभा की और उसमें मॉण्टफ़ोर्ड-प्रस्तावों का अनुमोदन किया गया। अगस्त १९१८ में नेशनल लिबरल लीग ने राजा प्यारे मोहन बनर्जी की अध्यक्षता में बंगाल के मध्यम पक्ष का पहला सम्मेलन किया। राजा साहब बहुत पिछड़े हुए विचारों के आदमी थे और उन्होंने मॉण्टफ़ोर्ड-योजना का केवल हार्दिक समर्थन ही नहीं किया वरन् भारत में उत्तरदायी शासन आरंभ करने की कठिनाइयों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। "भारत में अस्सी जातियाँ हैं, उनकी इतनी ही विभिन्न भाषाएँ हैं और वे विभिन्न प्रकार के सैंकड़ों धर्मों का अनुसरण करती हैं। उनमें कोई ऐक्य और सुदृढ़ता नहीं है।"[1] उन्होंने व्याख्यान के अन्त में कहा:—अधिकारियों के राज्य के स्थान पर लोकप्रिय

१. The Indian Annual Register, 1919, part IV, page 150.

राज्य स्थापित करने के संक्रमण काल में जो संकट उपस्थित होते हैं; उनसे सभी समझदार आदमी स्वाभाविक रूप से डरते हैं। जिस योजना को रिपोर्ट में रूप दिया गया है उससे स्वशासन की दिशा में काफ़ी प्रगति होगी और हम उसका स्वागत करते हैं।"[१] सम्मेलन ने एक लम्बे प्रस्ताव द्वारा मि. मॉण्टेगु और लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद दिया और इस बात को स्वीकार किया कि मॉण्टफ़ोर्ड-प्रस्तावों से उत्तरदायी शासन की दिशा में काफ़ी प्रगति होगी। योजना के साधारण सिद्धान्तों का प्रस्ताव में स्वागत किया गया और साथ ही यह कहा गया "कि सार्वजनिक निकायों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए उसमें उपयुक्त संशोधन कर लिया जाय।"[२]

मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट के प्रकाशन के कुछ ही समय बाद बम्बई के नौ मध्यमदली नेताओं ने एक ज्ञापन निकाला और उसमें सुधार-योजना के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। वस्तुतः सारे देश के मध्यमदली नेताओं के विचार एक-से थे—उन्हें रिपोर्ट के लेखकों की सचाई, सहानुभूति और उनके सदुद्देश्यों पर पूरा विश्वास था; उनके अनुसार प्रस्ताव प्रगतिशील और तात्विक थे। किन्तु उन्होंने भारत सरकार के संबंध में योजना में सुधार करने के लिए कुछ सुझाव भी दिए।

कांग्रेस के वाम-पक्षी नेता दो वर्गों में बँटे हुए थे। उग्र वर्ग में होमरूल आन्दोलन के प्रगतिशील समर्थक थे। उनके अनुसार प्रस्तावित योजना, "भारतीय जनता के प्रति अविश्वास पर अवलम्बित थी और सिद्धान्त तथा रूपरेखा में इतनी ग़लत थी कि उसमें संशोधन करना अथवा उसको सुधारना असंभव था।"[२] दूसरी ओर उस केन्द्रीय वर्ग के अनुसार जो क्रमशः कांग्रेस मंच पर अधिकाधिक प्रमुख स्थान पाता गया, प्रस्तावित योजना असन्तोषप्रद और अमान्य थी किन्तु काफ़ी बड़े संशोधन के बाद वह स्वीकार की जा सकती थी।

किन्तु कांग्रेस के केन्द्रीय वर्ग और मॉडरेटों की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर था—एक की दृष्टि में मॉण्टफ़ोर्ड-प्रस्ताव असन्तोषप्रद और निराशाजनक थे और दूसरे की दृष्टि में वे प्रगतिशील और तात्विक थे। तथापि (और यह बात विचित्र प्रतीत होगी कि) यह अन्तर शाब्दिक था, वास्तविक नहीं; दोनों में केवल दृष्टिकोण का अन्तर था, तत्व का नहीं। दोनों वर्गों ने संशोधन के लिए जो सुझाव दिए[३]

---

१. The Indian Annual Register, IV, page 151.

२. Home Rules' Manifesto, July 8, 1918, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ११९.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५५ से ६५ तक.

उनमें बहुत बड़ा एक-सा-पन था। दोनों वर्ग केन्द्रीय शासन में उत्तरदायित्व का अंश चाहते थे। दोनों ही, प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का क्षेत्र विस्तृत करना चाहते थे और प्रान्तीय अध्यक्षों के अधिकार कम करना चाहते थे। दोनों ने, भारत-परिषद् तोड़ने की ओर भारत सरकार पर नियंत्रण कम करने की माँग की। ऐसी परिस्थितियों में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मॉडरेटों ने कांग्रेस के विशेष अधिवेशन से अलग रहने का निर्णय न किया होता, तो मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों के प्रश्न पर कांग्रेस में फूट न पड़ी होती। किन्तु मॉडरेट नेताओं ने अलग होने का और सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए अपना स्वतंत्र दल बनाने का पहले से निश्चय कर लिया था।

मॉडरेटों के अलग होने की इस नीति के क्या कारण थे? मेरे मत से उसके लिए तीन बातें मुख्यतः उत्तरदायी थीं।

पहला महत्त्वपूर्ण कारण, मॉडरेटों का यह विश्वास था कि कांग्रेस में होम रूल के समर्थकों की प्रधानता थी जिन्होंने अपने आप को मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों का कट्टर विरोधी प्रकट कर दिया था। उन्हें इस बात का डर था कि कांग्रेस मॉण्टफ़ोर्ड सुधारों को विना अधिक विचार किए ही ठुकरा देगी और इस प्रकार उनकी स्थिति बड़ी भद्दी हो जायगी। अतः उन्होंने कांग्रेस के (अगस्त १९१८ के) विशेष अधिवेशन में सम्मिलित न होने का निश्चय किया।

यह सच है कि श्री तिलक, श्रीमती बीसेण्ट और अन्य कांग्रेस-नेताओं ने आरंभ में जो विचार प्रकट किए थे, वे असंधेय थे।[१] किन्तु कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के समय तक उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था और श्री तिलक, श्रीमती बीसेण्ट और पण्डित मदन मोहन मालवीय जैसे विवेकपूर्ण नेतागण, मॉडरेटों को कांग्रेस की परिधि में रखने के महत्व को अनुभव करने लगे थे। इसी कारण से कांग्रेस की विषय-समिति ने सुधारों के संबंध में एक संधेय प्रस्ताव अपनाया।

---

१. "श्री तिलक ने मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट को सूर्यहीन प्रभात बताया। श्रीमती बीसेंट के अनुसार ····· इंगलैण्ड और भारत दोनों ही के लिए अशोभनीय थे। माननीय श्री पटेल के अनुसार रिपोर्ट ने कुछ हद तक प्रतिगामी प्रस्ताव किए थे। श्री केलकर के अनुसार प्रस्ताव क्रूर रूप से निराशाजनक थे। ···· प्रो. जितेन्द्रलाल बनर्जी के अनुसार सुधार, अनुदार, अधकचरे, अपर्याप्त और इसी कारण निराशाजनक और निष्फल थे। डा. सुब्रह्मण्य ऐयर ने अपने देशवासियों को यह सलाह दी कि उन्हें जो अफ़ीम दी जा रही थी वे उसका स्पर्श भी न करें।" Athalye : The Life of Lokmanya Tilak, page 251-52 से अनूदित.

कांग्रेस के खुले अधिवेशन में श्री तिलक ने कहा:- "हमने विषय समिति में कई पक्षों में मेल कराने का प्रयत्न किया है। ..... हमसे कहा गया था कि कांग्रेस सारी योजना को ठुकरा देगी। मैं नहीं समझ सका कि उस कथन का क्या अर्थ है....। सबके सौभाग्य से हम एक तर्कपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें एक पक्ष का विवेक है, दूसरे पक्ष का संयम है और (आप चाहें तो यह कह सकते हैं कि उसमें) तीसरे पक्ष का आवेश है।" "मॉण्टेगु-रिपोर्ट एक सुन्दर, अत्यन्त चतुरता-पूर्ण और कूटनीतियुक्त लेख्य है। हमने आठ आने भर स्वशासन माँगा था, रिपोर्ट ने हमको एक आना भर उत्तरदायी शासन दिया है और हम को यह समझाया है कि वह आठ आने भर स्वशासन से ज्यादा अच्छा है। .... अब हम सरकार से स्पष्ट कहना चाहते हैं कि हम आपको एक आना भर उत्तरदायी शासन के लिए धन्यवाद देते हैं किंतु उस योजना में हम रूप देना चाहते हैं, उन सारी बातों को नहीं जिन्हें 'कांग्रेस लीग योजना' में रूप दिया गया है—पटरियाँ भिन्न हो सकती हैं किंतु यात्रियों का परिवहन करने वाली गाड़ियों को एक पटरी से दूसरी पटरी पर अन्तरित किया जा सकता है। यही करके हमने सारे संबंधित पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार एक अत्यन्त कठिन काम पूरा हो गया है।"[१]

वस्तुतः कांग्रेस के विशेष अधिवेशन पर मॉण्टफ़ोर्ड-सुधारों से संबंधित प्रस्ताव इतना संधेय था कि उसके कारण कुछ मॉडरेट नेताओं ने यह अनुभव किया कि कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित न होकर उन्होंने एक भूल की—और उनमें से कुछ लोग दिल्ली में दिसम्बर १९१८ के वार्षिक कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित भी हुए।

किंतु अधिकांश 'मॉडरेट' एक पृथक् मॉडरेट अथवा लिबरल पार्टी बनाने के अपने निश्चय पर जमे रहे और उन्होंने नवम्बर १९१८ में सुधारों पर अपने विचार प्रकट करने के लिए बम्बई में मॉडरेट सम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन किया।

कांग्रेस से मॉडरेटों के अलग होने का दूसरा कारण मनोवैज्ञानिक था। सुरेंद्र-नाथ बनर्जी और दिनशॉ वाचा जैसे व्यक्ति जो देशसेवा में वृद्ध हो गए थे और जिनको इतने त्वरित राजनैतिक विकास की आशा नहीं थी, उत्तरदायी शासन आरंभ करने की चर्चा के आगे झुक गए। उन्होंने वस्तुतः बहुत समय से प्रतीक्षा की थी और अब वे अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे—उनकी ओर मित्रता का जो हाथ बढ़ाया गया था उसे उन्होंने लपककर पकड़ लिया। कुछ 'मॉडरेट' आयु और कटु अनुभव के कारण पिछड़ गए थे, और वे तीव्र प्रगति से भयभीत थे। अपने

१. Athalye: The Life of Lokmanya Tilak, pages 253-255.

देशवासियों की त्रुटियों और दुर्बलताओं से वे भली-भाँति परिचित थे और धीरे-धीरे ही आगे बढ़ना चाहते थे।

तीसरा कारण संभवतः अधिक महत्वपूर्ण था। मॉडरेट नेतागण मि. मॉण्टेगु की सचाई से प्रभावित हुए थे और उन्हें उनके सदुद्देश्य पर पूरा विश्वास था। उनके मतानुसार शासकों के दृष्टिकोण में वास्तविक परिवर्तन हुआ था जिसके कारण भारतीय नेताओं के मनोभावों में परिवर्तन होना आवश्यक था। उन्हें यह देख कर दुःख होता था कि कांग्रेसी नेतागण इस परिवर्तन की ओर ध्यान नहीं दे रहे थे "जो सरकार की नीति और भावना में हुआ था" और बदली हुई परिस्थितियों में भी विरोध की नीति पर जमे हुए थे।[1] यही बात बम्बई में पहले अखिल-भारतीय मॉडरेट सम्मेलन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सभापति के पद से अपने भाषण में व्यक्त की। मॉडरेट नेताओं को इस बात का डर था कि यदि उन्होंने मि. मॉण्टेगु के पक्ष को अपने समर्थन से दृढ़ नहीं किया तो प्रतिक्रियावादी और उग्र शक्तियाँ उनके वश में नहीं आयँगी और इस प्रकार उन्हें जो सुअवसर प्राप्त हुआ था वह हाथ से निकल जाएगा। इसी कारण, जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, उनमें से कुछ नेताओं ने मि. माण्टेगु के कहने पर एक पृथक् मॉडरेट पार्टी बनाने का निश्चय कर लिया था। कुछ मॉडरेट नेतागण हृदय से यह विश्वास करते थे कि राष्ट्रीय नीति को नया रूप देने की आवश्यकता थी। आलोचना और विरोध का समय बीत गया था और सहयोग तथा रचनात्मक काम करने का समय आ गया था। उनके मतानुसार उत्तरदायी शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए, एक नए वैधानिक दल की अविलम्ब स्थापना करने की आवश्यकता थी।

उपर्युक्त कारणों से 'मॉडरेट' १९१८ में कांग्रेस से अलग हो गए। इनमें एक कारण और जुड़ गया—और वह था दिल्ली-अधिवेशन में साथ ही सारे देश में उग्रपक्ष का नया रूप।

मॉडरेटों को अपने साथ रखने की वांछनीयता के कारण विशेष अधिवेशन में उग्र पक्ष ने अपने आपको रोक रखा था किन्तु जब एक बार मॉडरेटों ने निश्चित रूप से नाता तोड़ दिया और अपना पृथक् अखिल भारतीय सम्मेलन किया तो उग्र पक्ष के लोगों को नियंत्रण में रखना असंभव हो गया। दिल्ली-अधिवेशन में—अध्यक्ष पं० मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न करने पर भी—मिस्टर श्रीनिवास शास्त्री जैसे मॉडरेट नेताओं को अपनी पूरी बात कहने का अवसर नहीं दिया गया; उपस्थित लोग उनकी बातों को शांति और ध्यान के साथ सुनने को तैयार नहीं थे। कांग्रेस ने एक अधिक उग्र प्रस्ताव अपनाया और प्रान्तों में पूर्ण स्वशासन की माँग की। बहुत-से वक्ताओं ने मॉडरेट नीति की तीव्र आलोचना की। उनका

१. Indian Annual Register, 1919, Part V, page 47.

सबसे ज्यादा रोष श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर था जिन्होंने दिसम्बर १९१७ तक 'कांग्रेस लीग योजना' का समर्थन किया था और जो एक नियत अवधि के अन्दर स्वशासन के लिए माँग करते रहे थे ।

देश में मॉडरेटों की स्थिति और भी ज्यादा खराब थी; देश के लोगों ने उनकी निन्दा की और उनको विश्वासघाती तथा पद-लोलुप बताया । अगले कुछ वर्षों में, आम जनता में, वे बहुत अप्रिय हो गए—सार्वजनिक सभाओं में उनके व्याख्यानों में विघ्न डाला जाता और बीच में बड़ा शोर मचाया जाता । इस प्रकार कांग्रेस और मॉडरेटों के बीच की खाई, पक्की और स्थायी हो गई । और जब पं. मोती लाल नेहरू ने पंजाब की दु:खद घटनाओं की पृष्ठभूमि में—जिनके सम्बन्ध में 'मॉडरेटों' और कांग्रेसियों में लगभग कोई मतभेद नहीं था—उन्हें अमृतसर-अधिवेशन के लिए आमंत्रित किया तो उन्होंने उसमें सम्मिलित होने से इंकार कर दिया ।

१९१९ के आरम्भ में होम रूल के समर्थकों में भी फूट पड़ गई । उस समय तक श्रीमती बीसेंट बहुत हद तक 'मॉडरेट' हो गई थी । महात्मा गांधी ने रालेट विधेयकों के कानून बनाए जाने की दशा में सत्याग्रह करने का प्रस्ताव किया था । श्रीमती बीसेंट उस प्रस्ताव के विरोध में थीं । और उसी बात पर विच्छेद हुआ । उन्हें इंडियन होमरूल लीग के अध्यक्ष पद से हटा दिया गया किंतु उनके व्यक्तिगत समर्थकों ने उन्हें राष्ट्रीय होमरूल लीग का अध्यक्ष चुन दिया ।

८.

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इस बात का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उचित होगा कि मॉण्टफोर्ड-रिपोर्ट के सम्बन्ध में भारतीय विधान-परिषद् के ग़ैरसरकारी सदस्यों की क्या स्थिति थी । सर्वोच्च विधान-मंडल में 'मॉडरेट' बहुमत में थे—कांग्रेस के वामपक्ष के केवल दो सदस्य (मि. पटेल और मि. खापड) थे और कांग्रेस के केन्द्रीय वर्ग के केवल तीन सदस्य (मि. जिन्ना, पं. मालवीय और मि. मजरूल हक) थे—शेष २२ निर्वाचित और पाँच नाम-निर्देशित ग़ैर-सरकारी सदस्य मध्यम पक्ष और पिछड़े हुए विचारों के व्यक्ति थे । ऐसी दशा में मॉडरेटों के नेता द्वारा प्रस्तुत किए हुए प्रस्ताव का फल पहले से निश्चित था ।

६ सितम्बर १९१८ को श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारतीय विधान-परिषद् में निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किया:—

"(१) यह परिषद्, महामहिम वाइसराय और भारत मन्त्री को सुधारों से सम्बन्धित प्रस्तावों के लिए धन्यवाद देती है और उन्हें भारत में उत्तरदायी शासन की प्राप्ति की दिशा में निश्चित प्रगति और वास्तविक प्रयत्न के रूप में स्वीकार करती है ।

(२) यह परिषद्, सपरिषद् गवर्नर-जनरल से इस बात की सिफारिश करती है कि इस परिषद् के सारे ग़ैर-सरकारी सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की जाय जो सुधारों की रिपोर्ट पर विचार करे और उसके सम्बन्ध में भारत सरकार से अपनी सिफ़ारिशें करे।"[१]

प्रस्ताव के पहले भाग का मि. पटेल और मि. खापर्डे ने विरोध किया और उसकी पं. मालवीय और मि. जिन्ना ने तीव्र आलोचना की। दूसरे भाग का सारे भारतीय सदस्यों ने समर्थन किया। वाणिज्य-मंडल के दो यूरोपीय प्रतिनिधियों ने उसका विरोध किया। किंतु जैसा कि प्रत्याशित था, प्रस्ताव के दोनों भागों का ग़ैर-सरकारी बहुमत से पारण हुआ और मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट पर विचार करने के लिए परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्यों की एक कमेटी बनी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उसके अध्यक्ष हुए और श्रीनिवास शास्त्री उसके कार्यवाहक हुए। कुछ समय बाद कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं:—"मैं उसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। यद्यपि योजना में निश्चित प्रगति थी किंतु वह हमारी आशाओं की दृष्टि से कम थी। एक विषय के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से स्पष्ट थी, केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायित्व प्रदान करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी और इसी बात पर हमने अपनी रिपोर्ट में और संयुक्त-प्रवर-समिति के सामने अपनी गवाही और अपने प्रतिनिधित्व में खास तौर पर ज़ोर दिया।"[२] जैसा कि मि. रशब्रुक विलियम्स ने कहा है, "कमेटी के काम का वास्तविक महत्त्व इस तथ्य में निहित था कि भारतीय विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्यों के 'मॉडरेट' पक्ष ने माण्टेगु-चेम्सफोर्ड योजना को भारत के भावी वैधानिक विकास का आधार मान लिया था।"[३]

बाईसवाँ अध्याय

अमृतसर का हत्याकाण्ड

१

सन् १९१९, ब्रिटिश-भारतीय इतिहास के अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्षों में से एक है। सन् १८५७ के बाद, १९१९ में पहली बार, भारत में ब्रिटिश सत्ता को राष्ट्रीय परिमाण पर फिर चुनौती दी गई और ब्रिटिश अधिकारियों ने देश में ब्रिटिश

१. Bannerjee: A Nation in the Making, page 310.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१४।
३. India in 1917-18, page 60.

प्रतिष्ठा फिर से जमाने के लिए अत्यन्त भीषण उपायों से काम लिया। लोगों के हृदय में आतंक जमाने के लिए एक ब्रिटिश जनरल ने सहस्रों एकत्र शान्तिपूर्ण नागरिकों पर उस समय तक गोली चलाने के लिए अपने सैनिकों को आज्ञा दी जब तक कि उनकी गोलियाँ ही समाप्त न हो जायँ। ये लोग एक घेरे में फँसे हुए थे और उससे बाहर निकलने का केवल एक ही संकरा मार्ग था जिधर से कि गोलियाँ चलाई जा रही थीं। इस भीषण हत्याकाण्ड के फलस्वरूप सिक्खों के धार्मिक केन्द्र (अमृतसर) के जलियाँवाला बाग में कई सौ आदमी मार गए और कई सौ आदमी घायल हुए। प्रान्त के पाँच ज़िलों में फ़ौजी क़ानून घोषित कर दिया गया। लोगों को आतंकित करने के लिए दो बार हवाई जहाज़ों को काम में लाया गया ; और ब्रिटिश अधिकारियों ने फ़ौजी क़ानून को पूर्ण बर्बरता के साथ लागू किया। तथापि, उसी वर्ष प्रान्तों में उत्तरदायी शासन आरंभ करने के उद्देश्य से गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया ऐक्ट, १९१९, का पारण हुआ।

किन्तु सन् १९१९ में ही स्थायी महत्व की दो घटनाएँ और हुईं—(१) महात्मा गांधी ने देश के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और वे तुरन्त ही अखिल भारतीय नेता हो गए ; और (२) अन्यायों और परिवादों को दूर करने के लिए लोगों को सार्वजनिक सत्याग्रह का पाठ पढ़ाया गया।

२

इस प्रकार सन् १९१९ में भारत में, विशेषकर पंजाब में, ज़बर्दस्त राजनैतिक उथल-पुथल हुई। इस दुःखद परिस्थिति के लिए कई बातें उत्तरदायी थीं किन्तु उन सबको तीन मुख्य—आर्थिक, प्राकृतिक और राजनैतिक शीर्षकों में बाँटा जा सकता है।

यूरोपीय महायुद्ध को जीतने के लिए भारत ने जन, धन और सामग्री के रूप में जो महान् सहायता की थी उसे पर्याप्त रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु इस बात की बहुत कम लोगों को जानकारी है कि युद्ध के कारण भारतीय जनता को भयंकर कष्ट उठाने पड़े थे।

जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो उस समय भारत की वित्तीय स्थिति बहुत अच्छी थी और पहले डेढ़ वर्षों में सरकार को कर बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं अनुभव हुई ; किन्तु १९१६ में २६ लाख पौंड के घाटे को पूरा करने के लिए सीमा शुल्क बढ़ाने पड़े। यह वृद्धि सूती माल पर नहीं की गई और विदेशों से आने वाले तथा भारत में बने हुए कपड़े पर ३½ प्रतिशत का शुल्क यथावत् रखा गया। युद्ध के दिनों में पुराने विवाद से बचने के उद्देश्य से भारत-मंत्री की आज्ञा पर ही सूती माल को छूट दी गई। किन्तु अगले वर्ष और ज्यादा टैक्स बढ़ाने की आवश्यकता

हुई—क्योंकि विदेशों में भारतीय सेनाओं के व्यय के अतिरिक्त, भारत सरकार ने ब्रिटिश राज्यकोष को १० करोड़ पौंड की सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की। यह परिमाण मुख्यतः ऋण के रूप में उगाहा गया; किन्तु "पारिणायिक आवर्तक व्यय चलाने के लिए अतिरिक्त कर लगाने की आवश्यकता हुई। साधारण आय-कर की अनुपूर्ति अति-कर द्वारा की गई। रेलों पर माल का किराया बढ़ाया गया; जूट और जूट के माल पर निर्यात-कर दूना कर दिया गया।"[1] किन्तु इतने पर भी राजस्व को बढ़ाने की आवश्यकता थी और भारत सरकार ने फिर इस बात का प्रस्ताव किया कि सूती माल पर सीमाशुल्क ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत से बढ़ाकर ७ प्रतिशत कर दिया जाय और उत्पादन-कर को यथावत् रखा जाय। इस बार भारत-मंत्री के लिए इंकार करना असंभव हो गया क्योंकि हाऊस ऑव कॉमन्स में जैसा कि स्वयं उन्होंने अपने बचाव में कहा कि ब्रिटेन के लिए यह एक अशोभनीय और अकृतज्ञता-पूर्ण बात थी कि वह १० करोड़ पौंड का दान स्वीकार करे और दूसरी ओर भारत को अपना राजस्व बढ़ाने के लिए अनुमति न दे।

इस प्रकार १० करोड़ पौंड के दान से लोगों पर बहुत भारी आर्थिक दबाव पड़ा और टैक्स बहुत ज़्यादा बढ़ गए किन्तु साथ ही भारत के प्रति कई दशाब्दियों से जो अन्याय हो रहा था, उसका अन्त हो गया। अस्तु कर-भार बढ़ता गया और मार्च १९१९ तक वह इतना अधिक हो गया कि लोग सार्वजनिक रूप से उसके विरुद्ध आवाज़ उठाने लगे और उस बोझ को हलका करने की माँग करने लगे।

किन्तु कर-वृद्धि से भी अधिक महत्व की बात यह थी कि देश में चीज़ों के दाम बहुत बढ़ गए थे—दामों की यह वृद्धि यूरोपीय देशों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। "नाज के दामों में औसत से ९३ प्रतिशत वृद्धि हुई थी.......विदेशों से आने वाले कपड़े में १९० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और भारत में बने हुए कपड़े के दामों में यह वृद्धि ६० प्रतिशत से कुछ अधिक थी।"[2] नमक, मिट्टी का तेल, कपड़ा आदि साधारण उपयोग की चीज़ें, नौभार में कमी के कारण, बाज़ार में कठिनाई से मिलती थीं। उपलब्ध सामान पर बड़े व्यापारियों के सट्टे और नियन्त्रण के कारण स्थिति और भी ज़्यादा बिगड़ गई थी। इसके अतिरिक्त देश में काग़ज़ी द्रव्य बहुत ज़्यादा बढ़ गया था। युद्ध के कारण भारत सरकार को अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही काग़ज़ी द्रव्य की व्यवस्था नहीं करनी थी वरन् उसे ग्रेट ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों की ओर से जो क्रय होता था उसका भी खर्च संभालना था। इसका फल यह हुआ कि भारत प्रचलन संबंधी अत्यन्त जटिल

१. Shah : History of Indian Tariffs, page 329.
२. India in 1919, page 63.

स्थिति में फँस गया और उसकी युद्ध-विजय के सिलसिले में भारत के बलिदानों में गणना की जा सकती है ।"[१]

आर्थिक जीवन की अव्यवस्था और दैनिक उपयोग की चीज़ों की कमी और उनके बढ़े हुए दामों के कारण भारत में, शहर और गाँव दोनों स्थानों में, असाधारण कष्ट हुए और उसके कारण देश में अशान्ति बढ़ी । औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों की हड़ताल एक साधारण बात हो गई और देश के विभिन्न भागों में कष्टापन्न लोगों ने बाज़ारों को लूटा ।

कृषक-अशान्ति के दो प्रदर्शन—एक चम्पारन (बिहार) और दूसरा खेड़ा (गुजरात)—विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

चम्पारन की कृषक-समस्या काफ़ी पुरानी थी किन्तु १९१७ में वह बहुत तीक्ष्ण हो गई । बाज़ार में रासायनिक ढंग से बने हुए सस्ते रंग मिलने के कारण नील की खेती लाभप्रद नहीं रही थी किन्तु यूरोपियन रोपकों ने द्रव्योपार्जन का एक नया ढंग निकाला था । उन्होंने बंगाल काश्तकारी ऐक्ट की एक धारा का लाभ उठाकर काश्तकारों के लगान ४५ से लेकर ७५ प्रतिशत तक बढ़ा दिए और उन्हें नील की खेती करने से छूट दे दी । "यह वृद्धि, जो शरहबेशी के नाम से परिचित है, उन गाँवों में की गई जिनमें गाँववालों का ज़मीन में स्थायी पट्टा था" और उसकी कुल रकम लगभग ३ लाख रुपये प्रति वर्ष थी । जहाँ रोपकों के अस्थायी पट्टे थे वहाँ उन्होंने एकमुश्त रकम लेने पर ज़ोर दिया । बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है :— "बिलकुल ठीक आंकड़े तो नहीं मिल सके, किन्तु इतनी बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि केवल इसी मद के अन्तर्गत जो रकम वसूल की गई थी वह १६ और २० लाख रुपये के बीच में थी ।"[२]

लगान में वृद्धि और एकमुश्त रकम की माँग के कारण चम्पारन के किसानों को जिनसे अन्य अवैध रकमें बलात् ली जाती थीं, बड़ी भारी कठिनाई हुई । रोपकगण विभिन्न प्रकार के अबवाब लेते थे,[३] किसानों से बहुत कम मजदूरी पर बेगार कराते

---

१. Rajendra Prasad : The Agrarian Problem in Champaran, Hindustan Review, July 1918, page 52.

२. उपर्युक्त मासिक पत्र, पृष्ठ ५३.

३. निम्नलिखित अबवाब बलात् लिये जाते थे :— पानी खर्चा (सिंचाई का टैक्स) ; घोड़ा खरीदने का खर्चा (घोड़ाही) ; हाथी खरीदने का खर्च (हथियाही) ; मोटर खरीदन का खर्च (मोटरही अथवा हवाही) ; तेल अथवा ईख के कोल्हू रखने का टैक्स (कोल्हूआवन) ; बाट रखने का खर्च (बाट चपीर) ;

थे और उनकी गाड़ियों और उनके जानवरों से काम लेते थे। १९१६ तक किसानों के कष्ट असह्य हो गए। बिहार विधान-परिषद् में उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया किन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। कांग्रेसी नेताओं से हस्तक्षेप करने की अपील की गई। अन्त में मि. गांधी से चम्पारन जाकर वस्तुस्थिति का अध्ययन करने के लिए कहा गया।

मि. गांधी अप्रैल १९१७ में चम्पारन पहुँचे और किसानों की शिकायतों की विस्तृत रूप से जाँच आरम्भ की। उन्हें उस ज़िले को छोड़ देने के लिये सरकारी सूचना दी गई जिसकी उन्होंने उपेक्षा की; किंतु बाद में प्रान्तीय सरकार की आज्ञा से वह सूचना वापिस ले ली गई।[1] मि. गांधी की छानबीन के फलस्वरूप[2] सरकार ने एक जाँच कमेटी नियुक्त करने का निश्चय किया जिसमें मि. गांधी भी एक सदस्य थे और सर फ्रेंक स्लाई उसके अध्यक्ष थे। कमेटी ने अपना काम ठीक ढंग से किया और सभी सदस्यों द्वारा अनुमोदित एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसी के आधार पर १९१८ का चम्पारन कृषक-ऐक्ट बनाया गया। तिनकठिया प्रथा का अन्त किया गया, शरहबेशी २० से लेकर २५ प्रतिशत तक कम की गई और जो एकमुश्त रकमें ली गई थीं उनका २५ प्रतिशत भाग किसानों को वापिस दिलाया गया और साथ ही अबवाब लेना वर्जित कर दिया गया। कार्यकारिणी अधिकारियों को अपराधी ज़मींदारों के विरुद्ध कार्यवाही करने का प्राधिकार दिया गया।

चम्पारन जांच कमेटी का काम अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि महात्मा गांधी को अपने प्रान्त में जाना पड़ा। १९१७ में अतिवृष्टि के कारण ज़िला खेड़ा (गुजरात) में फ़सलों को बहुत बड़ी क्षति पहुँची थी। इस क्षति के परिमाण के संबंध में सरकारी और ग़ैरसरकार आगणन में काफ़ी अन्तर था; और मालगुज़ारी में छूट उस परिमाण के आधार पर ही होनी थी। पटीदारों के आगणन से फ़सल चौथाई हुई थी और मालगुज़ारी में २३ लाख रुपये की छूट की आवश्यकता थी। दूसरी ओर ज़िले के कलक्टर ने केवल १७५००० रुपये की छूट दी थी। सरकार के समक्ष कई बार प्रतिनिधित्व किया गया कि पटीदारों के साथ न्याय किया जाय

उत्तराधिकार के समय पर सामन्तवादी नज़राना (बपाही-पिताही); विधवा विवाह (सगौरा); और दशहरा, चैतनवमी आदि पर नज़राने।

१. इसका पूरा वृतान्त महात्मा गांधी की आत्म कथा में दिया गया है :—My Experiments with Truth. Vol. II. pages 355 to 407.

२. मि. गांधी ने लगभग १३०० किसानों के बयान एकत्र किए। Hindustan Review, July 1918, page 51.

किंतु उसका कोई फल नहीं हुआ। महात्मा गांधी लिखते हैं:—"जब सारी प्रार्थनाओं और निवेदनों का कोई प्रभाव नहीं हुआ, तो मैंने सहयोगियों से परामर्श करने के बाद पटीदारों को सत्याग्रह की शरण लेने की सलाह दी।"[१] इस प्रकार मि. गांधी ने भारत में पहली बार सत्याग्रह आरम्भ किया।

खेड़ा के किसानों से यह प्रतिज्ञा करने को कहा गया कि वे सरकार को मालगुज़ारी नहीं देंगे क्योंकि फ़सलें चौथाई से भी कम हुई थीं। किंतु यदि सरकार "सारे ज़िले में दूसरी निर्धारित किश्त की उगाही छोड़ने को तैयार हो जाए तो वे लोग, जिनके लिए यह संभव हो, अपनी पूरी अथवा शेष मालगुज़ारी दें देंगे।"[२]

२८ मार्च १९१८ को सत्याग्रह आरम्भ किया गया। सर शंकरन नैयर ने लिखा है:—"सरकारी मालगुज़ारी का भुगतान नहीं किया गया। घरेलू बर्तनों, दुधारू गायों और अन्य सम्पत्ति को आसंजित किया गया; सरकार ने ज़मीन को जब्त करने की आज्ञा जारी की और सरकारी अधिकारियों ने मालगुज़ारी वसूल करने के लिए सभी संभव उपायों से काम लिया। १२ अथवा १३ अप्रैल को स्वयं कमिश्नर ने किसानों की एक सभा की और उनको सरकारी आज्ञाओं का पालन करने के लिए समझाया; उल्लंघन करने वालों को भयंकर परिणामों की धमकी दी और उनसे कहा कि वे अपने सलाहकारों, होम रूल वालों की बातों पर ध्यान न दें जिन्हें मालगुज़ारी न देने के फल स्वयं नहीं भोगने पड़ेंगे। किंतु किसान अपने निश्चय पर जमे रहे।[3] यहाँ तक कि गाँव के मुखिया ने भी सरकार की आज्ञाओं पर ध्यान नहीं दिया।" २५ अप्रैल को सरकार ने मालगुज़ारी की उगाही का निलम्बन कर दिया और इस बात की आज्ञा दी कि केवल वही लोग जिनके लिए संभव हो, इस समय मालगुज़ारी दें और अन्य सब लोग अगले वर्ष उसका भुगतान कर दें। किंतु विचित्र बात यह है कि उक्त आज्ञा ३ जून तक प्रचारित नहीं की गई। उस समय तक सम्पत्ति की कुर्की और अन्य सरकारी कार्यवाहियों का क्रम जारी रहा।"[४] मि. गांधी को स्वयं किसी ढंग से सरकारी निर्णय का पहले ही पता लग गया; और अधिकारियों के असंतोषप्रद ढर्रे के होते हुए भी सत्याग्रह-आन्दोलन समाप्त कर दिया।

---

१. Gandhi: My Experiments with Truth. Vol. II. page 430.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४३१।

३. The Indian Annual Register, 1919, Part IV, page 83.

४. The Indian Annual Register, 1919, part IV, page 84.

यद्यपि महात्मा गांधी, आन्दोलन के फल और किसानों के भाव से संतुष्ट नहीं थे तथापि उनके मत से खेड़ा-आन्दोलन देश के लिए परोक्ष रूप से बहुत लाभदायी था और उसने गुजरात के किसानों पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ी थी। "खेड़ा-सत्याग्रह से गुजरात के ...... किसानों की जागृति और उनकी सच्ची राजनैतिक शिक्षा आरम्भ हुई। गुजरात के सार्वजनिक जीवन में नई शक्ति और नए साहस का संचार हुआ। पटीदार किसान को अपनी शक्ति का बोध हुआ। सार्वजनिक मस्तिष्क पर इस पाठ की अमिट छाप पड़ी कि लोगों का उद्धार उनके त्याग और बलिदान की सामर्थ्य पर निर्भर है। खेड़ा-आन्दोलन से गुजरात में सत्याग्रह की जड़ मज़बूत हो गई।"[१]

सन् १९१८-१९ में अकाल, प्लेग और इन्फ्लुएंज़ा की दैवी विपत्तियों ने उपर्युक्त आर्थिक कारणों के साथ मिलकर लोगों के कष्टों को और भी ज़्यादा बढ़ा दिया।

३

सन् १९१८-१९ में, भारत में वर्षा १९ प्रतिशत कम हुई। "ऐसा कोई प्रान्त नहीं था जहाँ वर्षा की थोड़ी या बहुत कमी न हुई हो और इसका परिणाम यह हुआ कि फसल बहुत खराब हुई—यहाँ तक कि पिछली दशाब्दी में इतनी खराब फसल नहीं हुई थी।"[२] "सरकार के सारे प्रयत्नों के होते हुए भी बढ़े हुए दामों और नाज की कमी के कारण लोगों को अवर्णनीय कष्टों का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों की सब से प्रबल चोट निर्धन वर्गों पर हुई और साथ ही उन लोगों पर भी जिनकी अल्प और निश्चित आय थी और जो शहरों में रहते थे।"[३] "१९१७ की भाँति जहाँ-तहाँ उपद्रव हुए और बाज़ारों में लूट मार भी हुई।"[४]

इस दुर्दशा के वातावरण में प्लेग और इन्फ़्लुएंज़ा की महामारियों का प्रकोप हुआ। (संभवतः) अतिवृष्टि के कारण १९१७ में प्लेग अत्यन्त उग्र रूप में प्रकट हुआ और जुलाई १९१७ से जून १९१८ तक देश में प्लेग के कारण ८ लाख से अधिक व्यक्ति मर गए। देश के विभिन्न भागों में मलेरिया और हैज़ा फैल जाने के कारण यह मृत्यु-संख्या और भी ज़्यादा हो गई। सन् १९१७ में ही भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य की साधारण दशा काफ़ी बुरी थी किंतु १९१८ में वह और भी

---

१. Gandhi: My Experiments with Truth, Vol. II, pages 441-42.

२. India in 1919, page 64.

३. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ६७.

४. India in 1917-18, page 90.

ज़्यादा बिगड़ गई। अस्तु, जून १९१८ में इन्फ़्लुएँज़ा के प्रचंड रूप का पता लगा।"[1] यह महामारी बम्बई में आरम्भ हुई और कुछ ही समय में सारे देश में फैल गई। चार-पाँच महीने के अन्दर ही देश में इस महामारी के कारण ६० लाख से अधिक व्यक्ति मर गए।

यद्यपि मृत्यु-सम्बन्धी उपर्युक्त आँकड़े अत्यन्त भयावह हैं तथापि उनसे लोगों के वास्तविक कष्टों का चित्र प्रस्तुत नहीं हो सकता। महामारी से जो लोग प्रभावित हुए थे उनका अनुपात कुल जनसंख्या के पचास प्रतिशत से लेकर अस्सी प्रतिशत तक था, किन्तु चिकित्सा का प्रबन्ध अत्यन्त अपर्याप्त था। लोगों की आर्थिक स्थिति भयावह थी। "नाज के दाम लोगों की बिसात के बाहर थे और चारे की कमी के कारण दूध का प्राप्य परिमाण बहुत कम हो गया था"—"पोषक भोजन, कम्बल और गरम कपड़े के दाम बहुत ज़्यादा बढ़े हुए थे।" फलत: जो लोग बीमारी से ठीक हो गए थे, वे बहुत समय तक अपना साधारण स्वास्थ्य प्राप्त नहीं कर सके। इन सब कारणों ने लोगों के, विशेषकर पश्चिमी, उत्तरी और केन्द्रीय भारत के लोगों के कष्टों को अत्यन्त तीक्ष्ण कर दिया।

४

इस प्रकार १९१७ और १९१८ में भारत भयंकर विपत्तियों का सामना कर रहा था; और उन विपत्तियों के कारण सारे देश में असाधारण तीखापन था। राजनैतिक कारणों से यह तीखापन कई गुना बढ़ गया।

देश में, विशेषकर बंगाल में सरकार की दमनकारी नीति के कारण प्रबल असन्तोष था। क्रान्तिकारी अपराधों का दमन करने के लिए, भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत बहुत से नवयुवकों के विरुद्ध कार्यवाही की गई थी। नज़रबन्दों के साथ दुर्व्यवहार के और उन्हें अस्वास्थ्यप्रद स्थानों में रखने के आक्षेप किए गए। तीन मामलों के सम्बन्ध में–सारे देश में–विशेषकर बंगाल में–बड़ा रोष फैला। पहले दो मामले एक-से थे—उनमें से एक प्रोफ़ेसर जे० सी० घोष से संबंधित था और दूसरा मि. एस. एन. सेठ से। प्रो० घोष को एक एकान्त कोठरी में बंद कर दिया गया था जिसके कारण उन्हें बड़े कष्ट उठाने पड़े; बाद में वे पागल हो गए। यही बात मि० सेठ के मामले में हुई। तीसरा मामला बहुत विचित्र था। बांकुरा ज़िले के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट से तार द्वारा यह कहा गया कि वह शाहबाज़पुर गाँव के कामनवीय घोष के मकान से सिंधुवाला देवी की गिरफ़्तारी कर ले—जिसका नाम और पता एक 'भयंकर' क्रान्तिकारी के काग़ज़ों में एक पर्चे पर लिखा हुआ पाया गया था। उस अधिकारी को कामनवीय घोष का मकान तो नहीं मिला पर उसे कुंजघोष

१. India in 1917-18, page 182.

नामक व्यक्ति के यहाँ एक सिंधुबाला नामक स्त्री का पता लगा और उसे गिरफ़्तार कर लिया गया। उस सिंधुबाला से यह पता लगा कि उसकी भाभी का नाम भी सिंधुबाला था। ग़लती का कोई अवसर ही न हो, इस विचार से पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट देवेन्द्र घोष के गाँव गया और उसने दूसरी सिंधुबाला को भी गिरफ़्तार कर लिया। दोनों स्त्रियों को बांकुरा ले जाया गया जहाँ वे रात में ग्यारह बजे पहुँचीं और उन्हें थाने तक पैदल चलने को विवश किया गया। दूसरे दिन, ६ जनवरी १९१८ को उन्हें जेल भेज दिया गया। पन्द्रह दिन बाद उनको छोड़ दिया गया क्योंकि उनके विरुद्ध कोई अभियोग नहीं था और वे भूल से गिरफ़्तार कर ली गई थीं।

ज़िले के दो विभिन्न गाँवों से, विना निश्चित सूचना के और विना आवश्यक जाँच किए हुए, दो पर्दानशीन स्त्रियों की गिरफ़्तारी से, चारों ओर क्रोध का उफ़ान आया। कलकत्ता में और अन्य स्थानों में विरोध-सभाएँ की गईं और इस संबंध में बंगाल विधान-परिषद् में भी एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। सारे देश में, विशेषकर बंगाल में बड़ा भारी तीखापन छाया हुआ था और सरकार ने असंतोष का शमन करने के उद्देश्य से, नज़रबन्दों के अभियोगों के पुनरीक्षण के लिए एक कमेटी नियुक्त की—मि० जस्टिस बीच क्रोफ़्ट और सर नारायण चन्दावरकर इसके सदस्य थे।

बीच क्रोफ़्ट कमेटी ने कुल ८०६ मामलों का पुनरीक्षण किया। इनमें से १०० बन्दियों के मामले सन् १८१८ के विनियम नं० ३ के अन्तर्गत थे; ७०२ व्यक्ति भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत नज़रबन्द थे; और ४ व्यक्ति 'भारत प्रवेश' अध्यादेश के अन्तर्गत बन्दी थे।[1] कमेटी इस परिणाम पर पहुँची कि सरकार के पास जो प्रमाण थे उनके अनुसार ८०० व्यक्तियों की नज़रबन्दी न्याय्य थी। कमेटी ने शेष छः नज़रबन्दों को छोड़ देने की सिफ़ारिश की।

किन्तु बीच क्रोफ़्ट कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहिले ही, अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन के नाम सर सुब्रह्मण्य ऐयर के पत्र के मामले ने भारतीय क्षेत्रों में सनसनी पैदा कर दी।

यह पत्र जून १९१७ में लिखा गया था और दो अमेरिकन थियॉसोफ़िस्टों—होचर दम्पति के द्वारा अमेरिका भेजा गया था। उस पत्र में कहा गया था कि यदि भारत को स्वतन्त्रता का वचन मिल जाय तो युद्ध के लिए भारत से १ करोड़ आदमियों की भर्ती हो जायगी। पत्र में ब्रिटिश राज्य की तीव्र आलोचना की गई थी। वाइसराय और भारत-मंत्री ने, राजनैतिक सुधारों के सिलसिले में सर

१. See Lowett: A History of Indian Nationalist Movement, page 196.

सुब्रह्मण्य ऐयर के उनसे भेंट करने पर, उनमें बड़ी फटकार लगाई। यह बात भारत-मंत्री ने इस संबंध में पार्लियामेण्ट में प्रश्न पूछे जाने पर व्यक्त की।

इस पर सर सुब्रह्मण्य ने समाचार-पत्रों में एक पत्र प्रकाशित किया और उन्होंने अपना निवृत्ति वेतन छोड़ देने की तत्परता प्रकट की। उन्होंने मद्रास सरकार के मुख्य कार्यवाह को एक पत्र लिखा और के० सी० आई० ई० तथा दीवान बहादुर की अपनी उपाधियों का परित्याग कर दिया।

इस घटना से भारत में बड़ी हलचल हुई और सारे देश के राष्ट्रवादी पत्रों ने सर सुब्रह्मण्य की प्रशंसा की।

५

लोक-सेवाओं के संबंध में इस्लिगटन कमीशन की रिपोर्ट और वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में मॉण्टफ़ोर्ड-रिपोर्ट प्रकाशित होने पर राजनैतिक असन्तोष और ज़्यादा बढ़ गया। सन् १९१८-१९ में सर्वसाधारण यह अनुभव करने लगा था कि "युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भारतीय आकांक्षाओं और विशेषकर राजनैतिक सुधारों के प्रति, सरकारी और ग़ैर-सरकारी यूरोपीय समुदाय का भाव बदल गया था।"[१] प्रान्तीय गवर्नरों और वाइसराय के व्याख्यानों से यह धारणा दृढ़तर हो गई। उसी समय जातीय उद्दंडता और असहिष्णुता की कई घटनाएँ हुईं। मि. हसन इमाम कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश थे और अगस्त १९१८ के विशेष कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष थे। मि. क्लेटन आई. सी. एस. ने (जो बिहार सरकार के एक उच्च अधिकारी थे) और जो मि. हसन इमाम के साथ रेल में एक पहली श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, उनको गालियाँ दीं और उन पर हमला किया। इस घटना से सारे देश में तीखापन बढ़ना स्वाभाविक ही था। किंतु क्रोध और तीखेपन को शिखर तक पहुँचाने का काम रॉलेट-रिपोर्ट और रॉलेट-विधेयकों ने किया। भारतीय सैनिकों को मित्र राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने अपने व्याख्यानों से बहुत-सी आशाएँ दिलाई थीं। भारत लौटने पर उन्हें दूसरा ही दृश्य दिखाई दिया। जब वे पंजाब में अपने घर पहुँचे तो उन्हें अकाल, कठिनाई और निरंकुश राज्य का वातावरण मिला। रॉलेट-विधेयकों के रूप में उनका स्वागत करने की तैयारियाँ की जा रही थीं! ऐसा प्रतीत होता था कि ये विधेयक खास तौर पर उन्हीं के लिए बनाए जा रहे थे—रॉलेट कमेटी ने स्पष्ट कहा था कि विदेशों से बहुत बड़ी संख्या में सैनिकों के लौटने पर जो परिस्थिति संभवतः उत्पन्न हो सकती थी, उसी का सामना करने के लिए विशेष दमनकारी कानूनों की आवश्यकता थी।

किंतु रॉलेट-रिपोर्ट और विधेयकों के संबंध में चर्चा करने से पहले, खिलाफ़त

१. India in 1919, page 23.

के प्रश्न पर मुस्लिम आंदोलन और पंजाब में सर माइकेल ओ' डायर के उग्र शासन से उत्पन्न विशेष परिस्थितियों के बारे में कुछ विवरण देना उपयुक्त होगा।

तुर्किस्तान के आसन्न भाग्य और खलीफ़ा की स्थिति पर उसके प्रभाव के संबंध में, भारतीय मुसलमानों में बड़ी उद्विग्नता थी। तुर्किस्तान-सहित अन्य केन्द्रीय शक्तियों को परास्त करने में भारतीय मुसलमानों ने भी पूरा हाथ बँटाया था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा उन्हें इस बात का आश्वासन दिया गया था कि युद्ध समाप्त होने पर राष्ट्रीयता और आत्म निर्णय के सिद्धान्तों को तुर्क प्रदेशों पर भी लागू किया जाएगा और खलीफ़ा की स्थिति के संबंध में यूरोपीय शक्तियाँ कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगी। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद विभिन्न प्रकार की बातें सुनाई पड़ीं कि तुर्किस्तान को कई भागों में बाँट दिया जायगा और उन प्रदेशों को जिनमें मुसलमानों के धार्मिक स्थान थे, ग़ैर-मुस्लिमों के आधिपत्य में रखा जायगा—और इन सब बातों के साथ खिलाफ़त का प्रश्न मिला हुआ था। ये सारी बातें भारतीय मुसलमानों को चिन्ता में डाले हुए थीं और उनसे मुसलमानों में असंतोष बढ़ रहा था। मि. मॉण्टेगु के अनुसार भारत की दुर्घटनाओं का पहला राजनैतिक कारण, तुर्किस्तान के संबंध में मुस्लिम दृष्टिकोण था।[1]

किन्तु भारतीयों के अनुसार, उन दुर्घटनाओं का अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पंजाब में सर माइकेल ने अपने उग्र शासन से प्रबल असन्तोष फैला दिया था।

पंजाब के युद्धकालीन उप-गवर्नर को कठोर, व्यक्तिगत राज्य में दृढ़ विश्वास था। उसके अनुसार सरकार का मुख्य काम 'कानून और व्यवस्था' को बनाए रखना था। उसे कार्यकारिणी परिषदों और राजनैतिक सुधारों में कोई विश्वास नहीं था। लोगों की उच्च राजनैतिक आकांक्षाओं के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं थी। अधिक नौकरियों और अधिकारों के लिए शोर मचाने वाले शिक्षित वर्ग, उसे बुरे मालूम होते थे; और उनके महत्त्व को घटाने के लिए वह प्रत्येक अवसर का लाभ उठाता था। युद्ध के दिनों में उसने निर्दयतापूर्वक दमन किया और लोकमान्य तिलक और श्री बिपिनचन्द्र पाल जैसे प्रतिष्ठित नेताओं के प्रांत में प्रवेश करने पर रोक लगा दी। और उसकी यह बहुत बड़ी आकांक्षा थी कि युद्ध जीतने के लिए अन्य प्रान्तों की अपेक्षा उसके प्रान्त से जन, धन और सामग्री का सबसे अधिक समायोग हो। किन्तु इस उद्देश्य के लिए बहुत से अवसरों पर बलात् भर्ती की गई

१. Speech of Mr. Montagu on 22nd May, 1919 in the House of Commons. The Indian Annual Register, Part II, page 123.

और लोगों को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा। जैसा कि मुज़फ़्फ़रगढ़ के सत्र न्यायाधीश मि. कोल्डस्ट्रीम ने लिखा—"युद्ध-ऋण उगाहने के लिए और सैनिकों की भर्ती करने के लिए जो उपाय काम में लाये गए वे बहुधा अनधिकृत, आपत्तिजनक, अत्याचारपूर्ण और सरकार की इच्छा के विरुद्ध थे। दूर के ज़िलों में वे, लोगों को असह्य थे।"[१] शाहपुर ज़िले में स्थिति और भी ज्यादा गंभीर हो गई। वहाँ के एक अति-उत्साही तहसीलदार, सैयद नादिर हुसैन ने अत्यन्त आपत्तिजनक[२] और अत्याचारपूर्ण उपायों से काम लिया और स्वयं सर माइकेल के अनुसार उसका ढर्रा बलात्-भर्ती की तरह था। क्रोध से भरे हुए लोगों ने उसकी हत्या कर दी। प्रत्येक ज़िले के लिए सैनिकों की संख्या, युद्ध-ऋण और चंदे की रक़म निश्चित कर दी गई थी और उस संख्या अथवा रकम को पूरा करने के लिए हर संभव उपाय को काम में लाया गया। और सबसे ज्यादा चुभने वाली बात यह थी कि लोगों को इन शिकायतों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की आज्ञा नहीं थी। उसकी राजद्रोह में गिनती थी और सर माइकेल की सरकार उसका निर्दयतापूर्वक दमन करने पर तुली हुई थी। मॉडरेट हो जाने के बाद १९२२ में श्रीमती बीसेण्ट ने लिखा:— "सर" माइकेल का कठोर और अत्याचारपूर्ण शासन, बलात् भर्ती और युद्ध-ऋण की उगाही और सारे राजनैतिक नेताओं का निष्ठुर अर्दन—ये सब बातें ऐसी थीं जिन्होंने तीखेपन की चिनगारियों को जीवित रखा, जिनसे आग की लपटें किसी भी समय फूट सकती थीं। बम्बई में १९१८ के विशेष अधिवेशन में पंजाब के प्रतिनिधियों ने हमें बताया था कि प्रान्त के लोग एक ज्वालामुखी के ऊपर रह रहे थे जो किसी भी असाधारण अत्याचार के काम से फूट सकता था। इसी कारण जब १९१९ में उसी प्रान्त में उपद्रव हुए तो हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ।"[३]

६

१९१९ में सार्वजनिक उभाड़ का तात्कालिक कारण था—रॉलेट अथवा काले विधेयकों का पारण। १९१७ के अन्त में न्यायाधीश एस. ए. टी. रॉलेट की अध्यक्षता में भारतीय राजद्रोह कमेटी नियुक्त की गई थी; उसने अप्रैल १९१८ में अपनी रिपोर्ट दी। कमेटी ने सरकार द्वारा प्रस्तुत किए हुए उन सारे प्रमाणों की जाँच की जिनके आधार पर भारत रक्षा ऐक्ट के समाप्त होने पर क्रान्तिकारी अपराधों से निपटने के लिए विशेष विधान बनाने को कहा गया था। कमेटी ने अपना सारा काम गुप्त रूप से किया। अस्तु, मि. मॉण्टेगु ने ऐसे विशेष विधानों के संकटों के

१. Congress Punjab Inquiry Committee Report, vol. I Page 18.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १९।

३. Besant : The Future of Indian Politics, Page 236.

प्रति मि. रॉलेट को सावधान कर दिया था और उस संबंध में भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना को स्वीकार करने के बारे में चेतावनी दे दी थी। मि. मॉण्टेगु ने लिखा है :—"मैंने उन्हें बताया था कि नज़रबन्दी और पुलिस की सहायता से सरकार का काम चलाने के ढंग से हम संभवतः अपने उत्तराधिकारियों के लिए परेशानियाँ पैदा कर देंगे और मैंने यह आशा प्रकट की थी कि भारत-सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना में से वह उसी बात को स्वीकार करेंगे जो सांसदिक रूप से रक्षणीय हो।"[1] किन्तु रॉलेट कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि क्रान्तिकारी अपराधों से निपटने के लिए साधारण फ़ौजदारी कानून अपर्याप्त था ; और उसने दो प्रकार के विशेष विधान बनाने की सिफ़ारिश की—एक दण्डात्मक और दूसरा प्रतिबन्धक। भारत सरकार ने कमेटी की सिफ़ारिशों को रूप देने के लिए दो विधेयक बनाए। सभी जगह विरोध प्रकट किया गया, सरकार को सावधान किया गया किन्तु सरकार ने उन विधेयकों को ऐक्ट बनाने के संबंध में अपना निश्चय नहीं बदला। अन्त में उनमें से केवल एक विधेयक ही ऐक्ट बना किन्तु उसके कारण एक देशव्यापी उथल-पुथल हुई जो उस समय तक भारतीय इतिहास के लिए नई चीज़ थी।

इस काले कानून का सरकारी नाम था—अराजकतापूर्ण और क्रान्तिकारी अपराध ऐक्ट। यह ऐक्ट सार्वजनिक अधिकार और भारतीय राजनैतिक जीवन, दोनों ही का दमन करने के लिए बनाया गया था। किन्तु दूसरे पक्ष के मतानुसार इस ऐक्ट का उद्देश्य "राजनीति का शोधन"[2] और "अराजकता तथा क्रान्ति से.....लोगों के जीवन और उनकी सम्पत्ति की रक्षा करना था।"[3]

यह ऐक्ट पाँच भागों में बाँटा गया था। पहला भाग दंडात्मक था; दूसरे और तीसरे भाग प्रतिबन्धक थे ; चौथे भाग में उन अपराधी लोगों को ऐक्ट के अन्तर्गत लाया गया था जो पहले से ही सरकारी नियन्त्रण में थे; और पांचवें भाग में इस बात की व्यवस्था की गई थी कि यदि ऐक्ट अथवा उसका कोई भाग किसी विशेष क्षेत्र में लागू न रहे तो भी जो कार्यवाहियाँ पहले ही जारी हो गई हों उन्हें पूरा कर दिया जाय।

---

१. Montagu : An Indian Diary, page 156.
२. Speech of Sir William Vincent. See Punjab Unrest: Before and After, page 5.
३. Speech of Sir Michael O' Dwyer of April 10, 1919, Pearey Mohan : The Imaginary Rebellion and How it was Suppressed, page 13.

पहले भाग में "अपराधों के संबंध में शीघ्र अभियोग-निर्णय की व्यवस्था की गई थी····और उसके विरुद्ध अपील करने का कोई अधिकार नहीं था।"[१] किसी प्रान्त में पहले भाग के लागू कर दिए जाने पर, हाईकोर्ट के तीन जजों का एक विशेष न्यायालय बनना था जो अपना काम कहीं भी और साथ ही गुप्त रूप से कर सकता था। इस न्यायालय में ऐसे प्रमाण भी मान्य थे जो इंडियन एविडेन्स ऐक्ट के अनुसार ग्राह्य नहीं थे। निर्णय, जजों के बहुमत से होना था और वह अन्तिम था। किन्तु प्राणदण्ड देने के लिए सारे जजों का एकमत होना आवश्यक था।

दूसरे भाग के अनुसार प्रान्तीय सरकार को अधिकार था कि यदि उसे किसी व्यक्ति के बारे में यह विश्वास है कि उसका किसी ऐसे आन्दोलन से संबंध है जिससे राजसत्ता के विरुद्ध अपराध होने की संभावना हो तो वह उसको "ज़मानत देने के लिए अथवा अपना पता देने के लिए अथवा किसी विशेष स्थान में रहने के लिए अथवा किसी निर्दिष्ट काम से दूर रहने के लिए अथवा थाने में अपनी हाज़िरी देने के लिए" आज्ञा दे सकती थी।[२] आरंभ में यह आज्ञा केवल एक महीने के लिए होनी थी किन्तु जाँच कमेटी की रिपोर्ट पर वह एक वर्ष तक के लिए बढ़ाई जा सकती थी। इस जाँच कमेटी में (प्रत्येक मामले के लिए) सरकार द्वारा तीन सदस्यों की नियुक्ति होनी थी। कमेटी का काम गुप्त रूप से होना था और संबंधित व्यक्ति स्वयं उपस्थित होकर सफ़ाई पेश कर सकता था किन्तु उसे वकील द्वारा प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं था।

तीसरा भाग और भी ज़्यादा कठोर था। उससे किसी भी स्थान की तलाशी और विना वारण्ट के किसी भी संदिग्ध व्यक्ति की गिरफ़्तारी की और उसे "किसी नियत स्थान में निश्चित शर्तों के आधीन रखने की"[३] व्यवस्था थी। आरम्भ में इस नज़रबन्दी की अवधि एक वर्ष तक सीमित थी किन्तु बाद में यह तीन वर्ष तक हो सकती थी। दूसरे भाग की तरह इसमें भी जाँच-कमेटी की व्यवस्था की गई थी।

भारत सरकार के अनुसार भारत में अराजकतावादी और क्रान्तिकारी अपराधों का सामना करने के लिए, ऐक्ट की उपर्युक्त धाराएँ अत्यावश्यक थीं। सन् १९०९ और १९१८ के बीच में क्रान्तिकारी आन्दोलन के कारण ३११ अपराध अथवा अपराध के प्रयत्न हुए थे जिनसे १०३८ व्यक्ति संबंधित थे। भारत रक्षा ऐक्ट ने अपराधों की संख्या घटाकर १० प्रतिवर्ष कर दी थी और "१९१८ के

१. Punjab Unrest: Before and After, page 3.
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४।
३. Section 34 (I) of the Act, India in 1919, page 213.

पिछले तीन महीनों में कोई क्रान्तिकारी अपराध नहीं हुआ था।"[1]

भारतीय विधान-परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने विधेयक की सामर्थ्य पर सन्देह नहीं किया किन्तु उन्होंने शान्तिकाल में कार्यकारिणी को राजनैतिक जीवन का दमन करने के लिये असाधारण अधिकार देने का और संदिग्ध व्यक्तियों को खुले और विधिवत् अभियोग निर्णय से वंचित करने का प्रबल विरोध किया। क्रान्तिकारी अपराधों से निपटने के लिए, पहले से ही विस्तृत अधिकार मिले हुए थे और उन्होंने यह सुझाव दिया कि समस्या का वास्तविक हल, निर्दयतापूर्ण दमन के स्थान पर राजनैतिक सुधार था। स्वयं लॉर्ड मार्ले के अनुसार "सिन फ़ीन से छुटकारा पाने का सर्वोत्तम उपाय, आयर्लैण्ड को स्वशासन देना था।" ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने सरकार से अपील की कि वह "पिछले कुछ दिनों से बराबर बिगड़ती हुई स्थिति पर ध्यान दे; वह स्थिति भविष्य के लिए संकटपूर्ण थी।" सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा :—"श्रीमान् सारे देश में रोष छाया हुआ है, विभिन्न स्थानों पर विरोध सभाएँ हो रही हैं। ....इस नीति से देश एक भयंकर आन्दोलन की भंवरों में फँस जायगा।"[2] किन्तु ग़ैर-सरकारी सदस्यों के संयुक्त विरोध के होते हुए भी—जिनमें से चार सदस्यों ने विरोध में त्याग-पत्र भी दिया —सरकार ने कानून बनाया जिसके परिणामों पर सर्वत्र शोक प्रकट किया गया।

७

जिन दिनों भारतीय विधान-परिषद् में रॉलेट-विधेयकों पर विवाद हो रहा था, उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने वाइसराय को पत्र लिखा और यह स्पष्ट कर दिया "कि सरकारी नीति के कारण मेरे लिये सत्याग्रह के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया है।"[3] बम्बई में सत्याग्रह-सभा बनाई गई, सत्याग्रह की प्रतिज्ञा का मसविदा तैयार किया गया और सदस्यों ने वह प्रतिज्ञा की। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आरम्भ करने का निर्णय समाचार-पत्रों में अपने एक पत्र द्वारा व्यक्त किया, जिस में सत्याग्रह-शपथ भी थी। वह शपथ इस प्रकार थी :—

"अपने अन्तःकरण से यह अनुभव करने के कारण कि ये विधेयक......... स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध, और व्यक्ति के प्रारंभिक अधिकारों के लिए घातक हैं ......हम यह दृढ़ निश्चय करते हैं कि उनके कानून बनने पर और उनके रद्द न होने के समय तक हम उन कानूनों की और साथ ही उन

१. Punjab Unrest: Before and After, pages 2 and 3.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५५।

३. Gandhi: My Experiments with Truth, Vol. II. page 482.

सब कानूनों की, जो नियुक्त की जाने वाली कमेटी उचित समझे, सविनय अवज्ञा करेंगे और हम फिर यह दृढ़ निश्चय करते हैं कि इस संघर्ष में हम सत्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करेंगे और जीवन, व्यक्ति अथवा सम्पत्ति के प्रति हिंसा से दूर रहेंगे।"[1]

किन्तु ग़ैर-सरकारी सदस्यों की चेतावनी की तरह, सत्याग्रह-सभा के इस निर्णय का सरकार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और विधेयक का सरकारी वोटों से १८ मार्च १९१९ को पारण हुआ और वह २१ मार्च को कानून बन गया। उस समय महात्मा गांधी मद्रास में थे। एक स्वप्न में उन्हें सत्याग्रह करने का विचार आया और दूसरे दिन प्रातःकाल श्री राजगोपालाचारी से जिनके यहाँ वे ठहरे हुए थे, उन्होंने अपने स्वप्न को बताया:—"पिछली रात मुझे स्वप्न में यह विचार आया कि हमें सारे देश से सार्वजनिक हड़ताल करने के लिए कहना चाहिए। सत्याग्रह, आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया है; हमारा संघर्ष पवित्र है और मुझे यह उचित प्रतीत होता है कि उसका आरम्भ आत्मशुद्धि के किसी कार्य से किया जाय। अतः सारे भारतवासी उस दिन अपना कामकाज छोड़कर उपवास और प्रार्थना करें...."[2]

श्री राजगोपालाचारी और अन्य व्यक्तियों ने उस विचार का स्वागत किया और महात्मा गांधी ने एक पत्र द्वारा उसे सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया। "पहले तो हड़ताल के लिए ३० मार्च (१९१९) निश्चित की गई, पर बाद में तारीख बदल कर ६ अप्रैल कर दी गई।" "उस दिन (अर्थात् ६ अप्रैल को) सारे देश में, शहरों और गाँवों में सभी जगह शान्तिपूर्ण सफल हड़ताल हुई।"[3]

किन्तु कुछ स्थान ऐसे थे जहाँ हड़ताल की तारीख़ बदल जाने का देर से पता लगा और इसलिए वहाँ पर ३० मार्च को भी हड़ताल हुई। इन स्थानों में दिल्ली नगर भी एक था और वहाँ पर ही विचाराधीन वर्ष की दुःखद घटनाएँ सबसे पहले हुईं।

३० मार्च को दिल्लीवासियों ने उपवास किया और हड़ताल की। हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार लोगों की एक भीड़ ने रेलवे उपाहार-गृह बन्द करने की ज़िद की और वहीं से झगड़ा आरम्भ हुआ। रेलवे-पुलिस ने हस्तक्षेप किया और भीड़ में से दो आदमियों को गिरफ़्तार कर लिया। इससे लोगों में क्रोध फैल

१. Punjab Unrest: Before and After, page 34.
२. Gandhi: My Experiments with Truth, Vol. II., page 486.
३. Gandhi: My Experiments with Truth, Vol. II., page 487.

गया और उन्होंने तितर-बितर होने से इन्कार कर दिया और साथ ही दोनों आदमियों को छोड़ने की माँग की। पुलिस पर ईंटें भी फेंकी गईं। अन्त में भीड़ पर गोली चलाई गई और उसे निकट के क्वीन्स गार्डन में खदेड़ दिया गया। इस पर भीड़ टाउन हाल के सामने जमा हो गई और वहाँ अधिकारियों ने फिर गोली चलाने की आवश्यकता अनुभव की। "इसके फलस्वरूप उस दिन गोलियों से मारे जानेवाले आदमियों की संख्या ८ हो गई। अस्पताल में लगभग एक दर्जन घायल व्यक्ति पहुँचे किन्तु उनकी वास्तविक संख्या कहीं ज़्यादा थी।"[१] उसके बाद कोई झगड़ा नहीं हुआ और तीसरे पहर सार्वजनिक सभा शान्तिपूर्वक समाप्त हो गई। ६ अप्रैल की हड़ताल भी शान्तिपूर्ण रही। किन्तु मि. गांधी की गिरफ़्तारी के कारण १० से लेकर १७ अप्रैल तक बराबर हड़ताल रही। पुलिस ने दुकानों को बलात् खुलवाने का प्रयत्न किया जिसके कारण बिल्लीमारान में १७ तारीख़ को झगड़ा हो गया "पुलिस को आत्मरक्षा के लिए गोली चलानी पड़ी। लगभग अठारह आदमी घायल हुए जिनमें से बाद में दो मर गए।"[२]

३० मार्च की घटनाओं के बाद, दिल्ली के स्थानीय नेताओं ने महात्मा गांधी को दिल्ली बुलाया। उन्होंने ६ अप्रैल की हड़ताल के बाद आने की स्वीकृति दी। अस्तु, ७ अप्रैल की रात को वे बम्बई से दिल्ली के लिए रवाना हुए। इस बीच पंजाब के उप-गवर्नर और दिल्ली के चीफ़ कमिश्नर के परामर्श से भारत सरकार ने पंजाब और दिल्ली में मि. गांधी के प्रवेश पर रोक लगा देने का निश्चय किया और एक आज्ञा जारी की गई जिसमें उनसे बम्बई प्रेसीडेन्सी में ही रहने का निर्देश किया गया। पलवल स्टेशन पर उन्हें यह सरकारी आज्ञा-पत्र दिया गया जिसका पालन करने से उन्होंने इंकार कर दिया। फलतः पलवल स्टेशन पर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और पुलिस की अभिरक्षा में उन्हें बम्बई वापिस भेज दिया गया।

१० तारीख़ की सुबह को महात्मा गांधी की गिरफ़्तारी की सूचना अहमदाबाद पहुँची, जहाँ उन्होंने अपना आश्रम बना लिया था और जहाँ उनके प्रति लोगों में असाधारण श्रद्धा थी। उस समाचार से बड़ी उत्तेजना हुई। हड़ताल घोषित की गई। दो यूरोपियनों से सवारी छोड़ कर पैदल चलने के लिए कहा गया और उसी सम्बन्ध में झगड़ा हो गया किंतु ज़िला-मजिस्ट्रेट मि. चैट फ़ील्ड ने स्थिति को अपनी कुशलता से संभाल लिया। दूसरे दिन कुमारी अनसूया साराभाई की गिरफ़्तारी के समाचार से लोगों का क्रोध और ज़्यादा हो गया। मिल मज़दूर आपे से बाहर हो गए और उन्होंने आगज़नी और हिंसा के कई काम किए। कई बार भीड़ों पर गोली

१. Disorder Inquiry (Hunter) Committee Report, page 3.

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ४।

चलानी पड़ी और १२ तारीख़ की सुबह को एक सैनिक घोषणा जारी करनी पड़ी। १३ तारीख़ को कुमारी साराभाई और महात्मा गांधी दोनों ही अहमदाबाद पहुँच गए;[१] और उन्हें नगर में फिर से व्यवस्था स्थापित करने के काम में सहायता देने के लिए अनुमति दी गई। १४ को घोषणा वापिस ले ली गई।" मि. गांधी ने एक बहुत बड़ी सभा में भाषण दिया, लोगों के हिंसापूर्ण कामों की निन्दा की और इनसे अपना काम करने के लिए ज़ोर दिया। इस भाषण का वांछित प्रभाव हुआ और अहमदाबाद के झगड़े १४ अप्रैल को लगभग समाप्त हो गए।[२]

"झगड़ों के सिलसिले में······उपद्रवियों में से २८ आदमी मारे गए और १२३ घायल हुए; यह संभव है उनकी संख्या अधिक हो।······अहमदाबाद नगर में आठ जगह और निकट के अन्य स्थानों में १४ जगह तार काटे गए। अहमदाबाद में उपद्रवियों ने लगभग ९½ लाख रुपये की सम्पत्ति नष्ट की······ संभवतः इसका मुख्य कारण यह था कि मि. गांधी और कुमारी साराभाई के प्रति अपनी श्रद्धा के कारण उपद्रवी आपे से बाहर हो गए थे। उन लोगों को अपने बीच में स्वतन्त्र देख कर, साथ ही मि. गांधी का भाषण सुनकर, उनके मस्तिष्क में से अव्यवस्था जारी रखने के विचार दूर हो गए।"[३]

१० अप्रैल की दोपहर तक पंजाब में कोई उपद्रव नहीं हुआ। रॉलेट-विधान के सम्बन्ध में विभिन्न स्थानों में विशेषकर लाहौर और अमृतसर में सभाएँ हुई थीं। ६ अप्रैल को सारे प्रान्त में सफल और शान्तिपूर्ण हड़ताल हुई। अमृतसर में ३० मार्च को भी। सारे प्रान्त में प्रबल असंतोष था और कुछ उत्तेजना भी थी। रॉलेट-ऐक्ट के विरुद्ध भावनाएँ जगी हुई थीं, साथ ही राजनैतिक सुधारों और शिक्षित वर्गों के प्रति उप-गवर्नर के भाव के कारण प्रान्त में बड़ा भारी तीखापन था। किंतु कोई क्रांतिकारी आन्दोलन नहीं था—उसे १९१६ में ही दबा दिया गया था। प्रान्त के सभी नेताओं का आन्दोलन के लिए शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायों में विश्वास था। किंतु सर माइकेल की सरकार, प्रान्त में हर प्रकार के आन्दोलन और राजनैतिक जीवन का दमन करने पर तुली हुई थी। ७ अप्रैल १९१९ को सर माइकेल ने पंजाब विधान-परिषद् में, पंजाबियों की सराहना करते हुए, सार्वजनिक नेताओं को यह धमकी दी—"इस प्रान्त की सरकार का यह दृढ़ निश्चय है और वह निश्चय भविष्य में भी बना रहेगा कि सार्वजनिक व्यवस्था जो युद्ध काल में

१. बम्बई ले जाकर महात्मा गांधी को छोड़ दिया गया; कुमारी साराभाई की गिरफ़्तारी का समाचार ग़लत था।

२. The Disorders Enquiry Committee Report, page 13.

३. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ १३.

सफलतापूर्वक कायम रखी गई थी, वह शान्ति-काल में भंग नहीं होगी। इसीलिए भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत लाहौर और अमृतसर के कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही की गई है......रॉलेट ऐक्ट के विरुद्ध......लाहौर और अमृतसर, दोनों ही स्थानों में जो प्रदर्शन हुए हैं......उनसे स्पष्ट है कि अनभिज्ञ और सहज विश्वासी लोगों को किस प्रकार सरलता से बहकाया जा सकता है। जो लोग उनको बहकाने वाले हैं उन पर एक विकट उत्तरदायित्व है....जो लोग तर्क के स्थान पर अनभिज्ञता से अपील करते हैं उनकी भी एक दिन खबर ली जायगी।"[१]

अगले कुछ दिनों की घटनाओं से यह सिद्ध हो गया कि उक्त धमकी खोखली नहीं थी।

८

अमृतसर में ३० मार्च और ६ अप्रैल की हड़तालों में पूर्ण शान्ति रही थी। दो स्थानीय नेताओं—डा. सत्यपाल और डा. किचलू—को भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत सार्वजनिक सभाओं में बोलने से रोक दिया गया था, तथापि हड़तालों में कोई भी उपद्रव नहीं हुआ था। ९ अप्रैल को रामनवमी थी, उस दिन एक विराट् जलूस निकाला गया जिसमें हिंदू और मुसलमान, सभी सम्मिलित हुए। यह उत्सव भी शान्तिपूर्ण रहा। हण्टर-कमेटी ने लिखा है:—"यह निश्चित है कि उस दिन शांति रही और यूरोपियनों के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई।" डिप्टी कमिश्नर स्वयं भीड़ में फंस गया और बाद में उसने इलाहाबाद बैंक के बरामदे में से सारे जलूस को देखा। उसका कहना है कि "साधारणतया लोगों का व्यवहार शिष्टतापूर्ण था। जलूस की प्रत्येक कार मेरे सामने रुकी और बैंड ने 'गॉड सेव दि किंग' बजाया।" उसी दिन सरकार ने डा. सत्यपाल और डा. किचलू के अमृतसर से निर्वासन की और उन्हें धर्मशाला नामक स्थान में नज़रबन्द रखने की आज्ञा जारी की। यह आज्ञा भारत रक्षा ऐक्ट के अन्तर्गत दी गई थी। दस तारीख को सुबह दस बजे उन्हें चुपचाप कार से धर्मशाला ले जाया गया और स्थानीय कार्यकारिणी अधिकारियों ने सिविल स्टेशन पर भीड़ न घुसने देने के उद्देश्य से सैनिक और पुलिस प्रबन्ध कर लिया। लगभग साढ़े ग्यारह बजे निर्वासन का समाचार सारे शहर में फैल गया। हड़ताल घोषित कर दी गई और दोनों नेताओं को छोड़ने की माँग करने के लिए, लोग जलूस बना कर डिप्टी कमिश्नर के मकान की तरफ बढ़े। हण्टर-कमेटी के वर्णन के अनुसार, "भीड़ के पास लाठियाँ अथवा और कोई लड़ने की चीज़ नहीं थी और उसने रास्ते में यूरोपियनों के साथ कोई

१. The Congress Punjab Inquiry Committee Report, pages 6 and 7.

छेड़छाड़ नहीं की।"[१] रेल के फाटक के पास भीड़ को रोका गया और उसे शहर की तरफ़ बलात् लौटाया गया। इसी प्रयत्न में दो बार गोली चलाई गई। भीड़ क्रुद्ध और उग्र हो गई और उसने हत्या, लूटमार और आगजनी शुरू कर दी। रास्ते में दो यूरोपियन—स्त्री अथवा पुरुष—मिले, उन्हें बुरी तरह पीटा गया। नेशनल एंड एलायेंस बैंक[२] की इमारत में आग लगाई गई, उसके यूरोपियन मैनेजर की हत्या की गई और बैंक के गोदामों को लूट लिया गया। टाउन हाल और अन्य सार्वजनिक इमारतों में भी आग लगाई गई। तार काटे गए और मिस शेरवुड नामक एक ईसाई प्रचारिका को बुरी तरह पीटा गया और उसे मरा हुआ समझ कर एक गली में छोड़ दिया गया, जहाँ से बाद में कुछ हिन्दुओं ने उसे अस्पताल पहुँचाया। तुरन्त ही शहर में फौजी टुकड़ियाँ भेजी गईं और शाम तक भीड़ ग़ायब हो गई। "१० अप्रैल को सैनिकों की गोली से मरे हुए लोगों की संख्या लगभग १० थी; घायलों की संख्या अधिक होगी।"[३]

११ अप्रैल को, लोगों को मृत व्यक्तियों की दाह क्रिया करने की अनुमति दी गई। एक बहुत बड़ा जलूस निकाला गया और किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई। उसी शाम को जनरल डायर अमृतसर पहुँचा और उसने शहर की सैन्य-टुकड़ियों का संचालन अपने हाथों में ले लिया। १२ अप्रैल को बहुत-सी गिरफ्तारियाँ की गईं और एक घोषणा द्वारा सारी सभाएँ और भीड़ें वर्जित कर दी गईं। हण्टर-कमेटी ने लिखा है:—"यह प्रकट नहीं होता है कि उस घोषणा के प्रकाशन के लिए क्या व्यवस्था की गई...............जिन स्थानों पर घोषणा (जो अंगरेज़ी में थी) पढ़ी गई, उनका नक्शा देखने से यह प्रत्यक्ष है कि शहर के बहुत से भागों में घोषणा नहीं पढ़ी गई।"[४]

दूसरी ओर १२ अप्रैल की ही शाम को इस बात की सार्वजनिक सूचना दी गई थी कि १३ अप्रैल को शाम के साढ़े चार बजे जालियाँवाला बाग़ में एक सार्वजनिक सभा होगी। जनरल डायर ने इस सभा के आयोजन को रोकने का कोई प्रबंध नहीं किया किंतु उसने सभा आरम्भ होने के कुछ ही देर बाद अपनी फ़ौजी गाड़ियों और अपने सैनिकों के साथ वहाँ पहुँच कर बिना चेतावनी दिए हुए उस समय तक उन सैनिकों को गोली चलाने की आज्ञा दी जब तक कि उनकी गोलियाँ ही समाप्त

१. The Disorders Inquiry Committee Report, page 22.
२. चार्टर्ड बैंक को अधिक क्षति नहीं पहुंची और उसके यूरोपियन मैनेजर और उपमैनेजर को पुलिस ने उन स्थानों में से निकाला, जहाँ वे छिप गए थे।
३. The Disorders Inquiry Committee Report, page 29.
४. उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ३०

न हो जायँ। सर वैलेण्टाइन शिरोल ने इस दृश्य का इस प्रकार वर्णन किया है:—

"जिन्होंने जालियाँवाला बाग़ नहीं देखा है, उनके लिए उस दृश्य की भयंकरता का अनुमान करना कठिन होगा। किसी समय वह एक बाग़ था किंतु आजकल वह एक खाली जगह है जहाँ अक्सर मेले होते हैं अथवा सार्वजनिक सभाएँ होती हैं, उसका विस्तार ट्रफालगर स्क्वायर के बराबर होगा। यह बाग़ चारों तरफ दीवारों से घिरा हुआ है जिनके ऊपर चारों ओर के मकानों का पिछवाड़ा दिखाई देता है। मैं उसी संकरी गली से गया जिससे जनरल डायर ········ अपने पचास सैनिक लेकर गया था। मैं उसी उठी हुई ज़मीन पर खड़ा हुआ जहाँ खड़े होकर उसने विना चेतावनी दिए, लगभग सौ गज़ की दूरी से एक घनी भीड़ पर, जो उस घेरे के एक निचले भाग की ओर थी और जहाँ मंच से व्याख्यान दिए जा रहे थे, गोली बरसाने की आज्ञा दी थी। उसके अनुसार भीड़ में लगभग ६००० आदमी थे, और लोगों के अनुसार जन-समूह १०००० से अधिक था। ये सब लोग निहत्थे और बिल्कुल घिरे हुए थे। घबराई हुई भीड़ तुरन्त फट पड़ी किंतु लगातार दस मिनट तक गोलियाँ बराबर बरसती रहीं—कुल १६५० वार किए गए—उन लोगों पर जो चूहों की तरह पिंजड़े में फंस गए थे, जो बाहर निकलने का निरर्थक प्रयत्न कर रहे थे, और जो गोलियों की बौछार से बचने के लिए ज़मीन पर लेट गये थे। जहाँ भीड़ घनी थी वहाँ गोलियाँ चलाने के लिए जनरल डायर ने व्यक्तिगत रूप से निर्देशन किया। उसी की शब्दावली में "निशाने" अच्छे थे। दस मिनट बाद जब गोलियाँ समाप्त हो गईं तो वह अपने सैनिकों के साथ उसी मार्ग से लौट गया था जिससे वह आया था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, जो कई महीनों बाद बताए गए, जनरल डायर ने ३७९[1] आदमियों को जान से मार दिया था और लगभग २००[1] घायल आदमियों

१. कांग्रेस-जाँच कमेटी ने लिखा है:—"मृत्यु संख्या के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकार ने अपने कथनानुसार २९ अगस्त (अर्थात् हत्याकांड के चार महीने बाद) तक आंकड़ों की छानबीन आरम्भ नहीं की। मि. थामसन ने उस समय कहा था कि २९० से अधिक व्यक्ति नहीं मरे थे। अब उन्होंने सेवासमिति के आंकड़ों को —अर्थात् ५०० की मृत्यु संख्या को— स्वीकार कर लिया है। ये आंकड़े वास्तविक छानबीन पर आधारित हैं और मृत्यु संख्या इनसे कम किसी भी हालत में नहीं हो सकती। वास्तविक संख्या का कभी भी पता नहीं लग सकता किंतु बड़ी सावधानी से जांच करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि लाला गिरधारी लाल का अनुमान—अर्थात् १००० की मृत्यु संख्या—किसी भी प्रकार से अतिरंजित नहीं हो सकती है" (रिपोर्ट का पृष्ठ ५७)। लाला गिरधारी लाल ने उस दृश्य को अपनी आँखों से देखा था और गोलियाँ चलना बन्द होने के बाद, वे

को ज़मीन पर पड़ा छोड़ दिया जिनके लिए (उसी की शब्दावली के अनुसार) उसने रत्ती भर भी ध्यान देने को अपना कर्त्तव्य नहीं समझा।"[१]

सर वैलेण्टाइन ने लिखा है:—"यदि स्वयं जनरल डायर का हण्टर-कमीशन के सामने दिया हुआ वक्तव्य न होता, तो संभवतः यह कहा जा सकता था कि सिविल सत्ता के अचानक लुप्त होने पर उसे अपने असंतुलित निर्णय से चारों ओर खून दिखाई दिया।..........किंतु उसी के कथन से यह पता लगता है कि अपने सैनिकों के साथ जालियाँवाले बाग़ को जाते हुए उसने जान बूझ कर ऐसा निर्णय किया था और यदि संकरे रास्ते ने उसे अपनी मशीनगनें पीछे छोड़ने को विवश न किया होता तो उसने और भी ज़्यादा बड़ा हत्याकाण्ड किया होता। उसने बताया कि उसका उद्देश्य सारे पंजाब में आतंक जमा देना था।"[२]

घटनास्थल पर सबसे पहले पहुँचे थे।

१. लाला गिरधारी लाल, पंजाब वाणिज्य मंडल के उपाध्यक्ष थे और उन्होंने एक मकान में से जहाँ से बाग़ दिखाई देता था, सारा हत्याकाण्ड देखा था। उनके विश्वसनीय, आँखों-देखे, विवरण को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उन्होंने कहा:—"मैंने सैंकड़ों लोगों को वहीं मरते हुए देखा। उस दृश्य की सब से बुरी बात यह थी कि दरवाज़े से भागने का प्रयत्न करनेवाले लोगों पर, निर्देशन द्वारा गोली चलाई जा रही थी। चार या पाँच संकरी जगहें ऐसी थीं जहाँ से निकला जा सकता था। वहाँ पर गोलियाँ वस्तुतः बरस रही थीं और....बहुत से लोग भागने वाली भीड़ के पैरों तले कुचले गए............. उनमें से कुछ मर भी गए। खून बुरी तरह बह रहा था। जो लोग ज़मीन पर लेटे हुए थे वे भी गोलियों से नहीं बचे। मरे हुए अथवा घायल लोगों को देखने के लिये अधिकारियों ने कोई प्रबन्ध नहीं किया..........मैंने बहुत से घायलों को पानी दिया और उस समय जो कुछ सहायता संभव थी वह मैंने की। मैंने चारों तरफ़ का चक्कर लगाया और सब को ज़मीन पर पड़ा हुआ पाया। कहीं-कहीं पर लोगों के ढेर बन गए थे। मृत शरीर बड़ी उम्र के लोगों के थे और उनमें बच्चे भी थे। कुछ लोगों की खोपड़ियाँ फट गई थीं, कुछ की आँखें बाहर निकल आई थीं.........बहुत-से लोगों की नाक, छाती अथवा हाथ-पैर चूर-चूर हो गए थे.............मेरे विचार से उस समय बाग़ में १००० से अधिक मृत शरीर थे...........बहुत-से लोग मरे हुए शरीरों को भी नहीं उठा सके इस डर से कि कहीं ८ बजे बाद दुबारा गोली न चलाई जाय।" pages 56-57 of The Congress Inquiry Committee Report से अनूदित।

२. Chirol: India: Old and New, pages 177-78.

९

पंजाब के अन्य स्थानों में १० और १५ अप्रैल के बीच जो दुर्घटनाएं हुईं, उनका विस्तृत विवरण देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हण्टर-कमीशन की रिपोर्ट में और अन्यत्र, उनका विस्तृत वर्णन किया गया है।[1] यहाँ केवल लाहौर, कसूर और गुजराँवाला की दु:खद घटनाओं की संक्षिप्त चर्चा कर देना ही पर्याप्त होगा।

महात्मा गांधी की गिरफ़्तारी का समाचार मिलने पर १० अप्रैल को लाहौर में हड़ताल की गई। एक जलूस बनाया गया और उसमें शोक प्रकट करने की दृष्टि से एक काला झंडा साथ लिया गया। अनारकली से माल की ओर जाने के समय[2] उस जलूस को रोका गया और उससे तितर-बितर हो जाने को कहा गया। कहा यह जाता है कि लोग बहुत उत्तेजित थे; उन्होंने तितर-बितर होने से इंकार कर दिया और उस समय उन पर गोली चलानी पड़ी। १४ अप्रैल को वहाँ के लोकप्रिय नेताओं को—पंडित रामभज दत्त, लाला हरकिशनलाल और लाला दुली चन्द को—निर्वासित कर दिया गया। फलत: १० अप्रैल से १७ अप्रैल तक हड़ताल रही। १८ अप्रैल को फ़ौजी कानून के अन्तर्गत दुकानदारों को अपनी दुकानें खोलने के लिए विवश किया गया। लाहौर में भीड़ ने हिंसा के कोई काम नहीं किए।

किंतु कसूर में उसकी उल्टी बात हुई; वहाँ भीड़ उग्र हो गई और उसने दो यूरोपियनों को मार डाला, सार्वजनिक इमारतों तथा रेलवे सम्पत्ति को क्षति पहुँचाई और संचार-साधनों की तोड़-फोड़ की। ११ अप्रैल को हड़ताल आरम्भ हुई और दूसरे दिन भी जारी रही। "कसूर में कसाइयों और चमड़े का काम करनेवालों का एक उपद्रवी वर्ग है";[3] उसने १२ अप्रैल की सुबह को स्वतन्त्रता-शव का जलूस निकालने का आयोजन किया। यह जलूस रेलवे स्टेशन की ओर बढ़ा और

---

१. Disorders Enquiry Committee Report के पृष्ठ ३६ से ७३ तक देखिए। इसके अतिरिक्त Pearey Mohan : The Imaginary Rebellion and How it was Suppressed देखिए, पृष्ठ ५५ से ९४ तक। साथ ही Congress Punjab Inquiry Committee Report, 1919-20 के पृष्ठ ४५ से १५५ तक भी देखिए।

२. The Disorders Inquiry Committee Report, page 39.

३. Quoted from the Punjab Government Report by Pearey Mohan : The Imaginary Rebellion and How it was Suppressed, page 69.

अधिकाधिक उत्तेजित होता गया। पंजाब सरकार की रिपोर्ट में कहा गया है:—"इस समय तक केवल उग्र प्रदर्शन का ही उद्देश्य था। स्टेशन पहुँचने पर भीड़ ने काफी क्षति पहुँचाई; दरवाज़े तोड़े, खिड़कियों पर पत्थर फेंके किंतु भीड़ स्टेशन के अन्दर नहीं गई और उसने पटरियों से कोई छेड़छाड़ नहीं की। कुछ देर बाद भीड़ लौटी किंतु अपने नेताओं के भड़काने पर वह रुक गई और उसने बहुत बड़े परिमाण में तोड़-फोड़ का काम आरम्भ किया। उसने एक तेल के गोदाम में आग लगाई, रेल के सिगनल को नुकसान पहुँचाया, तार काटे, मेज़ों और कुर्सियों को तोड़ा और टिकट के दफ़्तर में लूटमार की।"[१] उस समय तक कुछ स्थानीय नेता वहाँ पहुँच गए और उन्होंने भीड़ को तितर-बितर हो जाने के लिए समझाया। इसी बीच स्टेशन पर एक गाड़ी आई जिसमें कुछ यूरोपीय यात्री भी थे। भीड़ ने यूरोपियनों पर आक्रमण किया। उनमें से अधिकतर लोग बच गए—कुछ लोगों ने उन्हें रेलगाड़ी से उतार कर किन्हीं भारतीयों के यहाँ शरण लेने के लिए समझा दिया था। किंतु दो यूरोपियनों ने गाड़ी से उतरने से इंकार कर दिया और उन्होंने अपने रिवाल्वरों से गोलियाँ चला कर अपनी रक्षा की। उन पर पत्थर फेंके गए। बाद में भीड़ ने उन्हें घेर लिया और उन्हें अधमरा करके छोड़ दिया गया क्योंकि उसी समय पुलिस आ गई और उसने गोलियाँ चला कर भीड़ को तितर-बितर कर दिया।

गुजराँवाला में भी ज़बर्दस्त हमला हुआ। वहाँ के रेलवे स्टेशन के दोनों सिरों पर दो पुल थे, १४ अप्रैल को उन पुलों पर कटी हुई गाय और कटा हुआ सूअर लटका हुआ देख कर लोगों में बड़ी उत्तेजना हुई। लोगों का यह विश्वास था कि पुलिस ने हिंदुओं और मुसलमानों में झगड़ा कराने के लिए गाय को (साथ ही सूअर को भी) काट कर लटका दिया था।[२] भीड़ ने पुलों में आग लगा दी। काची पुल पर पुलिस ने गोली चलाई और कुछ लोग घायल हो गए। इस पर भीड़ क्रोध से पागल हो गई और उसने सार्वजनिक इमारतों और संचार-साधनों की तोड़-फोड़ की। उसने तहसील, डाक बंगला, ज़िला न्यायालय, चर्च और रेलवे स्टेशन में आग लगा दी। लगभग ३ बजे शाम को लाहौर से हवाई जहाज़ आए और उन्होंने शहर पर बम गिराए। बाद में फ़ौजी टुकड़ियाँ भी आ गईं। हण्टर-कमीशन ने लिखा है:—"गुजराँवाला के डिप्टी कमिश्नर कर्नल ओ' ब्रायन ने हमें बताया कि जहाँ तक पता लग सका है, १४ अप्रैल को पुलिस की गोलियों से कुल ११ व्यक्ति मारे गए और २७ घायल हुए।"[३]

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ७०
२. The Disorders Inquiry Committee Report, page 48.
३. The Disorders Inquiry Committee Report, page 58.

१०

१५ और २४ अप्रैल (१९१९) के बीच में पंजाब के पाँच ज़िलों में मार्शल लॉ(फौजी कानून) की घोषणा की गई। यह फौजी कानून ११ जून तक लागू रहा, किंतु रेलवे मार्गों पर तथा स्टेशनों के क्षेत्रों को इस कानून से २५ अगस्त को छुटकारा मिला।

फौजी कानून घोषित करने और उसे इतने समय तक लागू रखने अथवा उसे इतनी कठोरता से व्यवहार में लाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में हंटर कमेटी में मतभेद था। किंतु सभी भारतवासियों ने एकमत से उस ढंग की निन्दा की, जिससे १९१९ में पंजाब की स्थिति को संभाला गया था और जिससे उस प्रान्त में फौजी कानून को व्यवहार में लाया गया था। फौजी कानून के कुछ प्रशासकों ने असाधारण निर्दयता और बर्बरता से काम लिया था। इन लोगों की बर्बरता के व्यक्तिगत कार्यों का वर्णन करना न तो संभव है और न उससे कुछ लाभ ही है। किंतु इस सम्बन्ध में तीन प्रतिनिधिपूर्ण सम्मतियाँ व्यक्त करना उपयुक्त होगा—एक सम्मति सर वैलेण्टाइन शिरोल की है जिन्हें भारतीय आकाँक्षाओं का विरोधी माना जाता है, दूसरी सम्मति भारत-मन्त्री मि. मांटेगु की है, और तीसरी सम्मति एक भारतीय मॉडरेट राजनैतिक सर शिवास्वामी एयर की है जो १९१९ के मॉडरेट सम्मेलन के अध्यक्ष थे और जो सत्याग्रह कार्यक्रम के विरोधी थे। उन सम्मतियों के अन्तर्गत १९१९ में पंजाब में फ़ौजी कानून के प्रशासन का सही चित्र मिल जाता है। सर वैलेण्टाइन ने लिखा है:—

तब, जलियाँवाला कांड के दो दिन बाद पंजाब में फ़ौजी कानून की विधिवत् घोषणा की गई। यद्यपि इसके बाद जलियाँवाला बाग़ जैसे-कांड नहीं हुए किंतु विद्रोह का संकट (चाहे आरम्भ में वह बिल्कुल सच्चा ही क्यों न रहा हो), समाप्त हो जाने पर भी, तुच्छ एवं प्रतिकारात्मक कृत्यों की नीति बराबर कार्यान्वित की गई जिस के फलस्वरूप जातीय तीखापन बढ़ना स्वाभाविक था। यह सच है कि सर माइकेल ओ' डायर ने जनरल डायर की 'रेंग कर चलने की बीभत्स आज्ञा' का विरोध किया था[1] और वह आज्ञा शीघ्र ही रद्द भी कर दी गई थी। किंतु और बहुत-सी 'आज्ञाएं' थीं जो रद्द नहीं की गईं थीं। लोगों में अविशिष्ट और सामूहिक रूप से कोड़े लगाए जाते थे[2] और विचित्र प्रकार के 'मनमाने' दंड

१. १० अप्रैल को अमृतसर में मिस शेरवुड पर जो आघात किया गया था, उसकी चर्चा की जा चुकी है। १९ अप्रैल को जनरल डायर ने यह आज्ञा दी कि जिस गली में मिस शेरवुड गिरी थी उसमें से जानेवाले लोग हाथों और पैरों के बल रेंग कर निकलें। यह आज्ञा २६ अप्रैल को रद्द कर दी गई थी।

२. हण्टर कमेटी की 'अल्पसंख्यक' रिपोर्ट के अनुसार २५८ लोगों पर साधारण

दिए जाते थे[१]—किसी व्यक्तिगत विद्रोही को दंड देने के लिए नहीं, वरन् लोगों को आतंकित करने के लिए और उनका अपमान करने के लिए। फौजी कानून के अन्तर्गत न्यायिक व्यवस्था[२] का कोई स्थान नहीं रहा था।[३]

हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट के सम्बन्ध में भारत-मन्त्री को भी विवश होकर अपने राजपत्र में यह लिखना पड़ा:—"एक ऐसा प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर न पहुँचना असंभव है कि लार्ड हण्टर की कमेटी के बहुमत ने अपने विचारों को उस रूप में व्यक्त नहीं किया जैसा कि तथ्यों की दृष्टि से केवल उचित ही नहीं वरन् आवश्यक था। कमेटी ने जिन घटनाओं का अपनी रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, उनको दोहराना अनावश्यक है। साथ ही उन आज्ञाओं के लिए, उत्तरदायी व्यक्तिगत अधिकारियों के दोषों का निर्धारण करने के सम्बन्ध में प्रयत्न करने से भी, कोई लाभ नहीं होगा............किंतु सम्राट्-सरकार इन आज्ञाओं और दंडों की तीव्र निन्दा करती है। कमेटी ने जो उदाहरण दिए हैं उनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पंजाब में फ़ौजी कानून के प्रशासन में, साधारणतया तो नहीं किंतु दुर्भाग्य से बहुत हद तक काफ़ी, एक ऐसी जातीय भावना ने काम किया है कि जिसका उद्देश्य, भारतीय समाज का अपमान करना और उसे कष्ट पहुँचाना था। बहुत से अवसरों पर अन्याय किया गया और औचित्य तथा मानवता की मर्यादाओं का उल्लंघन किया गया.......।"[४]

सन् १९१९ के अखिल भारतीय मॉडरेट सम्मेलन में सर शिवास्वामी ने, सभापति के पद से अपने व्याख्यान में कहा:—"हण्टर-कमेटी के समक्ष, प्रमुख

रूप से कोड़े लगाए—कुछ विशेष उदाहरण भी थे। साधारणतया यह ढंग अपनाया गया था कि उस आदमी के कपड़े उतार कर उसे एक चौखटे से बाँध दिया जाता था। और तब कोड़े लगाए जाते थे। प्रत्येक आदमी को ५ से ३० तक कोड़े लगाए गए। (Page 162. Disorders Inquiry Committee Report से अनूदित).

१. ७८९ व्यक्तियों को गिरफ़्तार किया गया और जिनपर कोई मुक़दमा नहीं चलाया गया—उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ १६६.

२. १०८ व्यक्तियों को प्राण दंड दिया गया और ३६५ व्यक्तियों को देश-निर्वासन-दंड दिया गया। बाद में सरकार ने इन निर्णयों को दोहराया और तब केवल २३ व्यक्तियों को प्राणदंड दिया गया और दो को देश-निर्वासन दंड। इन आंकड़ों से फ़ौजी न्यायालयों के प्रशासन का पता लगता है।

३. Chirol: India: Old and New, page 179.

४. Punjab Unrest: Before and After, page 159.

यूरोपियन साक्षियों के वक्तव्यों से जो तथ्य प्रकट होते हैं, उनकी ओर ध्यान देना उचित होगा। जलियाँवाले बाग़ में भीड़ को तितर-बितर होने का अवसर नहीं दिया गया और सैंकड़ों निहत्थे लोगों का कत्ले-आम किया गया, मशीनगनों की गोलियों से जो सैंकड़ों आदमी घायल हो गए थे, जनरल डायर ने उनकी दशा पर ध्यान देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा; लोगों में खुले आम कोड़े लगाए गए; हाज़िरी के नाम पर हज़ारों विद्यार्थियों को प्रति दिन १६ मील पैदल चलने को विवश किया गया, ५०० विद्यार्थियों और प्रोफ़ेसरों को गिरफ़्तार करके नज़रबन्द रखा गया, ५-७ वर्ष की आयु के स्कूल के वच्चों को झंडे की सलामी देने के लिए परेड में बुलाया गया, फ़ौजी कानूनों के विज्ञापनों को सुरक्षित रखने की ज़िम्मेवारी मकान-मालिकों पर डाली गई; एक बरात के जलूस पर कोड़े बरसाए गए, डाक को खोल कर देखा गया; ऐसे लोगों को जिन्होंने राजसत्ता की सेवाएँ की थीं, अकारण गिरफ़्तार किया गया और नज़रबन्द रखा गया......इस्लामिया स्कूल के ६ सब से बड़े लड़कों में इसलिए कोड़े लगाए गए कि वे स्कूल के लड़के थे और बड़े लड़के थे, गिरफ़्तार आदमियों को बन्द करने के लिए खुला पिंजड़ा बनवाया गया, विचित्र प्रकार के दंड दिए गए, रींग कर चलने की आज्ञा दी गई, बहुत-से लोगों को एक साथ रस्सी से बाँध कर १५ घंटे तक एक खुले ट्रक में रखा गया, हवाई जहाज़ों का उपयोग किया गया; सम्पत्ति ज़ब्त और नष्ट की गई, हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के विरोध में क्रोध प्रदर्शित करने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को जोड़ों में हथकड़ियाँ पहनाई गईं, भारतीयों के घरों की बिजली काट दी गई और नल बन्द कर दिए गए; भारतीयों के घरों से बिजली के पंखे निकाल कर यूरोपियनों के उपयोग के लिए दिए गए और ऐसी ही बहुत-सी बातें और हुईं जिन से पंजाब में आतंक छा गया।"[१] यहाँ तक कि श्रीमती बीसेंट ने भी, जिन्होंने अमृतसर की भीड़ों के काम की उग्र[२] शब्दों में निन्दा की थी और जिन्होंने अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर पंजाब की भीड़ों के काम को क्रांतिकारियों के सिर मढ़ा था, २१ दिसम्बर १९१९ को यह लिखना आवश्यक समझा:—"हण्टर-कमेटी के सामने सैनिक अधिकारियों के बयानों को पढ़कर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ है। उन्होंने अपने मुँह से जो कुछ स्वीकार किया है, बेलजियम में जर्मनवासियों ने उससे ज्यादा कुछ नहीं किया।"[३]

१. The Indian Annual Register, 1920, page 397.

२. उन्होंने 'टाइम्स ऑव इंडिया' को लिखा था:—"तार काटना, पटरियाँ उखाड़ना, स्टेशनों में आग लगाना, बैंकों पर हमला करना, जेलियों को आज़ाद करना—ये सब सत्याग्रहियों के काम नहीं हैं और न ये उपद्रवियों के ही काम हैं—वरन् उनमें क्रांतिकारियों का हाथ है।"

३. Disorders Inquiry Committee Report, page 125.

११

जब फ़ौजी कानून और रोक के दूर होने पर पंजाब की भीषण घटनाओं के समाचार भारत के अन्य भागों में पहुँचे तो सर माइकेल ओ' डायर के शासन और लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड की सरकार के विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ उठाई गई। राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों में इस बात की मांग की गई कि लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड को वापिस बुलाया जाय और सर माइकेल ओ' डायर पर तथा मार्शल लॉ के अत्याचारपूर्ण प्रशासन के लिए उत्तरदायी अन्य लोगों पर अभियोग चलाया जाय। वहाँ की घटनाओं ने जनता को क्रुद्ध और दुःखी कर दिया था; सारे देश में भयंकर असंतोष था। मॉडरेटों ने भी पंजाब की आतंकवादी नीति और राजनैतिक सुधारों की ओर प्रतिक्रियावादी भाव के कारण सरकार की तीखी आलोचना की। "सरकार के विरुद्ध केवल राष्ट्रवादी पत्रों में ही नहीं वरन् मॉडरेट पत्रों में भी इस बात की आलोचना की गई कि आरम्भ में सुधार-योजना की जो रूप-रेखा थी वह बाद में काफ़ी दबा दी गई थी...............।"[१]

किंतु राष्ट्रीय विरोध को, एक गम्भीर पत्र द्वारा, भारत के सर्वोत्तम कवि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने व्यक्त किया, उन्होंने इस पत्र द्वारा 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया:—

"...................पंजाब में हमारे भाइयों ने जो अपमान और कष्ट सहे हैं उनके समाचार, रोधक प्रतिबन्धों की दीवारों में से रिस कर भारत के प्रत्येक भाग में पहुँच गए हैं और उनके कारण हमारे देशवासियों के हृदयों में जो व्यापक रोष-वेदना हुई है, उसकी हमारे शासकों ने उपेक्षा की है। संभवतः उन्होंने अपने-आप को इस बात की बधाई दी है कि उन्होंने (अपनी दृष्टि से) शासितों को हितकर पाठ पढ़ाया है।..........यह जानकर कि हमारे निवेदन निरर्थक हुए हैं और प्रतिकार का मनोवेग हमारी उस सरकार के, जो अपनी भौतिक शक्ति और नैतिक परम्पराओं के अनुरूप उदारता प्रदर्शित कर सकती थी, उत्कृष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण को आवृत्त किए हुए हैं, मैं जो कम-से-कम कर सकता हूँ वह यह है कि मैं सारे परिणामों को और उनकी जोखिम को अपने ऊपर लूँ और अपने ऐसे करोड़ों देशवासियों के, जो आतंक से हतबुद्धि और मूक हो गए हैं, विरोध को व्यक्त करूँ।

अब वह समय आ गया है कि सम्मान के प्रतीक, अपमान के असंगत संदर्भ में, हमारी निर्लज्जता को सुस्पष्ट कर देते हैं और मैं स्वयं विशिष्ट गौरव से विहीन होकर अपने उन देशवासियों के बराबर खड़ा होना चाहता हूँ, जिनको उनकी

१. India in 1919, page 41.

'कथित' तुच्छता के कारण ऐसे अवमान सहने पड़ते हैं जो किसी भी मानव-शरीर के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इन्हीं कारणों ने मुझे श्रीमान् से उचित आदर के साथ यह कहने को विवश किया है कि मुझे 'सर' की उपाधि से छुटकारा दे दिया जाय।[१]"

महाकवि रवींद्रनाथ द्वारा उपाधि के परित्याग का अंग्रेज़ों के मस्तिष्क पर गम्भीर प्रभाव पड़ा और उसके कारण ब्रिटिश सरकार ने मांटफ़ोर्ड सुधारों की योजना को तेज़ी से आगे बढ़ाया। इस बीच, पंडित मदनमोहन मालवीय और उनके सहयोगियों के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप अधिकाधिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ा। पंडित मालवीय ने अप्रैल, मई और जून १९१९ की पंजाब की दुःखद घटनाओं के सम्बन्ध में ९२ सूक्ष्म और अन्तर्भेदी प्रश्न[२] तैयार किए और भारतीय विधान-परिषद् के कार्यवाहक को सूचना दी, किंतु गवर्नर-जनरल ने उनको प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं दी। वाइसराय ने परिषद् में अपने आद्य भाषण में एक जांच कमेटी नियुक्त करने की घोषणा की थी जिसने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत करनी थी। मालवीयजी ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया और कमेटी के स्थान पर एक राजकीय कमीशन नियुक्त करने की माँग की क्योंकि कमेटी को अपनी रिपोर्ट भारत-सरकार को देनी थी जो स्वयं इस मामले में फँसी हुई थी। किंतु पंडित मालवीय का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया और लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में जाँच-कमेटी नियुक्त कर दी गई। इस कमेटी के सदस्य थे—मि. जस्टिस रैंकिन, मि. राइस, मेजर जनरल सर जार्ज बेरो, सर चिमनलाल सितलवाद और साहबज़ादा सुल्तान अहमद। बाद में पंडित जगत नारायण और मि. टॉमस स्मिथ को भी इस कमेटी में सम्मिलित कर लिया गया। कमेटी ने अक्तूबर १९१९ में अपना काम आरम्भ किया और मार्च १९२० में अपनी रिपोर्ट दी। कांग्रेसी और अन्य बहुत-से ग़ैरसरकारी व्यक्तियों ने हण्टर-कमेटी के काम में सहयोग नहीं दिया क्योंकि उसका अभिदेश-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था और इसके अतिरिक्त पंजाब के नेताओं से जो जेलों में बन्द थे, परामर्श करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं दिया गया।

किन्तु अभी कमेटी का काम आरंभ ही नहीं हुआ था कि भारत सरकार ने उन अधिकारियों को जिनके व्यवहार के संबंध में हण्टर कमेटी को जाँच करनी थी, अभियोज्यता से बचाने के लिए भारतीय विधान-परिषद् में एक विधेयक[३]

---

१. The Indian Annual Register, 1920 pages 50-51.

२. इन प्रश्नों के लिए देखिए–"Punjab Unrest Before and After." Appendix pages 1-23

३. १९१९ के इस ऐक्ट के ६ संक्षिप्त विभाग थे। विभाग नं० २ के अनुसार व्यवस्था पुनः स्थापित करने अथवा बनाए रखने के लिए किसी काम के संबंध में

प्रस्तुत किया। ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने सुझाव दिया कि हण्टर-कमेटी की नियुक्ति के कारण, उस विधेयक को स्थगित कर दिया जाय। पं० मदनमोहन मालवीय ने उस अवसर पर एक ऐतिहासिक व्याख्यान दिया जो लगभग पाँच घंटे में पूरा हुआ। इस व्याख्यान में उन्होंने सारी घटनाओं का वर्णन किया; सारी विधिक और वैधानिक स्थिति की विवेचना की; और विधेयक को स्थगित करने के संशोधन का समर्थन किया। किन्तु, परिषद् के भीतर और बाहर, सार्वजनिक विरोध के होते हुए भी, सरकार ने सरकारी सदस्यों को वोटों से विधेयक का पारण कर दिया।

दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार ने वातावरण को शान्त करने के उद्देश्य से पार्लियामेण्ट में सुधार-विधेयक का जल्दी से पारण कराया और उस पर सम्राट् की स्वीकृति ली जिसकी राजकीय उदघोषणा दिसम्बर १९१९ के कांग्रेस (अमृतसर) अधिवेशन के अवसर पर जारी की गई।

राजकीय उद्घोषण में सुधारों की घोषणा की गई, सहयोग और मेल के लिए अपील की गई और वाइसराय को राजनैतिक अपराधियों के प्रति कृपाभाव दिखाने के लिए निर्देश किया गया। उसमें कहा गया:— "इस समय मेरी यह उत्कट इच्छा है कि मेरी प्रजा और मेरी सरकार के लिए उत्तरदायी अधिकारियों के बीच जो कुछ तीखापन बच रहा हो वह पूरी तरह दूर कर दिया जाय।——एक नया युग आरंभ हो रहा है। मेरी प्रजा के लोग और मेरे अधिकारीगण, सभी यह निश्चय करें कि ये एक सर्वमान्य उद्देश्य के लिए मिल कर काम करेंगे। अतः मैं वाइसराय को निर्देश देता हूँ कि वह मेरे नाम से और मेरी ओर से राजनैतिक अपराधियों के

किसी सिविल अथवा सैनिक अधिकारी को दंड नहीं दिया जा सकता था। विभाग नं० ३ के अनुसार सरकार के कार्यवाह का प्रमाण-पत्र यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त था कि कोई काम सरकार के अधिकारी की आज्ञा से व्यवस्था स्थापित करने अथवा बनाए रखने के लिए किया गया था। विभाग नं० ४ में उन व्यक्तियों को अभिरक्षा में रखने की व्यवस्था की गई थी जिन्हें फ़ौजी कानून के अन्तर्गत दंड दिया गया था। विभाग नं० ५ में ऐसे लोगों की व्यवस्था की क्षतिपूर्ति की गई थी जिनकी सम्पत्ति सैनिक अधिकारियों द्वारा काम में लाई गई थी। See pages 159-160 of "Punjab Unrest Before and After" for the Act——Also pages 161 to 174 for speech of the Home Member explaining the provisions and the Government Position.

प्रति राजकीय अनुकंपा प्रदर्शित करे और सार्वजनिक सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अधिकाधिक छूट दे---- ।"[१]

राजनैतिक सर्व-क्षमा[२] की घोषणा का वातावरण शान्त करने पर गहरा प्रभाव पड़ा। नेताओं को तुरन्त छोड़ दिए जाने का एक परिणाम यह हुआ कि वे लोग अमृतसर पहुँच कर कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित हो सके और इस बात का भी देश के वातावरण पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

अन्त में १९१९ की कांग्रेस ने सुधारों के ऐक्ट के संबंध में यह प्रस्ताव स्वीकार किया:–

"(१) यह कांग्रेस पिछले वर्ष की अपनी घोषणा को फिर दुहराती है कि भारत पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य है; और सभी विरोधी धारणाओं और वक्तव्यों को अस्वीकार करती है।

(२) वैधानिक सुधारों के संबंध में दिल्ली अधिवेशन के प्रस्ताव के प्रति इस कांग्रेस की निष्ठा पूर्ववत् है और उसका यह मत है कि सुधार ऐक्ट अपर्याप्त, असन्तोषप्रद और निराशाजनक है।

(३) यह कांग्रेस इस बात का आग्रह करती है कि पार्लियामेण्ट, आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार, भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए शीघ्रता से कार्यवाही करे।

(४) यह कांग्रेस आशा करती है कि इस अवधि में सुधारों को इस ढंग से कार्यान्वित किया जायगा कि पूर्ण उत्तरदायी शासन की शीघ्रता से स्थापना हो सके और यह कांग्रेस महामाननीय मिस्टर ई० एस० माण्टेगु को सुधारों के संबंध में उनके श्रम के लिए धन्यवाद देती है।"[३]

इस प्रकार सन् १९१९ के वर्ष का, जिसमें वस्तुतः आतंक का राज्य रहा था, शान्तिपूर्वक अन्त हुआ। "१९१९ की घटनाएँ भारतवासियों की रग-रग में समा गईं" और वे "भावुक भारतीयों के लिए, ब्रिटिश राज्य के अत्यन्त कलुषित पक्ष के प्रतीक के रूप में बनी रहीं।"[४]

---

१. India in 1919, pages 51-52.

२. इस सर्वक्षमा के फलस्वरूप १३०० से अधिक व्यक्ति छोड़े गए। देखिए उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ५३.

३. India in 1919. Appendix. VII.

४. Duffet and Others : India To-day, page 75.